प्रकाशक
हिंदुस्तानी एकेडेमी
उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद

प्रथम संस्करण—२०००, १९६०
मूल्य १२)

मुद्रक—दि इलाहाबाद ब्लाक वर्क्स प्रा० लि०, जीरो रोड, इलाहाबाद

समर्पण

गहन अध्ययन और कुशल प्रशासन के संगम

डॉ० सीताराम, पी० एच० डी० (अमेरिका),

परिवहन-मन्त्री, उत्तर प्रदेश

को

सादर समर्पित

—विमल चन्द्र पाण्डेय

प्रकाशकीय

भारतीय इतिहास में ६०० ई० पू० से १००० ई० पू० का युग महान् संक्रमण का काल माना गया है। गणतन्त्रीय एवं राज्यतन्त्रीय प्रणालियों का संघर्ष, सुधार आन्दोलनों का जन्म तथा भारतीय और भारतेतर जातियों का सम्मिश्रण, इस युग की प्रमुख विशेषताएँ रही हैं। डाक्टर विमल चन्द्र पाण्डेय ने बड़े अध्यवसाय एवं व्यापक दृष्टि से उस युग की सामाजिक अवस्था का गम्भीर अथ च सरल विवेचन इस खोज प्रबन्ध में प्रस्तुत किया है।

हिन्दुस्तानी एकेडेमी, उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद हिन्दी भाषा और साहित्य के अतिरिक्त इतिहास, दर्शन तथा विज्ञानादि विषयक ग्रन्थों के प्रकाशन को भी प्रोत्साहित करती रही है। सामाजिक इतिहास सम्बन्धी अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थों—मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, हिंदुस्तान की पुरानी सभ्यता, सिंधु सभ्यता, और अरब तथा भारत के संबंध की परम्परा में डाक्टर विमल चन्द्र पाण्डेय द्वारा लिखित 'भारत की सामाजिक अवस्था' को भी आशा है, विद्वज्जन बहुविधि उपयोगी पावेंगे।

हिंदुस्तानी एकेडेमी
उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद

विद्या भास्कर
मन्त्री तथा कोषाध्यक्ष

प्राक्कथन

ईसा पूर्व छठी शताब्दी का काल भारतीय इतिहास में एक युगान्तर प्रस्तुत करता है। इस काल में प्रविष्ट होते ही हम राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक एवं सामाजिक क्षेत्रों में क्रान्तिकारी परिवर्त्तन देखते हैं। अनेक शताब्दियों की क्षीणसलिला विचार-धारायें नव-जीवन पाकर इस काल में उद्दाम-वेग से प्रवाहित होने लगती हैं। परिणामतः भारतीय जीवन के अनेक क्षेत्रों में हमें एक प्रभंजन, एक आप्लावन, एक युगारम्भ अथवा एक परिणति के दर्शन होते हैं।

राजनीतिक क्षेत्र में दो परस्पर-विरोधी शासनतन्त्रों—राजतन्त्र और गणतन्त्र—का जो संघर्ष अनेक शताब्दियों से चला आ रहा था, वह ईसा पूर्व छठी शताब्दी में आकर अभूतपूर्व उग्रता धारण कर लेता है। गणतन्त्रात्मक राज्यों के विरुद्ध राजतन्त्रवादी नरेशों की उग्र, विस्तारकारिणी एवं साम्राज्यवादिनी नीति मुखर हो उठती है। कालान्तर में इन्हीं गणतन्त्रवादी राज्यों के ध्वंसावशेषों के ऊपर मगध के एकतन्त्रवादी शक्तिशाली साम्राज्य की स्थापना हुई।

आर्थिक क्षेत्र में यह काल मुद्रा-अर्थ प्रणाली (Money Economy) के विकास का काल है। बैंक, ऋण, अक्षयनीवी, ब्याज, साझा, लाभ, हानि, पूँजी आदि संस्थायें इस काल में वैज्ञानिक रूप से संगठित दिखाई देती हैं। इनसे तत्कालीन आर्थिक जीवन विपुल रूप से समृद्ध हो उठा था।

धार्मिक दृष्टिकोण से ईसा पूर्व छठी शताब्दी का काल भारतीय इतिहास में धार्मिक क्रान्ति का काल माना जाता है। आरण्यक-काल से चले आने वाले सुधार-आन्दोलन ने इस काल में खुले विद्रोह का रूप धारण कर लिया था। शताब्दियों से चले आने वाले पुरातन-वाद, रूढ़िवाद और अन्धविश्वास के विरुद्ध अनेकानेक आचार्यों एवं स्वतन्त्र-विचारकों ने इस समय विद्रोह का झंडा खड़ा किया और अपने मत-मतान्तरों का प्रतिपादन किया।

सामाजिक दृष्टिकोण से भी यह काल अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। बौद्ध और जैन धर्मों के व्यवस्थाकारों ने वर्णाश्रममूलक ब्राह्मण-व्यवस्था का विरोध करते हुए वर्णनिर्विशेष एवं निवृत्तिप्रधान समाज की रचना का आदर्श प्रतिपादित किया। इस क्रान्तिकारी आन्दोलन ने ब्राह्मण-धर्म एवं ब्राह्मण-संस्कृति के लिये भारी संकट उत्पन्न कर दिया। अतः ब्राह्मण-व्यवस्थाकारों में प्रतिक्रिया हुई। उन्होंने विरोधी आघातों से अपनी व्यवस्था की रक्षा करने के लिये उसका पुनः संगठन किया। यह संगठन पहले से भी अधिक कठोर था। इसके अन्तर्गत ब्राह्मण-वर्ण, ब्राह्मण-धर्म एवं ब्राह्मण-संस्कृति को अपूर्व महत्ता प्रदान की गई। ब्राह्मण-व्यवस्थाकारों का सूत्र-साहित्य इसी प्रतिक्रिया का परिणाम है।

जिस प्रकार ईसा पूर्व छठी शताब्दी का काल भारतीय इतिहास में एक विभाजन-रेखा है, उसी प्रकार ईसा की प्रथम शताब्दी भी। अपनी-अपनी प्रतिष्ठा के लिये ब्राह्मणों और क्षत्रियों तथा निवृत्तिमार्ग और प्रवृत्तिमार्ग का जो संघर्ष दीर्घकाल से चल रहा था, वह ब्राह्मण पुष्यमित्र शुङ्ग की राज्य-स्थापना के साथ एक निश्चित परिणति को प्राप्त हुआ। शुङ्ग-वंश, मनु और पतंजलि ने जिस ब्राह्मणधर्म-प्रधान सामाजिक व्यवस्था की पुनः स्थापना की, उसके सर्वतोमुखी प्रभाव में निवृत्तिमार्गी सिद्धान्त नितान्त निर्बल हो गया। गृहस्थाश्रम को सर्वोच्च प्रधानता देने वाला ब्राह्मण-धर्म शुङ्गों के पश्चात् कण्वों, सातवाहनों, भारशिवों और वाकाटकों के काल से होता हुआ गुप्त-काल में अपने चरमोत्कर्ष को प्राप्त हुआ।

ईसा की प्रथम शताब्दी में हमें भक्ति-सम्प्रदाय का भी स्पष्ट रूप दिखाई देने लगता है। वैष्णव और महायान-सम्प्रदायों की उदीयमान लोकप्रियता ने कला को भी भारी प्रोत्साहन दिया। विविधरूपों में भगवान् विष्णु और महात्मा बुद्ध की प्रतिमाओं का जितना अधिक निर्माण इस काल में हुआ उतना पहले कभी नहीं हुआ था।

यह काल स्वदेशी एवं विदेशी विचार-धाराओं का संगम भी है। यूनानियों, शकों, पह्लवों और कुषाणों की संस्कृतियों ने भारतीय जीवन को अनेकशः प्रभावित किया था। भारतीय प्रज्ञा ने इन समस्त प्रभावों को बड़ी उदारता से आत्मसात् कर लिया। भारतीय संस्कृति की इस ग्रहण-शक्ति के दर्शन प्रथम शताब्दी में स्पष्टतया होने लगते हैं। यही नहीं, विदेशियों के भारतीयकरण का समारम्भ भी इसी काल से हो जाता है। विदेशी शूद्रों की विशेष प्रतिष्ठा के परिणामस्वरूप देशीय शूद्रों की स्थिति में भी इसी समय से उन्नयन प्रारम्भ होता है।

प्रथम शताब्दी भारतवर्ष के व्यापारिक इतिहास में भी एक महत्वपूर्ण स्थल है। प्लिनी और पेरिप्लस के लेख इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। कनिष्क के मध्य एशियाई साम्राज्य ने भारत और विदेशों के बीच सांस्कृतिक श्रृङ्खला के साथ-साथ व्यापारिक श्रृङ्खला भी प्रस्तुत की।

इन्हीं विशेषताओं को दृष्टिकोण में रखते हुए हमने ईसा पूर्व छठी शताब्दी और ईसा की प्रथम शताब्दी को अपने ग्रन्थ की सीमायें माना है। यह ग्रन्थ प्रयाग विश्व-विद्यालय की डी० फिल्० डिग्री के लिये स्वीकृत हमारे शोध-कार्य के ऊपर आधारित है। इसकी रचना में ब्राह्मण, बौद्ध एवं जैन साहित्य के मूल-ग्रन्थों, विदेशी साक्ष्यों एवं आवश्यक पुरातत्त्व-सामग्री का यथोचित प्रयोग किया गया है, साथ में विविध सहायक-ग्रन्थों का भी उपयोग किया गया है। इन समस्त मूल एवं सहायक ग्रन्थों का उल्लेख ग्रन्थ की पाद-टिप्पणियों में किया गया है।

—विमल चन्द्र पाण्डेय

संक्षिप्त रूप-सूची

ऋ० = ऋग्वेद
ब्रा० = ब्राह्मण
सं० = संहिता
आप० = आपस्तम्ब
आश्व० = आश्वलायन
बौध० = बौधायन
कात्या० = कात्यायन
पार० = पारस्कर
परा० = पराशर
याज्ञ० = याज्ञवल्क्य
वाज० = वाजसनेय
श्रौत० = श्रौतसूत्र
गृह्य० = गृह्यसूत्र
ध०सू० = धर्मसूत्र
मिता० = मिताक्षरा
स्मृति चं० = स्मृति चन्द्रिका
स्मृति मु० = स्मृति मुक्ताफल
महा० = महाभारत
रामा० = रामायण
दीघ० = दीघ निकाय
मज्झिम० = मज्झिमनिकाय
मिलिन्द० = मिलिन्दपन्ह
थेर० = थेरीगाथा
थेरी० = थेरीगाथा
नाया० = नायाधम्मकहा

विषय-सूची

अध्याय १

साधन

प्राचीन भारतवर्ष की सामाजिक अवस्था का अध्ययन करने में प्रमुख सहायता इस देश के साहित्यिक ग्रन्थों से ही मिलती है। ये साहित्यिक ग्रन्थ भी विशेषतया धर्म-ग्रन्थ ही हैं। भारतीय जीवन के समस्त कार्य-कलाप बहुधा धर्म को ही केन्द्र मान कर आगे बढ़ते थे। यही कारण है कि प्राचीन धार्मिक ग्रन्थों में एकमात्र भारतीय जीवन का धार्मिक पक्ष ही अङ्कित नहीं है, वरन् उसके अन्यान्य पक्षों पर भी प्रचुर प्रकाश डाला गया है। हम इन समस्त धर्म-ग्रन्थों को तीन कोटियों में विभक्त कर सकते हैं — (१) ब्राह्मण धर्म-ग्रन्थ (२) बौद्ध धर्म-ग्रन्थ और (३) जैन धर्म-ग्रन्थ। तीनों कोटियों के अध्ययन से प्रकट होता है कि उनकी सामग्री प्रायः एक-सी ही है। अन्तर केवल दृष्टिकोण का है। उदाहरणार्थ, तीनों कोटियों के धर्म-ग्रन्थ वर्ण-व्यवस्था का सविस्तार वर्णन करते हैं। परन्तु जहाँ ब्राह्मण धर्म-ग्रन्थ उसे भारतीय सामाजिक व्यवस्था की आधार-शिला मानकर उसकी मान्यता का प्रचार करते हैं वहाँ विरोधी बौद्ध एवं जैन धर्म उसे एक सामाजिक अभिशाप के रूप में चित्रित करते हैं।

ब्राह्मण साहित्य

उपनिषदों के पश्चात् ब्राह्मण साहित्य का एक बहुत बड़ा भाग सूत्ररूप में लिखा गया। सूत्र छोटे-छोटे वाक्य होते हैं। कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक बात कह देना सूत्र-साहित्य की विशेषता है। इसका रचना-काल प्रमुखतया ई० पू० छठी शताब्दी से लेकर तीसरी शताब्दी तक रहा था। इन सूत्रों में व्यवस्थाकारों ने समाज के समस्त धार्मिक एवं सामाजिक विधि-निषेधों को संगठित किया है। लघु रूप में होने के कारण इन सूत्रों को याद रखना और संरक्षित रखना दोनों सरल हो गया था।

ऐसा प्रतीत होता है कि सूत्र-साहित्य का एक बहुत बड़ा भाग बौद्ध और जैन धर्मों के विरोधी प्रचार के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में लिखा गया था। इन धर्मों के प्रबल प्रचार ने ब्राह्मण धर्म के ऊपर भारी आघात किया था। उसके आधार-भूत सिद्धान्तों, मान्यताओं और परम्पराओं सभी के समक्ष, एक भारी संकट उपस्थित हो गया था। बौद्ध एवं जैन धर्मों के प्रचार के परिणामस्वरूप ब्राह्मणों की दो प्रमुख संस्थाओं—वर्ण-व्यवस्था और आश्रम-व्यवस्था—की नींव हिल उठी थी। उनका कर्मकाण्ड भी कटु आलोचना का विषय बन गया था। इन आधार-शिलाओं के हिलने के कारण इन पर आधारित ब्राह्मणों की सम्पूर्ण धार्मिक एवं सामाजिक व्यवस्थायें भी हिल उठी थीं। परन्तु ब्राह्मण व्यवस्थाकारों ने इस आपत्काल का सामना बड़े धैर्य, अध्यवसाय और दूरदर्शिता के साथ किया। उन्होंने नवीन परिस्थिति में अपनी प्राचीन व्यवस्थाओं का पुनः संगठन किया और उन्हें संगठित रूप में पुनः समाज में प्रतिष्ठित कराने का प्रबल प्रयास किया। सूत्र-साहित्य का एक बहुत बड़ा भाग ब्राह्मण

व्यवस्थाकारों के इसी पुनः संगठन और पुनर्व्यवस्थापन का परिणाम है। इसमें विरोधी धर्मों की मान्यताओं के विपक्ष में ब्राह्मणों ने पुनः ब्राह्मणवर्णप्रधान वर्ण-व्यवस्था, गृहस्थाश्रम-प्रधान आश्रम-व्यवस्था और कर्मकाण्ड-प्रधान धर्म का द्विगुणित रूप से प्रतिपादन किया।

कल्प-सूत्र

सूत्र-साहित्य में कल्प-सूत्रों का विशेष महत्व है। कल्पसूत्र तीन भागों में संगठित हैं—(१) श्रौतसूत्र (२) गृह्यसूत्र और (३) धर्मसूत्र। श्रौतसूत्र यज्ञविषयक हैं। ये कर्मकाण्ड-मूलक हैं। ये प्राचीन काल से चले आनेवाले यज्ञों का सांगोपाङ्ग वर्णन करते हैं। गृह्यसूत्र मनुष्य के गृहस्थ जीवन से सम्बंधित हैं। इनमें मनुष्यों की दैनिक उपासना, धार्मिक क्रियाओं, उत्तरदायित्वों, कर्तव्यों और संस्कारों एवं आचारों का वर्णन मिलता है। धर्म-सूत्रों और गृह्य-सूत्रों के अनेक विषय समान हैं। इनमें विशेष अन्तर यही है कि जहाँ गृह्यसूत्र गृहस्थ जीवन के विधि-निषेधों का सविस्तार वर्णन करते हैं, वहाँ धर्मसूत्र उनका उल्लेख एकमात्र संक्षिप्त रूप में ही करते हैं। परन्तु गृह्य-सूत्रों की अपेक्षा धर्मसूत्रों में उपनयन, विवाह आदि संस्कारों, ब्रह्मचर्याश्रम, श्राद्ध, मधुपर्क, अध्ययन, अनध्ययन आदि विषयों का वर्णन अधिक विस्तार के साथ हुआ है।

इसी भांति धर्मसूत्र तथा स्मृतियों में भी थोड़ा-बहुत अन्तर स्पष्ट दिखाई देता है। अधिकतर धर्मसूत्र या तो कल्प के अंग हैं अथवा गृह्यसूत्रों से अविच्छिन्न रूप से संबंधित हैं। धर्मसूत्रों के रचयिता प्रायः अपने आपको ऋषियों अथवा अतिमानवीय प्राणियों से प्रेरित नहीं मानते, परन्तु मनु एवं याज्ञवल्क्य आदि की स्मृतियाँ दैवी व्यवस्था का प्रतिपादन करती हैं। धर्मसूत्रों की भाषा गद्य अथवा गद्य एवं पद्य का सम्मिश्रण है। परन्तु स्मृतियाँ पद्यात्मक भाषा में रची गई हैं। इसके साथ ही धर्म सूत्रों की भाषा स्मृतियों की अपेक्षा अधिक प्राचीन जान पड़ती हैं। वे स्मृतियों की अपेक्षा अधिक प्राचीन हैं और उनमें विषय-क्रम पर भी कोई विशेष ध्यान नहीं दिया गया है। परन्तु स्मृतियों का प्रबन्ध-निर्वाह आचार, व्यवहार और प्रायश्चित, इन तीन मुख्य विभागों के अन्तर्गत किया गया है।

धर्मसूत्रों में गौतम-धर्मसूत्र सबसे प्राचीन माना जाता है। इसका अध्ययन विशेष रूप से सामवेद के अनुयायी करते थे। सामवेद के राणायनीय शाखा के नव उप-मार्गों में गौतम की भी गणना की जाती है। सामवेद से सम्बन्धित गोभिल गृह्यसूत्र गौतम का अधिकार स्वीकार करता है, जिससे प्रतीत होता है कि किसी समय गौतम-सूत्र के अन्तर्गत श्रौत, गृह्य एवं धर्म के सम्पूर्ण सिद्धान्तों का सम्यक् विवेचन किया जाता था। यहाँ एक ध्यान देने योग्य बात यह है कि गौतम शब्द का प्रयोग वंश के अर्थ में भी किया जाता था। कठोपनिषद् में नचिकेता और उसके पिता वाजश्रवस दोनों के हेतु गौतम शब्द प्रयुक्त किया गया है। छान्दोग्य उपनिषद में भी हारिद्रुमत को गौतम कहा गया है।

गौतम धर्मसूत्र में २८ अध्याय हैं, जिनके अन्तर्गत धर्म पद-व्याख्या के नियम, सभी वर्णों के लिये उपनयन का समय तथा अन्य कृत्य, ब्रह्मचारीधर्म, शिष्य के कर्तव्य तथा अध्ययन का समय, आश्रम-व्यवस्था तथा ब्रह्मचारी, भिक्षु आदि के कर्तव्य गृहस्थ-नियम, (विवाह, विवाह योग्य आयु, विवाह के प्रकार, उपजातियां, विवाह होने पर मैथुन के संबंध में नियम) दैनिक पंच यज्ञ, दान, मधुपर्क, अतिथि-परिचर्या, पतिसेवा एवं सम्बन्धी तथा गुरु के प्रति श्रद्धा, यात्रा-नियम, ब्राह्मण-धर्म, आपत्काल में उसके हेतु व्यवसायों की आज्ञा, ४० संस्कार

तथा आठ आध्यात्मिक विशेषतायें, स्नातक एवं गृहस्थ के कर्तव्य, चतुर्वर्णों के कर्तव्य, राजा का उत्तरदायित्व, कर, स्वामित्व, कोष-प्राप्ति, अल्पवयों की सम्पत्ति का संरक्षण, राजधर्म, दण्ड-विधान, दण्ड के सम्बन्ध में ब्राह्मण को विशेष सुविधायें, उपाकर्म, वर्ष में वेदाध्ययन, अनध्याय, भोजन, स्त्रियों के कर्तव्य, नियोग, नियोग की सन्तान के विषय में विचार, प्रायश्चित, विभाजन, स्त्रीधन, पुनर्मिलन, अठ्ठारह प्रकार के पुत्र तथा उत्तराधिकार आदि विषयों की विवेचना की गई है, जो सभी सामाजिक व्यवस्था पर पूर्ण प्रकाश डालते हैं।

गौतम धर्मसूत्र पूर्णतया गद्य में लिखा गया है। इस धर्मसूत्र में वैदिक संहिताओं और ब्राह्मणों के साथ ही उपनिषदों, वेदांगों, इतिहास, पुराण, उपवेद, धर्मशास्त्र आदि का उल्लेख किया गया है। धर्मसूत्रकार के रूप में गौतम का उल्लेख सर्वप्रथम बौधायनधर्मसूत्र में मिलता है, जिसमें विवादग्रस्त विषयों पर गौतम के मत का वर्णन किया गया है। बाद में वसिष्ठधर्मसूत्र, मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य और अपरार्क आदि ने गौतम का उल्लेख किया है। इन तथ्यों की सहायता से गौतम का समय निश्चित किया जा सकता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सामविधान ब्राह्मण और गौतम धर्मसूत्र के रचनाकाल में बहुत अन्तर दिखाई देता है। गौतम धर्मसूत्र की रचना के समय पाणिनि के नियमों की उतनी अधिक मान्यता नहीं दिखाई देती, जितनी कुछ समय पश्चात् होने लगी। परन्तु इस धर्मसूत्र की रचना यास्क के अनन्तर ही जान पड़ती है। गौतम धर्मसूत्र के गृहपाठ का उल्लेख बौधायन और वसिष्ठ दोनों में ही मिलता है। गौतम परिव्राजक के स्थान पर भिक्षु शब्द का प्रयोग करते हैं, जब कि बौधायन, आपस्तम्ब तथा अन्य सूत्रों में परिव्राजक शब्द ही मिलता है। वर्षा ऋतु में भिक्षु के एक स्थान पर वास करने की व्यवस्था से गौतम पर बौद्ध भिक्षु के वर्षाकालीन नियमों का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। एक अन्य स्थान पर गौतम किसी के मत का उल्लेख करते हुये कहते हैं कि यवन की उत्पत्ति क्षत्रिय पिता और शूद्र स्त्री के संयोग से होती है। परन्तु इस आधार पर यह मानने की आवश्यकता नहीं है कि गौतम सिकन्दर के पश्चात् हुए, क्योंकि भारतवासी सिकन्दर के आक्रमण के पूर्व ही यवनों से परिचित थे। इन सभी प्रमाणों के आधार पर गौतम धर्मसूत्र का समय ६०० ईसा पूर्व से लेकर ४०० ईसा पूर्व के बीच में निर्धारित किया जा सकता है।

गौतम धर्मसूत्र की भाँति ही बौधायन धर्मसूत्र का रचनाकाल भी निर्धारित किया जा सकता है। यह धर्मसूत्र कृष्णयजुर्वेद की शाखा के अन्तर्गत आता है। बौधायन गृह्यसूत्र की रचना धर्मसूत्र से पूर्व की जान पड़ती है, क्योंकि बौधायन धर्मसूत्र में उसका उल्लेख किया गया है। इस धर्मसूत्र में धर्म, ब्रह्मचर्य, उपनयन, स्नातक-धर्म, शौच, सपिण्ड, और सकुल्य की व्याख्या, उत्तराधिकार, यज्ञ-विधान, चतुर्वर्ण एवं उपजातियाँ, मिश्रित जातियाँ, राजाओं के कर्त्तव्य, दण्ड-विधान, विवाह, अनध्याय, प्रायश्चित, सम्पत्ति-विभाजन, नियोग, गृहस्थ के कर्त्तव्य, दैनिक पंचमहायज्ञ, भोजन, श्राद्ध, पुत्र-प्रशंसा, सन्यास एवं वानप्रस्थ आदि विषयों की मीमांसा की गई है। इस धर्मसूत्र में विषयों का निर्वाह गौतम की भाँति व्यवस्थित नहीं प्रतीत होता। गोविन्दस्वामिन् के कथनानुसार बौधायन ग्रन्थलाघव की ओर ध्यान नहीं देता। बौधायन धर्मसूत्र में गद्य और पद्य दोनों का प्रयोग किया गया है। भाषा प्राचीनता के कारण पाणिनीय व्यवस्था से प्रायः अलगाव प्रकट करती है।

वौधायन धर्म-सूत्र में भी चारों वेद, तैत्तिरीय संहिता, तैत्तिरीय ब्राह्मण, तैत्तिरीय आरण्यक, शतपथ ब्राह्मण, उपनिषद्, इतिहास-पुराण, वेदांग तथा अन्य आचार्यों का उल्लेख किया गया है। वौधायन ने गौतम का भी उल्लेख किया है, जिससे इस धर्मसूत्र का रचनाकाल गौतम के पश्चात् होने में कोई सन्देह नहीं रह जाता। कृष्णयजुर्वेदीय शाखा में वौधायन धर्मसूत्र सबसे प्राचीन माना जाता है। शैली, सिद्धान्त तथा अन्य बातों की दृष्टि से इसका समय गौतम के बाद किन्तु अन्य धर्मसूत्रों की अपेक्षा पूर्व ही निश्चय किया जा सकता है। इस भाँति वौधायन धर्मसूत्र का काल पाँच सौ ईसा पूर्व से लेकर दो सौ वर्ष ईसा पूर्व के वीच स्थिर किया जाना चाहिये।

रचनाकाल की दृष्टि से आपस्तम्ब धर्मसूत्र भी गौतम और वौधायन की भाँति प्राचीन है। आपस्तम्ब कल्पसूत्र कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीयशाखा के अन्तर्गत आता है। आपस्तम्बश्रौतसूत्र, आपस्तम्बगृह्यसूत्र, आपस्तम्ब शुल्क सूत्र और आपस्तम्ब धर्मसूत्र कल्पसूत्र के ही भाग हैं। आपस्तम्बगृह्य और धर्मसूत्रों में अत्यधिक समानता होने से उनके एक ही रचयिता द्वारा लिखे जाने का अनुमान होता है। इस धर्म सूत्र के अन्तर्गत भी वेद, धर्म, वर्ण, आचार्य, उपनयन, ब्रह्मचारी के कर्त्तव्य, स्नातक-नियम, दैनिक पंचमहायज्ञ, भोजन और पेय, ब्राह्मण-धर्म, प्रायश्चित गृहस्थ-धर्म, पाणिग्रहण, सम्भोग के नियम, वर्ण-बहिष्कासन, अतिथि-सेवा, मधुपर्क, वेदांग, युद्ध-नियम, उत्तराधिकार, आश्रम, परिव्राजक अथवा सन्यासी के नियम, वानप्रस्थ के कर्त्तव्य; राजा के हेतु विशेष नियम एवं दण्ड-विधान आदि विषयों की व्याख्या की गई है।

आपस्तम्ब धर्म सूत्र वौधायन की अपेक्षा अधिक संक्षिप्त एवं सुव्यवस्थित शैली में लिखा गया है। अन्य धर्मसूत्रों की अपेक्षा इसकी भाषा भी अधिक प्राचीन जान पड़ती है। साथ ही पाणिनि के सिद्धान्तों के प्रति आपस्तम्ब का विशेष लगाव भी नहीं प्रतीत होता। संहिताओं के अतिरिक्त ब्राह्मण, उपनिषद्, आरण्यक, वेदांग और धर्म-व्यवस्थापक का उल्लेख आपस्तम्ब ने यथास्थान किया है। यद्यपि आपस्तम्ब गौतम का उल्लेख नहीं करता है, फिर भी गौतम और आपस्तम्ब की व्यवस्थाओं में स्थान-स्थान पर साम्य दिखाई देता है। सम्भवतः आपस्तम्ब धर्म सूत्र की रचना गौतम धर्मसूत्र के कुछ समय पश्चात् ही हुई होगी। याज्ञवल्क्य ने धर्म शास्त्रकारों में आपस्तम्ब का उल्लेख किया है। शैली और व्याकरण की दृष्टि से भी यह रचना अधिक प्राचीन जान पड़ती है। इन सभी तथ्यों के आधार पर आपस्तम्ब धर्मसूत्र का रचना-काल छः सौ ईसा पूर्व से लेकर तीन सौ ईसा पूर्व के बीच निश्चित किया जा सकता है।

अन्य धर्मसूत्रों में जिन्हें ईसा पूर्व की शताब्दियों में रक्खा जा सकता है, वसिष्ठ-धर्मसूत्र का नाम लिया जा सकता है। इस धर्मसूत्र में वेदों, ब्राह्मणों आदि का स्थान-स्थान पर उल्लेख किया गया है। विषय और शैली की दृष्टि से वसिष्ठ धर्मसूत्र और अन्य धर्मसूत्रों में बड़ा साम्य है। इसमें बहुत से ऐसे अंश हैं, जिनकी रचना बहुत समय पश्चात् की गई जान पड़ती है। धर्मशास्त्रकार के रूप में वसिष्ठ का उल्लेख सर्वप्रथम मनु ने किया है। याज्ञवल्क्य भी वसिष्ठ को धर्मशास्त्रकार के रूप में मानता है। अतएव वसिष्ठ का समय तीन सौ ईसा पूर्व से लेकर ईसा पूर्व की प्रथम शताब्दी के भीतर ही निर्धारित किया जाना चाहिए।

सूत्रों के समान सामाजिक व्यवस्था पर पूर्ण प्रकाश डालने वाले ग्रन्थों में अर्थशास्त्र, रामायण एवं महाभारत का महत्व सबसे अधिक है। भारतीय परम्परा के

अर्थशास्त्र

अनुसार अर्थशास्त्र की रचना कौटिल्य ने की थी। इसकी पुष्टि प्रधानतः अर्थशास्त्र के अन्तः साक्ष्य[1], कामन्दकीय नीतिसार[2] एवं दण्डीकृत दशकुमारचरित[3] से होती है। इनके अतिरिक्त नन्दिसूत्र, पंचतन्त्र और नीतिवाक्यामृत भी कौटिलीय अर्थशास्त्र का उल्लेख करते हैं। विभिन्न साक्ष्यों के आधार पर यह भी निश्चित हो जाता है कि वह कौटिल्य, चाणक्य अथवा विष्णुगुप्त[4] चन्द्रगुप्त मौर्य का समकालीन था[5]। अर्थशास्त्र में वर्णित अनेक विषय मेगास्थनीज तथा अशोक के अभिलेखों से मेल खाते हैं। शब्द-चयन एवं लेखन-शैली के आधार पर अर्थशास्त्र की रचना आपस्तम्ब, बौधायन आदि सूत्रकारों के पश्चात् की और सामाजिक व्यवस्था के आधार पर मनु तथा याज्ञवल्क्य की स्मृतियों के पूर्व की जान पड़ती है[6]। इन समस्त आधारों से यही प्रतीत होता है कि कौटिल्य एक ऐतिहासिक व्यक्ति था, अर्थशास्त्र की रचना उसी ने की और यह रचना ई० पू० चौथी शताब्दी में हुई। इन निष्कर्षों के विरोध में हिलब्रैण्ड, कीथ आदि विद्वानों ने अनेक शंकायें उपस्थित की हैं, परन्तु वे अकाट्य प्रमाणित नहीं होतीं। अर्थशास्त्र में सम्राट् चन्द्रगुप्त के नामोल्लेख के अभाव का एक विशेष कारण है। चन्द्रगुप्त के उत्कर्ष का एकमात्र कारण स्वयं चाणक्य था। परन्तु चाणक्य राजकीय शिष्टाचार से अवगत था। वह नामोल्लेख द्वारा आत्मश्लाघा एवं अपने स्वामी के प्रति अभद्रता का दोषी नहीं होना चाहता था। पुनः हिलब्रैण्ड का कथन है कि अर्थशास्त्र में 'इति कौटिल्यः' और 'नेति कौटिल्य' लगभग ७२ बार आया है। इस प्रकार अन्यपुरुष के प्रयोग से कदाचित् अर्थशास्त्र कौटिल्य की नहीं वरन् उसके सम्प्रदाय के शिष्यों की रचना प्रतीत होती है। परन्तु हिलब्रैण्ड के इस तर्क में

---

[1]अर्थशास्त्र—येन शास्त्रं च शस्त्रं च नन्दराजगता च भुः
अमर्षेणोद्धृतान्याशु तेन शास्त्रमिदं कृतम्।

[2]नीतिसार १, ७।

[3]दशकुमारचरित—सोमदत्त-उत्पत्ति कथा १, १—कौटिल्यकामन्दकीयादिनीतिपटलकौशलं तथा दशकुमारचरित भाग २, ८—इयमिदानीमाचार्यविष्णुगुप्तेन मौर्यार्थे बहूभिः श्लोकसहस्त्रैः संक्षिप्ताः.....।

[4]शंकराचार्यकृतजयमङ्गलटीका—विष्णुगुप्तायेति सांस्कारिकी संज्ञा, चाणक्यः कौटिल्य इति जन्मभूमि गोत्रनिबन्धने।

तथा हेमचन्द्रकृत अभिधानचिन्तामणि—वात्स्यायने मल्लनागः कुटिलश्चणकात्मजः द्रामिलः पक्षिलस्वामी विष्णुगुप्तोऽगुलश्च च।

[5]विष्णुपुराण २४, ६-७—तान् नन्दान् कौटिल्यो ब्राह्मणः समुद्धरिष्यति...कौटिल्य एवं चन्द्रगुप्तं राज्योऽभिषेद्यति।

भागवतपुराण २, १, ११-१२—नवनन्दान् द्विजः कश्चित् प्रपन्नानुद्धरिष्यति। स एवं चन्द्रगुप्तं वै द्विजो राज्येऽभिषेद्यति।

इन उल्लेखों की पुष्टि स्थविरावलीचरित, नन्दिसूत्र, ऋषिमण्डलप्रकरणवृत्ति, समन्तपसादिका, महावंसटीका, नीतिसार, मुद्राराक्षस तथा स्वयं अर्थशास्त्र से होती है।

[6]एन. एन. ला-स्टडीज—इन ऐशेंट हिन्दू पालिटी—इंटोडक्टरी एसे पृ० ३५-४२।

[7]डा० शामा शास्त्री—प्रिफेस पृ० ३२, १८, १६।

अधिक वल नहीं है। अन्यपुरुष के रूप में आत्मकथन करने की भारतीय परिपाटी थी।[1] डा० राधाकुमुद मुकर्जी ने विस्तृत विवेचना के आधार पर यह सिद्ध किया है कि अर्थशास्त्र सम्प्रदाय की नहीं वरन् कौटिल्य की ही रचना है।[2]

शैली, शब्द-चयन और विषय-वस्तु की दृष्टि से अर्थशास्त्र एक अपूर्व ग्रन्थ है। समस्त ग्रन्थ १५ अधिकरणों, १५० अध्यायों, १८० प्रकरणों और ६००० श्लोकों में विभक्त है। ग्रन्थ की भाषा प्रधानतः गद्य है और बीच में कुछ पद्य भी मिलते हैं। प्रत्येक अध्याय के अन्त में कम से कम एक अथवा अधिक पद्य रक्खे गये हैं। सम्पूर्ण प्रबन्ध-रचना से रचयिता की विलक्षण प्रतिभा का परिचय मिलता है। कौटिल्य ने तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं धार्मिक जीवन का जैसा विशद वर्णन किया है, उसका मूल्यांकन सरलतापूर्वक नहीं किया जा सकता। अर्थशास्त्र में राजा, अमात्य, राजकर्मचारी, ग्राम, नगर, राज्यकर, वाणिज्य, न्याय, विवाह, स्त्रीधन, उत्तराधिकार, कण्टक शोधन, राजकर्मचारियों के आचार की परीक्षा, मण्डल-विधान, व्यसन, आक्रमण, युद्ध, श्रेणिसमूह, कूटनीति, दुर्गों पर आधिपत्य और गुप्तचरकार्य आदि विषयों का विवेचन बड़ी मार्मिकता से किया है। न्याय-प्रबन्ध में अर्थशास्त्र गौतम, आपस्तम्ब और बौधायन के धर्मसूत्रों की अपेक्षा अधिक सुव्यवस्थित वर्णन प्रस्तुत करता है।

कौटिल्य ने मनु, बृहस्पति, उशनस, पाराशर, कात्यायन, किंचलक, कौणपदन्त, वाटकमुख, पिशुन, बहुदन्तीपुत्र, भारद्वाज, वातव्याधि एवं विशालाक्ष आदि आचार्यों का उल्लेख किया है। अन्य साहित्य में चतुर्वेद, वेदांग, इतिहास-पुराण, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, सांख्य, योग, लोकायत तथा धातुशास्त्र का वर्णन अर्थशास्त्र में किया गया है। यही नहीं, चीन, नेपाल काम्भोज, सुराष्ट्र आदि देशों के साथ ही लिच्छिविक, व्रजिक, मल्लक, मद्रक, कुकुर एवं कुरुपंचाल आदि योद्धावर्गों का उल्लेख भी कौटिल्य ने किया है। लिच्छवि, वज्जि तथा मल्लों का उल्लेख प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों में भी मिलता है। इन सब प्रमाणों के आधार पर कौटिल्य के काल को लगभग तीन सौ वर्ष ईसा पूर्व मानने में सन्देह करने का कोई कारण नहीं रह जाता है।

रामायण और महाभारत

अर्थशास्त्र के साथ ही रामायण और महाभारत भारतीय संस्कृति एवं समाज का चित्रण करने में अद्वितीय ग्रन्थ माने जाते हैं। ये ग्रन्थ महाकाव्य कहे जाते हैं और इनमें कवि-कल्पना के माध्यम से भारतीय जीवन की जो आदर्शपूर्ण स्थिति प्रकट की गई है, वह इस देश के प्राचीन निवासियों के आचार-विचार पर विशद प्रकाश डालती है। धर्म, राजनीति, आर्थिक व्यवस्था, शिक्षा और सामाजिक दशा—सभी विषयों का इन महाकाव्यों में समावेश किया गया है। महाकाव्यों के रचयिता महर्षि वाल्मीकि एवं वेदव्यास कहे जाते हैं, जो परम्परागत रूप में

---

[1]सा चोपायप्रतिपत्तिः कामसूत्रादिति वात्स्यायनः।

उपायपरिज्ञानं च कामसूत्रात्, तेनोपदिश्यमानत्वात्। वात्स्यायन इति स्वगोत्रनिमित्ता समाख्या। मल्लनाग इति सांस्कारिकी—यशोधर १, २।

[2]एन, एन, ला—स्टडीज इन ऐंशेण्ट हिन्दूपालिटी—इण्ट्रोडक्टरी ए से पृ० १९-२८।

भारतवासियों के द्वारा समादृत होते रहे। महाकाव्यों के रचयिताओं के काल विदित न होने के कारण महाकाव्यों के रचना-काल का निर्धारण करने में भी बड़ी कठिनाई होती है। महाकाव्यों की भाषा सुस्पष्ट एवं व्याकरण सम्बन्धी नियमों के अनुकूल होने के कारण इन ग्रन्थों का अन्तिम रूप पाणिनि के पश्चात् का ही प्रतीत होता है।

रामायण भारतवर्ष का आदि-काव्य समझा जाता है। निश्चित रूप से यह महाभारत के पूर्व का है। महाभारत में रामोपाख्यान उपलब्ध होता है, जब कि रामायण में महाभारत, उसके कथानक अथवा पात्रों का नामोल्लेख तक नहीं है। महाभारत वाल्मीकि से परिचित है[१] तथा उसके एक श्लोक (रामायण ६.८१.२८) को भी उद्धृत करता है।[२] रामायण के अन्तःसाक्ष्य इसकी रचना का काल निर्धारित करने में सहायक होते हैं। इस महाकाव्य में कोशल की राजधानी सदैव अयोध्या के नाम से सम्बोधित होती है। परन्तु समस्त बौद्ध एवं जैन ग्रन्थों में इसका नाम साकेत है। पाटलिपुत्र की स्थापना कालाशोक ने की थी। परन्तु इस नगर का नाम रामायण में नहीं आता। इस महाकाव्य में महात्मा बुद्ध का भी उल्लेख नहीं है।[३] परन्तु रामकथा का उल्लेख एक जातक (दशरथ जातक) में प्राप्त होता है। इन आधारों से यही प्रमाणित होता है कि मूल रामायण का रचना-काल बौद्ध धर्म के उत्कर्ष-काल के पूर्व का है। अतः वेबर का यह कथन कि रामायण का कथानक बौद्ध परम्परा के ऊपर आधारित है,[४] असंगत प्रतीत होता है। भाषा के आधार पर जैकोबी महोदय ने भी रामायण का रचना-काल बौद्ध धर्म के उदय के पूर्व निश्चित किया है।[५] जहाँ तक इस महाकाव्य के वर्तमान रूप का प्रश्न है वह कदाचित् ईसा की द्वितीय शताब्दी तक निश्चित हो गया होगा।[६]

महाभारत का सर्वप्रथम उल्लेख आश्वलायन गृह्यसूत्र में हुआ है। इस महाकाव्य के सर्वप्रथम रचित भागों में ब्रह्मा की प्रतिष्ठा सर्वोपरि है। यह देवता महात्मा बुद्ध के जीवन-काल में अति सम्मान्य था। इन्हीं आधारों का उल्लेख करते हुए मैकडानल महोदय ने यह निष्कर्ष निकाला है कि मूल महाभारत का रचना-काल ई० पू० पाँचवी शताब्दी के लगभग का है।[७] इसी विद्वान के मतानुसार लगभग ३०० ई० पू० और १०० ई० के बीच में इस महाकाव्य का परिवर्धन हुआ। यूनानियों, शकों, पह्लवों, विष्णु, शिव,

---

[१] महा० ७, १४३, ६६।

[२] महा० १,२, १८, २,७, १६, ५, ८३, २७, १२, २०७,४।

[३] एक स्थान पर जहां उल्लेख हुआ है वह प्रक्षिप्तांश है।

[४] Uber das Ramayana, Page 6 f।

[५] जैकोबी पृष्ठ ११६, विन्टर्निज़ ने इस भाषा-साक्ष्य को सन्दिग्ध माना है—हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, भाग १ पृ० ५११।

[६] विन्टर्निज़, वही, पृ० ५०३।

[७] मैकडानल—हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर पृ० २८५

मन्दिरों और स्तूपों के उल्लेख हमें इसी निष्कर्ष पर ले जाते हैं।[1] महाभारत का वर्तमान रूप ईसा की चौथी शताब्दी तक निश्चित हो गया होगा। कुमारिल (लगभग ७०० ई०) महाभारत का उल्लेख एक महान् स्मृति के रूप में करते हैं।[2] बाण की दृष्टि में महाभारत एक श्रेष्ठ काव्य-कृति था।[3] अनेक साहित्यिक एवं अभिलेख-सम्बन्धी साक्ष्यों के आधार पर सर आर० जी० भण्डारकर ने प्रमाणित किया है कि ५०० ई० तक यह महाकाव्य भारतीयों का एक अत्यन्त पवित्र एवं धार्मिक ग्रन्थ बन गया था।[4] कम्बोडिया में प्राप्त लगभग ६०० ई० का एक अभिलेख भी महाभारत को एक धार्मिक ग्रन्थ के रूप में प्रतिष्ठित करता है। पाँचवीं और छठी शताब्दियों के अन्य भारतीय अभिलेखों में भी दानधर्म के सम्बन्ध में महाभारत का उल्लेख हुआ है।[5] पुनः महाभारत में बौद्धधर्म-सम्बन्धी भी अनेक उल्लेख मिलते हैं। इन समस्त साक्ष्यों के आधार पर ही महाभारत के वर्तमान रूप के विकास का काल चौथी ई० तक रक्खा गया है।[6] अतः कुछ विद्वानों का यह मत कि महाभारत का वर्त्तमान रूप १५ वीं अथवा १६ वीं शताब्दी तक विकसित हुआ, नितान्त असंगत है।[7]

मनुस्मृति

अन्य ब्राह्मण-साहित्य में स्मृतियों को लिया जा सकता है, जिनका रचना-काल ईसा पूर्व की दूसरी शताब्दी से लेकर ईसा की कई शताब्दियों तक माना जाता है। मनु ने धर्म-शास्त्र और स्मृतियों को एक दूसरे का पर्याय माना है। प्राचीन काल में स्मृतियों की संख्या अपेक्षाकृत नगण्य प्रतीत होती है, क्योंकि गौतम ने मनु के अतिरिक्त अन्य किसी स्मृतिकार का उल्लेख नहीं किया। ऋग्वेद में मनु को मनुष्य जाति का पिता कहा गया है। तैत्तिरीय संहिता, ऐतरेय ब्राह्मण, शतपथ ब्राह्मण, यास्क तथा महाभारत सभी में मनु या तो सृष्टि के आदिपुरुष या विधिप्रदाता के रूप में स्वीकार किये गये हैं। फिर भी मनुस्मृति के रचयिता के विषय में कुछ भी निश्चय-पूर्वक कह सकना कठिन है। भारतीय इतिहास में ऐसे उदाहरणों की भरमार है, जब कि अत्यन्त प्राचीनता एवं प्रामाणिकता प्राप्त करने की दृष्टि से कोई भी रचनाकार अपनी कृति को ऐसे समादृत व्यक्तियों से सम्बद्ध कर देता था। मनुस्मृति की रचना स्वयंभू मनु तथा अन्य छः मनुओं के द्वारा कही जाती है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि मनुस्मृति का रचयिता कोई ऐसा व्यक्ति था, जिसने धर्मशास्त्र तथा अर्थशास्त्र की व्यवस्थाओं का संग्रह कर इस ग्रन्थ को प्रस्तुत किया और इस भाँति यह रचना बहुत समय बाद की प्रतीत होती है।

---

[1] मैकडानल—हिस्ट्री आफ् संस्कृत लिटरेचर पृ०, २८६।

[2] ब्यूहलर—इण्डियन स्टडीज़ २, एस० डब्लू० ए०, १८६२ पृ० ५।

[3] हर्षचरित—प्राक्कथनरूप में श्लोक ४-१०.

[4] जे० बी० आर० ए० एस०—१८७१-२ पृ० ८१.

[5] विन्टर्निज़—पृ० ४६४.

[6] विन्टर्निज़—पृ० ४६५, हाप्किंस-कैम्ब्रिज हिस्ट्री भाग १ पृ० २५८।

[7] Haltofmann, Das Mahabharata=1, 194।

मनुस्मृति में १२ अध्याय और २६९४ श्लोक सम्मिलित हैं। विषय-निर्वाह की दृष्टि से मनुस्मृति में गौतम, आपस्तम्ब और बौधायन आदि के सिद्धान्तों का ही प्रतिपादन किया गया है। शब्द-रचना एवं सिद्धान्तों में कौटिल्य तथा मनुस्मृति में बहुत साम्य प्रकट होता है। मनुस्मृति में सृष्टि-रचना, धर्म, संस्कार, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ-जीवन, भोजन, वानप्रस्थ, राजधर्म, न्याय-व्यवस्था, वर्ण-व्यवस्था, प्रायश्चित तथा कर्म-व्यवस्था आदि विषयों पर विचार किया गया है। मनुस्मृति के रचयिता ने वेद, आरण्यक, वेदांग, धर्मशास्त्र, आख्यान इतिहास-पुराण तथा अन्य स्मृतियों का उल्लेख किया है। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त महाकाव्यों से भी इस ग्रन्थ का अत्यधिक साम्य दिखाई देता है। मनुस्मृति का पूर्ण अध्ययन करने पर यह प्रतीत होता है कि मनुस्मृति के आकार में भी समयानुसार परिवर्तन होते रहे। नियोग, श्राद्ध और मधुपर्क आदि के विषय में ऐसे विरोधी विचार मिलते हैं कि वे एक व्यक्ति के सिद्धान्तों का समर्थन करते हुए नहीं दिखाई देते। न्याय-पद्धति के विषय में याज्ञवल्क्यस्मृति मनु की अपेक्षा अधिक पूर्ण एवं परिष्कृत है। मनुस्मृति में यवन, काम्बोज, शक, पल्लव, चीन तथा आन्ध्र शब्दों के प्रयोग से उनका का रचनाकाल तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व से प्राचीन नहीं हो सकता। इन समस्त दृष्टियों से मनुस्मृति की रचना को दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व से लेकर ईसा की दूसरी शताब्दी के अन्तर्गत रखा जा सकता है।

बौद्ध-साहित्य

ब्राह्मण साहित्य के पश्चात् सामाजिक व्यवस्था का अध्ययन करने के हेतु बौद्ध एवं जैन साहित्य का महत्व सबसे अधिक है। बौद्धों के धार्मिक सिद्धान्त त्रिपिटक (विनयपिटक सुत्तपिटक, और अभिधम्मपिटक) में संग्रहीत हैं। विनयपिटक निम्नलिखित रूपों में उपलब्ध होता है—

(१) थेरवादियों का पाली भाषा में।
(२) मूलसर्वास्तिवादियों का तिब्बती और चीनी अनुवादों में।
(३) सर्वास्तिवादी धर्मगुप्तों, महीशासकों और महासंघिकों का चीनी अनुवाद में।
(४) संस्कृत में प्राप्त अंश।[1]

इन विभिन्न विनयों के आधार-भूत नियम प्रारम्भ में समान थे। परन्तु कालान्तर में विकास-क्रम में इनमें पारस्परिक विभिन्नता उत्पन्न होती गई।[2] जहाँ तक पाली और चीनी सुत्तों का सम्बन्ध है, उनकी सामग्री प्रायः एक ही है। अन्तर एकमात्र संगठन का है।[3] बौद्ध परम्परा के अनुसार विनय और सुत्त पिटकों की रचना महात्मा बुद्ध की मृत्यु के पश्चात् राजगृह की प्रथम बौद्ध संगीति में हुई थी। विषय-वस्तु की दृष्टि से विनयपिटक के अन्तर्गत सुत्तविभंग, महावग्ग, चुल्लवग्ग, परिवारपाठ तथा पातिमोक्ख पाठ आते हैं और सुत्तपिटक में दीघनिकाय, मज्झिमनिकाय, संयुक्तनिकाय, अंगुत्तरनिकाय तथा खुद्दक-निकाय संग्रहीत हैं। अन्तिम खुद्दकनिकाय में खुद्दकपाठ, धम्मपद, उदान, इतिवुत्तक, सुत्तनिपात, विमान-वत्थु, थेरगाथा, थेरीगाथा, जातक, निद्देस, पटिसम्भिदामग्ग, अपदान, बुद्धवंस एवं

---

[1] विंटर्निज, वही भाग दो २ पृ० १६६।

[2] वही।

[3] अनुवकी—जे० आर० ए० स० १९०१, पृ० ८६५, विंटर्निज, भाग २ पृ० २३।

चरियापिटक सम्मिलित हैं। इस समस्त साहित्य में बौद्ध संघ के नियमों एवं धार्मिक सिद्धान्तों का विवेचन ही प्रधान है। सामान्य जीवन के सरल रूपकों का प्रयोग कर भगवान बुद्ध ने विषय को सर्वग्राही एवं चित्ताकर्षक बनाने की आवश्यकता को स्पष्ट किया है। सामाजिक इतिहास की दृष्टि से ये रूपक बहुत महत्वपूर्ण हैं, क्योंकि वे प्रत्यक्षरूप से प्राचीन भारत के किसानों, व्यापारियों एवं शिल्पियों के दैनिक जीवन पर पूर्ण प्रकाश डालते हैं।

अभिधम्मपिटक थेरवाद और सर्वास्तिवाद नामक दो सम्प्रदायों में ही पाया जाता है। बौद्ध परम्परा के अनुसार इस ग्रन्थ में भी महात्मा बुद्ध के ही मुख-निस्सृत आदेशों का संग्रह है।[1] परन्तु यह असंगत प्रतीत होता है, क्योंकि दोनों सम्प्रदायों के अभिधम्मपिटकों में जिन मतों का उल्लेख है, वे नितान्त भिन्न हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि निकाय-काल के पश्चात् सुत्तों के आधार पर अभिधम्मों का संगठन एवं विकास भिन्न-भिन्न साम्प्रदायिक आवश्यकताओं की पूर्ति के हेतु हुआ था। थेरवाद के अभिधम्मपिटक में धम्मसंगणि, विभंग, पुग्गलपंजति, धातुकथा, पट्ठान यमक और कथावत्थुप्पकरण तथा सर्वास्तिवाद के अभिधम्म पिटक में ज्ञानप्रस्थान और ६ पादशास्त्र सम्मिलित हैं।

त्रिपिटक के अतिरिक्त बौद्ध साहित्य में कथावत्थु का एक विशेष स्थान है। बौद्ध परम्परा के अनुसार इसकी रचना तिस्स ने अशोक के समय हुई तृतीय बौद्ध संगीति के अवसर पर की थी। परन्तु भाषा और विषय के वैभिन्य से ऐसा प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थ की रचना समय-समय पर अंशों में हुई। हाँ, यह स्वीकार करने में विशेष आपत्ति प्रतीत नहीं होती कि इसका प्राथमिक रूप तृतीय बौद्ध संगीति में निर्मित हुआ होगा।

कथावत्थु निकायों का उल्लेख करता है। अतः निकायों की रचना कथावत्थु के पूर्व हुई होगी। भाषा, वर्णन-शैली और सैद्धान्तिक प्रतिपादन से भी इसी निष्कर्ष की पुष्टि होती है। अशोक निकायों में वर्णित धर्मपर्यायों से परिचित प्रतीत होता है।[2] भरहुत और सांची के अभिलेख यह सिद्ध करते हैं कि ई० पू० द्वितीय शताब्दी तक निकाय निर्मित हो चुके थे।[3] पुनः बौद्ध परम्परा के अनुसार समस्त पाली त्रिपिटक ई० पू० प्रथम शताब्दी तक लंका में लेख-बद्ध हो चुके थे।[4] इन समस्त आधारों से ऐसा प्रतीत होता है कि निकायों की रचना ई० पू० पाँचवीं शताब्दी से लेकर ई० पू० तीसरी शताब्दी तक हो चुकी थी।

सामाजिक व्यवस्था का अध्ययन करने में बौद्ध जातक सबसे अधिक सहायता प्रदान करते हैं। जातकों में बुद्ध के बोधिसत्वों के रूप में पिछले जन्मों से सम्बन्धित बातों का वर्णन आख्यायिकाओं के रूप में किया गया है। केवल कला और साहित्य का ही नहीं, वरन् ईसा पूर्व की शताब्दियों के भारतीय जीवन का सच्चा रूप जातक-साहित्य में उपलब्ध होता है।

बौद्ध-साहित्य पर अन्तिम दृष्टि डालते समय 'मिलिन्दप्रश्न' पर भी ध्यान जाता है। यह ग्रन्थ जनश्रुति के अनुसार इण्डो-यूनानी आक्रमणकारी 'मेनाण्डर' से सम्बन्धित है।

---

[1] अट्ठसालिनी, पृ० २३.।

[2] भण्डारकर—अशोक ८६, विंटर्निज, वही, अपेंडिक्स ३, कीथ, बुद्धिस्ट फिलासफी, पृ० १७.।

[3] विंटर्निज, वही १७-१८.।

[4] वही, पृ० ८७, ६१७.।

सिद्धान्ततः यह ग्रन्थ पूर्ववर्ती बौद्ध-साहित्य के ही अनुरूप है, किन्तु इसके कथोपकथन सुत्तपिटक के उपदेशों से अधिक विकसित एवं परिमार्जित प्रतीत होते हैं और इसी से 'मिलिन्दपन्ह' का समय ईसा की प्रथम शताब्दी तक माना जा सकता है। इस ग्रन्थ के निर्माण का उद्देश्य बौद्धधर्म के विषय में प्रचलित शंकाओं का समाधान करना था। ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर मेनाण्डर का समय दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व के लगभग निश्चित किया जाता है। अतएव हर दृष्टि से 'मिलिन्दपन्ह' ईसा पूर्व की प्रथम शताब्दी से पूर्व की रचना नहीं हो सकती।

बौद्ध संगीतियां

प्रथम बौद्ध संगीतिः— इस सम्बन्ध में बौद्ध संगीतियों पर विचार कर लेना आवश्यक जान पड़ता है, क्योंकि बौद्ध व्यवस्था के विकास में इनका विशेष हाथ रहा है।

प्रायः समस्त बौद्ध ग्रन्थ इस बात पर एकमत हैं कि महात्मा बुद्ध की मृत्यु के पश्चात् ही प्रथम बौद्ध संगीति आयोजित हुई थी। चुल्लवग्ग इस संगीति के अधिवेशन की आवश्यकता बताते हुए उल्लेख करता है कि महात्मा बुद्ध की मृत्यु के अवसर पर जब समस्त भिक्षु शोकमग्न थे, उसी समय सुभद्द नामक एक भिक्षु ने यह कह कर तथागत की मृत्यु पर सन्तोष प्रकट किया कि अब हम सब महात्मा बुद्ध द्वारा प्रतिपादित अनेकानेक दुःसह विधि-निषेधों से मुक्त हो गये। अब हम सब स्वेच्छानुसार आचरण कर सकेंगे। इस भिक्षु के इस प्रकार के उत्तरदायित्वहीन कथन ने संघ-भेद की शंका उत्पन्न कर दी। इस भय-निवारण का एकमात्र उपाय यही था कि महात्मा बुद्ध के समस्त उपदेशों को संग्रहीत कर धम्म और विनय को निश्चितरूप दे दिया जाय जिससे कोई भी भिक्षु धर्म के नाम पर अधर्म का प्रतिपादन न कर सके। बस, इसी ध्येय से महाकस्सप ने ५०० भिक्षुओं की एक संगीति राजगृह में आयोजित की थी।

ओल्डेनबर्ग महोदय इस संगीति की ऐतिहासिकता में विश्वास नहीं करते। इस अविश्वास के पक्ष में उनका तर्क यही है कि यद्यपि चुल्लवग्ग और महापरिनिब्बान सुत्त दोनों में ही सुभद्द की धृष्ट घोषणा का उल्लेख है तथापि प्रथम बौद्ध संगीति के अधिवेशन के विषय में महापरिनिब्बानसुत्त एकदम मौन है। अतः निश्चित है कि वह प्रथम संगीति के अधिवेशन से अवगत न था और चुल्लवग्ग में उल्लिखित इस संगीति का वर्णन कालान्तर की कपोल-कल्पना है। फ्रैन्क (Franke) ने भी इसी मत का प्रतिपादन किया था। परन्तु यह मत ग्राह्य प्रतीत नहीं होता। जैकोबी ने इन विद्वानों के मत का खण्डन किया है। वे प्रथम संगीति की ऐतिहासिकता में विश्वास करते हैं। उनका कथन है कि अप्रासंगिकता-दोष से बचने के लिये ही महापरिनिब्बान सुत्त ने इस संगीति का वर्णन नहीं किया है।[1] इस संगीति के विषय में मौन आकस्मिक (accidental) भी हो सकता है। उदाहरणार्थ, तिब्बती दुल्व में सुभद्द की धृष्टता का तो उल्लेख है परन्तु इसमें भी बौद्ध संगीति का वर्णन नहीं है। परन्तु इसका निष्कर्ष यह नहीं हो सकता कि तिब्बती दुल्व को भी प्रथम बौद्ध संगीति का ज्ञान न था। पुनः मूल-सर्वास्तिवादियों के विनय संयुक्तवस्तु में

---

[1] ZDMG, 1880, p. 184।

महापरिनिर्वाण के साथ-साथ इस संगीति का वर्णन भी प्राप्त होता है[1]। इसके अतिरिक्त समस्त बौद्ध सम्प्रदायों की अनुश्रुतियां इस संगीति के अधिवेशन के पक्ष में हैं। अतः इसकी ऐतिहासिकता को अस्वीकार करने का कोई कारण नहीं रह जाता। हां, यह बहुत सम्भव है कि धम्म और विनय की विशालकाय नियमावली का पाठ उस संगीति में न हुआ हो। उसके स्थान पर उनके आधार-भूत सिद्धान्तों का ही निर्धारण हुआ हो। त्रिपिटकों का विकास उन्हीं आधार-भूत सिद्धान्तों के आधार पर कालान्तर में हुआ।

द्वितीय बौद्ध संगीति :—इस बौद्ध संगीति के अधिवेशन का कारण बौद्ध भिक्षुकों का सैद्धान्तिक मतभेद था। वैशाली के भिक्षु 'दस सिद्धान्तों (Ten Points) में विश्वास करते थे। परन्तु यस नामक एक भिक्षु ने उन्हें धर्मविरुद्ध घोषित किया। दीर्घकालीन पारस्परिक विवाद के पश्चात् दोनों पक्षों के मतभेद पर निर्णय देने के हेतु यह संगीति आयोजित हुई थी। यद्यपि प्रत्येक ग्रंथ में इन सिद्धान्तों की संख्या दस दी गई है तथापि उनके नाम और अर्थ भिन्न-भिन्न मिलते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि अनुश्रुति में एकमात्र सिद्धान्तों की संख्या ही सुरक्षित रही। परन्तु वास्तव में वे सिद्धान्त क्या थे, उनका अर्थ क्या था, यह ब्योरा वैशाली संगीति के कुछ समय पश्चात् विस्मृत हो गया। अतः उनकी संख्या के आधार पर भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय ने भिन्न-भिन्न प्रकार से १० सिद्धान्तों की कल्पना कर ली। चुल्लवग्ग में संगीति में भाग लेने वाले अर्हतों की संख्या ८ बताई गई है। परन्तु कालान्तर में यह संख्या बढ़ते-बढ़ते ७०० हो गई। इन अर्हतों के नाम, स्थान और काल में भी बड़ी विषमता है।[2] यही नहीं, दीपवंश का तो कथन है कि वैशाली की संगीति में पराजित होने के पश्चात् यस के पक्षपातियों ने एक पृथक् महासंगीति की जिसमें १०००० भिक्षुओं ने भाग लिया और जिन्होंने नवीन धम्म और विनय की स्थापना की। परन्तु ये समस्त कथन विश्वसनीय नहीं है। चुल्लवग्ग का वर्णन सबसे अधिक प्राचीन एवं ऐतिहासिक है। उसके पश्चात्, जैसा कि प्रत्येक महत्वपूर्ण घटना के साथ होता है, इस वर्णन में समय-समय पर अनेक आश्चर्यजनक बातें जुड़ती रहीं। परिणामतः अनेक बौद्ध ग्रन्थों में इस संगीति की रूप-रेखा अविश्वसनीय हो गई है। परन्तु एकमात्र प्रक्षिप्तांशों के आधार पर हम संगीति की ऐतिहासिकता को अस्वीकृत नहीं कर सकते। इस सम्बन्ध में एक बात बड़ी महत्वपूर्ण प्रतीत होती है। विनय का जो आधुनिक रूप है, उसमें विवाद-ग्रस्त दसों सिद्धान्तों के उत्तर बड़ी सुगमता से प्राप्त हो जाते हैं। परन्तु द्वितीय बौद्ध संगीति को इनके उत्तरों का निर्णय करने के हेतु अत्यधिक आयास और विवाद करना पड़ा। इससे कतिपय विद्वानों का निष्कर्ष है कि कदाचित् द्वितीय बौद्ध संगीति तक विनय का पूर्ण

---

[1] मूलसर्वास्तिवादनिकायसंयुक्त वस्तु—इण्डियन ऐन्टीक्वेरी १६०८, पृ० ८ पाद टिप्पणी ३६।

[2] दुल्व, महावंश।

[3] महावंश आठों अर्हतों को महात्मा बुद्ध का समकालीन बताता है।

[4] अर्हतों के नामों और निवास-स्थानों के विषय पर चुल्लवग्ग, तिब्बती, दुल्व और ह्वेनसांग में मतभेद है।

विकाश न हुआ था।[1] जहां तक इस संगीति के अधिवेशन-काल का प्रश्न है, प्रायः समस्त विद्वान् चुल्लवग्ग के उल्लेख को स्वीकार करते हैं कि यह महात्मा बुद्ध की मृत्यु के लगभग १०० वर्ष पश्चात् हुआ था।

तृतीय बौद्ध संगीति :—इसका वर्णन एकमात्र दीपवंश, महावंश और समन्त-पासादिका में ही उपलब्ध होता है। उत्तरी भारत, चीन और तिब्बत के बौद्ध ग्रंथ एवं अनुश्रुतियां इस संगीति से अपरिचित हैं। ह्वेनसांग ने अपने लेखों में इसका कोई उल्लेख नहीं किया है। अशोक के, जिसके शासन-काल में इसका अधिवेशन बताया जाता है, अभिलेखों में भी इसका कोई वर्णन नहीं। अतः अनेक विद्वान् इसकी ऐतिहासिकता में अविश्वास करते हैं। यह अविश्वास दीपवंश और महावंश के संगीति-सम्बन्धी वर्णन से और भी बढ़ जाता है। इस वर्णन के अनुसार अशोक के शासन-काल में प्रायः प्रत्येक संघ में बौद्धों के रूप में बहुसंख्यक बौद्धेतर भिक्षु प्रविष्ट हो गये थे। उनके प्रवेश से संघ की धार्मिक व्यवस्था शिथिल हो गई और वास्तविक बौद्ध भिक्षुओं ने उपोसथ और पवारणा करना भी स्थगित कर दिया। अशोक ने जब यह समाचार सुना तो उसे बड़ा खेद हुआ। उसने वास्तविक और कृत्रिम बौद्ध भिक्षुओं के अभिज्ञान के हेतु पाटलिपुत्र में तिस्स मोग्गलिपुत्त की अध्यक्षता तक में भारतवर्ष के समस्त भिक्षुओं की एक संगीति की। इसमें तिस्स ने समस्त बौद्धेतर भिक्षुओं के सिद्धान्तों की निस्सारता प्रदर्शित की। एकमात्र विभज्जवादी ही ऐसे थे जिनके सिद्धान्त सत्य प्रमाणित हुए। इसके पश्चात् तिस्स ने कथावत्थु की रचना की। इस प्रकार के वर्णन में जो विस्तृत ब्योरा है वह बड़ा ही सन्दिग्ध प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ, संघ में अज्ञातरूप से सहस्त्रों बौद्धेतर भिक्षुओं का प्रवेश, स्वयं अशोक की राजधानी के आराम में ७ वर्ष तक उपोसथ का बन्द रहना और फिर भी अशोक को उसका पता न चलना, तिस्स मोग्गलिपुत्त में दैवी शक्तियों का होना और फिर भी राज्य के ऐसे असाधारण मनुष्य से अशोक का १८ वर्ष तक अपरिचित रहना आदि कुछ ऐसे विषय हैं जो अविश्वास की भावना उत्पन्न करते हैं। इसी से डा० आर० सी० मजूमदार इस संगीति की ऐतिहासिकता में शंका करते हैं। उनका यह मत कि यदि अशोक के काल में बौद्ध संगीति हुई भी तो वह एक बौद्ध सम्प्रदाय की ही थी, समस्त बौद्ध भिक्षुओं की नहीं।[2] अतः इससे सम्पूर्ण देश के बौद्धों के हेतु धर्म की व्यवस्था की आशा करना असंगत प्रतीत होता है।

चतुर्थ बौद्ध संगीति :—इस संगीति का अधिवेशन कनिष्क के काल में हुआ था। यद्यपि अन्य अधिकांश बौद्ध ग्रन्थों में इसका उल्लेख है तथापि दीपवंश और महावंश इसके विषय में मौन हैं। समस्त साक्ष्यों के आधार पर यही निष्कर्ष निकलता है कि यह संगीति धार्मिक मतभेदों का निराकरण करने के हेतु हुई थी। परन्तु फिर भी इनमें अनेक प्रकार के भिन्न-भिन्न उल्लेख हैं। ह्वेनसांग के अनुसार यह संगीति काश्मीर में हुई। इसके विरुद्ध तारानाथ का कथन है कि यह जालन्धर में हुई। ह्वेनसांग के वर्णनानुसार इस संगीति ने सूत्र, विनय एवं अभिधर्म के ऊपर टीकायें लिखी थीं। तारानाथ का कथन

---

[1] बुद्धिस्टिक स्टडीज पृ० ६४।

[2] बुद्धिस्टिक स्टडीज पृ० ६८।

है कि इस समय देश में बौद्धों के १८ सम्प्रदाय थे। संगीति ने सब के सिद्धान्तों की मान्यता स्वीकार कर ली और सूत्र, विनय तथा धर्म के जो भाग अभी तक आलिखित थे उन्हें लेखबद्ध किया। पुनः तिब्बती 'लाइफ आफ दि बुद्ध' का उल्लेख है कि इस संगीति ने समस्त बौद्ध ग्रन्थों के संग्रह करने का कार्य किया था। इन मतों में से तारानाथ का मत ग्रहण करना कठिन प्रतीत होता है, क्योंकि उसका अर्थ तो यह होगा कि ईसा की प्रथम शताब्दी तक सूत्र, विनय और अभिधर्म का पूर्ण लिखित रूप न हुआ था। जहां तक दो अन्य मतों का प्रश्न है, उनमें कोई परस्पर-विरोध नहीं है। सम्भव है कि संगीति ने बौद्ध ग्रन्थों का संग्रह किया हो और उस पर टीकायें भी लिखी हों।

जैन-साहित्य

बौद्ध साहित्य के समान जैन साहित्य भी हमारे सामाजिक इतिहास के लिये उपयोगी है। इसमें जैन आगम सर्वोपरि है। इसमें साधारणतया १२ अंग, १२ उपांग, १० प्रकीर्ण, ६ छेद सूत्र, नन्दि-सूत्र, अनुयोगद्वार और मूल-सूत्र परिगणित होते हैं। इनकी रचना अथवा संकलन किसी एक व्यक्ति अथवा एक काल का कार्य नहीं है। वास्तव में इनका जन्म ईसा पूर्व चौथी शताब्दी से लेकर ईसा की छठी शताब्दी तक के दीर्घकाल में भिन्न-भिन्न धार्मिक समितियों और व्यक्तियों के दीर्घप्रयास से हुआ। जैन जनश्रुति के अनुसार महावीर स्वामी की आदि शिक्षायें १४ पर्वों में संकलित थीं परन्तु शीघ्र ही वे विस्मृत हो गये। महावीर स्वामी की मृत्यु के लगभग १६० वर्ष के पश्चात् (ई० पू० ३०७) अपनी विच्छृङ्खल धर्म-परम्पराओं को संग्रहीत एवं संगठित करने के हेतु जैन भिक्षुओं ने पाटलिपुत्र में प्रथम अपनी धर्म-समिति का अधिवेशन किया। पुनः महावीर स्वामी की मृत्यु के पश्चात् ८२७ और ८४० वर्षों के बीच देश में भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा जिसके परिणामस्वरूप या तो अनेकानेक विद्वान् जैन भिक्षु कालकवलित हुए या अध्ययनाभाव से उनके धर्म-ग्रन्थ आंशिक रूप से विलुप्त हो गये। अतः अपने धार्मिक ग्रन्थों को पुनः संगठित करने के हेतु जैन भिक्षुओं ने एक दूसरी समिति के अधिवेशन का आयोजन किया। यह समिति एक ही समय दो भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की अध्यक्षता में दो भिन्न-भिन्न स्थानों पर हुई[1]—आर्य स्कन्दिल की अध्यक्षता में मथुरा में और नागार्जुन सूरि की अध्यक्षता में वलभी में। इनमें धार्मिक ग्रन्थों का पुनः संगठन किया गया। परन्तु पृथक्-पृथक् दो स्थानों पर स्वतन्त्ररूप से आयोजित होने के कारण इन समितियों द्वारा संगठित धर्मग्रन्थों में विभेद होना स्वाभाविक था। यह विभेद बहुत दिनों तक चलता रहा। अन्त में इसके निवारण-हेतु महावीर स्वामी की मृत्यु के ९८० अथवा ९९३ वर्ष पश्चात् (५१३ अथवा ५२६ ई०) देवर्धिगणि क्षमाश्रमण के नेतृत्व में वलभी में एक अन्य समिति का आयोजन हुआ। इसके परिणामस्वरूप समस्त जैन धर्म-ग्रन्थों को लिखितरूप दिया गया। महत्व की बात यह है कि विवादग्रस्त प्रश्नों पर एक मत के अभाव में संगठनकर्त्ताओं ने इस वार भिन्न-भिन्न मतान्तरों एवं पाठान्तरों का भी उल्लेख कर दिया।[2]

---

[1]नन्दि चूर्णि ८, कथावलि २९८, ज्योतिष्करण्डक टीका ४१।

[2]वीर निर्वाण ११२-११८।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैनधर्म-ग्रन्थ किसी एक काल की रचना नहीं है। उनका संगठन भिन्न-भिन्न कालों में हुआ। बहुत सम्भव है कि उनका आंशिक रूप महावीर स्वामी के शिष्यों ने ही संगठित किया हो। कालान्तर में उसका संशोधन एवं परिवर्धन भिन्न-भिन्न समितियों में होता रहा। आज जैन आगमों का जो आकार-प्रकार है, वह प्रारम्भिक आकार-प्रकार से बहुत कुछ भिन्न है। नन्दि के अनुसार नायाधम्मकहा में साढ़े तीन करोड़ पद होने चाहिए, परन्तु उनमें पदों की संख्या इससे कहीं कम है। पुनः शीलांक, मलयगिरि आदि टीकाकारों का स्पष्ट कथन है कि अमुक सूत्र 'गलित' और 'दुर्लभ' है।[3] इसी प्रकार टीकाकार अभयदेव का कथन है कि अनेक स्थलों पर आगमों का पाठ अशुद्ध तथा दुर्बोध हैं।[4] यही नहीं, आगम के अनेक प्राचीन भाग सदैव के लिये विलुप्त हो गये हैं। उदाहरणार्थ, दिट्ठिवाय का विलोप तो स्थूलभद्र के समय से ही हो चुका था। इस प्रकार आज पंचकप्प उपलब्ध नहीं है। आचारांग सूत्र के एक अंश-महापरिण्ण की भी यही दशा है। पुनः अनेकानेक स्थलों पर जैन ग्रन्थों की सामग्री अनैतिहासिक है। उदाहरणार्थ, श्रेणिक अजातशत्रु, उदयन, और प्रद्योत ऐसे कतिपय राजाओं को छोड़ कर महावीर स्वामी के अधिकांश तथाकथित समकालीन नरेश काल्पनिक हैं। यही बात अनेक तिथियों के लिये भी सत्य है। परन्तु इन कथनों का यह तात्पर्य नहीं है कि जैन धर्म-ग्रन्थ पूर्णरुपेण अप्रामाणिक एवं अनैतिहासिक हैं। अन्य धार्मिक ग्रन्थों की भांति उनमें भी कल्पित, अतिरंजित एवं प्रक्षिप्त अंशों की धूमिल राशि के भीतर विशुद्ध ऐतिहासिक कण दबे पड़े हैं। हमारे अतीत के इतिहास-निर्माण में ये कण-पुंज अति सहायक हुए हैं। उदाहरणार्थ, भगवती सूत्र महावीर स्वामी के जीवन एवं कार्य-कलाप के ऊपर प्रचुर प्रकाश डालता है। इसी प्रकार कल्पसूत्र महावीर स्वामी, उनके गणधरों, थेरों, कुलों और शाखाओं का विस्तारपूर्वक वर्णन करता है। भाषा की दृष्टि से आचारांगसूत्र और उत्तराध्ययन सूत्र सबसे अधिक महत्वपूर्ण हैं। इनमें उपलब्ध सुन्दर उपमायें, वार्तालाप और गति प्राचीन निवृतिमार्गी साहित्य के उत्कृष्ट अंग हैं। नायाधम्मकहा में महावीर स्वामी की शिक्षायें संग्रहीत हैं। उवासगदसाओ भिक्षु-जीवन के ऊपर पर्याप्त प्रकाश डालता है।

जैन-ग्रन्थों की टीकाओं का रचना-काल पहली शताब्दी से लेकर सत्रहवीं शताब्दी तक है। अतः ये टीकायें बहुत बाद की हैं। फिर भी हमने सामाजिक इतिहास के निर्माण में इनका उपयोग किया है। इसका विशेष कारण यह है कि कालान्तर की रचनायें होते हुए भी इसमें अतिप्राचीनकाल की जनश्रुतियों एवं परम्पराओं का समावेश है। पुनः इन टीकाओं की सहायता के विना जैन आगम अनेक स्थलों पर दुर्बोध हो जायेंगे। टीकाकारों ने वृद्धसम्प्रदायों, वृद्धव्याख्यानों और पूर्वप्रबन्धों को उद्धृत करके इतिहास-संगठन में और भी अधिक सहायता प्रदान की है। इस टीका-साहित्य में निज्जुति, भास, चुण्णि और टीका सम्मिलित हैं।

---

[1]सूयगडंग टीका २.२, जीवाभिगम टीका, ६.२५७।

[2]ठाणांग टीका, १०।

है कि इस समय देश में बौद्धों के १८ सम्प्रदाय थे। संगीति ने सब के सिद्धान्तों की मान्यता स्वीकार कर ली और सूत्र, विनय तथा धर्म के जो भाग अभी तक अलिखित थे उन्हें लेखबद्ध किया। पुनः तिब्बती 'लाइफ आफ दि बुद्ध' का उल्लेख है कि इस संगीति ने समस्त बौद्ध ग्रन्थों के संग्रह करने का कार्य किया था। इन मतों में से तारानाथ का मत ग्रहण करना कठिन प्रतीत होता है, क्योंकि उसका अर्थ तो यह होगा कि ईसा की प्रथम शताब्दी तक सूत्र, विनय और अभिधर्म का पूर्ण लिखित रूप न हुआ था। जहां तक दो अन्य मतों का प्रश्न है, उनमें कोई परस्पर-विरोध नहीं है। सम्भव है कि संगीति ने बौद्ध ग्रन्थों का संग्रह किया हो और उस पर टीकायें भी लिखी हों।

जैन-साहित्य

बौद्ध साहित्य के समान जैन साहित्य भी हमारे सामाजिक इतिहास के लिये उपयोगी है। इसमें जैन आगम सर्वोपरि है। इसमें साधारणतया १२ अंग, १२ उपांग, १० प्रकीर्ण, ६ छेद सूत्र, नन्दि-सूत्र, अनुयोगद्वार और मूल-सूत्र परिगणित होते हैं। इनकी रचना अथवा संकलन किसी एक व्यक्ति अथवा एक काल का कार्य नहीं है। वास्तव में इनका जन्म ईसा पूर्व चौथी शताब्दी से लेकर ईसा की छठी शताब्दी तक के दीर्घकाल में भिन्न-भिन्न धार्मिक समितियों और व्यक्तियों के दीर्घप्रयास से हुआ। जैन जनश्रुति के अनुसार महावीर स्वामी की आदि शिक्षायें १४ पर्वों में संकलित थीं परन्तु शीघ्र ही वे विस्मृत हो गये। महावीर स्वामी की मृत्यु के लगभग १६० वर्ष के पश्चात् (ई० पू० ३०७) अपनी विच्छृङ्खल धर्म-परम्पराओं को संग्रहीत एवं संगठित करने के हेतु जैन भिक्षुओं ने पाटलिपुत्र में प्रथम अपनी धर्म-समिति का अधिवेशन किया। पुनः महावीर स्वामी की मृत्यु के पश्चात् ८२७ और ८४० वर्षों के बीच देश में भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा जिसके परिणामस्वरुप या तो अनेकानेक विद्वान् जैन भिक्षु कालकवलित हुए या अध्ययनाभाव से उनके धर्म-ग्रन्थ आंशिक रुप से विलुप्त हो गये। अतः अपने धार्मिक ग्रन्थों को पुनः संगठित करने के हेतु जैन भिक्षुओं ने एक दूसरी समिति के अधिवेशन का आयोजन किया। यह समिति एक ही समय दो भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की अध्यक्षता में दो भिन्न-भिन्न स्थानों पर हुई[1]—आर्य स्कन्दिल की अध्यक्षता में मथुरा में और नागार्जुन सूरि की अध्यक्षता में वलभी में। इनमें धार्मिक ग्रन्थों का पुनः संगठन किया गया। परन्तु पृथक्-पृथक् दो स्थानों पर स्वतन्त्ररूप से आयोजित होने के कारण इन समितियों द्वारा संगठित धर्मग्रन्थों में विभेद होना स्वाभाविक था। यह विभेद बहुत दिनों तक चलता रहा। अन्त में इसके निवारण-हेतु महावीर स्वामी की मृत्यु के ६८० अथवा ६६३ वर्ष पश्चात् (५१३ अथवा ५२६ ई०) देवर्धिगणि क्षमाश्रमण के नेतृत्व में वलभी में एक अन्य समिति का आयोजन हुआ। इसके परिणामस्वरूप समस्त जैन धर्म-ग्रन्थों को लिखितरूप दिया गया। महत्व की बात यह है कि विवादग्रस्त प्रश्नों पर एक मत के अभाव में संगठनकर्त्ताओं ने इस बार भिन्न-भिन्न मतान्तरों एवं पाठान्तरों का भी उल्लेख कर दिया।[2]

---

[1] नन्दि चूर्णि ८, कथावलि २९८, ज्योतिष्करण्डक टीका ४१।

[2] वीर निर्वाण ११२-११८।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैनधर्म-ग्रन्थ किसी एक काल की रचना नहीं है। उनका संगठन भिन्न-भिन्न कालों में हुआ। बहुत सम्भव है कि उनका आंशिक रूप महावीर स्वामी के शिष्यों ने ही संगठित किया हो। कालान्तर में उसका संशोधन एवं परिवर्धन भिन्न-भिन्न समितियों में होता रहा। आज जैन आगमों का जो आकार-प्रकार है, वह प्रारम्भिक आकार-प्रकार से बहुत कुछ भिन्न है। नन्दि के अनुसार नायाधम्मकहा में साढ़े तीन करोड़ पद होने चाहिए, परन्तु उनमें पदों की संख्या इससे कहीं कम है। पुनः शीलांक, मलयगिरि आदि टीकाकारों का स्पष्ट कथन है कि अमुक सूत्र 'गलित' और 'दुर्लक्ष' है।[3] इसी प्रकार टीकाकार अभयदेव का कथन है कि अनेक स्थलों पर आगमों का पाठ अशुद्ध तथा दुर्बोध हैं।[4] यही नहीं, आगम के अनेक प्राचीन भाग सदैव के लिये विलुप्त हो गये हैं। उदाहरणार्थ, दिट्ठिवाय का विलोप तो स्थूलभद्र के समय से ही हो चुका था। इस प्रकार आज पंचकप्प उपलब्ध नहीं है। आचारांग सूत्र के एक अंश-महापरिण्णा की भी यही दशा है। पुनः अनेकानेक स्थलों पर जैन ग्रन्थों की सामग्री अनैतिहासिक है। उदाहरणार्थ, श्रेणिक अजातशत्रु, उदयन, और प्रद्योत ऐसे कतिपय राजाओं को छोड़ कर महावीर स्वामी के अधिकांश तथाकथित समकालीन नरेश काल्पनिक हैं। यही बात अनेक तिथियों के लिये भी सत्य है। परन्तु इन कथनों का यह तात्पर्य नहीं है कि जैन धर्म-ग्रन्थ पूर्णरूपेण अप्रामाणिक एवं अनैतिहासिक हैं। अन्य धार्मिक ग्रन्थों की भांति उनमें भी कल्पित, अतिरंजित एवं प्रक्षिप्त अंशो की धूमिल राशि के भीतर विशुद्ध ऐतिहासिक कण दबे पड़े हैं। हमारे अतीत के इतिहास-निर्माण में ये कण-पुंज अति सहायक हुए हैं। उदाहरणार्थ, भगवती सूत्र महावीर स्वामी के जीवन एवं कार्य-कलाप के ऊपर प्रचुर प्रकाश डालता है। इसी प्रकार कल्पसूत्र महावीर स्वामी, उनके गणधरों, थेरों, कुलों और शाखाओं का विस्तारपूर्वक वर्णन करता है। भाषा की दृष्टि से आचारांगसूत्र और उत्तराध्ययन सूत्र सबसे अधिक महत्वपूर्ण हैं। इनमें उपलब्ध सुन्दर उपमायें, वार्तालाप और गति प्राचीन निवृतिमार्गी साहित्य के उत्कृष्ट अंग हैं। नायाधम्मकहा में महावीर स्वामी की शिक्षायें संग्रहीत हैं। उवासगदसाओ भिक्षु-जीवन के ऊपर पर्याप्त प्रकाश डालता है।

जैन-ग्रन्थों की टीकाओं का रचना-काल पहली शताब्दी से लेकर सत्रहवीं शताब्दी तक है। अतः ये टीकायें बहुत बाद की हैं। फिर भी हमने सामाजिक इतिहास के निर्माण में इनका उपयोग किया है। इसका विशेष कारण यह है कि कालान्तर की रचनायें होते हुए भी इसमें अतिप्राचीनकाल की जनश्रुतियों एवं परम्पराओं का समावेश है। पुनः इन टीकाओं की सहायता के बिना जैन आगम अनेक स्थलों पर दुर्बोध हो जायेंगे। टीकाकारों ने वृद्धसम्प्रदायों, वृद्धव्याख्यानों और पूर्वप्रबन्धों को उद्धृत करके इतिहास-संगठन में और भी अधिक सहायता प्रदान की है। इस टीका-साहित्य में निज्जुति, भास, चुण्णि और टीका सम्मिलित हैं।

---

[3] सूयगडंग टीका २.२, जीवाभिगम टीका, ६.२५७।

[4] ठाणांग टीका, १०।

विदेशीय विवरण

भारतीय साहित्य की भाँति विदेशीय साहित्य ने भी हमारे काल के इतिहास-निर्माण में पर्याप्त सहायता प्रदान की है। इन विदेशियों ने आत्मानुभव अथवा जनश्रुति के आधार पर वर्णन किया है। प्रत्यक्ष रूप से अनुभूत विषयों के वर्णन साधारणतया सत्य और तथ्यपूर्ण हैं। परन्तु जनश्रुतियों के आधार पर लिखित विषयों में प्रायः असत्यता, अप्रामाणिकता अथवा अतिरंजन-दोष आ गया है। पुनः इन विदेशियों की स्वदेशीय धारणाओं ने भी बहुधा भारतीय विषयों के स्वतन्त्र वर्णन में बाधा पहुँचाई है। उदाहरणार्थ, भारतवर्ष की वर्ण-व्यवस्था मेगास्थनीज के लिये एक नवीन वस्तु थी। अपने देश के विभिन्न वर्गों की भाँति वह इस भारतीय व्यवस्था को भी श्रम-विभाजन से अधिक और कुछ न समझ सका। इसी प्रकार भारतीय देवी-देवताओं में इन विदेशियों ने स्वयं अपने देश के देवी-देवताओं का आरोपण किया है। परन्तु इन कतिपय दोषों के होते हुए भी इनके अधिकांश उल्लेख सत्य हैं।

सर्वप्रथम यूनानी विदेशीय, जिसने भारतवर्ष के विषय में लिखा है—स्काइलैक्स (Scylax) था। हेरोडोटस[1] का कथन है कि पारसीक नरेश दारा ने उसे सिन्धु नदी के तटीय प्रदेशों की खोज करने के लिये भेजा था। उसने इस प्रदेश की भौगोलिक स्थिति का वर्णन किया है। तत्पश्चात् स्काइलैक्स और पारसीकों की सूचना के आधार पर हिकैटिअस (Hecataeus)—ई० पू० ५४९–४८६ ई० पू०–ने अपनी 'जिआग्रफी' में भारतवर्ष के उत्तर-पश्चिमी प्रदेश के विषय में कतिपय उल्लेख किये हैं। परन्तु इन दोनों विदेशियों के उल्लेखों से भारत-सम्बन्धी किसी महत्वपूर्ण विषय पर प्रकाश नहीं पड़ता। इस प्रकार का प्रकाश सर्वप्रथम हेरोडोटस (ई० पू० ४८४-४३१ ई० पू०) की 'हिस्टोरिका' से पड़ता है। यही सर्वप्रथम ग्रन्थ है जो इतिहास के सन्निकट है। यही कारण है कि हेरोडोटस इतिहास का जन्मदाता (Father of History) कहा गया है। इसके पश्चात् कैशिअस का नाम आता है। यह यूनानी लेखक पारसीक नरेश अर्टाजर्गजीज (Artaxerxes) का वैद्य था। राजसभा में होने के कारण यह व्यक्ति ऐसे पारसीक पदाधिकारियों के सम्पर्क में आया था जो स्वयं भारतवर्ष आये थे। यही नहीं, कैशिअस स्वयं फारस में आये हुए कतिपय भारतीय स्त्री-पुरुषों से मिला था। अतः भारतीय विषयों के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने के हेतु उसे पहले से अधिक साधन उपलब्ध हो गये थे। इन साधनों की सहायता से उसने भारतवर्ष से सम्बन्धित अनेक बातें लिखी हैं। परन्तु उसके ये उल्लेख किम्वदन्तियों के मिल जाने से अनेक स्थलों पर असत्य अथवा अवास्तविक हो गये हैं। यही कारण है कि वह मिथ्यावादी ठहराया गया है। यदि कैशिअस जनश्रुतियों एवं किम्वदान्तियों को ग्रहण करने के पूर्व अपनी समालोचनात्मक बुद्धि से काम लेता तो उसके वर्णन ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण होते।

परन्तु भारत के सम्बन्ध में अभी तक जितनी बातें लिखी गई थीं वे अधिकांशतः जनश्रुतियों, कथानकों एवं किम्वदन्यियों पर आधारित थीं। अतः उनमें ऐतिहासिक तथ्य कम है। परन्तु सिकन्दर के आक्रमण के पश्चात् स्थिति परिवर्तित हो गई। इस विदेशीय आक्रमणकारी के साथ अरिस्टोव्यूलस, निआर्कस और ओनेसिक्रिटस ऐसे लेखक भी आये

[1] हैरोडोटस ४, ४४।

थे। यद्यपि इनके मूल-लेख विलुप्त हो गये हैं तथापि परकालीन लेखकों—स्ट्रैबो, प्लिनी, एरिअन आदि ने इनके उदाहरण दिये हैं जिनसे प्रतीत होता है कि उनके मूल-लेख कितने तथ्यपूर्ण और ऐतिहासिक रहे होंगे।

इन लेखकों के पश्चात् मेगास्थनीज् और डीमैकस के नाम आते हैं। जैसा कि सर्वविदित है, ये सीरिया-राज्य की ओर से क्रमशः मौर्यनरेश चन्द्रगुप्त और बिम्बिसार की राजसभाओं में राजदूत के रूप में आये थे। अभाग्यवश मेगास्थनीज़ की 'इण्डिका' भी विलुप्त हो गई है। परन्तु उसके अनेकानेक उद्धरण स्ट्रैबो, एरिअन आदि परकालीन लेखकों के वर्णनों में मिलते हैं। यूनानी इतिहासकारों ने मेगास्थनीज् की कटु आलोचना की है। स्ट्रैबों के आधार पर स्वानबेक[1] का कथन है कि 'साधारणतया जिन मनुष्यों ने भारतवर्ष के विषय में लिखा है वे सब मिथ्यावादी थे। इस सूची में डीमैकस अग्रगण्य है, मेगास्थनीज् उसके पश्चात् आता है। ओनेसिक्रिटस, निआर्कस और उन्हीं की कोटि के अन्य व्यक्तियों के कथनों में यत्र-तत्र वास्तविकता के कुछ शब्द-मात्र प्राप्त होते हैं। सिकन्दर का इतिहास लिखते समय हमें इस बात पर और भी अधिक विश्वास हो गया है। डीमैकस और मेगास्थनीज् पूर्णरूप से अविश्वसनीय हैं।' इसी प्रकार प्लिनी[2] भी मेगास्थनीज् के उल्लेखों को अविश्वसनीय, परस्पर-विरोधी और अध्ययन के लिये व्यर्थ बताता है।

उपर्युक्त आरोप आंशिक रूप से ही सत्य हैं। जिन स्थानों पर मेगास्थनीज् ने जनश्रुतियों, कथानकों और किम्वदन्तियों को अक्षरशः सत्य समझ कर ग्रहण कर लिया है वहाँ के उल्लेख वास्तव में उपहासास्पद हो गये हैं। उदाहरणार्थ, उसके अमानवी दीर्घकर्ण, मुखहीन, नासिका-हीन और एकाक्षी जातियों के उल्लेख वास्तविकता से नितान्त परे हैं। परन्तु यह स्वीकार करना पड़ेगा कि इनकी कल्पना उसके मस्तिष्क की उपज नहीं है। उसने स्वयं जानबूझकर मिथ्या उल्लेखों की रचना नहीं की है। उसका दोष इतना ही है कि उसने जनता में प्रचलित अनेक मिथ्या कथानकों को वास्तविक समझ कर ग्रहण कर लिया। परन्तु वास्तव में यह आश्चर्य की बात है। मेगास्थनीज् ऐसे व्यक्ति से यही आशा की जाती थी कि वह अपनी समालोचनात्मक बुद्धि से सत्य और असत्य, ऐतिहासिक और काल्पनिक तथ्यों का निरूपण करने में समर्थ होगा। पर फिर भी यह निश्चित है कि जिन स्थानों पर उसने स्वानुभव के आधार पर वर्णन किये हैं वे अधिकांशतः सत्य हैं और उसकी सारग्राहिणी क्षमता को परिलक्षित करते हैं। जहाँ तक डीमैकस का प्रश्न है, इसके भारतवर्ष-विषयक कोई महत्वपूर्ण उल्लेख प्राप्त नहीं हुए हैं। स्ट्रैबो के कथनानुसार इसने भारतवर्ष की भौगोलिक स्थिति एवं आकार-प्रकार का वर्णन किया था। परन्तु यह वर्णन इतने अवास्तविक और अतिरंजित हैं कि स्ट्रैबो उसे समस्त लेखकों में सबसे बड़ा मिथ्यावादी समझता है।[3]

परन्तु स्ट्रैबो पैट्रोक्लीज नामक एक अन्य यूनानी लेखक के सत्य-वर्णन की प्रशंसा करता है।[4] यह व्यक्ति सेल्यूकस और ऐण्टिआकस प्रथम (ई० पू० २८१-ई० पू० २६१-) की

---

[1] पृ० ७०.।

[2] नेचरल हिस्ट्री ६-२१, ३,।

[3] स्ट्रैबो १५, १, १२, १५, १, १०,।

[4] स्ट्रैबो बुक २, ६,।

अधीनता में सीरिया-साम्राज्य के पूर्वी प्रदेशों में एक उच्च पदाधिकारी था। पूर्वी प्रदेशों का भूगोल लिखते समय इसने भारतवर्ष का वर्णन किया है। इसके इस वर्णन से कालान्तर में स्ट्रैबो और इरैस्थीनीज् (ई० पू० २७६–१६४ ई० पू०) को वड़ी सहायता मिली थी। इसके पश्चात् पोलीविअस (१४४ ई० पू०) और 'पेरिप्लस' (१०० ई० पू०) ने भी भारतवर्ष के विषय में हमें महत्वपूर्ण ऐतिहासिक सामग्री प्रदान की है। इन समस्त विदेशीय साक्ष्यों का समालोचनात्मक रूप से विवेचन करने पर हमें इनकी उपयोगिता स्पष्टतया विदित हो जाती है।

भारतीय सामाजिक इतिहास के निर्माण में हमें अभिलेखों से एवं पुरातत्व-सामग्री से भी पर्याप्त सहायता मिलती है। हमारे काल में आने वाले अभिलेखों में अशोक के अभिलेख सर्वप्रमुख हैं। वास्तव में अशोक-कालीन भारत की सामाजिक अवस्था इस सम्राट् द्वारा निर्मित पाषाण-खण्डों में सम्यक् रूप से प्रतिविम्बित होती है। इन पाषाण-स्तम्भों और शिलाओं की सूचनात्मकता एवं उपयोगिता इसी बात से स्पष्ट हो जाती है कि प्रसिद्ध इतिहासकार डाक्टर डी० आर० भण्डारकर ने एकमात्र उन्हीं के आधार पर अशोककालीन इतिहास के निर्माण की सफल चेष्टा की है। परन्तु इतना होते हुए भी हम इन अभिलेखों को पूर्ण एवं सर्वथा पर्याप्त नहीं कह सकते। अनेक महत्वपूर्ण विषयों पर वे मौन हैं। उदाहरणार्थ, वे अशोक के पिता और पितामह का नामोल्लेख तक नहीं करते। उनके अनेक स्थल अस्पष्ट हैं और इतिहास-जगत् में विवाद के कारण बन गये हैं।[1] पुनः राजकीय लेख होने के कारण उनमें एक-पक्षीयता एवं राजप्रशंसात्मकता की भी शंका की जा सकती है। उदाहरणार्थ, इसी आधार पर रीज डेविड्ज़ महोदय तेरहवें शिलालेख के उस अंश को स्वीकार करने में संकोच करते हैं जहाँ अशोक सीरिया, मिश्र, मेसीडोनियां, एपिरस और सिरीन (Cyrene) ऐसे दूरस्थ देशों में अपने धर्म-कार्यों का उल्लेख करता है। इस विद्वान् का मत है कि यह उल्लेख एकमात्र राजप्रशंसा अथवा गर्वोक्ति हो सकता है। जो भी हो, इतना निश्चित है कि कतिपय त्रुटियों के होते हुए भी ये अभिलेख हमारे इतिहास-निर्माण के एक अति महत्वपूर्ण साधन हैं।

पुरातत्व सम्बन्धी सामग्री

अशोक के अभिलेखों के अतिरिक्त इस काल के कुछ अन्य भी अभिलेख हैं जो तत्कालीन सामाजिक इतिहास पर न्यूनाधिक मात्रा में प्रकाश डालते हैं। खारवेल का हाथी गुम्फा अभिलेख प्राचीन राजवंशीय शिक्षा की ओर संकेत करता है।[2] भागभद्र-कालीन विदिशा का गुरुडस्तम्भ विदेशियों के भारतीयकरण की सूचना देता है।[3] इसी प्रकार सातवाहन राजाओं के जो अनेक अभिलेख प्राप्त हुए हैं वे तत्कालीन भारत की

---

[1] लघु शिलालेख—या इमाय कालाय जबुदीपासि अमिसा देवा हुसु ते दानि मिसा कटा।
चतुर्थ शिलालेख—विमानदसणा च हस्ति दसणा च अगिसंधानि च अजानि च दिव्यानि रूपानि दसयित्पा... इत्यादि।

[2] ततो लेखरूपगणनाववहारविविधविसारदेन...।

[3] देवदेवस वासुदेवस गरुडध्वजे अयं कारिते इअ हैलिओदोरेण भागवतेन दियस।

सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक स्थिति पर प्रचुर प्रकाश डालते हैं। इन समस्त अभिलेख-साक्ष्यों का यथास्थान उपयोग किया गया है। निस्सन्देह अभिलेखों का यह साधन साहित्यिक साधन से कुछ कम महत्वपूर्ण नहीं है।

हमारे गवेषणा-निबन्ध से सम्बन्धित पुरातत्व-सामग्री में परखाम, मथुरा, कौशाम्बी वेसनगरादि की मूर्तियाँ तथा भरहुत और सांची के स्तूप विशेष उल्लेखनीय हैं। ये कला-कृतियाँ तो हैं ही, परन्तु इनके साथ-साथ तत्कालीन भारतीय जीवन के चलचित्र भी हैं। इनसे भारतीय समाज की वेश-भूषा, अन्नपान, आचार-विचार, गृह-संगठन, गृह-सामग्री एवं समृद्धि आदि विषयों पर प्रभूत प्रकाश पड़ता है। इनका सविस्तार वर्णन यथास्थान किया जायेगा।

अध्याय २

वर्ण एवं जाति

अध्याय २

वर्ण एवं जाति

भारतीय सामाजिक इतिहास में वर्ण-व्यवस्था का विशेष महत्व है। जन्म से मरण-पर्यन्त प्रत्येक हिन्दू के विभिन्न संस्कार वर्ण-भेद के अनुसार ही होते रहे हैं। उनके राजनीतिक, आर्थिक, एवं धार्मिक संगठन की रूप-रेखा भी इसी वर्ण-व्यवस्था के आधार पर बनी थी। वर्ण विरोधी बौद्ध एवं जैनधर्म भी पूर्णरूप से इसका त्याग न कर सके। अपने दीर्घकालीन इतिहास के सम-विषम पथ पर संघर्ष-विघर्ष का सामना करती हुई यह प्रणाली सतत-गति से चलती रही। सहस्रों वर्ष बीते। देश में अनेक राजनीतिक एवं धार्मिक परिवर्त्तन हुए। नये-नये राज्य बनते और बिगड़ते रहे। नये-नये धर्मों की उन्नति और अवनति होती रही। परन्तु वर्ण-व्यवस्था का विलोप न हो सका। यह आज भी विद्यमान है। देश और काल में परिवर्तन होने से इनमें परिवर्तन अवश्य हुए। एक वर्ण के ऊपर दूसरे का और दूसरे के ऊपर तीसरे का प्रभाव घटता-बढ़ता रहा। भारतीय इतिहास में प्रभाव एवं प्रभुता के लिये वर्णों का यह पारस्परिक संघर्ष सामाजिक इतिहास के लिये उतना ही महत्वपूर्ण है, जितना राजनीतिक इतिहास में सिंहासनों के लिये राज-वंशों का पारस्परिक संघर्ष।

वैदिक काल में वर्ण-व्यवस्था पर्याप्तरूप में संगठित हो चुकी थी। आर्य-समाज में प्रारम्भ से ही प्रार्थना तथा यज्ञ का महत्व था। अतः उनकी मान्यता से उनके करने वाले व्यक्तियों (ब्राह्मणों) की भी मान्यता प्रतिष्ठित होने लगी। वे समाज में विशेषरूप से आदरणीय समझे जाने लगे। उनकी सम्मान्यता इसी बात से परिलक्षित होती है कि ऋग्वेद में उनका उल्लेख पितरों के साथ किया गया है।[1] इसी ग्रन्थ में एक अन्य स्थान पर कहा गया है कि केवल वही राजा जो ब्राह्मण का आदर करता है, अपने घर में सुखपूर्वक निवास करता है। ऐसे राजा के लिये पृथ्वी सदैव समृद्धिशालिनी रहती है और मनुष्य स्वेच्छया उसके समक्ष नत होते हैं।[2] इस कथन से क्षत्रियों की अपेक्षा ब्राह्मणों की उच्चतर सामाजिक प्रतिष्ठा का आभास मिलता है। ब्राह्मणों की इस मान्यता का विशेष कारण उनका धार्मिक नेतृत्व था। जैसे-जैसे यज्ञादि, धार्मिक क्रियाओं एवं मन्त्र-पाठ की शुद्धता की आवश्यकता बढ़ती गई वैसे-ही-वैसे समाज में अन्य वर्णों की अपेक्षा ब्राह्मणों की श्रेष्ठता भी अधिकाधिक स्थापित होती गई। पुरुषसूक्त में ब्राह्मण को परम पुरुष के मुख से निस्सृत कहा गया है। तैत्तिरीय संहिता में उसे प्रत्यक्ष देवता कहा गया है।[3] तैत्तिरीय आरण्यक ब्राह्मणों की वेद-विद्वत्ता का उल्लेख करते हुए कहता है कि समस्त देवता ब्राह्मण में निवास करते हैं।

---

[1] ऋग्वेद ६, ७५, १०—ब्राह्मणासः पितरः सोम्यासः शिवे नो द्यावा पृथवी अनेहसा।

[2] ऋग्वेद ४, ५०, ८।

[3] तैत्तरीय संहिता १, ७, ३१—एते वैदेवाः प्रत्यक्ष यद् ब्रह्मणाः।

अतः वह नमस्कार्य है।[1] तैत्तिरीय ब्राह्मण में उसे 'दिव्य वर्ण' कहा गया है।[2] ताण्ड्य ब्राह्मण के अनुसार वह क्षत्रिय से उच्चतर है।[3]

ऐसा प्रतीत होता है कि ब्राह्मणों की इस उद्‌दीयमान श्रेष्ठता ने शनैः शनैः क्षत्रिय वर्ग के भीतर क्षोभ एवं असन्तोष की भावना उत्पन्न कर दी थी। वे राष्ट्र के प्रभु थे। देश का समस्त धन-जन उनके अधीन था। अतः वे ब्राह्मणों के समक्ष अपनी निम्नता स्वीकार करने के हेतु प्रस्तुत न थे। उन्होंने ब्राह्मणों की प्रभुता अथवा श्रेष्ठता को ही अस्वीकार नहीं किया, वरन् उसके स्थान पर अपनी श्रेष्ठता का भी प्रतिपादन किया। शतपथ ब्राह्मण में क्षत्रियों की यह विरोधात्मक मनोवृत्ति पर्याप्त रूप से परिलक्षित होती है। उसमें एक स्थान पर स्पष्टतया कहा गया है कि क्षत्रियों से उच्चतर कुछ भी नहीं है। अतः राजसूय के अवसर पर ब्राह्मण क्षत्रिय के समक्ष निम्नासन ग्रहण करता है।[4] इसी ग्रन्थ में दूसरे स्थान पर उल्लेख है कि क्षत्रिय के पश्चात् ब्राह्मण मान्य है।[5]

श्रेष्ठता के लिये यह ब्राह्मण-क्षत्रिय संघर्ष उपनिषद्-काल में और भी तीव्र हो गया। ब्राह्मणों की मान्यता के दो प्रमुख कारण थे—प्रथम उनका ज्ञान और द्वितीय याज्ञिक कर्मों में उनकी अनिवार्यता। अतः क्षत्रियों ने उनकी सत्ता के इन उद्‌गमों पर ही आक्रमण किया। उपनिषद्‌काल का क्षत्रिय-समाज ब्राह्मण-समाज की भाँति ही अध्ययन-अध्यापन एवं मनन चिन्तन में संलग्न प्रतीत होता है।

बृहदारण्यक उपनिषद् के कथनानुसार जनक वेदों तथा उपनिषदों के ज्ञाता थे।[6] पञ्चाग्निविद्या का तो प्रादुर्भाव ही प्रवाहण जैवलि से हुआ था।[7] क्षत्रिय विद्वानों की विद्वत्ता तथा प्रख्याति का प्रमाण इसी बात से मिलता है कि अनेक लब्ध-प्रतिष्ठ ब्राह्मण विद्वान् भी उनके समीप अध्ययन करने जाते थे। कौषीतकि उपनिषद् के अनुसार बालाकिगार्ग्य ने काशीनरेश अजातशत्रु से विद्याध्ययन किया था।[8] छान्दोग्य-उपनिषद् में केकयनरेश अश्वपति द्वारा अध्यापित पाँच ब्राह्मणों का उल्लेख है।[9] श्वेतकेतु आरुणेय ने प्रवाहण जैवलि से शिक्षा पाई थी।[10] इस प्रकार अनेक क्षत्रियों ने अध्ययन-

---

[1]आरण्यक २, १५—यावतीर्वै देवतास्ताः सर्वा वेदविदि ब्राह्मणा वसन्ति तस्मात् ब्राह्मणेभ्यः वेदविद्भ्यः दिवे दिवे नमस्कुर्यात्।

[2]तैत्तिरीय ब्रा० १, २, ६—दैव्यो वै वर्णो ब्राह्मणः।

[3]ताण्ड्य ब्रा० ११, १, २—ब्रह्म हि पूर्वं क्षत्रात्।

[4]शतपथ ब्रा० १४, १, २३,

[5]एस बी० ई०, भाग ४१ पृ० ६६,

[6]बृह० उप० ४, २, १—एवं बृन्दारक आढ्यः सन्नधीतवेद उक्तोपनिषत्क इतो विमुच्यमानः क्व गमिष्यसीति नाहं तद्भगवन्वेद यत्र गमिष्यामीति।

[7]छान्दोग्य उप० ५, ३, ७—यथा मा त्वं गौतमावदो यथेयं न प्राक् त्वत्तः पुरा विद्या ब्राह्मणान्गच्छति तस्मात् सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्यैव प्रशासनमभूदिति।

[8]कौषीतकि उप० ४।

[9]छान्दोग्य उप० ५, ११।

[10]छान्दोग्य उप० ५, ३।

अध्यापन के द्वारा सुकीर्ति प्राप्त की और इस क्षेत्र में ब्राह्मणों के एकाधिकार को कठोर आघात पहुँचाया।

अब रही याज्ञिक कार्यों में ब्राह्मणों की अनिवार्यता। इसका सामना क्षत्रियों ने दूसरी रीति से किया। उन्होंने एक ओर तो स्वयं यज्ञों में अधिकाधिक भाग लेना प्रारम्भ किया तथा दूसरी ओर दर्शन-शास्त्र के अध्ययन एवं मनन के समक्ष अपेक्षाकृत उनकी हीनता प्रदर्शित की। छान्दोग्य उपनिषद् (५. ११. ५) में अश्वपति कैकेय का कथन है कि मेरे राज्य में ऐसे मनुष्यों का अभाव है जो यज्ञ–विरत हों। उपनिषदों में सर्वप्रथम हम हिंसात्मक यज्ञों के विरुद्ध मत पाते हैं।

उपनिषद्-काल में ब्राह्मण-श्रेष्ठता के प्रति जो असन्तोष अंकुरित हो रहा था वह धीरे-धीरे प्रसरित होता रहा और ६०० ई० पू० के लगभग उसने प्रकट विद्रोह का रूप धारण कर लिया। बौद्ध एवं जैन धर्म ब्राह्मण-धर्म के ही विरोधी नहीं थे वरन् उनमें ब्राह्मणों की सामाजिक श्रेष्ठता के प्रति क्षत्रियों की अस्वीकृति भी परिलक्षित होती है। यह कोई आकस्मिक घटना न थी कि ब्राह्मण-विरोधी बौद्ध एवं जैन दोनों धर्मों के प्रवर्तक क्षत्रिय थे। इस प्रवर्तन के रूप में क्षत्रियों का ब्राह्मण-श्रेष्ठता के प्रति दीर्घकालीन विरोध ही फलित हुआ था।

इस धार्मिक अशान्ति एवं असन्तोष से अपनी स्थिति को अक्षुण्ण रखना ही ब्राह्मणों की सबसे बड़ी चिन्ता थी। उनकी सामाजिक मान्यता, याज्ञिक महत्ता तथा सम्पूर्ण व्यवस्था ही खतरे में पड़ गई थी। अतः इस महान् संकट का निवारण करने के लिये ब्राह्मणों ने संगठित रूप से समस्त सामाजिक एवं धार्मिक विधि-निषेधों को पुनः व्यवस्थित करना प्रारम्भ किया। उन्होंने पुनः वर्णाश्रम धर्म की प्रति-स्थापना की और उसके द्वारा अपनी मान्यता की घोषणा की। सूत्र-साहित्य का एक बहुत बड़ा भाग उनके इसी पुनः संगठन का परिणाम है। इसमें प्रथम वर्ण द्वारा ब्राह्मण-प्रधान सामाजिक व्यवस्था को सर्वसम्मत करने का ही प्रयत्न परिलक्षित होता है।

सूत्र-काल में वर्ण-व्यवस्था पूर्णरूपेण जन्मज एवं वंशानुगत थी। जन्म-मात्र से ही ब्राह्मण चारों वर्णों में उच्चतम समझा जाता था।[1] दशवर्षीय ब्राह्मण शतवर्षीय क्षत्रिय से श्रेष्ठ है। वह क्षत्रिय के लिये पिता के समान है[2]। राजा सबका शासक होते हुये भी ब्राह्मण का शासक नहीं है[3]। सत्कार-प्रदर्शन के हेतु राजा को श्रोत्रिय को सदैव पथदान देना चाहिए[4]। यही व्यवस्था आपस्तम्ब की भी है[5]। वह पूर्णरूपेण अवध्य, अबन्ध्य,

---

[1]आपस्तम्ब १, १, १, ५—चत्वारो वर्णा ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राः। तेषां पूर्वः पूर्वो जन्मतः श्रेयान्।

[2]आपस्तम्ब १, ४, १४, २३—दशवर्षश्च ब्राह्मणः शतवर्षश्च क्षत्रियः पितापुत्रौ स्म तौ विद्धि तयोस्तु ब्राह्मणः पिता।

[3]गौतम ८, १—राजा सर्वस्येष्टे ब्राह्मणवर्जम्।

[4]गौतम ६, २१-२—चक्रिदशमीस्थानुग्राह्यवधूस्नातकराजभ्यः यथोदानम। राज्ञः तु श्रोत्रियाय।

[5]आपस्तम्ब २, ५, ११, ५-६—राज्ञः पन्था ब्राह्मणेनासमेत्य। समेत्य तु ब्राह्मणस्यपन्थाः।

अदण्ड्य, अवहिष्कार्य, अपरिवाद्य एवं अपरिहार्य है[1]। उसे किसी प्रकार का भी शरीर-दण्ड नहीं दिया जा सकता।[2] बौधायन भी ब्राह्मण को अवध्य बताते हैं, परन्तु ब्रह्म-हत्या, गुरुतल्पगमन, सुवर्णस्तेय, सुरापान आदि गम्भीर अपराधों पर ब्राह्मण के मस्तक को दग्ध लोहे से दाग कर देश-निर्वासित करने की व्यवस्था देते हैं।[3] कौटिल्य भी इसी व्यवस्था का प्रतिपादन करते हैं।[4] परन्तु राजद्रोह के अपराध में ब्राह्मण भी क्षम्य नहीं है। इस दशा में कौटिल्य ने ब्राह्मण को जलसमाधिस्थ कर देने का आदेश दिया है। यहां पर राजनीतिक आवश्यकता ने धार्मिक व्यवस्था का अतिक्रमण किया है। ब्रह्महत्या संहिता-काल से ही महापातक मानी गई है। सूत्रकारों में गौतम ने भी इसे महापातकों की सूची में रक्खा है।[5] इस व्यवस्थाकार के अनुसार ब्राह्मण के प्रति भर्त्सना, निघात और लोहितदर्शन क्रमशः अधिकाधिक जघन्य अपराध हैं।[6] राजा के लिये ब्राह्मण का धन अग्राह्य है। ब्रह्मस्व विष से भी अधिक घोर है, क्योंकि विष केवल एक व्यक्ति (खानेवाले) को मारता है, परन्तु ब्रह्मस्व पुत्र-पौत्र की भी हत्या कर डालता है।[7] इसी आधार पर ब्राह्मण राजकर से मुक्त था। आपस्तम्ब का स्पष्ट कथन है कि श्रोत्रिय से कर न लेना चाहिए।[8] वसिष्ठ भी इस मत का समर्थन करते हैं।[9] कौटिल्य ने राजा के लिये यह व्यवस्था बनाई है कि वह ऋत्विक, आचार्य, पुरोहित एवं श्रोत्रिय को दण्ड एवं कर से मुक्त भूमियों का दान करे।[10]

यूनानी लेखकों ने भी ब्राह्मण की सामाजिक श्रेष्ठता का अनेक वार उल्लेख किया है। एरिस्टोब्यूलस तक्षशिला में दो ब्राह्मणों से मिला था। उनके विषय में वह कहता है कि वे समाज में अत्यन्त आदरणीय समझे जाते थे तथा विना मूल्य के बाजार से अपनी

---

[1] गौतम ८, ५, ११, ५-६—यत्तु षड्भिः परिहार्यो राजा वध्यश्चावन्ध्यश्चादण्ड्यश्चावहिष्कार्यश्चापरिवाद्यश्चापरिहार्यश्चेति।

[2] गौतम १२, ४३—न शारीरी ब्राह्मणदण्डः।

[3] बौधा० १, १०, १८-१९—अवध्यो वै ब्राह्मणः सर्वापराधेषु। ब्राह्मणस्य ब्रह्महत्यागुरुतल्पगमनसुवर्णस्तेयसुरापानेषु कुसिन्धभगश्रृगालसुराध्वजास्तप्तेनायसाललाटेऽङ्कयित्वा विषयान्निर्धमनम्।

[4] कौटिल्य ४, ८—सर्वापराधेष्वपीडनीयो ब्राह्मणः। तस्याभिशस्ताङ्गो ललाटे स्याद् व्यवहारपतनाय। स्तेये श्वा...सुरापाने मद्यध्वजः। ब्राह्मणं पापकर्माणमुद्धुष्यांकक्कृतव्रणम्। कुर्यान्निर्विषयं राजा वासयेदाकरेषु वा।

[5] गौतम २१, १

[6] गौतम २२, २०-२२- अभिक्रुद्धावगोरणं ब्राह्मणस्य वर्षशतमस्वर्ग्यम्। निघाते सहस्रम्। लोहितदर्शने यावतस्तत्प्रस्कद्य पांसून् संगृह्णीयात्।

[7] वसिष्ठ १७, ८४-८७- न तु ब्राह्मणस्य राजा हरेत्। ब्रह्मस्वं तु विषं घोरम्। न विषं विषमित्याहुर्ब्रह्मस्वं विषमुच्यते। विषमेकाकिनं हन्ति ब्रह्मस्वं पुत्रपौत्रकमिति।

[8] आप० २, १०, २४, १० - अकरः श्रोत्रियः

[9] वसिष्ठ १, ४४-४६,

[10] कौटिल्य २, १- ऋत्विगाचार्यपुरोहितश्रोत्रियेभ्यो ब्रह्मदेवान्यदण्डकराण्यभिरूपदायकानि।

आवश्यक वस्तुओं का क्रय कर सकते थे[1]। ब्राह्मणों की सम्मान्यता का उल्लेख निआर्कस भी करता है[2]। मेगास्थनीज का कथन है कि ब्राह्मण दार्शनिक यद्यपि अन्य वर्गों की अपेक्षा अल्पसंख्यक थे तथापि समाज में वे सबसे अधिक आदरणीय थे। वे समस्त राज-करों से मुक्त थे और अनेकानेक दानों एवं प्रतिग्रहों के अधिकारी थे। इस कथन की पुष्टि एरियन की 'इण्डिका' से भी होती है[3]। ब्राह्मणों की सम्मान्यता अशोक के अभिलेखों से भी भली भांति परिलक्षित होती है। उनमें उन्हें श्रमणों के समकक्ष स्थान दिया गया है और दोनों ही राजकीय दान-सम्मान-दर्शन एवं लौकिक संप्रतिपत्ति के भाजन प्रदर्शित किये गये हैं[4]।

ऋग्वेद की भांति महाकाव्यों में भी ब्राह्मण को परम पुरुष के मुख से उत्पन्न कहा गया है[5]। अतः अन्य वर्णों की अपेक्षा उसकी श्रेष्ठता स्वयं सिद्ध मानी गई है। पृथ्वी पर सर्वप्रथम ब्राह्मण की ही उत्पत्ति हुई। उससे ही तदनन्तर अन्य वर्णों का प्रादुर्भाव हुआ[6]। वह द्विपदों में सर्वश्रेष्ठ था[7]। यही नहीं, पृथ्वी पर वह देवतुल्य था[8]। उसकी अवध्यता सर्वमान्य थी[9]। उसकी सम्मान्यता जन्मसिद्ध है। वह गुणावगुणों की अपेक्षा नहीं करता। ब्राह्मण विद्वान् हो अथवा अविद्वान्, प्राकृत हो अथवा संस्कृत, वह किसी भी दशा में कभी भी अनादृत नहीं होना चाहिए[10]। वह राजकर से मुक्त था।[11] उसका धन-धान्य राजा के लिये अग्राह्य था[12]। उसे सर्वप्रथम पथ-दान देना चाहिए[13]।

जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, ब्राह्मणों की यह मान-प्रतिष्ठा अकारण न थी। समाज के प्रति उनके महत्वपूर्ण कर्तव्य थे। स्वेच्छया स्वीकृत, त्याग, सयम एवं साधना का जीवन बिताते हुए वे प्राचीन समाज के दो सर्व-प्रमुख कार्यों – अध्यापन तथा यज्ञ– का वहन करते थे। इन्हीं के महत्वपूर्ण उत्तरदायित्वों के फलस्वरूप वे प्रतिग्रह के अधिकारी होते थे[14]। यही मत आपस्तम्ब और बोधायन के धर्मसूत्रों में प्रगट किया गया है[15]।

---

[1]स्ट्रैबो १५, १, ६१, । [2] १५, १, ६५, । [3]इण्डिका अंश ११,

[4]अशोक के शिललेख ३, ४, ८, स्तम्भलेख ७,

[5]रामा० ३, १४, २६-३० मुखतो ब्रह्मणाजाता । महा० ६, ६७, १८-१६,

[6]महा० १२, ३४२, २१ - ब्राह्मणाः प्रथमं प्रादुर्भूताः ब्राह्मणेभ्यश्च शेषा वर्णाः प्रादुर्भूताः

[7]महा० ४, २, १५ - द्विपदां ब्राह्मणोवरः ।

[8]महा० १२, ३६, १ - भूमिचराः देवाः ।

[9]महा० १, २८, ३ - अवध्यः सर्वभूतानां ब्राह्मणा ह्यनलोपमः

[10]महा० ३, २००, ८८ - दुर्वेदा वा सुवेदा वा प्राकृताः संस्कृतास्तथा
ब्राह्मणा नावमन्तव्या भस्माच्छन्ना इवाग्नयः ।

[11]महा० १२, ७६, १६ - अब्राह्मणानां वित्तस्य स्वामि राजेति वैदिकम् ।

[12]महा० १३, ६, १८ - न हर्तव्यं विप्रधनम् ।

[13]महा० अनुशासन १०४, २५ - पंथा देया ब्राह्मणाय

[14]गौतम १०, १, २- ब्राह्मणस्याधिकाः प्रवचनयाजनप्रतिग्रहा ।

[15]आप० ध० सू० - २, ५, १०, ५, ८,
बौधा० ध० सू० १, १०, २, ५

प्राचीन भारत में शिक्षा राजकीय विषय न थी। ब्राह्मणों के विद्याव्यसन एवं अभिरुचि के परिणामस्वरुप उसका प्रबन्ध साधारणतया उनके हाथ में आ गया था। निरुक्त का कथन है कि विद्या अपने त्राण के लिये ब्राह्मण के समक्ष आई थी[१]। यही कथन वसिष्ठ धर्मसूत्र में भी उपलब्ध होता है[२]। जैमिनि के अनुसार ब्राह्मण ही ऋत्विक् होने का अधिकारी है[३]। वसिष्ठ का कथन है कि ब्राह्मण याज्ञिक क्रियायें करता है, वैदिक साहित्य का परिवर्धन करता है तथा समाज को अनेक आपत्तियों से बचाता है[४]। वह समस्त वर्णों के कर्तव्य, आचरण, जीविका आदि का नियन्ता है। उसी के परामर्शानुसार राजकार्य चलता है[५]। कौटिल्य के मतानुसार ब्राह्मण का स्वधर्म अध्ययन, अध्यापन, यजन, याजन, दान तथा प्रतिग्रह है[६]। यूनानी लेखकों ने भी ब्राह्मणों की उपयोगिता के विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। एरिस्टोव्यूलस ने तक्षशिला में सम्भ्रान्त दो ब्राह्मणों का उल्लेख करते हुए कहा है कि वे सर्वसाधारण के लिये परामर्शदाता के रूप में कार्य करते थे[७]। इसी प्रकार निआर्कस का कथन है कि ब्राह्मण राजनीतिक विषयों में भी भाग लेते थे तथा राजा के मन्त्रियों के रूप में प्रतिष्ठित थे। उनके अतिरिक्त अन्य प्रकृति-सम्बन्धी विषयों पर अनुसंधान किया करते थे[८]। मेगास्थनीज ने पूर्वगामी यूनानियों की अपेक्षा ब्राह्मण दार्शनिकों का अधिक विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। उसके अनुसार वे सबसे अधिक देवप्रिय थे तथा पारलौकिक विषयों में पारंगत थे। अतः वे जनता के इहलोक तथा परलोक सम्बन्धी यज्ञ कराते थे। इसके अतिरिक्त वे यज्ञ के प्रारम्भ में एक वृहद् अधिवेशन में एकत्र होकर दुर्भिक्ष, वर्षा, महामारी आदि विषयों पर भविष्यवाणी करते थे, जिससे लाभ उठाकर जनता पहले से ही सचेष्ट हो जाय। इन्हीं आवश्यक कार्यों एवं सेवाओं के लिये उन्हें अनेक उपहार, दान तथा प्रतिग्रह मिलते थे। इसी प्रकार एरियन ने अपनी इण्डिका में लिखा है कि राजकीय यज्ञों के अतिरिक्त ब्राह्मण दार्शनिक अन्य प्रकार का कोई भी शारीरिक श्रम-कार्य न करते थे। उसने भी सार्वजनिक हितों पर उनकी भविष्यवाणियों का उल्लेख किया है[९]। महाभारत का यह कथन कि अश्रोत्रिय ब्राह्मणों के साथ राजा को विशिष्ट (सेवक) के समान व्यवहार करना चाहिये तथा उससे बलि (कर) लेना चाहिए, यह सिद्ध करता है कि ब्राह्मणों का

[१]निरुक्त २, ४

[२]वसिष्ठ ध० सू० २, ८, ११

[३]जैमिनि ६, ६, १८- ब्राह्मणानां वेतरर्यारात्विज्याभावात्।

[४]वसिष्ठ १, ४४, ४६ - इष्टापूर्तस्य तु षष्ठमशं भजतीति ह। ब्राह्मणो वु वेदपाठ्य करोति ब्राह्मण आपद उद्धरति।

[५]वही १, ३९, ४१,

[६] कौटिल्य ३,५, स्वधर्मो ब्राह्मणस्याध्ययनाध्यापनं यजनं याजनं दानं प्रतिग्रहश्चेति।

[७] स्ट्रेबो १५, १, ६१,

[८] ,, १५, १, ६६,

[९] एरियन-इण्डिका अंश ११,

मुख्य कर्तव्य वेदाध्ययन एवं यज्ञ-कर्म था[1]। यही मत महाभारत में अन्यत्र भी मिलता है।[2] गायत्री मन्त्र से अनभिज्ञ तथा सन्ध्यादि कर्मों से विरत ब्राह्मण शूद्र की कोटि का समझा जाता था[3]। स्ववर्णविहित कर्म को छोड़कर क्षत्रिय तथा वैश्य के कर्मों का अनुसरण करने वाला ब्राह्मण श्वान एवं वृक के समान होता है[4]। स्वाध्याय एवं तपश्चर्या से ही वह क्रमशः देवत्व तथा साधुत्व का अधिकारी होता है[5]। वर्णाविहित कार्यों का करने वाला ब्राह्मण सर्वदा निन्दनीय है[6]। वह शूद्र से भी अधिक गर्हित है[7]। अनधीत ब्राह्मण काष्ठहस्ती अथवा चर्ममृग के समान व्यर्थ है।[8] ब्राह्मण के लिये वेदाध्ययन तथा तपश्चर्या परमावश्यक है[9]। रामायण के अनुसार भी ब्राह्मण की प्रमुख विशेषता उसका धर्म है।[10]

ब्राह्मणत्व के उच्च आदर्श को स्थिर रखने के हेतु व्यवस्थाकारों ने ब्राह्मणों के आवश्यक गुणों पर भी सदैव बल दिया है। वह समाज का नियन्ता था। अतः उसे नानागुणसमन्वित होना चाहिए था। उसकी आदरणीयता बहुत-कुछ उसके गुणों पर भी अवलम्बित थी। अविद्वान् ब्राह्मण की अपेक्षा समाज में विद्वान् ब्राह्मण ही अधिक प्रतिष्ठित था। बौधायन का मत है कि समीपवर्ती मूर्ख ब्राह्मण की अपेक्षा सुदूरवर्ती विद्वान् ही अधिक ग्रहणीय है, क्योंकि ज्वलन्त अग्नि को छोड़कर कोई भी व्यक्ति भस्म में आहुति नहीं देता है[11]। धार्मिक कृतियों के अवसर पर भोज एवं दान-प्रतिग्रह के लिये विद्वान् ब्राह्मण को ही आमन्त्रित करना चाहिए[12]। अविद्वान् ब्राह्मण की अपेक्षा विद्वान् ब्राह्मण को दान

---

[1] महा० १२.७६.५—अश्रोत्रियाः सर्व एव सर्वे चानाहिताग्नयः तान्
सर्वानाधार्मिका राजा बलिं विष्टिं च कारयेत्।

[2] महा० ४.५०.५—

[3] महा० १३. १०४. १६-२०—ये न पूर्वामुपासन्ते द्विजाः सन्ध्यां न पश्चिमाम्
सर्वास्तान् धार्मिको राजा शूद्रकर्माणि कारयेत्।

[4] रामा० ७.२६-२३—या संज्ञा विहिता लोके दासे शुनि वृके पशौ
विकर्मणि स्थिते विप्रे सैव संज्ञा च पाण्डव।

[5] महा० ३.३१३. ५०—स्वाध्याय एषां देवत्वं तप एषां सतामिव।

[6] महा० १२.७६.११—विकर्मस्थाश्च नोपेक्ष्या विप्रा राज्ञा कथंचन।

[7] महा० ३.३१३. १११—स शूद्रादतिरिच्यते।

[8] महा० १२.३६. ४१-४८—यथा दारुमयीहस्ती यथा चर्ममयो मृगः।
ब्राह्मणश्चानधीयान- स्त्रयस्ते नाम बिभ्रति।

[9] महा० १२. १२. २४.

[10] रामा० ७. २६. ३३—धर्मतो यो भवेत् विप्रः।

[11] बौधा० ध० सू० १.५. ६८—ब्राह्मणातिक्रमो नास्ति मूर्खे मन्त्रविवर्जिते।
ज्वलन्तमग्निमुत्सृज्य नहि भस्मानि हूयते।

[12] आप० ध० सू० २.६.१५. ६-१०—शुचीन्मन्त्रकृतः सर्वकृत्येषु भोजयेत्। देशतः कालतः
शौचतः सम्यक् प्रतिग्रहीतृतः इति दानानि प्रतिपादयति।

प्राचीन भारत में शिक्षा राजकीय विषय न थी। ब्राह्मणों के विद्याव्यसन एवं अभिरुचि के परिणामस्वरूप उसका प्रबन्ध साधारणतया उनके हाथ में आ गया था। निरुक्त का कथन है कि विद्या अपने त्राण के लिये ब्राह्मण के समक्ष आई थी[1]। यही कथन वसिष्ठ धर्मसूत्र में भी उपलब्ध होता है[2]। जैमिनि के अनुसार ब्राह्मण ही ऋत्विक् होने का अधिकारी है[3]। वसिष्ठ का कथन है कि ब्राह्मण याज्ञिक क्रियायें करता है, वैदिक साहित्य का परिवर्धन करता है तथा समाज को अनेक आपत्तियों से बचाता है[4]। वह समस्त वर्णों के कर्तव्य, आचरण, जीविका आदि का नियन्ता है। उसी के परामर्शानुसार राजकार्य चलता है[5]। कौटिल्य के मतानुसार ब्राह्मण का स्वधर्म अध्ययन, अध्यापन, यजन, याजन, दान तथा प्रतिग्रह है[6]। यूनानी लेखकों ने भी ब्राह्मणों की उपयोगिता के विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। एरिस्टोब्यूलस ने तक्षशिला में सम्भ्रान्त दो ब्राह्मणों का उल्लेख करते हुए कहा है कि वे सर्वसाधारण के लिये परामर्शदाता के रूप में कार्य करते थे[7]। इसी प्रकार निआर्कस का कथन है कि ब्राह्मण राजनीतिक विषयों में भी भाग लेते थे तथा राजा के मन्त्रियों के रूप में प्रतिष्ठित थे। उनके अतिरिक्त अन्य प्रकृति-सम्बन्धी विषयों पर अनुसंधान किया करते थे[8]। मेगास्थनीज ने पूर्वगामी यूनानियों की अपेक्षा ब्राह्मण दार्शनिकों का अधिक विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। उसके अनुसार वे सबसे अधिक देवप्रिय थे तथा पारलौकिक विषयों में पारंगत थे। अतः वे जनता के इहलोक तथा परलोक सम्बन्धी यज्ञ कराते थे। इसके अतिरिक्त वे यज्ञ के प्रारम्भ में एक वृहद् अधिवेशन में एकत्र होकर दुर्भिक्ष, वर्षा, महामारी आदि विषयों पर भविष्यवाणी करते थे, जिससे लाभ उठाकर जनता पहले से ही सचेष्ट हो जाय। इन्हीं आवश्यक कार्यों एवं सेवाओं के लिये उन्हें अनेक उपहार, दान तथा प्रतिग्रह मिलते थे। इसी प्रकार एरियन ने अपनी इण्डिका में लिखा है कि राजकीय यज्ञों के अतिरिक्त ब्राह्मण दार्शनिक अन्य प्रकार का कोई भी शारीरिक श्रम-कार्य न करते थे। उसने भी सार्वजनिक हितों पर उनकी भविष्यवाणियों का उल्लेख किया है[9]। महाभारत का यह कथन कि अश्रोत्रिय ब्राह्मणों के साथ राजा को विशिष्ट (सेवक) के समान व्यवहार करना चाहिये तथा उससे बलि (कर) लेना चाहिए, यह सिद्ध करता है कि ब्राह्मणों का

---

[1] निरुक्त २, ४

[2] वसिष्ठ ध० सू० २, ८, ११

[3] जैमिनि ६, ६, १८- ब्राह्मणानां वेतरयोरात्विज्याभावात् ।

[4] वसिष्ठ १, ४४, ४६ - इष्टापूर्तस्य तु षष्ठमशं भजतीति ह। ब्राह्मणो वु वेदपाठ्य करोति ब्राह्मण आपद उद्धरति ।

[5] वही १, ३९, ४१,

[6] कौटिल्य ३,५, स्वधर्मो ब्राह्मणस्याध्ययनाध्यापनं यजनं याजनं दानं प्रतिग्रहश्चेति ।

[7] स्ट्रेबो १५. १. ६१.

[8] ,, १५. १. ६६.

[9] एरियन-इण्डिका अंश ११.

मुख्य कर्तव्य वेदाध्ययन एवं यज्ञ-कर्म था[1]। यही मत महाभारत में अन्यत्र भी मिलता है।[2] गायत्री मन्त्र से अनभिज्ञ तथा सन्ध्यादि कर्मों से विरत ब्राह्मण शूद्र की कोटि का समझा जाता था[3]। स्ववर्णविहित कर्म को छोड़कर क्षत्रिय तथा वैश्य के कर्मों का अनुसरण करने वाला ब्राह्मण श्वान एवं वृक के समान होता है[4]। स्वाध्याय एवं तपश्चर्या से ही वह क्रमशः देवत्व तथा साधुत्व का अधिकारी होता है[5]। वर्णाविहित कार्यों का करने वाला ब्राह्मण सर्वदा निन्दनीय है[6]। वह शूद्र से भी अधिक गर्हित है[7]। अनधीत ब्राह्मण काष्ठहस्ती अथवा चर्ममृग के समान व्यर्थ है।[8] ब्राह्मण के लिये वेदाध्ययन तथा तपश्चर्या परमावश्यक है[9]। रामायण के अनुसार भी ब्राह्मण की प्रमुख विशेषता उसका धर्म है।[10]

ब्राह्मणत्व के उच्च आदर्श को स्थिर रखने के हेतु व्यवस्थाकारों ने ब्राह्मणों के आवश्यक गुणों पर भी सदैव बल दिया है। वह समाज का नियन्ता था। अतः उसे नानागुणसमन्वित होना चाहिए था। उसकी आदरणीयता बहुत-कुछ उसके गुणों पर भी अवलम्बित थी। अविद्वान् ब्राह्मण की अपेक्षा समाज में विद्वान् ब्राह्मण ही अधिक प्रतिष्ठित था। बौधायन का मत है कि समीपवर्ती मूर्ख ब्राह्मण की अपेक्षा सुदूरवर्ती विद्वान् ही अधिक ग्रहणीय है, क्योंकि ज्वलन्त अग्नि को छोड़कर कोई भी व्यक्ति भस्म में आहुति नहीं देता है[11]। धार्मिक कृतियों के अवसर पर भोज एवं दान-प्रतिग्रह के लिये विद्वान् ब्राह्मण को ही आमन्त्रित करना चाहिए[12]। अविद्वान् ब्राह्मण की अपेक्षा विद्वान् ब्राह्मण को दान

---

[1] महा० १२.७६.५—अश्रोत्रियाः सर्वं एव सर्वे चानाहिताग्नयः तान्
सर्वानाधार्मिका राजा बलिं विष्टिं च कारयेत्।

[2] महा० ४.५०.५—

[3] महा० १३.१०४.१६-२०—ये न पूर्वामुपासन्ते द्विजाः सन्ध्यां न पश्चिमाम्
सर्वास्तान् धार्मिको राजा शूद्रकर्माणि कारयेत्।

[4] रामा० ७.२६-३३—या संज्ञा विहिता लोके दासे शुनि वृके पशौ
विकर्मणि स्थिते विप्रे सैव संज्ञा च पाण्डव।

[5] महा० ३.३१३.५०—स्वाध्याय एषां देवत्वं तप एषां सतामिव।

[6] महा० १२.७६.११—विकर्मस्थाश्च नोपेक्ष्या विप्रा राज्ञा कथंचन।

[7] महा० ३.३१३.१११—स शूद्रादतिरिच्यते।

[8] महा० १२.३६.४१-४८—यथा दारुमयीहस्ती यथा चर्ममयो मृगः।
ब्राह्मणश्चानधीयान- स्त्रयस्ते नाम बिभ्रति।

[9] महा० १२.१२.२४.

[10] रामा० ७.२६.२३—धर्मतो यो भवेत् विप्रः।

[11] बौधा० ध० सू० १.५.६८—ब्राह्मणातिक्रमो नास्ति मूर्खे मन्त्रविवर्जिते।
ज्वलन्तमग्निमुत्सृज्य नहि भस्मानि हूयते।

[12] आप० ध० सू० २.६.१५.९-१०—शुचीन्मन्त्रवतः सर्वकृत्येषु भोजयेत्। देशतः कालतः
शौचतः सम्यक् प्रतिग्रहीतृतः इति दानानि प्रतिपादयति।

देना अधिक पुण्यकर होता है[१]। वर्ण के अतिरिक्त ब्राह्मण में कतिपय गुणों का होना भी अत्यन्त आवश्यक है। इनमें शम, दम, तप, शौच, क्षान्ति, आर्जव, ज्ञान, विज्ञान, आस्तिक्य विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं[२]। ब्राह्मण के लिए जिन बारह व्रतों का प्रतिपादन किया गया है उनसे उसके साधनापूर्ण एवं अनुशासनशील जीवन पर प्रकाश पड़ता है[३]।। तप, स्वाध्याय आदि गुणों से विहीन ब्राह्मण दान-प्रतिग्रह के योग्य नहीं है[४]। उसका जीवन त्यागमय है। अतः उसके लिए वित्त-संग्रह महा अनर्थ है[५]।

इस प्रकार अपने वर्ण, आचरण तथा उत्तरदायित्व के कारण ब्राह्मण समाज के अन्य वर्गों से उच्चतर एवं अधिक आदरणीय समझा जाता था। परन्तु अशोक की बौद्ध व्यवस्था के अन्तर्गत कदाचित् उसकी विशेष प्रतिष्ठा एवं उसके विशेषाधिकारों को पर्याप्तरूप से क्षति पहुँची। बौद्ध सम्राट के दृष्टिकोण से ब्राह्मण जन्म के आधार पर श्रमण एवं अन्य धर्मानुयायियों की अपेक्षा अधिक सम्मान्यता का अधिकारी न था। वह विभिन्न मतानुयायियों के प्रति निर्विशेष श्रद्धाभाव रखता था[६]। पुनः यज्ञविरोधी बौद्ध-प्रसार ने ब्राह्मण की याज्ञिक अनिवार्यता को भी नष्ट कर दिया था। इस प्रकार वर्ण-विरोधी तथा यज्ञ-विरोधी बौद्ध नीति से अपनी सामाजिक एवं धार्मिक प्रतिष्ठा को संरक्षित रखने के हेतु ब्राह्मणों ने बौद्धधर्मावलम्बी मौर्य-साम्राज्य के प्रति विरोध संगठित करना प्रारम्भ किया। शनैः-शनैः यह अधिकाधिक प्रबल होता गया। अन्त में इससे लाभ उठाकर सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने अपने मौर्य-सम्राट बृहद्रथ की हत्या कर डाली और ब्राह्मण-साम्राज्य की स्थापना की। इस प्रकार ब्राह्मणों का शस्त्र-ग्रहण एवं सिंहासनारोहण अपनी सामाजिक एवं धार्मिक प्रतिष्ठा को पूर्ववत् रखने के लिये ही हुआ था। शुंगों की छत्रच्छाया में हम जिस ब्राह्मण-व्यवस्था का पुनः संगठन पाते हैं वह उनके अनुगामी काण्व एवं सातवाहन ब्राह्मण शासकों के अन्तर्गत भी सक्रम रही। हिन्दुओं का प्रसिद्ध धर्मशास्त्र मनुस्मृति इसी सामाजिक पुनःसंगठन, ब्राह्मण-धर्मोद्धार एवं वर्णाश्रम-प्रतिस्थापना के ऊपर प्रकाश डालता है।

बौद्ध-धर्म के विरुद्ध प्रतिक्रिया के परिणाम-स्वरूप मनु ने पहले से भी अधिक बल के साथ अन्य वर्णों के ऊपर प्रथम वर्ण की प्रधानता का प्रतिपादन किया। ऋग्वेद के अनुसार मनु ने भी ब्राह्मण की उत्पत्ति ब्रह्मा के मुख से बताई है[७]। जन्म, अनुशासन, ज्ञान

---

[१]गौतम ५. १८—समद्विगुणसाहस्रानन्त्यानि फलानि ब्राह्मणब्राह्मणश्रोत्रियवेदपारगेभ्यः।

[२]महा० ६.४२.४२—शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं स्वभावजम्।

[३]महा० ५. ४३. २०—धर्मश्च सत्यंच दमस्तपश्चामत्सर्यम्. ह्रीस्तितिक्षा नासूया यज्ञश्च दानं च भृतिः श्रुतंच व्रतानि वैद्वादश ब्राह्मणस्य।

[४]महा० १२. ३६. ४१-४२.

[५]अनुशासन ६१. १६—

[६]अशोक के शिलालेख-२, ४, ७, ८, १२, १३, स्तम्भलेख ७.

[७] मनु० १. ३१ तथा ६४

तथा संस्कार के आधार पर ब्राह्मण समस्त वर्णों एवं संसार का स्वामी है।[१] संसार में जितना धन-धान्य है वह सब ब्राह्मण का है।[२] ब्राह्मण चाहे अधीत हो अथवा अनधीत, वह सदैव देवता है।[३] ब्राह्मण चाहे दश वर्ष का ही क्यों न हो, परन्तु वह सौ वर्ष के क्षत्रिय से भी अधिक उच्च एवं सम्मान्य है।[४] राजा न तो उसे किसी प्रकार का शारीरिक दण्ड दे सकता है[५] और न उस पर किसी प्रकार का कर ही लगा सकता है।[६] वह उसके धन को भी ग्रहण नहीं कर सकता है।[७] ब्राह्मण अवध्य है। उसकी हत्या करना घोर पाप है।[८] ब्रह्म-हत्या से अधिक जघन्य पाप संसार में नहीं हो सकता है।[९] इस पाप का प्रायश्चित हो ही नहीं सकता।[१०] राजकीय दण्ड-विधान भी अनेक विषयों में उसके प्रति पक्षपातपूर्ण था। यदि कोई क्षत्रिय ब्राह्मण के लिये दुर्वचन कहे तो उसके लिये १०० कार्षापण का दण्ड था, परन्तु क्षत्रिय के प्रति उसी अपराध के लिये ब्राह्मण को केवल ५० कार्षापण दण्डस्वरूप देना पड़ता था।[११] यदि कभी शूद्र ब्राह्मण के प्रति वाक्पारुष्य का दोषी होता तो उसे मृत्यु-दण्ड अथवा जिह्वा-कर्तन-दण्ड दिया जाता।[१२] परन्तु शूद्र के प्रति उसी अपराध में ब्राह्मण के ऊपर केवल १२ कार्षापण अर्थ-दण्ड होता।[१३] ब्राह्मणी के साथ समागम करने के अपराध में शूद्र को तो मृत्यु-दण्ड दिया जाता।[१४] परन्तु शूद्रा के साथ समागम करने पर ब्राह्मण को केवल १००० अथवा ५०० कार्षापण का अर्थ-दण्ड की व्यवस्था थी।[१५] श्रोत्रिय की रक्षा करने से राजा की आयु, उसका धन एवं राज्य संवर्धित होते हैं।[१६] श्रोत्रिय के भरण-पोषण का प्रमुख भार राजा पर है। इन विशेषाधिकारों के साथ-साथ ब्राह्मण के लिये साधना एवं अनुशासन की पुनः व्यवस्था की गई। उसका प्रमुख धर्म वेदाध्ययन है, अन्य समस्त धर्म गौण हैं। अतः उसे सदैव परिश्रम के साथ वेदाध्ययन करना चाहिये।[१७] उसे किसी भी

---

[१] मनु० १. ९३, १०. ३.
[२] मनु० १. १००
[३] मनु० ९. ३१७.
[४] मनु० २. १३५.
[५] मनु० ११. ९९-१००.
[६] मनु० ७. १३३.
[७] मनु० ९. १८८-१८९.
[८] मनु० ११. ५४.
[९] मनु० ८. ३८१.
[१०] मनु० ११. ८९.
[११] मनु० ८. २६७-८.
[१२] मनु० ८. २७०.
[१३] मनु० ८. २६८.
[१४] मनु० ८. ३६६.
[१५] मनु० ८. ३७८.
[१६] मनु० ७. १३६.
[१७] मनु० ४. १४७.

ऐसे व्यवसाय का अनुसरण न करना चाहिए जो उसके वेदाध्ययन में बाधक हो[१]। जन्म के अतिरिक्त पतंजलि ने तप एवं अध्ययन को भी ब्राह्मण के लिये आवश्यक बताया है[२]। ब्राह्मण का जीवन त्यागमय है। अतः उसे केवल उतना ही धन एकत्र करना चाहिए जिससे उसका तथा उसके कुटुम्ब का भरण-पोषण हो सके[३]। आवश्यकता पड़ने पर ब्राह्मण साधारणतया राजा, शिष्य अथवा किसी भी यज्ञार्थी से दान ले सकता है। घोर संकट में वह शूद्र का भी दान स्वीकार कर सकता है। परन्तु वह इस दान के बदले में शूद्र के लिये यज्ञ नहीं कर सकता अन्यथा वह आगामी जन्म में चाण्डाल होगा[४]। अधार्मिक राजा, कसाई, तेली, मद्यविक्रयी, गणिका आदि से ब्राह्मण को किसी भी परिस्थिति में दान नहीं लेना चाहिए।[५] अयोग्य व्यक्ति से दान लेना उसे अध्यापित करने अथवा उसके लिये यज्ञ करने से भी गर्हित है।[६] यदि अनधीत व्यक्ति सुवर्ण, भूमि, अश्व, गौ, अन्न, वस्त्रादि का दान ग्रहण करता है तो वह भस्मसात् हो जायेगा।[७] ऐसा ज्ञात होता है कि ब्राह्मण के त्यागमय जीवन को ध्यान में रखते हुए उसके लिये दान-ग्रहण सम्मान्य न समझा जाता था। इसी प्रवृत्ति को परिलक्षित करते हुए मनु ने व्यवस्था की है कि यदि ब्राह्मण अपना जीविकोपार्जन न कर सके तो वह भूमि पर गिरे हुए अनाज के दानों को एकत्र करके अपना तथा अपने कुटुम्ब का भरण-पोषण कर सकता है। परन्तु उसके लिये दान-ग्रहण अभीष्ट नहीं है।[८] दानग्रहण की निन्दनीयता को स्वीकार करते हुए ही मनु की दृष्टि में देवलक (पारिश्रमिक लेकर देवालय में यज्ञादि करने वाला ब्राह्मण) आदरणीय नहीं है। उनका कथन है कि ३ वर्ष तक देवालय में रहने वाला देवलक न तो श्राद्ध में आमन्त्रित करने योग्य है और न यज्ञ में[९]। ब्राह्मण द्वारा दान-ग्रहण की अवाञ्छनीयता मनु के इस उल्लेख से स्पष्टयता सिद्ध हो जाती है कि अधिकारी होते हुए भी ब्राह्मण को पुनः पुनः दान स्वीकार नहीं करना चाहिए अन्यथा उसकी तपश्चर्या तथा उसके आध्यात्मिक उत्कर्ष में ह्रास होगा[१०]। अनधीत, प्रवंचक तथा धन-लोलुप ब्राह्मण को दान देना निष्फल एवं नरकदायक है[११]। अध्यापक के रूप में भी ब्राह्मण का जीवन त्यागमय था। द्रव्याकांक्षी अध्यापक सदैव निन्दनीय समझे जाते थे। मनु का कथन है कि भृतकाध्यापक तथा उसका शिष्य दोनों ही

---

[१] मनु० ४. १७.

[२] पतंजलि—तपःश्रुतंच योनिश्च एतद् ब्राह्मणकारणम् तथा त्रीणि
यस्यावदातानि विद्या योनिश्च कर्मच। एतच्छिवं विजातिहि ब्राह्मणलक्षणम्॥

[३] मनु० ४.२३, ४.१२, १५-१७.

[४] मनु० ४.३३-३४.

[५] मनु० ४.८४, ८७.

[६] मनु० १०. १०६. ११

[७] मनु० ४. १८८-९१.

[८] मनु० १०. ११२.

[९] मनु० ३. १५२.

[१०] मनु० ४, १८६,

[११] मनु० ४, १९२-४,

श्राद्ध में आमन्त्रित होने के अनुपयुक्त हैं।[1] दूसरे स्थान पर उन्हीं की व्यवस्था है कि स्नान के पूर्व विद्यार्थी को अपने अध्यापक को द्रव्यादि देने की आवश्यकता नहीं है। विद्याध्ययन की समाप्ति पर ही वह अपने गुरू को गुरु-दक्षिणा दे सकता है।[2]

ब्राह्मण के जीवन में त्याग एवं अल्पभाण्डता के उच्चादर्श की प्रतीष्ठा करते हुए व्यवस्थाकारों ने उसके जीविकोपार्जन के साधन अत्यल्प ही नहीं वरन् संशयात्मक भी बना दिये। वह बहुधा अपनी जीविका के हेतु एकमात्र दूसरों के कृपा-भाव पर निर्भर रहता था। अध्यापन, याज्ञिक क्रियाओं तथा दान-प्रतिग्रह हेतु विद्वान ब्राह्मणों की आवश्यकता थी।[3] परन्तु इन व्यवसायों से सदैव उन्हें इतना धन न उपलब्ध होता होगा जिससे वे अपने सम्पूर्ण कुटुम्ब का भरण-पोषण कर सकें। दान-प्रतिग्रह के पूर्व कथित नियमों के अनुसार प्रत्येक ब्राह्मण प्रत्येक अवस्था में उनका अधिकारी न था। श्राद्ध ब्राह्मणों की जीविका का एक प्रमुख साधन थी। परन्तु उससे भी अत्यल्पसंख्यक ब्राह्मणों का ही निर्वाह हो सकता था, क्योंकि व्यवस्थाकारों के मतानुसार श्राद्ध में बहुसंख्यक ब्राह्मणों को आमन्त्रित करने का निषेध था।[4] पुनः अनधीत ब्राह्मणों के जीविकोपार्जन के साधन और भी सीमित थे। अतः निश्चित है कि धनाभाव के कारण अनेक ब्राह्मणों की जीवन-यात्रा कष्टमय हो रही थी। इस सामाजिक प्रश्न को हल करने के हेतु व्यवस्थाकारों ने असहाय अथवा निर्धन ब्राह्मणों के भरण-पोषण का भार राजा के ऊपर डाल दिया। गौतम का मत है कि अपने योगक्षेम के लिये ब्राह्मण राजा की सहायता प्राप्त कर सकता है[5]। यदि किसी राज्य में कोई श्रोत्रिय क्षुधा से मरता है तो उस राज्य पर कोई दुर्भिक्ष एवं रोग का प्रकोप होगा।[6] परन्तु स्पष्ट है कि राजकीय सहायता का क्षेत्र इतना विस्तृत न हो सकता था कि उसके अन्तर्गत प्रत्येक व्यवसायहीन एवं जीविकाहीन ब्राह्मण का सुचारूरुप से भरण-पोषण हो सके। यही कारण है कि हम ब्राह्मणों को स्वयं अपने जीविकोपार्जन के हेतु स्ववर्णनिषिद्ध कार्य-कलाप करते हुए पाते हैं।

वर्णाश्रम-धर्म के आदर्श का प्रतिपादन करते हुए भी सूत्रकार सामाजिक वस्तुस्थिति की उपेक्षा न कर सके। यद्यपि उन्होंने स्ववर्णानुकूल व्यवसायों को ही श्रेयस्कर बताया है तथापि उन्होंने तत्कालीन वास्तविकता को स्वीकृत करते हुए एक वर्ण के द्वारा अन्य वर्ण के व्यवसायानुसार का भी अनुमोदन किया है। गौतम के मतानुसार ब्राह्मण की जीविका के तीन प्रमुख साधन थे :—(१)—अध्यापन (२)याजन और (३) प्रतिग्रह। परन्तु यदि इनसे वह अपना तथा अपने कुटुम्ब का भरण-पोषण न कर सके तो वह क्षत्रिय अथवा वैश्य के व्यवसाय को ग्रहण कर सकता है।[7] दूसरे स्थान पर उनका कथन है कि आवश्यकता पड़ने पर

---

[1] मनु० ३, १५६,

[2] मनु० २, २४५-६,

[3] आप० ध० सू० २, ६, १५, ६-१०, गौतम ५, १८, वसिष्ठ ध० सू० ३, ८, ४, ३० मनु० ४, १६२-४,

[4] गौतम १५, ७-८, मनु० ३, १२५-६,

[5] गौतम ६, ६३,

[6] मनु० ७, १३४,

[7] गौतम ७, ६-७,

ब्राह्मण किसी भी द्विजाति के व्यवसाय का अवलम्ब ले सकता है। उनके उल्लेखानुसार कुछ आचार्यों का मत है कि वह शूद्र-कर्म भी कर सकता है।[१] वसिष्ठ धर्मसूत्र के अनुसार एक वर्ण का व्यक्ति ठीक अपने नीचे के वर्ण के व्यवसाय को ग्रहण कर सकता है।[२] महाभारत का भी मत है कि जीविकोपार्जन के हेतु ब्राह्मण किसी भी द्विजाति के कर्म का अनुसरण कर सकता है।[३] विभिन्न व्यवसायानुसरण के आधार पर यह महाकाव्य ब्राह्मणों को ६ श्रेणियों में विभक्त करता है[४]—

(१) ब्रह्मसम (२) देवसम (३) शूद्रसम (४) चाण्डालसम (५) क्षत्रसम और (६) वैश्यसम। इस सूची से विदित होता है कि कतिपय ब्राह्मण द्विजाति-कर्म के अतिरिक्त शूद्र-कर्मों में भी प्रवृत थे। परन्तु प्रथम दो श्रेणियों के अन्तर्गत ब्राह्मणों के अतिरिक्त अन्यकर्मी ब्राह्मण समाज में गर्हित समझे जाते थे [५]। राजा को अधिकार था कि वह अन्तिम चार प्रकार के ब्राह्मणों पर कर लगाये [६]।

मनु ने भी वर्णसम्मत व्यवसायों के अतिरिक्त अन्य व्यवसायों के अनुसरण की आज्ञा दी है। परन्तु उनकी व्यवस्थाके अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति को अपने नीचे के वर्ण के व्यवसाय को हीग्रहण करना चाहिये।[७] उच्चतर वर्ण के व्यवसाय का अवलम्बन अधर्म्म है।[८] इस प्रकार से उपार्जित धन का राजा द्वारा अपहरण किया जा सकता है तथा उपार्जनकर्ता का देश-निष्कासन किया जा सकता है।[९] परन्तु वर्णाश्रम-धर्म के कट्टर पोषक होने के कारण मनु स्वभावतः इस विकर्मानुसरण के विरुद्ध हैं। उन्होंने इसे आपद् काल के लिये ही स्वीकृत किया है। आपद्काल के व्यतीत हो जाने पर व्यक्ति विशेष को विकर्म का परित्याग कर प्रायश्चित करना चाहिए तथा पुनः स्ववर्णानुकूल व्यवसाय में प्रतिष्ठित होना चाहिए। उसे विकर्मार्जित धन का उत्सर्ग कर देना चाहिए [१०]।

समस्त ब्राह्मण-साक्ष्यों से विदित होता है कि हमारे काल में ब्राह्मण निम्नतर वर्णों के व्यवसायों को भी ग्रहण करते रहे थे। अस्त्र-शस्त्रानुसरण क्षत्रियों का विशेषाधिकार था। परन्तु ब्राह्मण सर्वथा इससे पृथक् न थे। अति प्राचीन काल से वे युद्ध-विद्या का भी अध्ययन करते रहे थे। पाणिनि ने 'ब्राह्मणक' शब्द की व्युत्पति उस देश के सम्बन्ध में बताई है जहा ब्राह्मण युद्ध-विद्या का अनुसरण करते थे [११]। बौधायन के कथनानुसार उत्तरी भारतवर्ष में

---

[१] गौतम ७, २२-२४,

[२] वसिष्ठ २, २२

[३] महा० १२, २६४, ३-क्षत्रधर्मा वैश्यधर्मा नावृत्तिः पतति वै द्विजः।

[४] महा० १२, ७६, ४-८,

[५] महा० १२, ७६, २-३, ५, ६-विकर्मस्थाश्च नोपेक्ष्या विप्रा राज्ञा कथंचन।

[६] महा० १२, ७६, २-३, ५, ६,

[७] मनु० १०, ८१-८२,

[८] मनु० १०, ९५,

[९] मनु० १०, ९६,

[१०] मनु० ११, १९२-३,

[११] पाणिनि ५, २, ७१,

ब्राह्मण सैनिक-वृत्ति का अवलम्ब लेते थे[1]। परन्तु कदाचित् यह वर्ण विरुद्ध व्यवसाय ब्राह्मणों के लिये निन्दनीय समझा जाता था। आपस्तम्ब का कथन है कि ब्राह्मण परीक्षा-हेतु भी आयुध ग्रहण न करे[2]। वह केवल अत्यन्त संकटावस्था में ही शस्त्र-ग्रहण कर सकता है। गौतम[3] तथा वसिष्ठ[4] के मतानुसार ब्राह्मण प्राण-रक्षा के हेतु शस्त्रोपयोग कर सकता है। स्वयं कौटिल्य ने ब्राह्मणसैन्य का उल्लेख किया है। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वे ब्राह्मणों के इस विकर्म के विरोधी थे, क्योंकि उन्होंने पूर्वाचार्यों के इस मत का विरोध किया है कि ब्राह्मण-सैन्य अन्य वर्णों के सैन्यों की अपेक्षा श्रेष्ठ होता है।

कौटिल्य के मतानुसार ब्राह्मण-सेना में दृढ़ता का सर्वथा अभाव परिलक्षित होता है, क्योंकि ब्राह्मण प्रणिपात-मात्र से ही पराजित किये जा सकते हैं[5]। शस्त्रोपजीवी ब्राह्मणों के प्रति विरोध का मूल कारण यह था कि वे अन्य व्यवसायों को छोड़कर अध्ययन-अध्यापन तथा यजन-याजन में ही दत्तचित्त हों। परन्तु इस विरोध के होते हुए भी हमें शस्त्रग्राही ब्राह्मणों के अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं। यूनानी लेखों से विदित होता है कि सिन्ध-प्रदेश में एक ब्राह्मण-राज्य था। वहां के ब्राह्मणों ने सिकन्दर के विरोध में महत्वपूर्ण भाग लिया था और इसके लिये वे विदेशी के हिंसात्मक कोप के भाजन हुए थे। यूनानी लेखकों के इस वर्णन से स्पष्टतया परिलक्षित होता है कि उस प्रदेश के ब्राह्मण शस्त्रधारी थे। महाकाव्य के वीर-काल में तो ब्राह्मण शस्त्रधारियों के अनेक उदाहरण मिलते हैं। इनमें द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा और कृपाचार्य विशेष उल्लेखनीय हैं। महाभारत का कथन है कि क्षात्रधर्मरत ब्राह्मण के वध में कोई पाप नहीं है।[6] पूर्वकथित ६ प्रकार के ब्राह्मणों में एक प्रकार क्षत्रसम ब्राह्मणों का भी है[7]। एक अन्य स्थान पर महाभारत का कथन है कि यदि राजा का आदेश हो तो ब्राह्मण को विशेष रूप से युद्ध में शस्त्र ग्रहण करना चाहिए[8]। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि महाकाव्यकालीन ब्राह्मणों की युद्ध-प्रवृति असाधारण स्थिति का ही परिणाम थी। चतुर्दिक ईर्ष्या-द्वेष-जनित अनवरत युद्ध-सम्भावना ने ही ब्राह्मणों को क्षात्रवृति ग्रहण करने के हेतु प्रेरित किया था। स्वयं महाभारत में ही एक स्थान पर कहा गया है कि समाज में व्यवस्था रखने के लिये प्रत्येक वर्ण का व्यक्ति शस्त्र ग्रहण कर सकता है।[9] परन्तु साधारण स्थिति में युद्ध-विद्या क्षत्रियों का ही वर्ण विहित अधिकार था। यह जान कर

---

[1] बौधा० ध० सू० १, १, २०

[2] आप० १, १०, २६, ७—परीक्षार्थेऽपि ब्राह्मण आयुधं नाददीत।

[3] गौतम ७, २५,—प्राणसंशये ब्राह्मणोऽपि शस्त्रमाददीत।

[4] वसिष्ठ ३, २४—आत्मत्राणे वर्णसंवर्गे ब्राह्मणवैश्यां शस्त्रमाददीयाताम्।

[5] कौटिल्य ६, २—ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रसैन्यानां तेजः प्राधान्यात् पूर्वं पूर्वं श्रेयः संनाहयितुमित्याचार्याः। नेति कौटिल्यः। प्रणिपातेन ब्राह्मबलं परोऽभिहारयेत्।

[6] महा० ७, १६०, ३८—यो हि ब्राह्मण्यमुत्सृज्य क्षात्रधर्मरतो द्विजः सवध्यः स र्वलोकस्य।

[7] महा० १२, ७६, ४-८,

[8] महा० शल्यपर्व ६५, ४२—राज्ञो नियोगाद् योद्धव्यं ब्राह्मणेन विशेषतः
वर्तता क्षत्रधर्मेण ह्येवं धर्मविदो विदुः।

[9] महा० शान्तिपर्व ७८, १८,

ब्राह्मण किसी भी द्विजाति के व्यवसाय का अवलम्ब ले सकता है। उनके उल्लेखानुसार कुछ आचार्यों का मत है कि वह शूद्र-कर्म भी कर सकता है।[1] वसिष्ठ धर्मसूत्र के अनुसार एक वर्ण का व्यक्ति ठीक अपने नीचे के वर्ण के व्यवसाय को ग्रहण कर सकता है।[2] महाभारत का भी मत है कि जीविकोपार्जन के हेतु ब्राह्मण किसी भी द्विजाति के कर्म का अनुसरण कर सकता है।[3] विभिन्न व्यवसायानुसरण के आधार पर यह महाकाव्य ब्राह्मणों को ६ श्रेणियों में विभक्त करता है[4]—

(१) ब्रह्मसम (२) देवसम (३) शूद्रसम (४) चाण्डालसम (५) क्षत्रसम और (६) वैश्यसम। इस सूची से विदित होता है कि कतिपय ब्राह्मण द्विजाति-कर्म के अतिरिक्त शूद्र-कर्मों में भी प्रवृत थे। परन्तु प्रथम दो श्रेणियों के अन्तर्गत ब्राह्मणों के अतिरिक्त अन्यकर्मी ब्राह्मण समाज में गर्हित समझे जाते थे[5]। राजा को अधिकार था कि वह अन्तिम चार प्रकार के ब्राह्मणों पर कर लगाये[6]।

मनु ने भी वर्णसम्मत व्यवसायों के अतिरिक्त अन्य व्यवसायों के अनुसरण की आज्ञा दी है। परन्तु उनकी व्यवस्थाके अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति को अपने नीचे के वर्ण के व्यवसाय को हीग्रहण करना चाहिये।[7] उच्चतर वर्ण के व्यवसाय का अवलम्बन अधर्म्म है।[8] इस प्रकार से उपार्जित धन का राजा द्वारा अपहरण किया जा सकता है तथा उपार्जनकर्ता का देश-निष्कासन किया जा सकता है।[9] परन्तु वर्णाश्रम-धर्म के कट्टर पोषक होने के कारण मनु स्वभावतः इस विकर्मानुसरण के विरूद्ध हैं। उन्होंने इसे आपद् काल के लिये ही स्वीकृत किया है। आपद्काल के व्यतीत हो जाने पर व्यक्ति विशेष को विकर्म का परित्याग कर प्रायश्चित करना चाहिए तथा पुनः स्ववर्णानुकूल व्यवसाय में प्रतिष्ठित होना चाहिए। उसे विकर्मार्जित धन का उत्सर्ग कर देना चाहिए[10]।

समस्त ब्राह्मण-साक्ष्यों से विदित होता है कि हमारे काल में ब्राह्मण निम्नतर वर्णों के व्यवसायों को भी ग्रहण करते रहे थे। अस्त्र-शस्त्रानुसरण क्षत्रियों का विशेषाधिकार था। परन्तु ब्राह्मण सर्वथा इससे पृथक् न थे। अति प्राचीन काल से वे युद्ध-विद्या का भी अध्ययन करते रहे थे। पाणिनि ने 'ब्राह्मणक' शब्द की व्युत्पति उस देश के सम्बन्ध में बताई है जहा ब्राह्मण युद्ध-विद्या का अनुसरण करते थे[11]। बौधायन के कथनानुसार उत्तरी भारतवर्ष में

[1] गौतम ७, २२-२४,
[2] बसिष्ठ २, २२
[3] महा० १२, २६४, ३-क्षत्रधर्मा वैश्यधर्मा नावृत्तिः पतति वै द्विजः।
[4] महा० १२, ७६, ४-८,
[5] महा० १२, ७६, २-३, ५, ६-विकर्मस्थाश्च नोपेक्ष्या विप्रा राज्ञा कथंचन।
[6] महा० १२, ७६, २-३, ५, ६,
[7] मनु० १०, ८१-८२,
[8] मनु० १०, ९५,
[9] मनु० १०, ९६,
[10] मनु० ११, १९२-३,
[11] पाणिनि ५, २, ७१,

ब्राह्मण सैनिक-वृत्ति का अवलम्ब लेते थे [१]। परन्तु कदाचित् यह वर्णविरुद्ध व्यवसाय ब्राह्मणों के लिये निन्दनीय समझा जाता था। आपस्तम्ब का कथन है कि ब्राह्मण परीक्षा-हेतु भी आयुध ग्रहण न करे [२]। वह केवल अत्यन्त संकटावस्था में ही शस्त्र-ग्रहण कर सकता है। गौतम [३] तथा वसिष्ठ [४] के मतानुसार ब्राह्मण प्राण-रक्षा के हेतु शस्त्रोपयोग कर सकता है। स्वयं कौटिल्य ने ब्राह्मणसैन्य का उल्लेख किया है। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वे ब्राह्मणों के इस विकर्म के विरोधी थे, क्योंकि उन्होंने पूर्वाचार्यों के इस मत का विरोध किया है कि ब्राह्मण-सैन्य अन्य वर्णों के सैन्यों की अपेक्षा श्रेष्ठ होता है।

कौटिल्य के मतानुसार ब्राह्मण-सेना में दृढ़ता का सर्वथा अभाव परिलक्षित होता है, क्योंकि ब्राह्मण प्रणिपात-मात्र से ही पराजित किये जा सकते हैं [५]। शस्त्रोपजीवी ब्राह्मणों के प्रति विरोध का मूल कारण यह था कि वे अन्य व्यवसायों को छोड़कर अध्ययन-अध्यापन तथा यजन-याजन में ही दत्तचित्त हों। परन्तु इस विरोध के होते हुए भी हमें शस्त्रग्राही ब्राह्मणों के अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं। यूनानी लेखों से विदित होता है कि सिन्ध-प्रदेश में एक ब्राह्मण-राज्य था। वहां के ब्राह्मणों ने सिकन्दर के विरोध में महत्वपूर्ण भाग लिया था और इसके लिये वे विदेशी के हिंसात्मक कोप के भाजन हुए थे। यूनानी लेखकों के इस वर्णन से स्पष्टतया परिलक्षित होता है कि उस प्रदेश के ब्राह्मण शस्त्रधारी थे। महाकाव्य के वीर-काल में तो ब्राह्मण शस्त्रधारियों के अनेक उदाहरण मिलते हैं। इनमें द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा और कृपाचार्य विशेष उल्लेखनीय हैं। महाभारत का कथन है कि क्षात्रधर्मरत ब्राह्मण के वध में कोई पाप नहीं है। [६] पूर्वकथित ६ प्रकार के ब्राह्मणों में एक प्रकार क्षत्रसम ब्राह्मणों का भी है [७]। एक अन्य स्थान पर महाभारत का कथन है कि यदि राजा का आदेश हो तो ब्राह्मण को विशेष रूप से युद्ध में शस्त्र ग्रहण करना चाहिए [८]। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि महाकाव्यकालीन ब्राह्मणों की युद्ध-प्रवृति असाधारण स्थिति का ही परिणाम थी। चतुर्दिक ईर्ष्या-द्वेष-जनित अनवरत युद्ध-सम्भावना ने ही ब्राह्मणों को क्षात्रवृति ग्रहण करने के हेतु प्रेरित किया था। स्वयं महाभारत में ही एक स्थान पर कहा गया है कि समाज में व्यवस्था रखने के लिये प्रत्येक वर्ण का व्यक्ति शस्त्र ग्रहण कर सकता है। [९] परन्तु साधारण स्थिति में युद्ध-विद्या क्षत्रियों का ही वर्णविहित अधिकार था। यह जान कर

---

[१] बौधा० ध० सू० १, १, २०

[२] आप० १, १०, २६, ७—परीक्षार्थेऽपि ब्राह्मण आयुधं नाददीत।

[३] गौतम ७, २५,—प्राणसंशये ब्राह्मणोऽपि शस्त्रमाददीत।

[४] वसिष्ठ ३, २४—आत्मत्राणे वर्णसंवर्गे ब्राह्मणवैश्यां शस्त्रमाददीयाताम्।

[५] कौटिल्य ६, २—ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रसैन्यानां तेजः प्राधान्यात् पूर्वं पूर्वं श्रेयः संनाहयितुमित्याचार्याः। नेति कौटिल्यः। प्रणिपातेन ब्राह्मबलं परोऽभिहारयेत्।

[६] महा० ७, १६०, ३८—यो हि ब्राह्मण्यमुत्सृज्य क्षात्रधर्मरतो द्विजः सवध्यः स र्वलोकस्य।

[७] महा० १२, ७६, ४-८,

[८] महा० शल्यपर्व ६५, ४२—राज्ञो नियोगाद् योद्धव्यं ब्राह्मणेन विशेषतः
वर्तता क्षत्रधर्मेण ह्येवं धर्मविदो विदुः।

[९] महा० शान्तिपर्व ७८, १८,

कि कर्ण क्षत्रिय नहीं है, परशुराम ने उसे अस्त्र-शस्त्र-विद्या देना अस्वीकृत कर दिया था[१]। अतः ब्राह्मणों की क्षात्र-धर्मस्वीकृति असाधारण परिस्थिति का परिणाम थी। यही कथन मनु की समाज-व्यवस्था में परिलक्षित होता है। उन्होंने वर्णाश्रम धर्म की स्थापना अथवा संरक्षा के हेतु ब्राह्मणों को ही नहीं वरन् समस्त द्विजातियों को शस्त्र-ग्रहण की अनुमति दी है[२]। मनुस्मृति उस सामाजिक स्थिति की उत्पत्ति है जब अहिंसात्मक एवं वर्णाश्रम धर्म-विरोधी बौद्ध व्यवस्था के प्रतिक्रिया-स्वरूप ब्राह्मणों ने शस्त्र ग्रहण किया था और मौर्य-साम्राज्य को ध्वस्त कर समाज में ब्राह्मण-राज्य के अन्तर्गत ब्राह्मण-धर्म एवं ब्राह्मण-धर्मविहित चतुर्वर्णों का पुनरुद्धार किया था। वाशिष्ठीपुत्र पुलमावी का नासिक गुहा-लेख जिसमें गोमतीपुत्र शातकर्णि को 'एक ब्रह्मन' तथा 'विनिवर्तित-चातुर्वर्ण्य-संकरस्य' कहा गया है, इसी ब्राह्मण-व्यवस्था के पुनरुद्धार की ओर इंगित करता है। अतः निश्चित है कि मनु-वर्णित ब्राह्मणों का शस्त्रग्रहण असाधारण स्थिति का परिणाम था।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, गौतम, वसिष्ठ, महाभारत, मनु आदि ने आपद्-काल में ब्राह्मण को वैश्य-कर्म ग्रहण करने की अनुमति दे रक्खी है। सामान्य स्थिति में विकर्मा ब्राह्मण निन्दनीय समझा जाता था, क्योंकि अन्य व्यवसायों के अनुसरण से वह अपने प्रमुख कार्यों—अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन आदि की उपेक्षा कर सकता था। उस दशा में देश में वैदिक साहित्य, याज्ञिक क्रियाओं एवं आपूर्ण सांस्कृतिक उपकरणों के ह्रास की सम्भावना थी। बौधायन का कथन है कि वेदाध्ययन से कृषि-कार्य का विनाश होता है और कृषि-कार्य से वेदाध्ययन का। यदि किसी व्यक्ति में दोनों परस्पर-विरोधी कार्य करने की क्षमता हो तो वह उन्हें कर सकता है, अन्यथा उसे कृषि-कर्म का त्याग कर देना चाहिए[३]। जहां उन्होंने ब्राह्मण के लिये कृषि-कर्म की अनुमति दी है वहां उसके साथ अनेक यम-नियमों का प्रतिबन्ध भी लगा दिया है[४]। यही व्यवस्था वसिष्ठ धर्मसूत्र में भी की गई है।[५] महाभारत में 'बहुकर्मोपजीवी' ब्राह्मणों का उल्लेख किया गया है। उनमें से अनेक कृषि तथा गोरक्षादिक वैश्यकर्मों में भी निरत थे।[६] पूर्वकथित ब्राह्मणों की ६ कोटियों में एक कोटि वैश्यसम ब्राह्मणों की भी है।[७] आवश्यकता पड़ने पर महाकाव्यकार ने ब्राह्मणों को वैश्यधर्मानुसरण करने की अनुमति दे दी है।[८] परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि जनमत विकर्मा ब्राह्मणों को साधारणतया अधिक सम्मान्य न समझता था[९]। एक स्थान पर तो

---

[१] महा० १२, ३, २६-३०

[२] मनु० ८, ३४८-६,

[३] बौधा० १, ५, १०१—वेदः कृषि विनाशाय कृषिर्वेदविनाशिनी। शक्तिमानुभयं कुर्या-दशक्तस्तु कृषिं त्यजेत्।

[४] बोधा० २, २, ८२,-८३

[५] वसिष्ठ० २, ३२,-३४

[६] महा० १३, ३३, १२-१४,

[७] महा० १२, ७६, ४-८,

[८] महा० १२, २६४, ३,

[९] महा० १२, ७६, ११,

स्पष्टतया कहा गया है कि जो ब्राह्मण स्वधर्म का त्याग कर क्षत्रिय अथवा वैश्य का धर्म अंगीकार करता है वह श्वान एवं वृक के समान है[१]। मनुस्मृति से ज्ञात होता है कि कतिपय ब्राह्मण ६ साधनों से अपना जीविकोपार्जन करते थे। इनमें गोरक्षा तथा कृषि भी सम्मिलित हैं।[२] परन्तु महाभारत की भाँति मनुस्मृति भी ब्राह्मण के लिये कृषि-कर्म अश्लाघ्य बताती है। मनु ने इसे प्रभृत (हिंसात्मक) कहा है।[३] उनके मतानुसार ब्राह्मण को यथाशक्ति कृषि-कर्म से विरत रहना चाहिए।[४]

कृषि-कर्म की भांति अनेक ब्राह्मण व्यापार में भी संलग्न थे। परन्तु ब्राह्मणों के लिए वणिक्धर्म केवल आपद्धर्म था। वाणिज्य-निरत ब्राह्मणों के ऊपर व्यवस्थाकारों ने अनेकानेक प्रतिबन्ध लगाये हैं। वैश्य की भांति वे स्वतन्त्र रूप से प्रत्येक वस्तु का क्रय-विक्रय न कर सकते थे। व्यवस्थाकारों ने उनके लिये क्रय तथा विक्रय वस्तुओं की विभिन्न सूचियाँ प्रस्तुत की हैं। बौधायन का कथन है कि ब्राह्मण तृण तथा अविकृत काष्ठ का विक्रय कर सकते हैं। इनके अतिरिक्त वे एकतोदन्ता पशु, अश्म तथा बिना रंगे हुए वस्त्रों का भी विक्रय कर सकते हैं। परन्तु इस सूची में ब्राह्मण द्वारा लवण-विक्रय का विशेष रूप से विरोध किया गया है।[५] आवश्यकता पड़ने पर गौतम ने ब्राह्मण को वाणिज्य करने की अनुमति दी है, परन्तु यह कार्य उसे किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा ही करना चाहिये। प्रत्यक्ष-रूप से ब्राह्मण न तो कृषि कार्य कर सकता है और न वाणिज्य ही।[६] अन्य स्थानों पर गौतम का कथन है कि ब्राह्मण सुगन्धित पदार्थों, द्रव पदार्थों, पकवान, क्षमि, मृग-चर्म, रंगे हुए और धुले हुए वस्त्रों, दुग्ध, फल-मूल, माँस, जल, औषधियों, पशुओं, मनुष्यों, भूमि, यव, भेड़-बकरियों, घोड़ों तथा बैलों का विक्रय नहीं कर सकता है।[७]

ब्राह्मण के लिये ऐसी ही अनेक विक्रय-निषिद्ध वस्तुओं का उल्लेख आपस्तम्ब भी करते हैं।[८] महाभारत में इन वस्तुओं की तालिका उपलब्ध होती है।[९] आपद्काल में मनु ब्राह्मण को अपने जीविकोपार्जन के ६ साधनों की अनुमति देते हैं। इनमें विक्रय-कर्म भी सम्मिलित है।[१०] परन्तु वह प्रत्येक वस्तु का विक्रय नहीं कर सकता। एक स्थान पर उनका

---

[१] महा० १२, ६२, ४-५

[२] मनु० ४.६.

[३] मनु० ४. ५.

[४] मनु० १०.८३-४.

[५] बौधा० २. १. ८१-८२—तृणकाष्ठमविकृतं विक्रेयम्। अथाप्युदाहरन्ति। पशवश्चैकतोदन्ता अश्मा च लवणोद्धृतः एतद् ब्राह्मण ते पण्यं तन्तुश्चारजनीकृतः।

[६] गौतम १०.५-६—कृषिवाणिज्ये वाऽस्वयं कृते।

[७] गौतम ७.८-१५.

[८] आपस्तम्ब १.७.२०.१२-१३—आपदि व्यवहरेत् पण्यानामपण्यानि व्युदस्यन्। मनुष्यान् रसान् रागान् गन्धान् अन्नचर्मगवां वशां श्लेपोदके तोक्मकिण्वे पिप्पलीमरीचे धान्यं मांसमायुधं सुकृताशां च। तिलतण्डुलांस्त्वेव धान्यस्य विशेषेण न विक्रीणीयात्।

[९] महा० उद्योग ३८. ५, शान्ति० ७८.४-६.

[१०] मनु० ४.६.

अनेक स्थानों पर ब्राह्मण तथा क्षत्रिय की इस अन्तर्वर्णीय प्रतिद्वन्दिता का निराकरण करते हुए दोनों को ही सामाजिक उत्कर्ष के लिये समानरूप से महत्वपूर्ण बताया है तथा उनमें सहयोग एवं समन्वय की भावना को प्रसारित करने की चेष्टा की है। एक स्थान पर उनका मत है कि ब्राह्मणों के सहयोग से क्षत्रिय समृद्धि प्राप्त करते हैं तथा आपत्तियों से बचे रहते हैं।[1] दूसरे स्थान पर उनका कथन है कि राजा और विद्वान् ब्राह्मण दोनों ही लोक में धर्म की रक्षा करते हैं।[2] तथापि गौतम की अन्तश्चेतना में ब्राह्मणों की ही उच्चता अन्तर्निहित ज्ञात होती है। उन्होंने व्यवस्था की है कि अवरुद्ध मार्ग पर राजा को श्रोत्रिय के लिये पथ-दान करना चाहिये।[3] उनके दण्ड-विधान में भी ब्राह्मण के प्रति पक्षपात प्रतिभासित होता है। यदि कोई क्षत्रिय ब्राह्मण का अपमान करे तो उसे १०० कार्षापण का अर्थ-दण्ड देना होगा, परन्तु यदि कोई ब्राह्मण किसी क्षत्रिय की प्रतिष्ठा पर आघात करे तो उसके लिये केवल ५० कार्षापण का अर्थ-दण्ड है।[4] राजा के लिये ब्राह्मण अत्यन्त सम्मान्य है। वह सब पर कर लगा सकता है, परन्तु ब्राह्मण पर नहीं।[5] राजा ब्राह्मण के योगक्षेम के लिये अन्ततोगत्वा उत्तरदायी है।[6] यदि राजा को किसी स्थान पर धन-भाण्ड उपलब्ध हो तो उसका कर्तव्य है कि वह उसका अर्ध-भाग ब्राह्मणों में वितरित कर दे और शेष अर्धभाग ही अपने कोष में रक्खे।[7] कौटिल्य ने भी राजा को यह आदेश दिया है कि वह दण्डहीन तथा करहीन ब्रह्मदेय भूमि ऋत्विक्, आचार्य, पुरोहित तथा श्रोत्रिय ब्राह्मणों के जीविका-हेतु प्रदान करे।[8] महाभारत के अनुसार भी क्षत्रिय ब्राह्मण की अपेक्षा निम्न है।[9] अन्य वर्णों की भाँति वह ब्राह्मण से ही उत्पन्न हुआ है।[10] राजा के लिये ब्राह्मणों से कर-ग्रहण निषिद्ध है।[11] उसका योग-क्षेम पुरोहित पर निर्भर हैं।[12] यद्यपि क्षत्रिय की अपेक्षा ब्राह्मण की उच्चता ही अधिकांश स्थलों में प्रदर्शित की गई है, तथापि महाकाव्यकार ने दोनों वर्णों के पारस्परिक सहयोग को समाजोन्नति के लिये अत्यन्त आवश्यक माना है। महाभारत का कथन है कि ब्राह्मण तथा क्षत्रिय सदैव सहकारिता एवं सहयोग-भावना से कार्य करें।[13] ये दोनों वर्ण

---

[1]गौतम ६, १४.

[2]गौतम ८, १-द्वौ लोके धृतव्रतौ राजा ब्राह्मणश्च बहुश्रुतः।

[3]गौतम ६, २१, २२-राज्ञा तु श्रोत्रियाय।

[4]गौतम २१, ६, १०-शतं क्षत्रियो ब्राह्मणाक्रोशे। ब्राह्मणस्तु क्षत्रिये पंचाशत्।

[5]गौतम ११, १-राजा सर्वस्येष्टे ब्राह्मणवर्जम्।

[6]गौतम ६, ६३, ६०, ६-१०.

[7]गौतम १०, ४३-४५.

[8]कौटिल्य २,१

[9]भीष्म पर्व १२१, ३५.

[10]महा० १२, ३४२, २१—ब्राह्मणाः प्रथमं प्रादुर्भूताः। ब्राह्मणेभ्यश्च शेषाः वर्णाः प्रभूताः।

[11]महा० १३, ७६, १६—अब्राह्मणानां वित्तस्य स्वामी राजेति वैदिकम्।

[12]शान्ति ७४, १-२.

[13] शान्ति ५६, २४-२५, ७३, ८-१३.।

मंत है कि मांस, लाख, लवण तथा दुग्ध का विक्रेता ब्राह्मण पाप का भागी होता है।[1] मनुस्मृति के अनुसार निषिद्ध वस्तुओं का विक्रय एक उपपातक है।[2] एक अन्य स्थान पर मनु ने ब्राह्मण के लिये विक्रयार्थ वर्जित वस्तुओं का नामोल्लेख किया है।[3]

यद्यपि ब्राह्मण जाति से प्रधान एवं आदरणीय है तथापि व्यवस्थाकारों ने उसके आचरण और कर्म पर विशेष बल दिया है। स्ववर्णानुकूल कर्म न करने अथवा वर्जित कर्म करने से ब्राह्मण अपना सामाजिक-स्तर खो देता है और उसकी गणना शूद्र-कोटि में होने लगती है। बौधायन की अनुमति है कि राजा सायंकालीन तथा प्रातःकालीन सन्ध्या न करने वाले ब्राह्मणों को शूद्र-कर्मों में नियोजित कर सकता है।[4] यही आदेश वाणिज्य तथा शिल्प-कर्मादिक में संलग्न ब्राह्मणों के लिए भी उपयुक्त होता है।[5] गौतम का कथन है कि कुछ आचार्यों ने प्राण-रक्षा के हेतु ब्राह्मण को भी शूद्र-कर्म ग्रहण करने की अनुमति दी है।[6] इसी प्रकार महाभारत का कथन है कि दोनों सन्ध्याओं से विरक्त ब्राह्मण से राजा शूद्र-कार्य करा सकता है।[7] इस महाकाव्य में एक स्थान पर शूद्रसम और चाण्डालसम ब्राह्मणों का वर्णन किया गया है।[8] दूसरे स्थानों पर सर्वकर्मा ब्राह्मणों का उल्लेख करते हुये महाभारत चीरकर्मा, नटकर्मा, नर्तककर्मा आदि ब्राह्मणों का उल्लेख करता है।[9] मनुस्मृति से भी ज्ञात होता है कि अनेक ब्राह्मण नटकर्म एवं सेवाकर्म में प्रवृत्त थे। मनु ऐसे ब्राह्मणों को शूद्र-कोटि में स्थान देते हैं।[10] वसिष्ठ द्वारा उद्धृत मनु के एक अंश से भी यही प्रकाशित होता है कि कतिपय ब्राह्मण स्वर्णानुकूल कर्मों का त्याग कर शूद्रकर्मों में संलग्न थे।[11]

सामाजिक प्रधानता के दृष्टिकोण से ब्राह्मण के पश्चात् क्षत्रिय का वर्ण आता है। बौद्ध सामाजिक व्यवस्था के जिसमें ब्राह्मण की अपेक्षा क्षत्रिय के पद को उच्चतर बनाने की चेष्टा की गई थी, प्रतिक्रियास्वरूप अनेक सूत्रकारों ने पुनः ब्राह्मण-वर्ण को अन्यवर्णोपरि प्रतिष्ठित किया। मनु का कथन है कि जन्म से ही ब्राह्मण क्षत्रिय की अपेक्षा श्रेष्ठ है।[12] दूसरे स्थान वे कहते हैं कि शतवर्षीय क्षत्रिय भी दशवर्षीय ब्राह्मण के समक्ष पुत्र के समान हैं।[13] गौतम ने अधिक व्यावहारिकता एवं उदारता से काम लिया है। उन्होंने

---

[1] मनु० १०,९२.

[2] मनु० ११,६२.

[3] मनु० १०,८६-८९.

[4] बौधा० २, ४, २०.

[5] बौधा० ५,६५.

[6] गौतम ७, १-२४.

[7] महा० १३, १०४, १९-२०—ये न पूर्वामुपासन्ते द्विजाः सन्ध्यां न पश्चिमाम्। सर्वास्तान् धार्मिको राजा शूद्रकर्माणि कारयेत्।

[8] महा० १२, ७६, ४-८.

[9] महा० १३, २३, अनुशासन ३३, ११.

[10] मनु० ८,१०२

[11] वसिष्ठ ३, १-२, मनु० २, १६८.

[12] मनु० ८, १०२.

अनेक स्थानों पर ब्राह्मण तथा क्षत्रिय की इस अन्तर्वर्णीय प्रतिद्वन्द्विता का निराकरण करते हुए दोनों को ही सामाजिक उत्कर्ष के लिये समानरूप से महत्वपूर्ण बताया है तथा उनमें सहयोग एवं समन्वय की भावना को प्रसारित करने की चेष्टा की है। एक स्थान पर उनका मत है कि ब्राह्मणों के सहयोग से क्षत्रिय समृद्धि प्राप्त करते हैं तथा आपत्तियों से बचे रहते हैं।[1] दूसरे स्थान पर उनका कथन है कि राजा और विद्वान् ब्राह्मण दोनों ही लोक में धर्म की रक्षा करते हैं।[2] तथापि गौतम की अन्तश्चेतना में ब्राह्मणों की ही उच्चता अन्तर्निहित ज्ञात होती है। उन्होंने व्यवस्था की है कि अवरुद्ध मार्ग पर राजा को श्रोत्रिय के लिये पथ-दान करना चाहिये।[3] उनके दण्ड-विधान में भी ब्राह्मण के प्रति पक्षपात प्रतिभासित होता है। यदि कोई क्षत्रिय ब्राह्मण का अपमान करे तो उसे १०० कार्षापण का अर्थ-दण्ड देना होगा, परन्तु यदि कोई ब्राह्मण किसी क्षत्रिय की प्रतिष्ठा पर आघात करे तो उसके लिये केवल ५० कार्षापण का अर्थ-दण्ड है।[4] राजा के लिये ब्राह्मण अत्यन्त सम्मान्य है। वह सब पर कर लगा सकता है, परन्तु ब्राह्मण पर नहीं।[5] राजा ब्राह्मण के योगक्षेम के लिये अन्ततोगत्वा उत्तरदायी है।[6] यदि राजा को किसी स्थान पर धन-भाण्ड उपलब्ध हो तो उसका कर्तव्य है कि वह उसका अर्ध-भाग ब्राह्मणों में वितरित कर दे और शेष अर्धभाग ही अपने कोष में रक्खे।[7] कौटिल्य ने भी राजा को यह आदेश दिया है कि वह दण्डहीन तथा करहीन ब्रह्मदेय भूमि ऋत्विक्, आचार्य, पुरोहित तथा श्रोत्रिय ब्राह्मणों के जीविका-हेतु प्रदान करे।[8] महाभारत के अनुसार भी क्षत्रिय ब्राह्मण की अपेक्षा निम्न है।[9] अन्य वर्णों की भाँति वह ब्राह्मण से ही उत्पन्न हुआ है।[10] राजा के लिये ब्राह्मणों से कर-ग्रहण निषिद्ध है।[11] उसका योग-क्षेम पुरोहित पर निर्भर है।[12] यद्यपि क्षत्रिय की अपेक्षा ब्राह्मण की उच्चता ही अधिकांश स्थलों में प्रदर्शित की गई है, तथापि महाकाव्यकार ने दोनों वर्णों के पारस्परिक सहयोग को समाजोन्नति के लिये अत्यन्त आवश्यक माना है। महाभारत का कथन है कि ब्राह्मण तथा क्षत्रिय सदैव सहकारिता एवं सहयोग-भावना से कार्य करें।[13] ये दोनों वर्ण

---

[1]गौतम ६, १४,

[2]गौतम ८, १-द्वौ लोके धृतव्रतौ राजा ब्राह्मणश्च बहुश्रुतः।

[3]गौतम ६, २१, २२-राज्ञा तु श्रोत्रियाय।

[4]गौतम २१, ६, १०-शतं क्षत्रियो ब्राह्मणाक्रोशे। ब्राह्मणस्तु क्षत्रिये पंचाशत्,।

[5]गौतम ११, १-राजा सर्वस्येष्टे ब्राह्मणवर्जम्।

[6]गौतम ६, ६३, ६०, ६-१०,

[7]गौतम १०, ४३-४५,

[8]कौटिल्य २,१

[9]भीष्म पर्व १२१, ३५,

[10]महा० १२, ३४२, २१—ब्राह्मणाः प्रथमं प्रादुर्भूताः। ब्राह्मणेभ्यश्च शेषाः वर्णाः प्रादुर्भूताः।

[11]महा० १३, ७६, १६—अब्राह्मणानां वित्तस्य स्वामी राजेति वैदिकम्।

[12]शान्ति ७४, १-२,

[13] शान्ति ५६, २४-२५, ७२, ८-१३,।

अन्य वर्णों के मूल हैं।[१] ब्राह्मण और क्षत्रिय का सहयोग शत्रु का विनाश उसी प्रकार कर डालता है जिस प्रकार अग्नि और वायु का सहयोग वन का।[२] दोनों वर्णों का पारस्परिक द्वेष तीनों वर्णों के लिये दुःखद होता है।[३] यही नहीं, वह समाज के लिये विनाशकर होता है।[४] ऋग्वेद के पुरुष सूक्त की भांति रामायण में भी ब्राह्मण की उत्पत्ति परमपुरुष के मुख से तथा क्षत्रिय की उत्पत्ति उसकी बाहुओं से बताई गई है।[५] अत. ब्राह्मण की अपेक्षा क्षत्रिय की निम्नता स्वयंसिद्ध है। तथापि महाकाव्य काल में ब्राह्मण-क्षत्रिय की प्रतिद्वन्द्विता के कतिपय उदाहरण उपलब्ध होते हैं। कार्तवीर्य ने ऋषि जमदग्नि तथा विश्वामित्र ने वसष्ठि मुनि की गौओं का अपहरण कर ब्राह्मण की सर्वमान्य प्रतिष्ठा का अपहरण किया था। परन्तु ये उदाहरण अपवाद-स्वरूप ही हैं। मनु की सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत ब्राह्मण की अपेक्षा क्षत्रिय गौण है। वयस्क क्षत्रिय की अपेक्षा अल्पवयस्क-ब्राह्मण अधिक सम्मान्य है।[६] राजा को ब्राह्मणों के निर्देशानुसार ही शासन-कार्य चलाना चाहिए।[७] राजा का प्रमुख कार्य ब्राह्मण की जीविका का प्रबन्ध करना है। यदि किसी राजा के राज्य में कोई श्रोत्रिय क्षुधा से मरता है तो वह राज्य दुर्भिक्ष तथा रोगों से पीड़ित होता है।[८] राजा से संरक्षित श्रोत्रिय के पुण्य से राजा की आयु, उसके धन तथा राज्य का संवर्धन होता है।[९] परन्तु समाजोन्नति के लिये मनु ने ब्राह्मण तथा क्षत्रिय की पारस्परिक सहकारिता को आवश्यक समझा है। उन्होंने राजा तथा ब्राह्मण दोनों को धर्म का संरक्षक बताया है।[१०]

क्षत्रिय-वर्ण शासक-वर्ण था।[११] सूत्र-साहित्य में राजा के अभिषेक तथा यज्ञों का अनेक स्थानो पर उल्लेख किया गया है।[१२] क्षत्रिय जन्मतः रजोगुण-प्रधान होता है।[१३] मेगास्थनीज-वर्णित पांचवीं 'जाति' क्षत्रियों की है। इस वर्णन से ज्ञात होता है कि क्षत्रियों का प्रधान धर्म युद्ध था। वे सदैव इसके लिये सन्नद्ध थे।[१४] क्षत्रिय के स्वाभाविक गुण,

---

१ महा० १२. ७३. ५—ब्रह्मक्षत्रं च सर्वेषां वर्णानां मूलमुच्यते।

२ महा० ३. १८५. २५-२७-ब्रह्म क्षत्रेण सहितं क्षत्रं च ब्रह्मणा सह।
संयुक्तौ दहतः शत्रून् वनानीवाग्निमारुतौ।

३ महा० १२. ५६. २५—ब्रह्म च क्षत्रियो द्विष्टे तदा सीदन्ति ते त्रयः।

४ महा० १२. ७३. २-१४—प्रजास्ततः क्षयस्था भवन्ति।

५ रामा० ३. १४. २९-३०—मुखतो ब्राह्मणा जाता उरसः क्षत्रियास्तथा उरुभ्यां जज्ञि वैश्या पद्भ्यां शूद्राः......

६ मनु० २. १३५,।

७ मनु० ७. ३७, १०.२.।

८ मनु० ७.१३४.

९ मनु० ७.१२६.

१० मनु० ९.३२२.

११ गौतय १०.१-३, ७.५०.

१२ बोधा० श्रौतसूत्र १५.४, आपं० श्रौतसूत्र २०.२.३२.३.१-२.

१३ महा० १४.३९.११-रजः क्षत्रे

१४ स्ट्रैबो १५.१.१७, एरियन १२.

शौर्य, तेज, धृति, दाम्य अपलायन, दान और ईश्वरता है[1]। उसका एक प्रमुख कार्य चतुर्वर्णों की रक्षा करना था[2]। धर्म के हेतु युद्ध करना क्षत्रिय के लिये अत्यन्त श्रेयस्कर है[3]। असाधुओं का नियन्त्रण तथा धर्मचारियों की रक्षा उसके कर्तव्य हैं[4]। युद्ध से विमुख होना क्षत्रिय के लिये अत्यन्त निन्दनीय कार्य है। अपने सारथी की द्रोणाचार्य के विरुद्ध युद्ध न करने की सम्मति का तिरस्कार कर अभिमन्यु ने क्षत्रियों के सहज अदम्य शौर्य का परिचय दिया था[5]। महाकाव्यकालीन प्रचलित रण-विधान के अन्तर्गत शस्त्रहीन, पतित, कवचहीन, द्रवमाण, भीत, स्त्रीनामधेय, एक पुत्रवान् एवं अप्रशस्त के साथ युद्ध करना निन्दनीय समझा जाता था[6]।

ब्राह्मण-वर्ण की भांति क्षत्रियवर्ण को भी वेदाध्ययन, यज्ञ तथा दान करने का अधिकार था[7]। गौतम का उल्लेख है कि शासन-कार्य के लिये राजा को वेद, धर्मशास्त्र, उपवेद तथा पुराणों के विधि-निषेधों का अनुसरण करना चाहिए[8]। दूसरे स्थान पर गौतम का कथन है कि राजा को तीनों वेदों में अधीत होना चाहिए[9]। आपस्तम्ब का मत है कि आपद् काल में ब्राह्मण क्षत्रिय से विद्याध्ययन कर सकता है[10]। इस व्यवस्था से प्रकट होता है कि क्षत्रिय भी वैदिक साहित्य में आचार्य होते थे। इतना होते हुए भी धर्म सूत्रों में कहीं पर भी क्षत्रियों की आपूर्ण शिक्षा का विस्तृत विवेचन प्राप्त नहीं होता। हाँ, उनके अनेकानेक यज्ञों का वर्णन श्रौतसूत्रों में अवश्य उपलब्ध होता है[11]। कौटिल्य ने क्षत्रिय के प्रमुख कार्यों में अध्ययन, यजन, दान, शस्त्राजीव तथा भूतरक्षण का उल्लेख किया है[12]। महाभारत में भी क्षत्रियों को वेदों, धनुर्वेद, रणविद्या तथा संगीत में कुशल बताया गया है[13]। परन्तु क्षत्रियों को याजन-

---

[1]महा० ६.४२.४३-शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रकर्मस्वभावजम्।

[2]रामा० २.१०६.१८-२१-धर्मेण चतुरो वर्णान् पालयन् क्लेशमाप्नुहि
गौतम १०.१-३, ७, ५०-राज्ञोधिकं रक्षणं सर्वभूतानाम्।

[3]महा० ६.१२२. ३७-धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत क्षत्रियस्य न विद्यते।

[4]महा० ५. १३६. १६-२२-नियन्तरमसाधूनां गोप्तारं धर्मचारिणम्।
ईदृशं क्षत्रिया सूते वीरं सत्यपरा मम।

[5]महा० ६७,३६,५-६।

[6]महा० ६, १०७, ७७-७६ निक्षिप्तशस्त्रे पतिते विमुक्तकवचध्वजे, द्रवमाणो च भीते च
तवास्मीति च वादिनि, स्त्रियां स्त्रीनामधेये च विकले चैकपुत्रिणि,
अप्रशस्ते नरे चैव न युद्धं रोचते मम।

[7]गौतम १०, १-३, ७, ५० द्विजातीनामध्ययनमिज्या दानम्।
आप० ध० सू० २,५,१०, ५-८, बौधा० ध० सू० १,१०,२-५, मनु० १, ८५-६०।

[8]गौतम ११, १६।

[9]गौतम ११, ३।

[10]आप० ध० सू० २,२४,२५-२८ आपदि ब्राह्मणेन राजन्ये वैश्ये वाध्ययनम्।

[11]शांखायन १,५,१३,४,१५,१,११, लाट्यायन ८,११,१,६,११,३, कात्यायन १५,१,१-२,
आश्वलायन ६,३,३-६,४,२३,६,१६,१।

[12]कौटिल्य ३,६ क्षत्रियस्याध्ययनं यजनं दानं शस्त्राजीवो भूतरक्षणं च।

[13]महा० ५,४०,२६,१२,६०,१३-२०।

कार्य का अधिकार न था। रामायण का कथन है कि क्षत्रिय के याजक होने पर देवता यजमान का हव्य ग्रहण नहीं करते[१]। उसके अध्यापन तथा याजन का अन्य स्थान पर भी विरोध किया गया है[२]। महाभारत का भी कथन है कि क्षत्रिय वेदाध्ययन तथा यज्ञ कर सकता है। परन्तु वह अध्यापन तथा याजन कार्य नहीं कर सकता[३]। प्रत्येक व्यवस्थाकार स्ववर्णानुकूल कर्मों के आचरण को ही श्लाघ्य समझता है। तथापि व्यावहारिकता एवं परिस्थिति को ध्यान में रखते हुए उन्होंने आपद्काल में अपर वर्णों के कर्मों का अनुसरण करने की भी अनुमति दी है। यह कथन क्षत्रिय वर्ण के लिये भी उपयुक्त ठहरता है। गौतम का मत है कि जीविकोपार्जन के हेतु क्षत्रिय वैश्य-कर्म भी ग्रहण कर सकता है[४]। यही मत बौधायन का भी है[५]। मनु ने भी आपद्काल में क्षत्रिय को वैश्य-कर्म ग्रहण करने की अनुमति दी है, परन्तु उन्होंने कृषि-कर्म को क्षत्रिय के लिये वर्जित बताया है, क्योंकि यह प्रभृत है[६]। अनेक व्यवस्थाकारों ने वैश्य-कर्म एवं ऋण-दान को क्षत्रिय के लिये अनुपयुक्त बताया है। इनमें बौधायन तथा मनु विशेष उल्लेखनीय हैं[७]। जैसा कि पीछे कहा गया है ब्राह्मण के लिये अनेक वस्तुओं का विक्रय निषिद्ध था, परन्तु अपेक्षाकृत इस प्रकार का प्रतिबन्ध क्षत्रियों के लिये न था। मनुस्मृति के अनुसार एक वर्ण अपने ठीक नीचे के वर्ण का कर्म अंगीकार कर सकता है[८], परन्तु उच्चतर वर्ण का नहीं[९]। इस नियम के अनुसार भी क्षत्रिय वैश्यकर्म का अनुसरण कर सकते थे परन्तु ब्राह्मण-कर्म उनके लिये अत्यन्त वर्जित था। प्रत्येक मनुष्य के लिये स्ववर्णानुकूल कर्मों का आचरण ही श्लाघ्य था। इसी को प्रकटित करते हुए मनु कहते हैं कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य की वयस्कता का निर्णायक क्रमशः ज्ञान, शौर्य और धनाढ्यता है[१०]। पाराशर गृहसूत्र का कथन है कि राजता वंशज नहीं वरन् शौर्यज है[११]। यही कथन गोभिल गृहसूत्र मे भी उपलब्ध होता है[१२]। हमारे काल में इस कथन की पुष्टि में अनेक अक्षत्रिय राजाओं के उदाहरण प्राप्त होते हैं। ब्राह्मण शुंगों, कण्वों तथा सातवाहनों ने राजसत्ता अपने भुजबल से प्राप्त की थी, अन्यथा राज-कर्म उनके वर्ण के विरुद्ध था। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि स्ववर्णविरुद्ध कर्मानुसरण से मनुष्य का वर्ण-परिवर्तन हो जाता था। हमारे काल में वर्ण पूर्णरूपेण जन्मज था।

---

[१]रामा० बालकाण्ड ५६,१३-१४ क्षत्रियो याजको यस्य चण्डालस्य विशेषतः कथं सदसि भोक्तारो हविस्तस्य सुरर्षयः।

[२]रामा० १,५६,१३-१४।

[३]जैमिनि ६,६,१८,१,२,२८, महा० १२,६०,१३-२०।

[४]गौतम ७,२६।

[५]बौधा० २,२,७७।

[६]मनु० १०,८३-४।

[७]बौधायन १,५,६३,६४ मनु० १०,११७।

[८]मनु० १०,८१-८२।

[९]मनु० १०,९५

[१०]मनु० २,१५५।

[११]पाराशर गृहसूत्र १,६८।

[१२]गौभिल गृहसूत्र १,१,१५-१६।

हमें एक भी ऐसा उदाहरण उपलब्ध नहीं होता जब कर्म के आधार पर किसी व्यक्ति का जात्युत्कर्ष अथवा जात्यपकर्ष हुआ हो। महाभारत में एक स्थान पर उल्लेख है कि शूद्र पुत्र स्वकर्मानुसार क्षत्रिय हो सकता है।[१] इसी प्रकार रामायण का कथन है कि क्षत्रिय वर्ण का निर्णायक शौर्य है।[२] परन्तु ये कथन कोरे सिद्धान्त-वाक्य हैं। समाज में इन्हें व्यावहारिक रूप प्राप्त न हो सका। शूरकर्मा कर्ण को अपने जीवन-काल में कभी भी क्षत्रिय-प्रतिष्ठा उपलब्ध न हुई। तथाकथित अक्षत्रिय होने के कारण द्रौपदी ने उसके साथ विवाह करना अस्वीकृत कर दिया।[3] दुर्योधन द्वारा कर्ण का राज्याभिषेक केवल एक राजनीतिक चाल थी। इस प्रकार कौरव-राज सूतपुत्र का पूर्ण सहयोग प्राप्त करना चाहता था तथा उसका पाण्डवों के साथ चिर वैमनस्य स्थापित करना चाहता था। परन्तु इस राजता से कर्ण का जाति-कल्मष दूर न हुआ। भीम ने राज्याभिषेक के अवसर पर ही उसके अक्षत्रियत्व के आधार पर उसे राज्य का अनधिकारी बताया।[४] युद्ध के अवसर पर भी तथा-कथित सूतपुत्र होने के कारण वह सदैव अवज्ञा की दृष्टि से देखा जाता था।[५] द्रोण, कृप, अश्वत्थामा तथा परशुराम ने क्षत्रिय-कर्म अंगीकार किया था, तथापि वे सदैव ब्राह्मण ही बने रहे। शुङ्गों, कण्वों तथा सातवाहनों ने राज-दण्ड ग्रहण किया था, परन्तु इस क्षत्रिय-कर्म से उन्हें क्षत्रियत्व प्राप्त न हुआ था। वाशिष्ठीपुत्र, गौतमीपुत्र शातकर्णि को 'एकब्रह्मन' कहता है। इन उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि अन्य वर्णों की भाँति क्षत्रिय वर्ण भी जन्मज था। मनु की व्यवस्था कि वर्ण का निर्णायक जन्म है, कर्म नहीं[६] क्षत्रिय वर्ण के विषय में भी पूर्णरूप से प्रयुक्त हुई है।

तीसरा वर्ण वैश्यों का था। प्रतिष्ठा की दृष्टि से यह वर्ण ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्णों के पश्चात् आता है। आपस्तम्ब का कथन है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र वर्णों में प्रत्येक पूर्वगामी वर्ण अनुगामी वर्ण से जन्मतः उच्चतर है।[७] यही मत गौतम की न्याय-व्यवस्था से प्रकट होता है। उनका कथन है कि यदि क्षत्रिय ब्राह्मण का अपमान करे तो उसे १०० (कार्षापण) का अर्थ-दण्ड देना होगा, परन्तु उसी अपराध में वैश्य को १५० (कार्षापण) का अर्थ-दण्ड मिलेगा। इसके विरुद्ध यदि ब्राह्मण किसी क्षत्रिय का अपमान करे तो उस पर ५० (कार्षापण) का अर्थ-देना होगा, परन्तु यदि वह किसी वैश्य का अपमान करे तो वह केवल २५ (कार्षापण) के अर्थ-दण्ड का भागी होगा।[८] इस पक्षपातपूर्ण व्यवस्था से

---

[१] महा० ३,२१२,११-१२।

[२] रामा० ७,२६,३३ क्षत्रियो वीर्यतः भवेत्।

[३] महा १,१८७,२३ नाहं वरयामि सूतम्।

[४] महा० १,१३६,३८।

[५] महा० १,१३७,५-६ न त्वमर्हसि पर्थिन सूतपुत्र रणे वधम्।
कुलस्य सदृशस्तूर्णं प्रतोदो गृह्यतां त्वया।

[६] मनु० १०,५।

[७] आप० १,१,१,५ चत्वारो वर्णा ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राः। तेषां पूर्वः पूर्वो जन्मतः श्रेयान्

[८] गौतम २१, ६-१०-शतं क्षत्रियो ब्राह्मणाक्रोशे। अध्यर्धं वैश्यः।
ब्राह्मणस्तु क्षत्रियो पंचाशत्। तदर्धं वैश्य।.....

स्पष्ट हो जाता है कि वैश्य वर्ण ब्राह्मण एवं क्षत्रिय वर्णों के समक्ष निम्नतम था। इसी प्रकार की व्यवस्था मनुस्मृति में भी उपलब्ध होती है।[1] पुनः ऋग्वेद के पुरुषसूक्त के अनुसार मनु ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र को क्रमशः परम पुरुष के मुख, बाहु जानु तथा पद से उत्पन्न कहा है।[2] इस क्रम से भी वैश्यों का स्थान तृतीय ठहरता है। जन्म के आधार पर ही ब्राह्मण तथा क्षत्रिय उनसे उच्चतर थे।

सिद्धान्तः ब्राह्मण और क्षत्रिय की भांति वैश्य की भी अध्ययन, यज्ञ तथा दान करने का अधिकार था। गौतम ने इन तीन कर्मों को समस्त द्विजातियों का विशेषाधिकार बताया है[3]। अतः इनमें वैश्य भी सम्मिलित हैं। आपस्तम्ब का मत है कि आपद्काल में ब्राह्मण से वैश्य विद्याध्ययन कर सकता है[4]। इस कथन का अनुमोदन मनुस्मृति से भी होता है[5]। इससे स्पष्ट है कि कतिपय वैश्य सम्यक् रूप से अधीत रहे होंगे। कौटिल्य ने भी वैश्य की अध्ययन, यजन तथा दान करने की अनुमति दी है[6]। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वैश्यों ने अपनी शिक्षा-दीक्षा की ओर विशेष ध्यान न दिया। जीवन के अन्य कार्य कलापों में वे इतने व्यस्त रहे कि उन्होंने उपयुक्त व्यवस्था से लाभ न उठाया। भौतिक समभ्युदय में निरत वैश्य समुदाय ने आध्यात्मिक एवं मानसिक संस्कृति की ओर अधिक ध्यान न दिया और उसे समाज के अन्य वर्गों के हाथ में छोड़ दिया। बौधायन का कथन कि कृषि तथा वेदाध्ययन परस्पर विरोधी हैं तथा साधारणतया मनुष्य इन दोनों का अनुसरण एक साथ नहीं कर सकता, वैश्य वर्ण में चरितार्थ हुवा।[7] अतः वेदाध्ययन, यजन, दानादिक कर्मों का अपेक्षाकृत त्याग कर वैश्यों ने कृषि, वाणिज्य, पशुपालन तथा कुसीद ऐसे धनार्जन के साधनों में अपनी प्रतिभा एवं अध्यवसायशीलता को केन्द्रित किया[8]। ब्राह्मण व्यवस्थाकारों की भांति मेगास्थनीज ने भी वैश्य वर्ण का वर्णन किया है। उसके लेख में दूसरी जाति से इसी वर्ण का तात्पर्य है। इस विदेशी के उल्लेखानुसार वैश्य समाज में अन्य वर्णों की अपेक्षा बहुसंख्यक थे। स्वभावतः वे शान्ति प्रकृति के थे। वे युद्ध-कर्म से सर्वथा विमुक्त थे। उनका विशेष कार्य कृषि था जिसे वे अशान्ति-काल में भी शान्ति-पूर्वक किया करते थे। राजकर के रूप में उनसे उपज का चौथा भाग लिया जाता था[9]। महाभारत का कथन है कि समाज के जिस वर्ग ने अध्ययन यजन आदि कर्मों को छोड़ कर कृषि-कर्म तथा गोपालन-वृत्ति का अनुसरण किया वह वैश्य कहलाया[10]। इस वर्ण का प्रमुख ध्येय धनार्जन

[1] मनु० ८, २६७-२।
[2] मनु० १, ३१ तथा ६४।
[3] गौतम १०, १-३, ७, ५०-द्विजातीनामध्ययनमिज्या दानम्।
[4] आप० ध०सू० २, २, ४, २५-२८।
[5] मनु० १०, १, २, २४१।
[6] कौटिल्य ३, ७-वैश्यस्याध्ययनं यजनं दानं।
[7] बौधा० १, ५, १०१-वेदः कृषिविनाशाय कृषिर्वेदविनाशिनी।
[8] गौतम१०, १,२, ७, ५०-वैस्यास्याधिकं कृषिवणिकूपालुपात्यकुसीदम्। कौटिल्य ३, ७
वैश्याध्ययन यजनं दानं कृषिपाशुपाल्ये वाणिज्या च।
[9] स्ट्रैबो १५, १ तथा एरियन ११।
[10] महा० १२,१८८,१–१८–गोभ्यो वृत्तिं समास्थाय पिताः कृष्योपजीविनः
स्वधर्मान्नानुति-ष्ठन्ति ते द्विजाः वैश्यतां गताः।

था[1] तथा इसके स्वाभाविक कार्य कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य थे[2]। सब से अधिक धनाढ्य होने के कारण वैश्य ही सब से अधिक राजकर के प्रदाता थे[3]। अन्य वर्णों की भांति वैश्यों के कर्मानुसरण पर भी नियन्त्रण था। वे याजन-कर्म न करा सकते थे[4]। वाणिज्य-रत होने पर भी वे मद्य, मांस, लौह तथा चर्म का विक्रय न कर सकते थे[5]। युद्ध-कर्म प्रमुखतया क्षत्रिय वर्ण का कर्म था तथापि आपद् काल में वैश्य भी इसका अनुसरण कर सकते थे। बौधायन का मत है कि गौ, ब्राह्मण तथा वर्ण की रक्षा के हेतु वैश्य भी शस्त्र-ग्रहण कर सकता है[6]। महाभारतकार का कथन है कि समाज की शृंखला-बद्ध रखने के हेतु प्रत्येक वर्ण शस्त्र ग्रहण कर सकता है[7]। इसी आशय का कथन मनुस्मृति में भी पाया जाता है[8]। जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, प्रत्येक व्यक्ति के लिये स्ववर्णसम्मत कर्म ही श्लाघनीय था। परन्तु आर्थिक चिन्ताओं के कारण सदैव यह सम्भव न था। जीविकोपार्जन के हेतु मनुष्य अपर वर्णों के कार्य-कलाप का भी अनुसरण करने लगे। इस सामाजिक विषमता को दूर करने के हेतु ही व्यवस्थाकारों ने आपद् धर्म का प्रतिपादन किया। उनके स्थूल नियम के अनुसार आपद् काल में मनुष्य अपने से ठीक नीचे वर्ण के कर्म का अनुसरण कर सकता था, परन्तु उच्चतर वर्ण के कर्म का नहीं। यह व्यवस्था अन्य वर्णों की भांति वैश्य वर्ण के लिये भी प्रयुक्त होती है। गौतम का कथन है कि आपद्‌काल में वैश्य निम्नतर वर्ण के कर्म का अंगीकार कर सकता है। इसी प्रकार मनु की अनुमति है कि जीविकोपार्जन के अन्य साधनों से हीन वैश्य शूद्र-कर्म को ग्रहण कर सकता है[9]।

चौथा वर्ण शूद्रों का था। प्रारम्भ में इस वर्ण के अन्तर्गत विजित अथवा क्रीत अनार्य रक्खे गये थे। इन्हें निम्नतम समझते हुए भी आर्यों ने अपनी सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत इन्हें स्थान दिया था और इस प्रकार समाज की शारीरिक श्रममूलक आवश्यकताओं की पूर्ति की थी। शूद्रों के चतुर्थ वर्ण पर द्विजातियों के सेवा-कार्य का भार डाल कर व्यवस्थाकारों ने ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णों को अपेक्षाकृत निश्चिन्त बना दिया था जिससे वे समाज की अन्य उच्चतर आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें। वैदिक साहित्य के पश्चात् अनुगामी साहित्य में भी यह वर्ण ही कहा गया है। गौतम की व्यवस्था में शूद्र के लिये 'अनार्य' शब्द का प्रयोग हुआ है[10]। बौधायन ने उसके अनार्यत्व को 'कृष्णवर्ण' से प्रकाशित

---

[1]महा० ५.१३२.३०—वैश्यो धनार्जनं कुर्यात्।

[2]महा० ६.४२.४४—कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यस्य कर्मस्वभावजम्।

[3]महा० २.४७.२८ वैश्य इव करप्रदा महा० ४.७०.२२।

[4]जैमिनि ६.६.१८, १.२.२८।

[5]महा० १२.२९५.५–६—मद्यमांसोपजीव्यञ्च विक्रयं लोहचर्मणः
अपूर्विणा न कर्त्तव्यं कृतपूर्वं तु त्यजतो महान्।

[6]बौधा० २.२.८०—गवार्थे ब्राह्मणार्थे वा वर्णानां वापि संकरे
गृह्णीयातां विप्रविशौ शस्त्रधर्मव्यपेक्षया।

[7]शान्ति० ७८.१८।

[8]मनु० ८.३४२९।

[9]गौतम ७.२६।

[10]गौतम १०.६६।

किया है[1]। यही कथन आपस्तम्ब धर्म सूत्र में भी उपलब्ध होता है[2]। महाभारत में 'कृष्ण' शब्द का अर्थ शारीरिक वर्ण के अतिरिक्त तमोगुण से भी लिया गया है[3]। इस महाकाव्य के साक्ष्य से ज्ञात होता है कि स्वधर्मच्युत द्विज भी शूद्रवर्ण में गणित होने लगे थे। मनुस्मृति से भी शूद्र के अनार्यत्व का संकेत मिलता है। उसमें एक स्थान पर वह क्रीत दास के रूप में वर्णित किया गया है[4]।

शूद्र वर्ण की अवस्था अत्यन्त हेय थी। अपनी जीविका के हेतु उसे द्विजातियों पर निर्भर रहना था[5]। उसे उन्हीं के त्यक्त पद-त्राणों, आतपत्रों, वस्त्रों तथा आसनों का प्रयोग करना था[6]। उसका प्रमुख धर्म उनकी परिचर्या था[7]। अपने संचित धन से अपने आपद्-ग्रस्त स्वामी की सहायता करना उसका परम कर्तव्य था।[8] वास्तव में उनका संचित धन उच्चतर वर्णों के लिये ही होता[9]। शूद्र की हीनावस्था का अनुमान केवल इसी बात से लगता है कि बौधायन ने उसकी हत्या करने वाले के लिये उसी दण्ड की व्यवस्था की है जो किसी कौवे, उल्लू, मेढक अथवा कुत्ते इत्यादि के हत्यारे को मिलता था[10]। आपस्तम्ब ने भी चारों वर्णों में शूद्र का पद निम्नतम बताया है[11]। वसिष्ठ धर्मसूत्र में शूद्र की श्मशान की भांति कहा गया है[12]।

महाभारत में भी शूद्र का प्रमुख धर्म अन्य वर्णों की परिचर्या था[13]। कौटिल्य की व्यवस्था में भी शूद्र का प्रधान् कर्तव्य द्विजाति की शुश्रूषा ही है[14]। यह समस्त वर्णों का दास है[15]। आपत्ति-काल में वह अपने स्वामी को न छोड़ सकता था[16]। उसका समस्त धन स्वामी के लिये था[17]। अपने संचित धन से उसे आपद्काल में अपने स्वामी की सहायता करना था[18]। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त की भांति मनु ने भी शूद्र को परम पुरुष के पदों से उत्पन्न बताया था[19]।

[1]बौधा० ध० सू० २.१.५६.
[2]आप० ध० सू० १.६.२७.१३.
[3]महा० १४.३६.११--तमः शूद्रे.. ...।
महा० १२.१४८,१-१८--कृष्णाः शौचपरिभ्रष्टास्ते द्विजाः शूद्रतां गताः
[4]मनु० ८.४१३-शूद्रं तु कारयेत् दास्यं क्रीतमक्रीतमेव वा।
दास्यायैव हि सृष्टासौ ब्राह्मणस्य स्वयंभुवा।
[5]गौतम १.५७.
[6]गौतम १०.५८.
[7]गौतम १०.५७-५६--परिचर्या चौत्तरेषाम्।
[8]गौतम १०.६२.
[9]गौतम १०.६४-६५.
[10]बौधा० १ १०.१६.१-६.
[11]आप० १.१.१.५-
[12]वसिष्ठ ४.३.
[13]महा० ४.५०.६-शूद्रः शुश्रूणां कुर्यात्त्रि वर्णेषु नित्यशः।
महा० ५.१३२.३०-शूद्रः परिचरेच्च तान्।
[14]अर्थशास्त्र ३.८-शूद्रस्य द्विजातिशुश्रूषा।
[15]शान्ति ६०.२८. प्रजापतिर्हि वर्णानां दासं शूद्रमकल्पयत्।
[16]महा० १२.६०. चे ६ शूद्रणां तु न हातव्या भर्त्ता कस्यांचिदापदि।
[17]महा० १२.६०.३७-भर्तृ हार्यधने हि सः।
[18]महा० १२.६०.३६-अतिरेकेणभर्तव्यो भर्त्ता द्रव्यपरिक्षये।
[19]मनु० १.३१ ६४.

अतःउसका निम्नतम पद स्वयंसिद्ध है। उनका कथन है कि ब्रह्म ने उसे ब्राह्मण के सेवा-कार्य के लिये ही उत्पन्न किया था[1]। अपने स्वामी द्वारा परित्यक्त वसनादिक तथा उच्छिष्ट भोजन उसके भरण-पोषण के प्रमुख साधन थे[2]। उसे धन-संचय करने का अधिकार न था[3] समाज में उसके जीवन का विशेष मूल्य न था। शूद्र की हत्या करने वाला व्यक्ति बिल्ली, मेंढक, कुत्ते, उल्लू, कौवे आदि की हत्या करने वाले व्यक्तियों की भांति ही अत्यल्पापराधी समझा जाता था[4]।

शूद्र को अन्य वर्णों की भांति अध्ययन तथा यजन का अधिकार न था। गौतमका आदेश है कि यदि वह वैदिक मन्त्रों का उच्चारण करे तो उसकी जिह्वा काट लेनी चाहिए[5] और यदि वह उन्हें कंठस्थ करे तो उसके शरीर के दो खण्ड कर देने चाहिए[6]। यदि वह जान-बूझ कर वेद-श्रवण करता है तो उसके कानों में टीन अथवा लाख का गला हुआ गरम द्रव भर देना चाहिये[7]।

वेदाध्ययन के हेतु उपनयन-संस्कार आवश्यक था। परन्तु आपस्तम्ब धर्मसूत्र में केवल द्विजातियों के ही उपनयन-संस्कार की व्यवस्था की गई है[8]। इससे प्रतीत होता है कि शूद्र को अध्ययन का अधिकार न था। उसके समक्ष वेदाध्ययन करना भी निषिद्ध समझा जाता था[9]। इस कथन की पुष्टि वसिष्ठ धर्मसूत्र से भी होती है[10]। इस धर्मसूत्र में कहा गया है कि परम पिता ने ब्राह्मण, राजन्य तथा वैश्य को क्रमश गायत्री, त्रिष्टुभ और जगती मन्त्र के साथ उत्पन्न किया, परन्तु उसने शूद्र को मन्त्रहीन ही रक्खा[11]। इस उल्लेख से सिद्ध होता है कि शूद्र को अध्ययन अथवा यजन का अधिकार न था। जैमिनि ने भी इसी मत का प्रतिपादन किया है कि शूद्र को अग्निहोत्र तथा वैदिक यज्ञ करने का अधिकार नहीं है[12]। कौटिल्य ने द्विजातियों के लिये अध्ययन, यजन तथा दान की व्यवस्था की है, परन्तु वे शूद्रों के विषय में इनका उल्लेख नहीं करते हैं[13]। संस्कारहीन होने के कारण महाभारत में भी शूद्र को चतुराश्रमों का अनधिकारी बताया गया है[14]। उसके लिये वेदाध्ययन[15] तथा यजन[16] निषिद्ध था। कोई भी शूद्र विद्याध्यन के हेतु कुलपति के आश्रम में प्रवेश न पा सकता था[17]। एक स्थान पर स्वयं विदुर का कथन है कि शूद्र होने के कारण मैं शिक्षा नहीं दे सकता[18]। रामायण में शूद्र

---

[1]मनु० ८.४१३-दास्यावैव हि सृष्टोसौ ब्राह्मणस्य स्वयंभुवा। [2]मनु० १०७ १२४-१२५.

[3]मनु० १०.१२६. [4]मनु० ११.१३१. [5]गौतम १२.५ [6]गौतम १२.६. [7]गौतम १२.४.

[8]आप० १.१.१.६- [9]आप० १.३.९.९.

[10]वसिष्ठ १८.११-१२-तस्माच्छूद्रसमीपे नाध्येतव्यम्।

[11]वशिष्ठ ४.३. गायत्र्या ब्राह्मणमसृजत त्रिष्टुभा राजन्यं जगत्या।

वैश्यं न केनचिच्छन्दसा शूद्रमित्यसंस्कार्यो विज्ञायते।

[12]जैमिनि ६.१.२५.३८. [13]अर्थशास्त्र ३.५-८.

[14]अनुशासन १६५.१०-शूद्रो हि नाधिकारो मे चतुराश्रम्यसेवने।

[15]महा० ५.२९.२६'३.३३.८१. [16]महा० १२.६०.३७. [17]महा० १३.१०.१६.

[18]महा० ५.४१.५-६

किया है[१] । यही कथन आपस्तम्ब धर्म सूत्र में भी उपलब्ध होता है[२] । महाभारत में 'कृष्ण' शब्द का अर्थ शारीरिक वर्ण के अतिरिक्त तमोगुण से भी लिया गया है[3] । इस महाकाव्य के साक्ष्य से ज्ञात होता है कि स्वधर्मच्युत द्विज भी शूद्रवर्ण में गणित होने लगे थे। मनुस्मृति से भी शूद्र के अनार्यत्व का संकेत मिलता है। उसमें एक स्थान पर वह क्रीत दास के रूप में वर्णित किया गया है[४] ।

शूद्र वर्ण की अवस्था अत्यन्त हेय थी। अपनी जीविका के हेतु उसे द्विजातियों पर निर्भर रहना था[५]। उसे उन्हीं के त्यक्त पद-त्राणों, आतपत्रों, वस्त्रों तथा आसनों का प्रयोग करना था[६] । उसका प्रमुख धर्म उनकी परिचर्या था[७] । अपने संचित धन से अपने आपद्-ग्रस्त स्वामी की सहायता करना उसका परम कर्तव्य था।[८] वास्तव में उनका संचित धन उच्चतर वर्णों के लिये ही होता[९] । शूद्र की हीनावस्था का अनुमान केवल इसी बात से लगता है कि बौधायन ने उसकी हत्या करने वाले के लिये उसी दण्ड की व्यवस्था की है जो किसी कौवे, उल्लू, मेढक अथवा कुत्ते इत्यादि के हत्यारे को मिलता था[१०] । आपस्तम्ब ने भी चारों वर्णों में शूद्र का पद निम्नतम बताया है[११] । वसिष्ठ धर्मसूत्र में शूद्र की श्मशान को भांति कहा गया है[१२] ।

महाभारत में भी शूद्र का प्रमुख धर्म अन्य वर्णों की परिचर्या था[१३]। कौटिल्य की व्यवस्था में भी शूद्र का प्रधान कर्तव्य द्विजाति की शुश्रूषा ही है[१४] । यह समस्त वर्णों का दास है[१५] । आपत्ति-काल में वह अपने स्वामी को न छोड़ सकता था[१६] । उसका समस्त धन स्वामी के लिये था[१७] । अपने संचित धन से उसे आपद्काल में अपने स्वामी की सहायता करना था[१८] । ऋग्वेद के पुरुष सूक्त की भांति मनु ने भी शूद्र को परम पुरुष के पदों से उत्पन्न बताया था[१९]।

---

[१]बौधा० ध० सू० २.१.५६.

[२]आप० ध० सू० १.६.२७.१३.

[3]महा० १४.३६.११--तमः शूद्रे.. ..।
महा० १२.१४८.१-१८--कृष्णाः शौचपरिभ्रष्टास्ते द्विजाः शूद्रतां गताः

[४]मनु० ८.४१३-शूद्रं तु कारयेत् दास्यं क्रीतमक्रीतमेव वा।
दास्यायैव हि सृष्टासौ ब्राह्मणस्य स्वयंभुवा।

[५]गौतम १.५७.

[६]गौतम १०.५८.

[७]गौतम १०.५७-५६--परिचर्या चोत्तरेषाम्।

[८]गौतम १०.६२.

[९]गौतम १०.६४-६५.

[१०]बौधा० १ १०.१६.१-६.

[११]आप० १.१.१.५-

[१२]वसिष्ठ ४.३.

[१3]महा० ४.५०.६-शूद्रः शुश्रूषां कुर्यात्त्रि वर्णेषु नित्यशः।
महा० ५.१३२.३०-शूद्रः परिचरेच्च तान्।

[१४]अर्थशास्त्र ३.८-शूद्रस्य द्विजातिशुश्रूषा।

[१५]शान्ति ६०.२८. प्रजापतिर्हि वर्णानां दासं शूद्रमकल्पयत्।

[१६]महा० १२.६०. ३६ शूद्रेणा तु न हातव्या भर्त्ता कस्यांचिदापदि।

[१७]महा० १२.६०.३७-भर्तृहार्यधने हि सः।

[१८]महा० १२.६०.३६-अतिरेकेणभर्तव्यो भर्त्ता द्रव्यपरिक्षये।

[१९]मनु० १.३१ ६४.

अतःउसका निम्नतम पद स्वयंसिद्ध है। उनका कथन है कि ब्रह्म ने उसे ब्राह्मण के सेवा-कार्य के लिये ही उत्पन्न किया था[1]। अपने स्वामी द्वारा परित्यक्त वसनादिक तथा उच्छिष्ट भोजन उसके भरण-पोषण के प्रमुख साधन थे[2]। उसे धन-संचय करने का अधिकार न था[3] समाज में उसके जीवन का विशेष मूल्य न था। शूद्र की हत्या करने वाला व्यक्ति बिल्ली, मेढक, कुत्ते, उल्लू कौवे आदि की हत्या करने वाले व्यक्तियों की भांति ही अत्यल्पापराधी समझा जाता था[4]।

शूद्र को अन्य वर्णों की भांति अध्ययन तथा यजन का अधिकार न था। गौतमका आदेश है कि यदि वह वैदिक मन्त्रों का उच्चारण करे तो उसकी जिह्वा काट लेनी चाहिए[5] और यदि वह उन्हें कंठस्थ करे तो उसके शरीर के दो खण्ड कर देने चाहिए[6]। यदि वह जान-बूझ कर वेद-श्रवण करता है तो उसके कानों में टीन अथवा लाख का गला हुआ गरम द्रव भर देना चाहिये[7]।

वेदाध्ययन के हेतु उपनयन-संस्कार आवश्यक था। परन्तु आपस्तम्ब धर्मसूत्र में केवल द्विजातियों के ही उपनयन-संस्कार की व्यवस्था की गई है[8]। इससे प्रतीत होता है कि शूद्र को अध्ययन का अधिकार न था। उसके समक्ष वेदाध्ययन करना भी निषिद्ध समझा जाता था[9]। इस कथन की पुष्टि वसिष्ठ धर्मसूत्र से भी होती है[10]। इस धर्मसूत्र में कहा गया है कि परम पिता ने ब्राह्मण, राजन्य तथा वैश्य को क्रमश गायत्री, त्रिष्टुभ और जगती मन्त्र के साथ उत्पन्न किया, परन्तु उसने शूद्र को मन्त्रहीन ही रक्खा[11]। इस उल्लेख से सिद्ध होता है कि शूद्र को अध्ययन अथवा यजन का अधिकार न था। जैमिनि ने भी इसी मत का प्रतिपादन किया है कि शूद्र को अग्निहोत्र तथा वैदिक यज्ञ करने का अधिकार नहीं है[12]। कौटिल्य ने द्विजातियों के लिये अध्ययन, यजन तथा दान की व्यवस्था की है, परन्तु वे शूद्रों के विषय में इनका उल्लेख नहीं करते हैं[13]। संस्कारहीन होने के कारण महाभारत में भी शूद्र को चतुराश्रमों का अनधिकारी बताया गया है[14]। उसके लिये वेदाध्ययन[15] तथा यजन[16] निषिद्ध था। कोई भी शूद्र विद्याध्यन के हेतु कुलपति के आश्रम में प्रवेश न पा सकता था[17]। एक स्थान पर स्वयं विदुर का कथन है कि शूद्र होने के कारण मैं शिक्षा नहीं दे सकता[18]। रामायण में शूद्र

---

[1]मनु० ८.४१३-दास्यायैव हि सृष्टोऽसौ ब्राह्मणस्य स्वयंभुवा। [2]मनु० १०७ १२४-१२५.

[3]मनु० १०.१२६. [4]मनु० ११.१३१. [5]गौतम १२.५ [6]गौतम १२.६. [7]गौतम १२.४.

[8]आप० १.१.१.६- [9]आप० १.३.६.९.

[10]वसिष्ठ १८.११-१२-तस्माच्छूद्रसमीपे नाध्येतव्यम्।

[11]वशिष्ठ ४.३. गायत्र्या ब्राह्मणमसृजत त्रिष्टुभा राजन्यं जगत्या।

वैश्यं न केनचिच्छन्दसा शूद्रमित्यसंस्कार्यो विज्ञायते।

[12]जैमिनि ६.१.२५.३८. [13]अर्थशास्त्र ३.५-८.

[14]अनुशासन १६५.१०-शूद्रो हि नाधिकारो मे चतुराश्रम्यसेवने।

[15]महा० ५.२९.२६‘३.३३.८१. [16]महा० १२.६०.३७. [17]महा० १३.१०.१६.

[18]महा० ५.४१.५-६

को परमपिता के पदों से उत्पन्न कहा गया है[1]। अतः उसका स्वाभाविक कर्म सेवा है। उसे अध्ययन अथवा यजन का अधिकार नहीं है[2]। तपश्चर्या द्वारा अनधिकार-चेष्टा के अपराध में स्वयं राम ने शम्बूक का वध किया था[3]। मनु का कथन है कि शूद्र धार्मिक शिक्षा तथा व्रतों के अनुपयुक्त है[4]। उसके समस्त संस्कार मन्त्रहीन होने चाहिए[5]।

शूद्र की हीनावस्था अन्य सामाजिक विधि-निषेधों से भी प्रकट होती है। गौतम की व्यवस्था के अनुसार ब्राह्मण का अपमान करने वाला क्षत्रिय १००-कार्षापण के अर्थ दण्ड का भागी होता है। इसी अपराध में वैश्य को १५०-कार्षापण देना पड़ता था। परन्तु यदि ब्राह्मण किसी क्षत्रिय अथवा वैश्य का अपमान करता था तो उसे क्रमशः ५० और २५ का अर्थ-दण्ड भुगतना पड़ता था और शूद्र के प्रति उसी अपराध में वह अदण्ड्य रहता था[6]। थोड़े अन्तर के साथ मनु ने भी इसी व्यवस्था का अनुमोदन किया है जब कि शूद्र के प्रति वाक्पारुष्य के दोष में ब्राह्मण को केवल १२-कार्षापण-अर्थ-दण्ड देना पड़ता था, तभी शूद्र को ब्राह्मण के प्रति उसी अपराध में अपने प्राणों अथवा कम से कम अपनी जिह्वा से हाथ धोना पड़ता था[7]। द्विजाति-स्त्री के साथ शूद्र का समागम अत्यन्त जघन्य पाप समझा जाता था। गौतम ने उसके लिये अत्यन्त कठोर दण्ड की आज्ञा दी है[8]। मनु ने ब्राह्मणी के साथ समागम करने के अपराध में शूद्र के लिये मृत्युदण्ड का विधान बनाया है[9]। परन्तु उसी अपराध में उन्होंने ब्राह्मण के लिये केवल ५००-कार्षापण के अर्थ-दण्ड की व्यवस्था की है[10]। साधारणतया शूद्र का दान-प्रतिग्रह ग्रहण करने योग्य नहीं है। व्यवस्थाकारों ने उसकी स्वीकृति आपद्काल में ही दी है। गौतम का मत है कि ब्राह्मण विवाह सम्पन्न करने के हेतु अथवा याज्ञिक उपकरणों को प्राप्त करने के हेतु ही शूद्र का दान ग्रहण कर सकता है[11]। आपस्तम्ब धर्मसूत्र के अनुसार ब्रह्मचर्याश्रम की समाप्ति पर गुरुदक्षिणा-प्रदानार्थ ब्रह्मचारी शूद्र अथवा उग्र से दान ले सकता है[12]। मनु भी शूद्र-दान को अग्राह्य समझते हैं। परन्तु यदि ब्राह्मण को राजा, शिष्य, यजमान अथवा द्विजाति किसी से भी

---

[1]रामा० ३.१४.२६-३०

[2]रामा० १.५६.१३-१४.

[3]रामा० ७.७३-७६.

[4]मनु० ४.८०.

[5]मनु० १०.१२७.

[6]गौतम २१.६-१०—शतं क्षत्रियो ब्राह्मणाक्रोशे। अध्यर्धं वैश्यः। ब्राह्मणस्तु क्षत्रिये पंचाशत् तदर्धं वैश्ये। न शूद्रे किंचित्।

[7]मनु० २६७-२७०.

[8]गौतम १२.१-२ आर्यस्त्र्यभिगमने लिंगोद्धारः स्वहरणं च।

[9]मनु० ८.३६६.

[10]मनु० ८.३८५.

[11]गौतम १८.२४.

[12]आप० १.२.७.२०-२१.

धन प्राप्त न हो सके तो उस विवशता की स्थिति में वह शूद्र का दान ग्रहण कर सकता है[1]। याज्ञिक कर्म के लिये तो शूद्र का धन सर्वथा अग्राह्य है[2]।

समस्त उपलब्ध ब्राह्मण साक्ष्योंसे शूद्र की सामाजिक स्थिति का उत्कर्षापकर्ष भलीभांति प्रकट होता है। ऋग्वैदिक काल में अनार्य को 'दास', 'दस्यु', 'अकर्मा', 'अमानुप', 'अनास', 'मृध्रवाच' आदि शब्दों से सम्बोधित किया गया है। जातीय वैमनस्य के कारण आर्यों ने उसे समाज में निम्नतम स्थान दिया था। परन्तु फिर भी वे उसकी संस्कृति एवं सभ्यता की पूर्णरूपेण उपेक्षा न कर सके थे। वल्वूथ तथा तरुक्ष आदि अनेक अनार्य ऐसे थे जो समाज में भद्र पुरुष समझे जाते थे और जिन्हें आर्यों की भांति यजन तथा दान करने का भी अधिकार प्राप्त था। परन्तु ऋग्वैदिक काल के पश्चात् अनार्यों अथवा शूद्रों की सामाजिक स्थिति उत्तरोत्तर अवनत होती गई। लगभग २०० ई० पू० तक यही दशा रही। शूद्र वर्ण-समाज का अत्यन्त निकृष्ट वर्ग माना जाता रहा। प्रायः प्रत्येक व्यवस्थाकार ने उसके अनेकानेक कर्तव्यों का ही विस्तृत विवेचन किया। इनके बदले में उसे अपने भरण-पोषण-मात्र का अधिकार प्राप्त था। उसका जीवन प्रायः दुःसह्य था। उसके प्रति धर्मशास्त्रकारों की अतिकठोर अनुदारता देखकर उनकी व्यवस्था की व्यावहारिकता पर भी अविश्वास होने लगता है। परन्तु २०० ई० पू० के लगभग शूद्रों की स्थिति में हम अकस्मात् सुधार देखते हैं। महाभारत तथा मनुस्मृति में हम इस परिवर्तन के अनेक उदाहरण पाते हैं। इन ग्रन्थों में शूद्रों की जिस सामाजिक अवस्था का चित्रण किया गया है, वह निश्चित रूप से पूर्वगामी धर्मसूत्रों में वर्णित अवस्था की अपेक्षा उन्नत है। इस समय हम शूद्रों के प्रति आर्यों का दृष्टिकोण अधिक उदारतापूर्ण एवं सहिष्णुतापूर्ण पाते हैं। इस परिवर्तन के परिणामस्वरूप शूद्रों को अनेक ऐसे अधिकार तथा ऐसी सुविधायें उपलब्ध हो गईं जो पूर्वकालीन समाज में निषिद्ध थीं। यदि हम इस सामाजिक परिवर्तन पर विचार करें तो हमें इसकी पृष्ठभूमि पर इसका एक प्रमुख कारण दृष्टिगोचर होगा। यह कारण भारतीय और विदेशीय सभ्यताओं का पारस्परिक सम्पर्क था। मौर्य-साम्राज्य के पतन के पश्चात् भारतवर्ष पर विदेशीयों के आक्रमण प्रारम्भ हुए। यह आक्रमणों का क्रम २०६ ई० पू० के ऐण्टिआकस तृतीय के आक्रमण से प्रारम्भ हुआ और ईसा की प्रथम शताब्दी तक जारी रहा। इस ३०० वर्ष के आक्रमण-काल में भारतवर्ष इण्डो-यूनानियों, शकों, पह्लवों और कुशाणों के सम्पर्क में आया। इस सम्पर्क ने भारतीय समाज पर भी अनेकानेक प्रभाव डाले। महाभारत में यवन, शक, पह्लव, किरात, चीन तथा बर्बर जातियों का उल्लेख उपलब्ध होता है[3]। रामायण में भी यवनों तथा शकों का वर्णन आया है[4]। पतंजलि के महाभाष्य ने 'शकयवनम्' पर व्याख्या की है तथा यवनों के आक्रमण के प्रत्यक्ष उदाहरण दिये

[1] मनु० १०.१०२-३.

[2] मनु० ११.२४,४२.

[3] महा०-पह्लवान् बर्बरांश्चैव किरातान् यवनान् शकान्।
महा० शान्ति० ६५, १७-१८.

[4] रामा०-यौनिदेशाच्च यवनाः शकस्थानात्तथा शकाः।

हैं[1]। इसी प्रकार मनुस्मृति में भी पौण्ड्रक, ओड्र, द्रविड, काम्बोज, किरात, दरद जातियों के साथ चीन, खश, यवन, शक, पारद तथा पह्लव जातियों का भी उल्लेख मिलता है[2]। इन साहित्यिक साक्ष्यों से प्रगट होता है कि ईसा की प्रथम शताब्दी के पूर्व भारतीय अनेक अनार्य एवं विदेशी जातियों के सम्पर्क में जा चुके थे। इनमें से अनेक जातियां भारत-भूमि पर अपना राज्य-स्थापन भी कर चुकी थीं। अनेकों का शनैः शनैः भारतीयकरण हो रहा था। हेलिओडोरस ने भागवतधर्म तथा मीनेण्डर ने बौद्धधर्म अंगीकार किया था। इस प्रकार ये जातियां भारतीय समाज के अंग बन गई थीं। अब समाज-व्यवस्थाकारों के लिये इनकी उपेक्षा करना सम्भव न था। उन्हें भी भारतीय समाज की वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत करना था। परन्तु प्रश्न यह था कि इन जातियों को कौन-सा वर्ण दिया जाय। चतुर्वर्ण-व्यवस्था इतनी दृढ़तापूर्वक स्थापित हो चुकी थी कि एक नवीन पंचम वर्ण की कल्पना करना असम्भव था[3]। अतः भारतीयकृत विदेशियों तथा आर्यीकृतअनार्यों को चिर प्रचलित चतुर्वर्णों में ही स्थान देना आवश्यक था। युद्धकर्मा होने के कारण ये जातियां एक ओर तो क्षत्रिय वर्ण के अधिक समीप थीं और दूसरी ओर अनार्य होने के कारण ये शूद्र-कोटि में रक्खी जा सकती थीं। अतः स्वाभाविक था कि इन जातियों का वर्गीकरण इन्ही दोनों वर्णों के भीतर होता। इनमें से कुछ जातियां अपने प्रभूत आर्यीकरण तथा विशिष्ट सांस्कृतिक स्थिति के कारण क्षत्रिय वर्ग में निमज्जित हो गईं। इनके अतिरिक्त दूसरी जातियाँ जो सांस्कृतिक दृष्टि से अपेक्षाकृत हीन थीं अथवा जो भारतीय सभ्यता की विशेषताओं को अधिक मात्रा में ग्रहण न कर सकीं थी, शूद्र-कोटि में गणित होती रहीं। महाभारत तथा मनुस्मृति का कथन है कि किरात, शबर, दरद, द्रविड़, काम्बोज, यवन और शकादि जातियाँ प्रारम्भ में क्षत्रिय थीं, परन्तु कालान्तर में ब्राह्मण-सम्पर्क से पृथक होकर वे शूद्रत्व को प्राप्त हुईं[4]। परन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इनमें से अनेक जातियाँ भारत-भूमि पर स्वतन्त्र रूप से अपना शासन स्थापित कर चुकी थीं तथा क्षत्रियों की भाँति ही युद्ध-कर्मा थीं। अतः इनके साथ साधारण शूद्रों के समान बर्ताव न किया जा सकता था। इन्हें शूद्र-कोटि में भी उच्चतर स्थान देना था। पतंजलि ने शूद्रों को दो कोटियों में विभक्त किया है।:—

१—निरवसित और २—अनिरवसित। निरवसित शूद्र अस्पृश्य थे। उनके भोजन करने से पात्र सदा के लिये अशुद्ध और त्याज्य हो जाते थे। इस कोटि के शूद्रों में चाण्डाल और मृतप आते थे। अन्य कोटि के शूद्र अनिरवसित थे। ये स्पृश्य थे तथा आर्य-पात्रों में भोजन कर सकते थे[5]। शक और यवन इसी कोटि में रक्खे गये थे। निरवसित शूद्रों में

---

[1] पाणिनि २. ४. १० पर पतंजलि—अरुनद् यवनः साकेतम्।
अरुनद् यवनः माध्यमिकाम्।

[2] मनु० १०. ४३-४५.

[3] अनुशासन ४७. १८—स्मृताश्च वर्णाश्चत्वारः पंचमो नाधिगम्यते।
मनु० १०. ४-चतुर्थ एक जातिस्तु शूद्रो नास्ति तु पंचमः।

[4] अनुशासन ३३.२१.२३, ३५.१७-१८. मनु० १०: ४३-४५.

[5] पाणिनि २. ४-१० पर पतंजलि-यैर्भुक्ते पात्रं संस्कारेण शुध्यति तेऽनिरवसिताः।
यैर्भुक्ते पात्रं संस्कारेणापि न शुध्यति ते निरवसिताः।

अनेक ऐसे थे जो अपने यम-नियम तथा आपूर्ण आचरण के कारण समाज में अत्यधिक प्रतिष्ठित थे। शूद्रोद्भव होने पर भी महाभारत इन्हें इनके सद्वृत्त के कारण ब्राह्मण-कोटि में रखने के लिये प्रस्तुत है[१]। जन्ममात्र से ही कोई ब्राह्मण अथवा शूद्र नहीं होता, वर्ण-निर्णय में आचरण अथवा वृत्त ही अन्तिम प्रमाण है। इस प्रकार के क्रान्तिकारी विचार महाभारत में अनेक स्थानों पर उपलब्ध होते हैं[२]। निश्चित रूप से स्थित जन्मजात एवं परम्परागत वर्ण-व्यवस्था के विरुद्ध यह कथन कि शूद्र-पुत्र भी अपने सदाचार से वैश्य, क्षत्रिय अथवा ब्राह्मण हो सकता है, शूद्रों की उत्कर्षोन्मुख सामाजिक स्थिति पर पर्याप्त प्रकाश डालता है[३]।

एक स्थान पर मान्धाता के प्रति इन्द्र का कथन है कि द्विजातियों की भांति दस्यु भी यज्ञादि समस्त धार्मिक क्रियाओं के अधिकारी हैं[६]। पाक-यज्ञ के तो वे सामान्य रूप से ही अधिकारी हो गये थे[५]। अनेक शूद्रों के यम-नियम आर्यों के समान थे[६]। विदुर, कायव्य, मतंग आदि शूद्र अथवा अनार्य अपनी सदाचारिता एवं धर्मनिष्ठा के कारण समाज में आर्यों की भांति प्रतिष्ठित थे। अब द्विजातियों की परिचर्या ही शूद्रों का एकमात्र कर्म न था। आवश्यकतानुसार वे वाणिज्य, पशुकर्म तथा अन्य उद्योग-धन्धों का भी अनुसरण कर सकते थे[७]। सभापर्व में पश्चिमी भारतवर्ष के शासनकर्ता शूद्र राजाओं का उल्लेख किया गया है[८]। शान्तिपर्व से विदित होता है कि शूद्रों का शासन-संचालन में भी महत्वपूर्ण योग रहता था। उसके अनुसार राज्य के ३ प्रमुख पद शूद्रों को मिलते थे[९]। राजसूय यज्ञ के अवसर पर युधिष्ठिर ने समस्त वर्णों के प्रतिनिधियों को आमन्त्रित किया था। इनमें शूद्र भी सम्मिलित थे[१०]। इस प्रकार हम देखते हैं कि महाभारत-काल में दो परस्पर-विरोधी विचार-धाराओं का सतत संघर्ष चल रहा था। एक ओर तो परम्परा-समर्थक समाज का कट्टर-पंथी वर्ग जन्माश्रित वर्ण-व्यवस्था के आधार पर ब्राह्मणों की श्रेष्ठता तथा शूद्रों की हेयता को

---

[१] वनपर्व २१६. १४-१५-यस्तु शूद्रो दमे सत्ये धर्मे च सततोत्थितः।
तं ब्राह्मणमहं मन्ये वृत्तेनहि भवेत् द्विजः।

[२] शान्ति० १८६.४, ८-शूद्रे चेत्तद्भवेल्लक्ष्म द्विजे यत्र न विद्यते।
न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणम्।
महा० ५०. ५. ६०. ५३-वृत्तेन हि भवत्यार्यो न धनेन न विद्यया।

[३] महा० ३. २१२. ११-१२.

[४] महा० १२. १३. २२.

[५] महा० १२. ६०. ३८-तस्माच्छूद्रः पाकयज्ञैर्यजेत व्रतान् स्वयं॥

[६] महा० १२. १२३. १६- अयुध्यमानस्य वधो दारामर्षः कृतघ्नता ब्रह्मवित्तस्य चादानं।
निःशेषकरणं तथा दस्युरेतानि वर्जयेत्।

[७] महा० १२. २६४. २-४-वाणिज्यं पाशुपाल्यं च तथा शिल्पोपजीविनम्।
शूद्रस्यापि विधीयन्ते यदा वृत्तिर्न जायते।

[८] महा० सभा० ५१.

[९] शान्ति० ७५. ६-१०.

[१०] महा० २. ३३. ४१.

अक्षय रखने के लिये सचेष्ट था। इस विचार-धारा के प्रतिनिधि-स्थलों का उल्लेख पीछे किया जा चुका है। परन्तु इसके विरुद्ध समाज में एक नवीन विचार-धारा का उदय हो रहा था जो वर्ण-व्यवस्था को जन्म पर नहीं, वरन् कर्म पर आधारित करना चाहती थी। यह साधु-कर्मा शूद्रों को वे समस्त अधिकार देना चाहती थी जो एक आर्य को प्राप्त थे। यद्यपि यह नवीन आन्दोलन अधिक सफल न हो सका और इसके विरुद्ध समाज ने जन्मजात वर्ण-व्यवस्था को ही अधिक महत्व दिया तथापि इसने समाज की कट्टरपंथ-वादिता को एक हल्का-सा धक्का अवश्य दिया।

जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, मनु ने भी समस्त अनार्य एवं विदेशीय जातियों को शूद्र कोटि में रक्खा है। उनका कथन है कि चतुर्वर्णों के बाहर की समस्त जातियाँ, चाहें वे म्लेच्छ भाषा-भाषी हों, चाहे आर्य-भाषाभाषी, दस्यु समझी जानी चाहिए। इनमें पौण्ड्रक, ओड्र, द्रविड़, काम्बोज, यवन, शक, पारद, पह्लव, चीन, किरात, दरद और खश जातियां सम्मिलित हैं[1]। इन जातियों के शूद्र-कोटि में आ जाने से शूद्र-वर्ण पर्याप्त रूप से सबल हो गया था। अतः इनमें से अनेक जातियाँ शासक वर्ग में थीं। कट्टरपंथी वर्ग के प्रतिनिधि होते हुए भी मनु इस नवीन शूद्रसमाज की सर्वथा उपेक्षा न कर सके। परिवर्तित परिस्थिति के अन्तर्गत उन्हें शूद्र वर्ण को अनेक सुविधायें देनी पड़ीं। उन्हें भी परिचर्या के अतिरिक्त शूद्र के लिये काष्ठशिल्प, चित्रकला आदि कर्मों के अनुसरण की अनुमति देनी पड़ी[2]। स्वयं ब्राह्मण उससे इस प्रकार के उपयोगी उद्योग-धन्धों की शिक्षा ग्रहण कर सकता था[3]। अब शूद्र पूर्णरूपेण संस्कार-हीन तथा धर्म-हीन न था।

मनुस्मृति में उसके नामकरण संस्करण के प्रति संकेत मिलता है[4]। वह वैवाहिक अग्नि प्रतिष्ठित कर सकता था[5]। अन्य स्थान पर मनु का स्पष्ट कथन है कि शूद्र को द्विजातियों के समस्त धार्मिक कृत्यों का अधिकार है। अन्तर केवल इतना है कि उसके उन कृत्यों में वैदिक मन्त्रों का प्रयोग न होगा[6]।

इस प्रकार महाभारत काल में प्रादुर्भूत नवीन आन्दोलन के परिणामस्वरूप मनु की कट्टर वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत भी शूद्रों की सम्पूर्ण उपेक्षा न हो सकी। सूत्रकालीन समाज की अपेक्षा मनुस्मृति-वर्णित समाज में शूद्रों की स्थिति अच्छी थी।

उपर्युक्त चतुर्वर्णों के अतिरिक्त ब्राह्मण साहित्य में अनेकानेक जातियों एवं उपजातियों का उल्लेख प्राप्त होता है। आधुनिक अर्थ में जाति शब्द का सर्वप्रथम उल्लेख कदाचित् निरुक्त में हुआ है।[7] पाणिनि ने भी कई बार शब्द-व्युत्पत्ति समझाते हुये जाति शब्द का

---

[1] मनु० १०.४३-४५.

[2] मनु० ४.६१.

[3] मनु० १०.९९-१००.

[4] मनु० २.२३८.

[5] मनु० २.३२.

[6] मनु० ३.६७.

[7] निरुक्त १२.१३– अग्निं चित्वा न रामामुपेयात्। रामा–रमणायोपेयते न धर्माय कृष्णजातीया।

प्रयोग किया है।[१] इसके पश्चात् वह शब्द गौतम[२] आपस्तम्ब[३] तथा मनु[४] की व्यवस्था में व्यवहृत हुआ है। इन समस्तस्थलों में जाति शब्द का प्रयोग वर्ण अथवा समानधर्मा एक-विशिष्ट वर्ग के अर्थ में किया गया है। यद्यपि जातियों एवं उपजातियों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती रही तथापि वर्णों की संख्या में वृद्धि न हुई। वे चार के चार ही रहे। महाभारत[५] और मनु[६] का स्पष्ट कथन है कि समाज में केवल वर्ण चार ही हैं।

जाति-बाहुल्य का सर्वप्रथम आधार व्यावसायिक था। एक विशिष्ट कर्म अथवा व्यवसाय का अनुसरण करने वाले व्यक्तियों में स्वभावतः पारस्परिक नैकट्य स्थापित हो जाता है। समान व्यवसाय से उद्भूत यह नैकट्य शनैः शनैः दृढ़ होता जाता है और कालान्तर में यह सामाजिक एवं धार्मिक विचार-धारा तथा कार्य-प्रणाली में भी दृष्टिगत होने लगता है। परिणामतः समान व्यवसायोपजीवी समानधर्मा हो जाते हैं। उनकी एक विशेष परम्परा हो जाती है जो उनके वर्ग को समाज के अन्य वर्गों से पृथक् कर देती है। यह वर्ग अपनी एकता एवं विशिष्टता को अक्षय तथा सक्रम रखने के हेतु उत्तरोत्तर अन्तर्वर्गीय विवाह तथा भोजनादि से पृथक् होता जाता है और अन्त में व्यवसाय, धर्म, विवाह, भोजन आदि के समान विधि-निषेध के आधार पर समाज की एक विशिष्ट, निश्चित तथा पृथक् इकाई बन जाता है। ऋग्वेद में विभिन्न व्यवसायोपजीवियों के उल्लेख मिलते हैं। इनमें चर्मम्न[७], -चर्मकार-[८] कार्मार -लोहार-त्वष्टा[९] -बढ़ई-वप्ता[१०] मापित तथा भिषक[११] -वैद्य-के नाम विशेष महत्वपूर्ण हैं। अथर्ववेद में रथकार[१२] और सूत[१३] के नाम भी उपलब्ध होते हैं। तैत्तिरीय संहिता में क्षत्त -द्वारपाल- संग्रहीत -कोषाध्यक्ष- तक्षन, -बढ़ई-, रथकार, कुलाल, कुम्भकार-, कर्मार, पुंजिष्ट, निषाद, इषुकृत, धन्वकृत, मृगयु, -आखेटक- तथा श्वनि -श्वानरक्षक नामक व्यवसायोपजीवियों का उल्लेख है।[१४] दूसरे स्थान पर यह ग्रन्थ सूत, ग्रामणी, भागदुघ तथा अक्षावाय का नामोल्लेख करता है।[१५] वासनेयि संहिता में

---

[१] पाणिनि ५.४.९.

[२] गौतम ११.२०.

[३] आप० २.३.६.१,२.१.२.३.

[४] मनु० ३.१५, ८.१७७, ९.८६.

[५] अनुशासन ४७.१८-स्मृताश्च वर्णाश्चत्वारः पंचमो नाधिगम्यते।

[६] मनु० १०.४ – चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्रो नास्ति तु पंचमः।

[७] ऋ० ८.५. ३८.

[८] ऋ० ६. ११२. २, १०. ७२. २.

[९] ऋ० १. ६१. ४, ६. ११२.

[१०] ऋ० १०. १४२. ४.

[११] ऋ० ६. ११२. ३.

[१२] अथर्व० ३. ५. ६. ७.

[१३] अथर्व० २. ५. ७.

[१४] तैत्ति० सं० ४५. ४. २.

[१५] तैत्ति०सं० १. ८. ६. १-२.

पौल्कसों तथा चाण्डालों का वर्णन है।[1] इस प्रकार समाज में अनेकानेक व्यवसाय प्रतिष्ठित हो गये थे। परन्तु यह निश्चित रूप से कहा नहीं जा सकता कि इनके अनुसरणकर्त्ता संहिता-काल तक जातिरूप में संगठित हो चुके थे अथवा नहीं। परन्तु इतना निश्चित है कि वे उत्तरोत्तर जाति-संगठन की ओर उन्मुख हो रहे थे। उनमें शनैः शनैः ऊंच-नीच का भाव दृढ़ होता जा रहा था। ऐतरेय ब्राह्मण में निषाद को पापकर्मा के रूप में प्रदर्शित किया गया है[2]। शतपथ ब्राह्मण में सूत एक उच्च पदाधिकारी के रूप में प्रतिष्ठित है। उसमें उसे राजकृत कहा गया है[3]। तैत्तिरीय ब्राह्मण की व्यवस्था के अनुसार ब्राह्मण को वसन्त में, क्षत्रिय को ग्रीष्म में, वैश्य को शीत में तथा रथकार को वर्षा ऋतु में, अग्निहोम करना चाहिए[4]। यहाँ पर रथकार का उल्लेख जाति के रूप में किया गया है, परन्तु वर्णन से यह प्रकट नहीं होता कि उसकी गणना द्विजाति में होती थी अथवा शूद्र में। जैमिनि के पूर्वमीमांसासूत्र[5] से भासित होता है कि वह न तो द्विजाति के अन्तर्गत आता था और न शूद्र-वर्ण के। कर्म एवं व्यवसाय के आधार पर अनेक जातियां बन रहीं थी परन्तु अभी तक वे इतनी प्रतिष्ठित न हुई थीं कि निर्विवाद किसी एक वर्ण के अन्तर्गत सम्मिलित की जा सकतीं। रथकार की भांति अनेक व्यवसायी ऐसे रहे होंगे जिनका वर्ण-निर्धारण समय की प्रतीक्षा कर रहा था। बृहदारण्यक उपनिषद् में उग्र का उल्लेख आता है[6]। यद्यपि अनुगामी सूत्र-साहित्य में वह क्षत्रिय पिता और शूद्र माता की अथवा ब्राह्मण पिता और शूद्र माता की सन्तान कहा गया है, परन्तु इस उपनिषद् में वह केवल एक राज्याधिकारी के रूप में प्रदर्शित किया गया है। हाँ, चाण्डाल के विषय में यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि वह उपनिषद्-काल तक समाज का निम्नतम वर्ग समझा जाने लगा था। वाजसनेयिसंहिता में उसका सम्बन्ध बीभत्सा के साथ स्थापित किया गया है[7]। परन्तु छान्दोग्य-उपनिषद् में वह श्वान एवं सूकर की कोटि में रक्खा गया है[8]।

कुछ भी हो, इतना निश्चित है कि सूत्र-साहित्य में जातियाँ तथा उपजातियाँ भली प्रकार प्रतिष्ठित हो चुकी थीं। यद्यपि सूत्रकारों ने इन विभिन्न जातियों के प्रादुर्भाव का प्रधान कारण अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाह बताया है, तथापि इनके निर्धारण में व्यवसाया-

---

[1] वाज० स० ३०. १७, २१.

[2] ऐतरेय ब्रा० ३७. ७ – यथा हवा इदं निषादा वा सेलगा वा। पापकृतो व वित्तवन्तं पुरुषं गृहीत्वा कर्तमन्वस्य वित्तमादाय द्रवन्ति।

[3] शतपथ ब्रा० १३. २. २. १८ – यथा वै राज्ञो राजानो राजकृतः सूतग्रामण्यः।

[4] तैत्ति० ब्राह्मण १.१.४.

[5] जैमिनि ६.१. ४४-५०.

[6] बृह० उप० ४.३.३७.

[7] वाज० सं० ३०.२१.

[8] छान्दोग्य उप० ५.१०.७—अभ्याशोह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा।

नुसरण भी एक महत्वपूर्ण अंग था। यही कारण है कि गौतम[1] और वसिष्ठ[2] ने राजा के प्रमुख कर्तव्यों में वर्णाश्रम धर्म की रक्षा तथा स्ववर्णानुकूल व्यवसायों की प्रतिस्थापना को रक्खा है। पीछे बताया जा चुका है कि सूत्रकारों की व्यवस्था के अनुसार स्ववर्ण-विरुद्ध व्यवसायानुसरण करने से जात्यपकर्ष हो जाता था। मेगास्थनीज़ के वर्णन से स्पष्ट सिद्ध होता है कि जातियों का आधार प्रमुखतया व्यवसाय था। उसका लेख है कि किसी भी व्यक्ति को अन्य जाति में विवाह करने अथवा अन्य जाति के कर्म का अनुसरण करने की अनुमति नहीं है। महाभारत में भी व्यवसाय को ही मनुष्य की जाति का निश्चित निर्णायक माना गया है[3]। मनु ने जाति-बाहुल्य के कारणों में स्ववर्णविहित कर्मों के प्रति उपेक्षा का भी उल्लेख किया है[4]।

जाति का दूसरा आधार प्रादेशिक है। समाज के बहुसंख्यक नागरिक अपने निवसित प्रदेश के नाम से ही सम्बोधित होने लगे और वही नाम उनकी जाति बन गया। तैत्तिरीय ब्राह्मण में मागध का उल्लेख हुआ है[5]। पाणिनि ने मागध शब्द की व्युत्पत्ति मगध प्रदेश से की है[6]। सम्भवतः मागध जाति का उद्‌गम मगध-प्रदेश ही रहा होगा। इसी प्रकार पतंजलि के एक अन्य उदाहरण से अम्बष्ठ जाति का सम्बन्ध अम्बष्ठ प्रदेश से स्थापित होता है[7]। वैदेहक तथा मल्ल जातियों के नामकरण भी प्रादेशिक आधार पर विदित होते हैं। बात यह है कि इन समस्त प्रदेशों का आर्यीकरण बाद को हुआ। प्रारम्भ में आर्य-सभ्यता का केन्द्र पंजाब रहा। तत्पश्चात् वह पूर्व की ओर प्रसरित होती गई और कालान्तर में समस्त आर्यावर्त अथवा मध्यदेश उसके प्रभाव में आ गया। बौधायन के सीमा-निर्धारण के अनुसार आर्यावर्त उत्तर में हिमालय पर्वत से लेकर दक्षिण में पारिपात्र तक तथा पश्चिम में विनसन से लेकर पूर्व में कालकवन-प्रयाग के समीप तक विस्तृत था।[8] इस परिभाषा के अनुसार भारतवर्ष का पूर्वी प्रदेश मगध, विदेह इत्यादि पश्चिमी प्रदेश तथा दक्षिणी प्रदेश आर्यावर्त से बाहर थे। मध्यदेश की यही परिभाषा मनुस्मृति में भी उपलब्ध होती है। अतः स्पष्ट है कि आर्यों की संस्कृति तथा सभ्यता का विकास एवं प्रसार सम्यक् रूप से अन्तर्वेदी में ही हुआ था। ब्राह्मण-व्यवस्था के अन्तर्गत भारतवर्ष का शेष भाग अपेक्षाकृत अनार्य समझा जाता था। उन भागों में ब्राह्मण धर्म तथा वर्णाश्रम-व्यवस्था की उतनी मान्यता न प्राप्त हुई थी जितनी मध्यदेश में। अतः ब्राह्मण-व्यवस्थाकारों के समक्ष मगध, विदेह आदि प्रदेशों के निवासी अधिक सम्मान्य न थे। यही कारण है कि मागध और वैदेहक आदि जातियाँ वर्ण-व्यवस्था में निम्नकोटि में रक्खी गई हैं। प्रारम्भ में

---

[1]गौतम ११.६-१०.

[2]वसिष्ठ १४.७-८.

[3]अनुशासन १४८.२६.

[4]मनु० १०.२४.

[5]तैत्तिरीय ब्रा० ३.४.१.

[6]पाणिनि ४. १.७०.

[7]पाणिनि ४.१.१७० पर पतंजलि

[8]बौधा० १. १. २६.

ये जातियाँ प्रादेशिक थीं। परन्तु कालान्तर में वर्णव्यवस्था को पूर्ण एवं सर्वव्यापी करने के हेतु ये जातियाँ अनुलोम तथा प्रतिलोम जातियों के अन्तर्गत सम्मिलित कर ली गई।

जाति-निर्धारण में तीसरा कारण अनार्यत्व है। भारतवर्ष में अनेक अनार्य इनके सम्पर्क में आये। इनके अतिरिक्त भारतवर्ष पर विदेशियों के आक्रमण हुए। उनके यहाँ पर राज्य स्थापित हुए तथा उनमें से बहुसंख्यक विदेशी भारतवर्ष के ही निवासी बन गये। उन्होंने यहाँ के आचार-विचार अपना लिये। इस प्रकार अनार्य एवं विदेशीय भी भारतीय समाज के अन्तर्गत आ गये थे। जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, ब्राह्मण समाज-व्यवस्थाकारों ने इन्हें अपनी चिर-प्रसरोन्मुख वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत निमज्जित कर लिया। यह अनार्य-निमज्जन-कार्य ब्राह्मण-काल से ही प्रारम्भ हो गया था। ऐतरेय-ब्राह्मण का कथानक है कि विश्वामित्र के ५० पुत्रों ने शुनःशेप को अपने भ्राता के रूप में ग्रहण करने से इनकार कर दिया। इस पर रुष्ट होकर विश्वामित्र ने उन्हे जाति-ह्रास का शाप दिया और वे समाज की निम्नतम जातियों—अन्ध्र, पुण्ड्र, शबर, पुलिण्ड तथा मूतिब में परिगणित होने लगे।[1] इस कथानक से यही व्यंजित होता है कि ये समस्त जातियाँ अनार्य अथवा दस्यु जातियाँ थीं और आर्यों ने इनके साथ सम्पर्क स्थापित होने पर इन्हें अपनी वर्ण-व्यवस्था में सम्मिलित कर लिया और इन्हें शूद्र-वर्ण में स्थान दिया। यही बात विदेशियों के साथ भी हुई। महाभारत तथा मनुस्मृति का कथन है कि शक, यवन, कम्बोज, द्रविड़, दरद, शवर, किरात इत्यादि प्रारम्भ में क्षत्रिय थे परन्तु बाद को वर्णाश्रम-धर्म एवं ब्राह्मण सम्पर्क से पृथक् हो जाने के कारण वे शूद्र-वर्ण में परिगणित होने लगे।

जाति-निर्धारण का चौथा और सबसे महत्वपूर्ण अंग वर्ण-विरुद्ध विवाह है। आपस्तम्ब की व्यवस्था है कि मनुष्य को सवर्ण कन्या के साथ ही विवाह करना चाहिए। इस प्रकार के धर्मविहित विवाह से उत्पन्न हुए पुत्र ही अपने पिता के व्यवसायों के अधिकारी होते हैं। विवाहित, असंस्कृत अथवा वर्णान्तर स्त्री के साथ समागम दोषपूर्ण है। उससे उत्पन्न पुत्र भी दूषित होता है।[2] गौतम ने भी सवर्ण विवाह को श्लाघ्य बताया है, परन्तु आवश्यकतानुसार पुरुष को अपने से नीचे के वर्ण की कन्या के साथ विवाह करने की भी अनुमति दी है।[3] इस प्रकार के विवाह को अनुलोम विवाह की संज्ञा दी गई है। मनु की व्यवस्था के अन्तर्गत भी अनुलोम विवाह धर्म्य माने गये हैं। इनसे उत्पन्न पुत्रों को द्विजातियों के समस्त संस्कारों का अधिकार दिया गया है।[4] परन्तु व्यवस्थाकारों के मतानुसार उच्चवर्ण की कन्या के साथ निम्न वर्ण के पुरुष का विवाह अत्यन्त निन्दनीय है। इसे प्रतिलोम विवाह के नाम से पुकारा गया है। गौतम के कथनानुसार समस्त प्रतिलोम विवाह धर्महीन होते हैं।[5] कौटिल्य

---

[1]ऐत० ब्रा० ३३. ६—ताननुव्याजहारान्तान्वः प्रजामक्षीष्टेतित एतेन्ध्राः पुण्ड्राः शवराः पुलिण्डाः मूतिवा इत्युदन्त्या बहवो वैश्वमित्रा दस्युनां भूयिष्ठा।

[2]आप० २. ६. १३. १, ३-४ सवर्णापूर्वशास्त्रविहितायां यथतुर्गच्छतः पुत्रास्तेषां कर्मभिः सम्बन्धः। पूर्ववत्यामसंस्कृतायां वर्णान्तरे च मैथुने दोषः। तयापि दोषवान् पुत्र एव।

[3]गौतम० ४. १.

[4]मनु० १०. ४१.

[5]गौतम ४. २०.

का मत है कि चाण्डाल के अतिरिक्त समस्त प्रतिलोम-सन्तानें शूद्र-सम होती हैं।[१] महाभारत में भी प्रतिलोम विवाह को अधर्म माना गया है। इसके परिणाम-स्वरूप उत्पन्न अधर्म सन्तानों को वाह्य तथा वाह्यतर कहा गया है।[२] मनु की व्यवस्था के अन्तर्गत भी प्रतिलोम विवाह को निन्दनीय कहा गया है। प्रतिलोम सन्तान, चाहे वह ब्राह्मण-स्त्री और क्षत्रिय पुरुष की ही क्यों न हो, संस्कारों की अधिकारिणी नहीं हो सकती।[३]

इस प्रकार अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाहों के परिणाम-स्वरूप चार वर्णों के स्थान पर अनेकानेक जातियां तथा उपजातियां उत्पन्न हो गईं।[४] ये वर्ण-संकर कहीं गई हैं। बौधायन ने वर्ण-संकरता से उत्पन्न सन्तानों को व्रात्य कहा है[५]। इन व्रात्यों में कदाचित् अनुलोम एवं प्रतिलोम दोनों प्रकार के विवाहों से उत्पन्न सन्तानों का समावेश किया गया है। याज्ञवल्क्य की तत्सम्बन्धी व्यवस्था पर व्याख्या करते हुए मिताक्षरा का इसी आशय का कथन है। इसके अनुसार अनुलोम तथा प्रतिलोम दोनों प्रकार की सन्तानें वर्ण संकर होती हैं[६]। महाभारत में वर्ण-संकरता का प्रधान कारण माता-पिता का व्यतिक्रम वताया गया है। यह व्यतिक्रम प्रच्छन्न रूप से अथवा प्रकाश रूप से हो सकता है[७]। गीता का उल्लेख है कि स्त्रियों के आचरण-भ्रष्ट होने पर वर्ण संकरता का प्रादुर्भाव होता है[८]। महाभारत ने एक अन्य स्थान पर वर्ण-संकरता के कारणों पर और अधिक प्रकाश डाला है। इनमें धन, लोभ, काम वर्ण के विषय में अनिश्चितता अथवा अज्ञान है[९]। इस महाकाव्य से ज्ञात होता है कि उस समय तक समाज में चतुर्वर्णों के अतिरिक्त अनेकानेक जातियां उत्पन्न हो गई थीं। एक स्थान पर युधिष्ठिर का कथन है कि चतुर्दिक वर्ण-संकरता के कारण व्यक्ति-विशेष का जाति-निर्धारण करना कठिन हो गया है। समाज में पुरुष सवर्णता अथवा अवर्णता का विचार किये विना ही प्रत्येक वर्ण की स्त्री से सन्तानें उत्पन्न कर रहे हैं[१०]। महाभारत में संकरजा जातियों की संख्या १३२ कही गई है, परन्तु इनमें उपजातियों की संख्या

---

[१] कौटिल्य ३. ७—शूद्रधर्माणो वा अन्यत्र चण्डालेभ्यः।

[२] महा० १३. ४८. १७-१८—प्रतिलोमं तु वर्धन्ते वाह्यात् वाह्यतराः पुनः।

[३] मनु० १०. ४१.

[४] महा० १२. २६६. ५-६—चतुर्भ्यो वर्णेभ्यो जायन्ते वै परस्परात्।

[५] बौधा० १. ६. १६—वर्णसंकरादुत्पन्नान् व्रात्यानाहुर्मनीषिणः।

[६] मिताक्षरा। याज्ञ० १. ६६.।

[७] महा० १२. ४८. २६—इत्येते संकरे जाता पितृमातृव्यतिक्रमात्।
प्रच्छन्ना वा प्रकाशा वा वेदितव्याः विकर्मभिः।

[८] गीता० १. ४१. ४३.

[९] अनु० ४८-१—अर्थाल्लाभात्कामाद्वापि वर्णानां चाप्यनिश्चयात्।
अज्ञानाद्वापि वर्णानां जायते वर्ण संकरः।

[१०] वन पर्व० ८०. ३१-३३—जातिरत्र महासर्वे मनुष्यत्वे महामते
संकरात्सर्ववर्णाया दुष्परीक्ष्येति मे मतिः
सर्वस्वांस्वपत्यानि जनयन्ति सदा नराः।

अगण्य थी[1]। मनुस्मृति में भी वर्ण संकरता के कारणों का उल्लेख किया गया है। इसके अनुसार वर्ण-संकरता का उदय पुरुष के अन्य वर्ण की स्त्री के साथ समागम करने से, विवाह के अयोग्य स्त्री के साथ विवाह करने से तथा स्ववर्णानुकूल वर्ग की उपेक्षा करने से होता है[2]।

अनुलोम तथा प्रतिलोम जातियों की संख्या भिन्न-भिन्न व्यवस्थाकारों ने भिन्न-भिन्न दी है। आपस्तम्ब के धर्मसूत्र में केवल षेष, पोलकस और चण्डाल का उल्लेख प्राप्त होता है। गौतम ५ अनुलोम, ६ प्रतिलोम तथा ८ अन्य वर्ण संकर जातियों से परिचित हैं। मनुस्मृति में अनुलोम जातियों की संख्या ६ बताई गई है, परन्तु उसमें केवल तीन-अम्बष्ठ, निषाद और उग्र-का नामोल्लेख किया गया है[3]। प्रतिलोम जातियों में मनु सूत, वैदेहक, चण्डाल, मागध, क्षत्र और आयोगव से परिचित हैं।[4] धर्मशास्त्रों में उल्लिखित कुछ वर्ण-संकर जातियों का उल्लेख कर देना यहां आवश्यक प्रतीत होता है, क्योंकि भिन्न-भिन्न व्यवस्थाकारों में इन जातियों के उद्गम, नाम तथा व्यवसाय के विषय में पारस्परिक मतभेद है।

अम्बष्ठ

जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, इस जाति का नामकरण कदाचित् प्रादेशिक आधार पर हुआ है। बौधायन के मतानुसार यह ब्राह्मण पुरुष और वैश्य स्त्री की सन्तान है[5]। यही मत कौटिल्य का भी है[6]। इस प्रकार यह अनुलोम जाति ठहरती है। मनु ने भी इसका समर्थन किया है[7]। उनके मतानुसार उसका जातीय उद्यम चिकित्सा-कर्म था[8]। गौतम ने भी अम्बष्ठ को अनुलोम बताया है, परन्तु वे इसे क्षत्रिय पुरुष और वैश्य स्त्री की सन्तान बताते हैं[9]।

आयोगव

सर्वप्रथम इस नाम का उल्लेख तैत्तिरीय ब्राह्मण में उपलब्ध होता है[10]। उसमें आयोगव के स्थान पर 'आयोगू' का प्रयोग किया गया है। परन्तु निश्चितरूप से यह नहीं कहा जा सकता कि ब्राह्मण-काल में आयोगू वर्ग की एकता एवं संगठन का आधार केवल कर्म था अथवा जाति भी। धर्मशास्त्रों के समय तक यह निश्चितरूप से कर्म तथा जन्म दोनों के आधार पर एक वर्णसंकर जाति के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी थी। प्रायः समस्त व्यवस्थाकारों ने इसे प्रतिलोम कहा है। बौधायन ने इसे वैश्य-क्षत्रियों की सन्तान

---

[1] महा० १३. ४८.
[2] मनु० १०. २४.
[3] मनु० १०. १०.
[4] मनु० १०. ११-१२.
[5] बौधायन १.९.३
[6] कौटिल्य ३.७.
[7] मनु० १०.८.
[8] मनु० १०.४७
[9] गौतम ४.१४
[10] तैति० ब्रा० ३.४१

माना है[1] । परन्तु गौतम[2] और कौटिल्य[3] ने इसको शूद्र-वैश्या की सन्तान होना स्वीकार किया है । महाभारत में भी इसका इसी रूप में उल्लेख किया गया है[4] । मनु ने महाकाव्यकार का समर्थन करते हुए इस जाति के उद्गम का भी उल्लेख किया है । उनके अनुसार यह जाति काष्ठजीवी थी[5] ।

उग्र — बृहदारण्यक उपनिषद् से प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में उग्र शर-सन्य-निर्माण का कर्म करते थे[6] । परन्तु इससे उसके जन्म के विषय में कुछ भी प्रकाश नहीं पड़ता । अनुगामी धर्मशास्त्रकारों ने उसे अनुलोम-सन्तान बताया है । गौतम के मतानुसार वह वैश्य-शूद्रा की सन्तान है[7] । परन्तु बौधायन[8] तथा कौटिल्य[9] ने उसे क्षत्रिय- शूद्रा की सन्तान बताया है । महाभारत भी इनके मत का समर्थन करता है[10] । मनु ने इस जाति के उद्भव के अतिरिक्त इनके जातीय उद्योग का भी वर्णन किया है । उनके कथनानुसार इसका मुख्य व्यवसाय पशुओं को पकड़ना और मारना था[11] ।

करण — गौतम के मतानुसार यह वैश्य-शूद्रा की सन्तान है[12] । परन्तु महाभारत में इसे क्षत्रिय-वैश्या की सन्तान के रूप में प्रदर्शित किया गया है[13] । इस प्रकार यह अनुलोम जाति के अन्तर्गत आती है । मनु की व्यवस्था में करण के माता-पिता को व्रात्य क्षत्रिय कहा गया है[14] ।

क्षत — तैत्तिरीय संहिता में इसका उल्लेख प्रतिहारी अथवा द्वारपाल के रूप में किया गया है[15] । परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक काल में क्षत् कोई जाति न थी । इससे केवल एक पद-विशेष का बोध होता था । इस कथन की पुष्टि ताण्ड्य ब्राह्मण से होती है जहाँ क्षत् का नाम राज्य के ८ उच्च पदाधिकारियों के बीच उल्लिखित किया गया है[16] । परन्तु अनुगामी व्यवस्थाकारों ने इसका वर्णन

---

[1] बौधायन १.६.७
[2] गौतम ४.१५
[3] कौटिल्य ३.७.
[4] अनुशासन ४८.१३
[5] मनु० १०.४८
[6] बृह० उप० ३.८.२
[7] गौतम ४. १४
[8] बौधायन १.६.५.
[9] कौटिल्य ३.७.
[10] अनुशासन ४८. ७.
[11] मनु० १०.४६.
[12] गौतम ४.१७.
[13] आदि ११५.४३
[14] मनु० १०.२२.
[15] तैत्ति० सं० ४.५.४.२.
[16] ताण्ड्य ब्रा० १६.१.४.

प्रतिलोम जाति के रूप में किया है। बौधायन का कथन है कि यह जाति शूद्र-क्षत्रिया की सन्तान है[1]। मनु ने भी इस कथन की पुष्टि की है[2]।

वैदिक साहित्य में ही चाण्डाल समाज का निम्नतम वर्ग माना जाता था। इसका उल्लेख पीछे किया जा चुका है। सूत्रकारों ने इसे अपनी व्यवस्था के

चाण्डाल अन्तर्गत प्रतिलोम जाति के रूप में स्थान दिया। गौतम के मतानुसार यह जाति शूद्र पुरुष और ब्राह्मण स्त्री से उद्भूत थी[3]। ब्राह्मण-दृष्टि से यह निकृष्टतम प्रतिलोम विवाह का परिणाम था। यही कारण है कि गौतम चाण्डाल का उल्लेख कुत्तों और कौओं के साथ करते हैं[4]। चाण्डाल के प्रति यही उपेक्षापूर्ण दृष्टिकोण आपस्तम्ब का भी है[5]। कौटिलीय अर्थशास्त्र में भी चाण्डाल को शूद्र तथा ब्राह्मणी की सन्तान कहा गया है।५-१ महाभारत के एक स्थल से प्रकट होता है कि वह नापित पुरुष तथा ब्राह्मण स्त्री की सन्तान था[6]। मनु की व्यवस्था के अन्तर्गत चाण्डाल अस्पृश्य के रूप में वर्णित हैं। उन्हें नगर के बाहर रहने का आदेश दिया गया है। रात्रि-काल में तो वे नगर-ग्राम के भीतर प्रवेश नहीं कर सकते। उन के प्रयोग में आये हुये पात्र सदा के लिये अपवित्र और अशुद्ध हो जाते हैं। कुत्ते और गदही ही उनकी सम्पत्ति होते हैं। शवों के वस्त्र उनके वस्त्र हैं। उनके आभूषण केवल लोहे के हो सकते हैं[7]।

कदाचित् निषाद का सर्वप्रथम उल्लेख तैत्तिरीय संहिता में प्राप्त होता है[8]। ऐतरेय ब्राह्मण से विदित होता है कि ये लोग क्रूरकर्मा थे और चौर-

निषाद वृत्ति से जीविकोपार्जन करते थे[9]। फिर भी ऐसा भास होता है कि प्रारम्भकाल से ही सामाजिक एवं धार्मिक व्यवस्थाके अन्तर्गत इनका कुछ विशिष्ट स्थान था। पूर्वमीमांसासूत्र से प्रतीत होता है कि निषादस्थपति को इष्टि का अधिकार है[10]। कात्यायनश्रौतसूत्र के अनुसार निषादस्थपति को रुद्र के लिये गावेधुका-प्रदान का अधिकारहै। परन्तु यह कार्य साधारण अग्नि में ही किया जा सकता है। मन्त्र-पूत अग्नि में आहुति देनेका वह अधिकारी नहीं है[11]। निरुक्त के साक्ष्य से स्पष्ट हो जाता है कि तत्कालीन समाज में निषाद जाति का उल्लेख चतुर्वर्णों के बाहर होता था और वे पाप-कर्मा समझे जाते

---

[1] बौधा० १.६.७.

[2] मनु० १०.१२-१३.

[3] गौतम ४.१५-१६.

[4] गौतम १५.२५.

[5] आ प० २.४.६.५

[6]-१. अर्थशास्त्र ३.७.

[7] अनुशासन २६.१७.

[8] मनु० १०.५१-५६.

[9] तैत्ति० सं० ४.५.४.२.

[10] ऐत० ब्रा० ३७.७.

[11] पूर्वमीमांसासूत्र ६.१.५१-५२.

[12] कात्या० श्रौ० १.१.१२-१४.

थे [१]। परन्तु अनुगामी शास्त्रकारों ने उसे वर्णसंकर जाति कहा है। गौतम के मतानुसार निषाद ब्राह्मण-वेश्या की सन्तान है [२]। परन्तु बौधायन [३] और महाभारतकार [४] ने उसे ब्राह्मण पुरुष और शूद्र स्त्री से उत्पन्न माना है। इस कथन की पुष्टि कौटिलीय अर्थशास्त्र [५] और मनुस्मृति [६] से भी होती है। रामायण में निषादाधिपति गुह का वर्णन है जिसने राम को नदी के पार उतारा था [७]। अनेक व्यवस्थाकारों ने निषाद को पारशव के नाम से पुकारा है [८]।

मागध

तैत्तिरीय ब्राह्मण में मागध का उल्लेख हुआ है [९]। वहाँ इस शब्द का प्रयोग कदाचित् चारण के अर्थ में किया गया है। परन्तु व्यवस्थाकारों ने मागध को प्रतिलोम जाति के रूप में लिया है। गौतम [१०] और कौटिल्य [११] के मतानुसार वह वैश्य-क्षत्रिया की सन्तान है। इस कथन की पुष्टि महाभारत [१२] और मनुस्मृति [१३] से भी होती है। परन्तु अनेक स्थानों पर उसकी उत्पत्ति के विषय में मतभेद दिखाई देता है। गौतम ने कुछ आचार्यों का मत उद्धृत किया है जिसके अनुसार मागध वैश्य पुरुष और ब्राह्मण स्त्री से उत्पन्न माना गया है [१४]। बौधायन धर्मसूत्र में उसे शूद्र-वेश्या की सन्तान के रूप में प्रदर्शित किया गया है [१५]।

रथकार

प्रारम्भ में यह शब्द व्यवसायबोधक ही था, जातिबोधक न था। तैत्तिरीय संहिता में रथकार का उल्लेख इसी अर्थ में किया गया है। [१६] पीछे कहा जा चुका है कि किस प्रकार यह व्यवसायी-वर्ग एक जाति-विशेष के रूप में परिणत हो गया। जैमिनि के पूर्वमीमांसा सूत्र में इसका स्थान द्विजाति और शूद्र के बीच में रक्खा गया है [१७]। परन्तु बौधायन ने इसे वैश्य पुरुष और शूद्रा स्त्री की अनुलोम सन्तान माना है [१८]।

---

[१] निरुक्त ४. १५.
[२] गौतम ४. १४—हरदत्त—टीका।
[३] बौधा० १. ६. ३ .
[४] अनुशासन ४८. ५.
[५] अर्थशास्त्र ३. ७.
[६] मनु० १०. ८.
[७] अयोध्याकाण्ड ५०. ३३.
[८] बौधा० २. २. ३४, कौटिल्य ३. ७, मनु० १०. ८, ११.
[९] तैत्ति० ब्रा० ३. ४. १.
[१०] गौतम ४. १५.
[११] कौटिल्य ३. ७.
[१२] अनुशासन ४८. १२.
[१३] मनुस्मृति १०. ११. १७.
[१४] गौतम ४. १६.
[१५] बौधा० १.६.७.
[१६] तैत्तिरीय सं० ४.५.४.२.
[१७] जैमिनि ६.१.४४-५०
[१८] बौधा० ध० सू० १.६.६.

वैदेहक

बृहदारण्यक उपनिषद् में वैदेह का उल्लेख मिलता है। उससे प्रतीत होता है कि ये लोग शर-शल्य-निर्माण का व्यवसाय करते थे[1]। गौतम इन्हें शूद्र-क्षत्रिया की सन्तान माना है[2]। परन्तु बौधायन[3] और कौटिल्य[4] ने इन्हें वैश्य पुरुष तथा ब्राह्मण स्त्री से उत्पन्न कहा है। महाभारतकार ने भी इसका अनुमोदन किया है[5]। कुछ भी हो, इतना निश्चित है कि वैदेहक प्रतिलोम जाति थी। मनुस्मृति के कथनानुसार इनका प्रमुख कार्य अन्तःपुर की महिलाओं की सेवा एवं रक्षा करना था[6]।

सूत

इसका उल्लेख सर्व प्रथम वैदिक साहित्य में उपलब्ध होता है। अथर्ववेद सूत-वर्ग से परिचित है[7]। तैत्तिरीय संहिता ने अन्य व्यवसायी वर्गों के साथ-साथ सूत का भी नाम लिया है[8]। तैत्तिरीय ब्राह्मण के विषय में भी यही कथन सत्य है[9]। ताण्ड्य ब्राह्मण के साक्ष्य से प्रतीत होता है कि सूत राज्य का एक उच्चाधिकारी समझा जाता था। यह उन आठ पदाधिकारियों में से एक था जो राज्य को धारण करते थे[10]। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि ब्राह्मण-काल तक सूत एक व्यवसायी वर्ग ही समझा जाता था। जाति के रूप में अभी तक उसका संगठन न हुआ था। यह संगठन ब्राह्मण-काल के पश्चात् ही हुआ। कुछ भी हो, सूत्र काल तक सूत्र-वर्ग समाज में एक प्रतिलोम जाति के रूप में निश्चित रूप से प्रतिष्ठित हो चुका था। गौतम[11] और बौधायन[12] के मतानुसार वह क्षत्रिय पुरुष और ब्राह्मण स्त्री की सन्तान था। कौटिल्य[13] और मनु[14] ने भी इसी मत का प्रतिपालन किया है। मनु की व्यवस्था के अन्तर्गत उसका प्रधान व्यवसाय रथ-चालन है[15]।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि सूत्र-काल में प्रविष्ट होते-होते समाज में अनेकानेक जातियों एवं उपजातियों का प्रादुर्भाव हो चुका था। समाज में स्थान-स्थान पर वर्ण-विरुद्ध विवाह होने लगे थे। इन अन्तर्वर्णीय विवाहों के परिणाम-स्वरूप ही अनुलोम तथा प्रतिलोम

---

[1] बृहदारण्यक उप० ३.८.२.

[2] गौतम ४.१५.

[3] बौधा० १.६.८.

[4] कौटिल्य ३.८.

[5] अनुशासन ४८.१०.

[6] मनु० १०.४७.

[7] अथर्व० ३.५.७.

[8] तैत्ति० सं० ४.५.४.२.

[9] तैत्ति० ब्रा० ३.४.१

[10] ताण्ड्य ब्रा० १६.१.४.

[11] गौतम ४.१२.

[12] बौधा० १.६.६

[13] कौटिल्य ३.७.

[14] मनु० १०.११.

[15] मनु० १०.४७.

जातियों की उत्पत्ति हुई थी। पुनः चतुर्वर्णों तथा अनुलोम और प्रतिलोम जातियोंकोपारस्परिक अथवा अन्तर्वर्गीय विवाहों ने अनेकानेक अन्यतर वर्णसंकर जातियों को जन्म दिया। समाज में इनका स्थान और भी अधिक निम्न समझा जाता था। व्यवस्थाकारों ने इन निम्नतम वर्णसंकरों के अनेक उदाहरण दिये हैं। बौधायन के मतानुसार पौल्कस निषाद पुरुष तथा शूद्रा स्त्री की सन्तान है।[1] मनु ने भी इस मत का समर्थन किया है।[2] परन्तु कौटिल्य का कथन है कि वह निषाद पुरुष और उग्र स्त्री की सन्तान है।[3] मनु की व्यवस्था के अनुसार पशुओं को पकड़ना तथा मारना पौल्कस जाति का प्रधान व्यवसाय है।[4] इसी प्रकार वैदेहक पुरुष और निषाद स्त्री से उत्पन्न सन्तान को भेद जाति में गणित किया गया है। यह जाति अन्त्यज समझी जाती थी और नगर-ग्राम के बाहर रहती थी। इसका प्रधान व्यवसाय वन्य पशुओं का आखेट करना था।[5] मनुस्मृति के साक्ष्य से विदित होता है कि वैदेहक पुरुष तथा आयोगव स्त्री की सन्तान मैत्रेयक कहलाती है। इसका प्रधान व्यवसाय चारण वृत्ति था।[6] बौधायन ने वैण जाति का उल्लेख किया है। उनके मतानुसार यह वैदेहक पुरुष तथा अम्बष्ठ स्त्री की सन्तान थी।[7] मनु ने इस कथन का समर्थन किया है तथा वाद्य-कर्म को इसका प्रमुख उद्यम बताया है।[8] इसी प्रकार ब्राह्मण-साहित्य में श्वपाक, आभीर, आवृत आदि अनेक अन्य वर्णसंकर जातियों का उल्लेख मिलता है। उच्छृङ्खल अथवा धर्म विरुद्ध विवाहों तथा कर्मों के बहुसंख्यक अनुसरण के परिणाम-स्वरूप कभी-कभी यह कहना असम्भव हो जाता था कि अमुक व्यक्ति की जाति अथवा उसका कर्म क्या होना चाहिए। यही कारण है कि जातियों और जातीय कर्मों के सम्बन्ध में अनेकशः व्यवस्थाकारों में पारस्परिक मतभेद है। इस मतभेद का प्रदर्शन यथा-स्थान किया जा चुका है।

ब्राह्मण-साहित्य में जाति-व्यवस्था का जो चित्र अंकित किया गया है उसमें ब्राह्मण की सर्वप्रधानता तथा शूद्र की अतिनिम्नता स्पष्ट लक्षित होती है। परन्तु इस विषय पर जो विधि-निषेध निर्मित किये थे, वे अनेक स्थानों पर व्यावहारिकता से परे हैं, उनसे अधिक से अधिक एक आदर्श व्यवस्था की कल्पना ही प्रदर्शित होती है। साधारण स्थिति में न तो प्रत्येक ब्राह्मण भूसुर था और न प्रत्येक शूद्र पशुसम। परन्तु इतना निश्चित है कि सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत ब्राह्मण को सर्वोच्च और शूद्र को सर्वनिम्न स्थान दिया गया था। इन दोनों के बीच की विषमता समयानुसार घटती-चढ़ती रही थी। इसी प्रकार विभिन्न उपजातियों के उद्भव, पदों, कर्तव्याधिकारों तथा व्यवसायों की जो विस्तृत विवेचना की गई है, वह भी अधिकांश रूप में वास्तविक नहीं है। उससे व्यवस्थाकारों की समस्त जात्योप-

[1] बौधा० १.६.१४.

[2] मनु० १०.१८.

[3] कौटिल्य ३.७.

[4] मनु० १०. ४६.

[5] मनु० १०. ३६. ४८.

[6] मनु० १०. ३३.

[7] बौधा० १. ६. १३.

[8] मनु० १०. १६. ४६.

जातियों एवं उनके अनेकानेक व्यवसायों को वर्णान्तरित एवं नियमित करने की प्रवल चिन्ता ही प्रकट होती है। उपलब्ध व्यवस्था तथा सामाजिक वास्तविकता में प्रायः प्रत्येक समय अन्तर रहा है। इसकी पुष्टि विभिन्न व्यवस्थाकारों के मतान्तर से भी होती है।

बौद्ध। साहित्य में ब्राह्मण-साहित्य-वर्णित जाति-व्यवस्था के प्रायः समस्त मूल सूत्र उपलब्ध होते हैं। यदि कहीं पर अन्तर है तो वह केवल दृष्टिकोण का है, वस्तुस्थिति का नहीं। बौद्ध-मत ने जाति-व्यवस्था का विरोध किया है, उसके अन्तर्गत एक वर्ग की जन्मजात उच्चता तथा दूसरे वर्ग की जन्मजात हेयता को अस्वीकृत किया है तथा सिद्धान्ततः जन्म की अपेक्षा कर्म को ही उच्चता का मापदण्ड माना है। परन्तु इसका यह समस्त खण्डन-मण्डन बौद्ध-आदर्श को ही सूचित करता है। बौद्ध-ग्रन्थों के अध्ययन से स्पष्ट प्रकट हो जाता है कि भारतीय समाज में जाति-व्यवस्था भली भाँति प्रतिष्ठित थी। वे उसका विरोध करते हुए भी उसके अस्तित्व को प्रकाशित करते हैं।

बौद्ध और जैन ग्रन्थों में तीन शब्दों वण्ण, जाति और कुल का अनेकानेक स्थलों पर प्रयोग हुआ है। अधिकांशतः ये समानार्थ के द्योतक हैं[1]। इनसे समाज के चार प्रमुख वर्गों का ही बोध होता है। बौद्ध और जैन व्यवस्था भी क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र के चतुर्वर्णों को परोक्षरूप से स्वीकृत करती है [2]। बौद्ध साहित्य में अनेक ऐसे उदाहरण उपलब्ध होते हैं जिनसे स्पष्ट होता है कि ब्राह्मण को अपनी रक्त-शुद्धता के सम्बन्ध में बड़ा ध्यान था। ब्राह्मण सुमेध के रूप में प्रथम बोधिसत्व के विषय में कथन है कि उसके माता-पिता के वंश का रक्त सात पीढ़ियों से अति शुद्ध था [3]। दीर्घनिकाय में सोणदण्ड नामक एक ब्राह्मण व्यक्ति से कुछ ब्राह्मणों का कथन है कि तुम माता और पिता दोनों के पक्ष में उत्तमवंशीय हो। अतः तुम्हें स्वयं श्रमण गौतम के पास न जाना चाहिए वरन् उन्हें स्वयं तुम्हारे पास आना चाहिए [4]। इन उद्धरणों से विदित होता है कि तत्कालीन ब्राह्मण अपने शुद्ध रक्त और उच्च वंश के आधार पर भी अपनी प्रतिष्ठा स्थापित किये हुये थे। परन्तु बौद्ध व्यवस्था जन्म के आधार पर उनकी प्रधानता अथवा हीनता को नहीं मानती। वासेट्ठ-सुत्त में दो व्यक्तियों-भारद्वाज और वासेट्ठ-का वाद-विवाद है। प्रधानता-निर्धारण के हेतु एक जन्म को अधिक महत्व देता है और दूसरा कर्म को। अन्त में दोनों गौतम बुद्ध के पास जाते हैं। उनका निर्णय कर्म के पक्ष में होता है। धम्मपद २६ अस्सलायन सुत्त में

---

[1]बी० सी० ला०—कन्सेप्ट्स आफ बुद्धिज़्म पृ० ११.
विनय पिटक भाग २, पृ० २३६—चत्तारोमे वण्ण खत्तिया वेस्सा सुद्दा।
३, पृ० १८४—चत्तारि कुलानि खत्तियकुलं ब्राह्मणकुलं
वेस्सकुलंसुद्दकुलं।
जातक २ पृ० ८२—किं जातिकोस १, जातक ३, २३२—तस्स जाति
निस्साय महन्तो माने अहोसि। इत्यादि।

[2]कण्णकथाल सुत्त—जे० आर० ए० एस० १८६४ पृ० ३४२; चुल्लवग्ग।
विनय पिटक ६, १, ४.

[3]निदानकथा १, २.

[4]एस० बी० ई० भाव १०, पृ० १०८.

ब्राह्मण अस्सलायन भी अन्य वर्णों की अपेक्षा ब्राह्मण-वर्ण की जन्मजात प्रधानता और शुद्धता का प्रतिपादन करता है। अनेक प्रकार के उत्तर-प्रत्युत्तर के पश्चात् तथागत का कथन है कि जिस प्रकार भिन्न-भिन्न जाति के व्यक्तियों द्वारा भिन्न-भिन्न लकड़ियों से उत्पादित अग्नि समान होती है, उसी प्रकार समस्त मनुष्य समान होते हैं। किसी में भी जन्मजात प्रधानता अथवा हीनता नहीं होती है [1]। इसी आशय का कथन मधुर सुत्त में कहा-कच्चान का है। जातक-साहित्य में भी मनुष्य की सामाजिक प्रतिष्ठा अथवा अप्रतिष्ठा का निर्णायक कर्म ही है[2]। सीलविमंस जातक का कथन है कि जाति और वर्ण अहंकारोत्पादक हैं। शील ही मनुष्य का सर्वोच्च गुण है। इसके द्वारा शूद्र और चण्डाल भी द्विजातियों के समान प्रतिष्ठित हो सकते हैं। परलोक के लिये जन्म अथवा सजातीयता व्यर्थ है। उसके लिये शील अथवा सत्कर्म ही प्रमाण हैं [3]। उद्दालक जातक में भी सदाचार की महत्ता स्थापित की गई है। इसके द्वारा क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र, अथवा चण्डाल निर्विशेषरूप से निर्वाण का अधिकारी हो सकता है। सदाचारी व्यक्ति किसी की जाति के विषय में जिज्ञासु नहीं रहता। वह उसके सदाचार से ही प्रभावित होता है [4]। दूसरे स्थान पर यही सत्य एक उपाय द्वारा प्रदर्शित किया गया है। जिस प्रकार मनुष्य उसी वृक्ष को उत्तम समझता है जिससे उसे रस प्राप्त होता है—चाहे वह वृक्ष एरण्ड का हो अथवा पिचमन्द का अथवा पालिभद्र का, उसी प्रकार वह क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र, चण्डाल और पुक्कुस में उसी व्यक्ति को उत्तम समझता है जो सत्य का ज्ञाता हो [5]। यही दृष्टिकोण जैन साहित्य में भी उपलब्ध होता है। उत्तराध्ययन सूत्र का स्पष्ट कथन है कि मुण्डित शीश हो जाने, ओमेच्चार करने, वन में निवास करने और कुश तथा त्वचा के वस्त्र धारण करने से ही मनुष्य क्रमशः श्रमण, ब्राह्मण, मुनि अथवा तपस्वी नहीं बन जाता। श्रमण के लिये चित्त-स्थिरता, ब्राह्मण के लिये पवित्रता, मुनि के लिये ज्ञान और तपस्वी के लिये तपस्या आवश्यक है। वास्तव में मनुष्य की स्थिति सदाचारपूर्ण जीवन से निर्धारित होती है, जन्म से नहीं[6] परन्तु ये कथन बौद्धों एवं जैनों के ब्राह्मण-विरोधी दृष्टिकोण को ही परिलक्षित करते हैं। इनसे वास्तविक सामाजिक स्थिति प्रकट नहीं होती। जैसा कि आगे प्रकट होगा, जाति समाज में जन्म और परम्परा के आधार पर दृढ़तापूर्वक प्रतिष्ठित हो चुकी थी। बौद्धों तथा जैनों का विरोध उसे अपदस्थ करने में असमर्थ रहा। स्वयं इनकी उपचेतना में भी जाति-व्यवस्था का प्रभाव बहुत-कुछ विद्यमान रहा। तित्तिर जातक में जब महात्मा बुद्ध यह प्रश्न करते हैं कि कौन व्यक्ति सर्वोच्च है, तो कोई व्यक्ति क्षत्रिय का नाम लेता है, कोई ब्राह्मण का और कोई गहपति का [7]। बौद्ध संघ में प्रविष्ट सदस्यों में कदाचित् ही कोई निम्नजातीय रहा हो [8]। उनमें से प्रायः समस्त द्विजाति वर्ग से आये थे।

---

[1] अस्सलायन सुत्त। मज्झिम निकाय भाग २ पृ० १५१।
[2] जे० आर०ए० एस० १८९४, पृ० ३४६.
[3] जातक ३. पृ० १०४-५.
[4] जातक ४ पृ० ३०३.
[5] जातक ४ पृ० २०५.
[6] उत्तराध्ययन सूत्र २५, २६.
[7] जातक १—पृ० २१७.
[8] ओल्डेनवर्ग—बुद्ध पृ० १५६.

अस्सलायन सूत्र में अस्सलायन का यह कथन कि ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से उद्भूत हैं और अन्य वर्णों की अपेक्षा उच्चतम तथा शुद्धतम है, ब्राह्मण व्यवस्थाकारों के स्वर को ही प्रतिध्वनित करता है।[1] यद्यपि महात्मा बुद्ध उसके इस मत का खण्डन करते हैं तथापि उससे ब्राह्मण जाति-व्यवस्था की तत्कालीन प्रतिष्ठा के विषय में किसी को सन्देह नहीं होता। यही वस्तुस्थिति जैन व्यवस्था में भी परिलक्षित होती है। जैन व्यवस्थाकार स्पष्ट रूप से अनेक स्थानों पर जाति-आर्य, और जाति-जुंगिय, कम्म-आर्य और कम्म-जुंगिय तथा सिप्प-आर्य और सिप्प-जुंगिय का भेद स्थापित करते हैं। बौद्ध एवं जैन साहित्य के ब्राह्मणविषयक उल्लेख बहुधा एकपक्षीय हैं। उनके अतिरंजन से अधिक ब्राह्मण-समाज के कुत्सित वर्ग पर अथवा ब्राह्मणों के व्यक्तित्व के दुर्बल पक्ष पर ही प्रकाश पड़ता है। नवीन धर्मों का उदय मूलतः ब्राह्मणों की सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक व्यवस्था के विरुद्ध प्रतिक्रिया के परिणाम-स्वरूप हुआ था। अतः स्वाभाविक ही था कि ब्राह्मण वर्ग इस विरोध एवं विद्रोह का लक्ष्य बनता। ब्राह्मणों की मान्यता का विशेष कारण उनका वेदाध्ययन, अध्यापन तथा यज्ञ-कर्मों में अपेक्षाकृत एकाधिकार था। इन कर्मों की निरर्थकता सिद्ध हो जाने पर उनकी मान्यता का स्वतः लोप हो जाता। अतः बौद्धों ने इसी क्षेत्र में ब्राह्मणों की आलोचना करना प्रारम्भ किया। जातकों में स्थान-स्थान पर इस आशय के उल्लेख हैं कि वेदों में कोई भी ऐसी विशेषता नहीं है जो मनुष्य का त्राण कर सके। अधिक से अधिक मनुष्य उनसे कीर्ति प्राप्त कर सकता है, मोक्ष प्राप्ति के हेतु तो सम्यक् आचार ही एक-मात्र साधन है।[2] ब्राह्मणों के समस्त यज्ञ-कर्म एवं मन्त्रोच्चार निरर्थक हैं।[3] इन विविध विधि-निषेधों की व्यवस्था उन्होंने केवल अपने लिये धन और प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लक्ष्य से की है। वास्तव में वे धनलोलुप और मिथ्यावादी हैं तथा समाज में भ्रम और प्रवंचना का प्रचार करते हैं। केवल मूर्ख ही उनके कथनों पर विश्वास करेगा।[4] स्थान-स्थान पर अपव्ययात्मक एवं हिंसात्मक यज्ञों के कारण उनकी घोर निन्दा की गई है।[5] धन-प्राप्ति के हेतु उन्हें नाना प्रकार के छल-छद्म करते हुये प्रदर्शित किया गया है।[6] वे सत्कर्मों से विरत होकर निम्नातिनिम्न व्यवसायों में संलग्न थे। बौद्ध साहित्य ऐसे ब्राह्मणों को "अपेत" और "पथभ्रष्ट" कहता है। उसमें ब्राह्मणों की मूर्खता, दुराचारिता तथा मिथ्यावादिता को प्रदर्शित करने के हेतु उपहासात्मक कथानकों का सृजन किया गया है। उदाहरणार्थ उम्मदन्ती जातक में एक ऐसे कथानक का वर्णन है। एक राजा के पक्ष से कुछ ब्राह्मण विवाह के लिये उम्मदन्ती नामक एक कन्या का निरीक्षण करने जाते हैं। वहां

---

[1] अस्सलायन सूत्र। मज्झिम निकाय भाग २ पृ० १५१.

[2] जातक६ पृ० २०६-८, जातक ३ पृ० २३६-७, जातक ४ पृ० २६६. ३०१.

[3] जातक ३ पृ० २४.

[4] जातक ६ पृ० २०६-८.

[5] जातक ३ पृ० २१५, २३८, जातक ४पृ० ३७३, जातक ५पृ० २२१, जातक ६पृ० २१२.

[6] जातक १ पृ० ३४३, जातक २ पृ०,

उनका सुचारुरूप से स्वागत किया गया। तत्पश्चात् वे भोजन के लिये आमन्त्रित किये गये। जिस समय वे भोजन कर रहे थे उसी समय उम्मदन्ती उनके समक्ष उपस्थित हुई। उसके आकर्षण एवं सौन्दर्य के प्रभाव में वे इतने मुग्ध हो गये कि पूर्णरूपेण आत्मसंयम खो बैठे। प्रमत्त की भांति वे खाद्य सामग्री को अपने शरीर पर तथा इतस्ततः फेंकने लगे। उनके इस असभ्य आचरण से क्षुब्ध होकर कन्या ने उन्हें घर से बाहर निकाल देने की आज्ञा दी। इस प्रकार अपमानित होकर सब ब्राह्मण अपने राजा के पास लौटे और कन्या से बदला लेने के हेतु उसे पूर्णरूपेण विवाह के अनुपयुक्त बताया।[1] संभव जातक का कथानक है कि धनंजयकोरव्य नामक एक राजा ने अपने पुरोहित को धम्मयोग के विषय में शंका समाधान करने के हेतु काशी के एक ब्राह्मण विधुर के पास भेजा। विधुर ने उसे प्रश्न का उत्तर पाने के लिये अपने पुत्र भद्रकार के पास भेजा। जब सुचरित्र उसके पास पहुँचा तो भद्रकार ने अति निर्लज्जभाव से उत्तर दिया कि आज कल मैं एक परस्त्री को अपने पाश में करने का प्रयत्न कर रहा हूँ। अतः मुझे तुम्हारे प्रश्न का उत्तर देने के लिये अवकाश नहीं है। तुम मेरे भाई संजय के पास जाओ। पुनः संजय के पास पहुँचने पर सुचरित्र को ज्ञात हुआ कि वह भी एक परस्त्री को वश में करने में व्यस्त है।[2] जैन साहित्य में भी अनेकानेक ब्राह्मण-विरोधी उल्लेख हैं। एक स्थान पर कथन है कि महात्मा कभी भी निम्न, कृपण तथा ब्राह्मण वंश में जन्म नहीं लेते। कल्पसूत्र के अनुसार महावीर स्वामी ब्राह्मणी देवानन्दा के गर्भ से हटाकर क्षत्रिय त्रिशला के गर्भ में आरोपित किये गये थे[3]। स्थान-स्थान पर ब्राह्मणों को "धिज्जाइ" "धिक् जाति" के नाम से सम्बोधित किया गया है। इस प्रकार के कल्पित एवं अतिरंजित कथानकों का लक्ष्य केवल ब्राह्मणों को अपदस्थ करना था। इनके ऊपर हम शब्दशः विश्वास नहीं कर सकते अन्यथा हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि ब्राह्मणवर्ग समाज का निकृष्टतम वर्ग था और वह समस्त सामाजिक अनाचार का एकमात्र कारण था। परन्तु बौद्ध साहित्य के अवलोकन के पश्चात् यही प्रतीत होता है कि ब्राह्मण वर्ण की स्थिति अन्य द्विजाति वर्णों के समान ही थी। उसकी दुर्बलतायें अन्य वर्णों की अपेक्षा न अधिक थीं और न कम। अन्य वर्णों के समान ब्राह्मण वर्ण में भी सदाचारी और दुराचारी, विद्वान् और मूर्ख, त्यागी और स्वार्थी, दोनों प्रकार के व्यक्ति पाये जाते थे। इस वास्तविक परिस्थिति का स्पष्टीकरण स्वयं बौद्ध साहित्य से ही हो जाता है, अंगुत्तर निकाय में समस्त ब्राह्मणों को ५ कोटियों में विभक्त किया गया है। प्रथम कोटि के ब्राह्मणों को "ब्रह्मसमो" कहा गया है। ये सर्वोच्च ब्राह्मण होते थे। माता और पिता दोनों के पक्षों में ७ पीढ़ियों से उनका रक्त नितान्त शुद्ध होता था। उनकी शिक्षा-दीक्षा विधिवत् होती थी। ब्रह्मचर्याश्रम में रहकर वे समस्त वेदों तथा उनके उपांगों का अध्ययन करते थे। तत्पश्चात् अविवाहित रहकर अध्यापक के रूप में त्याग और साधना का जीवन व्यतीत करते थे। भिक्षाचर्या ही उनकी जीविका का प्रमुख साधन होता था। अपने जीवन के अन्तिम चरण में वे संसार त्याग कर मनन द्वारा आत्मोत्कर्ष का प्रयास करते थे। द्वितीय कोटि में "देवसमा" ब्राह्मण थे। इनके तथा ब्रह्मसमा ब्राह्मणों के जीवन में बहुत कुछ साम्य था।

---

[1] जातक ६ पृ० २११.
[2] जातक ५ पृ० ५७.
[3] कल्पसूत्र २. २२.

अन्तर केवल इनता ही था कि ब्रह्मचर्याश्रम के पश्चात् ये गृहस्थाश्रम में भी प्रविष्ट होते थे। रक्तशुद्धता की रक्षा के हेतु इनके विवाह अपने ही वर्ग में होते थे। इनका वैवाहिक जीवन भी नितान्त शुद्ध और सदाचारपूर्ण होता था। तृतीय कोटि के ब्राह्मणों को बौद्ध साहित्य में मरियादा के नाम से पुकारा गया है। इन्हें अपनी वंशानुगत मर्यादा अथवा परम्पराओं की रक्षा का अधिक ध्यान रहता था। ये आजीवन गृहस्थ रहकर अपने वंशानुकूल कर्तव्यों का पालन करते थे। इनके लिये सन्यास की व्यवस्था न थी। चतुर्थ कोटि के ब्राह्मण सम्भिन्न मर्यादा के नाम से प्रख्यात थे। ये अपनी वंशानुगत मर्यादा का उल्लंघन कर अन्तर्जातीय विवाह भी करते थे। शूद्र एवं अन्त्यज कन्याओं के वरण करने में भी इन्हें संकोच न था। इनके वैवाहिक जीवन का लक्ष्य सन्तानोत्पत्ति मात्र न था, वह वासनामूलक भी था। पंचम कोटि के ब्राह्मण "ब्राह्मण चन्डाल" कहलाते थे। ये पूर्णरूपेण वर्णाश्रम धर्म से विमुख थे। अवर्ण विवाह करने के साथ ही साथ ये वर्ण-विरुद्ध व्यवसायों का भी अनुसरण करते थे। परिणाम स्वरूप ये ब्राह्मण पशुकर्मा, कृषिकर्मा, वणिक्कर्मा, शूरकर्मा, तथा राजकर्मा आदि होते थे।

इसी प्रकार दस ब्राह्मण जातक में विभिन्न व्यवसायानुसरण के आधार पर ब्राह्मणों को १० कोटियों में विभक्त किया गया है[1]। प्रथम कोटि के अन्तर्गत वे ब्राह्मण आते थे जो चिकित्साकार्य करते थे। इन्हें तिलिन्छकसमा कहते थे। द्वितीय कोटि के ब्राह्मण राजाओं एवं मन्त्रियों की परिचर्या करते थे। घन्टी बजाकर वे अपने स्वामियों के गमनागमन की सूचना देते थे तथा उनके लिये सारथी और संवादवाहक के कार्य करते थे। ऐसे ब्राह्मण परिचारकसमा कहलाते थे। तृतीय कोटि में गिगाहक समा ब्राह्मण थे। इनकी जीविका का प्रमुख साधन भिक्षावृत्ति था। सन्यासियों के रूप में ये पर्यटन किया करते थे और भिक्षा प्राप्ति के बिना किसी भी स्थान को नहीं छोड़ते थे। चतुर्थ कोटि में खानुघातसमा ब्राह्मणों की गणना होती थी। नखकेशधारी तथा धूलिधूसर ये ब्राह्मण भी भिक्षाचर्या के द्वारा अपना जीविकोपार्जन करते थे। अपनी वेशभूषा से ये खानुघात के समान प्रतीत होते थे। पंचम कोटि के ब्राह्मण वणिक् कर्म में संलग्न थे। ये भांति-भांति के फलों, काष्ठों, मिष्ट मधु आदि का क्रय-विक्रय करते थे। इन्हें वाणिजकसमा कहते थे। षष्ठम कोटि के अन्तर्गत "समाअम्बद्ध्येस्सेहि" ब्राह्मण आते थे। अम्बष्ठों और वैश्यों के समान ये पशुपालन और कृषि-कार्य करते थे। इनमें से अनेक अपनी पुत्रियों का विक्रय करते थे। सप्तम कोटि के ब्राह्मणों को "गोघ्यातक समा" की संज्ञा दी गई है। ये ब्राह्मण पुरोहित थे जो जनसाधारण के लक्षण देखते और उनके शुभाशुभ के विषय में भविष्यवाणी करते थे। नगर-ग्राम निवासी समय-समय पर इन्हें आमन्त्रित करते थे। उनके लिये ये विविध प्रकार के याज्ञिक कर्म करते थे। इनमें पशुबलि भी दी जाती थी। अष्टम कोटि निसमागोपनि सादेहि ब्राह्मणों की थी। अस्त्रशस्त्रधारी ये ब्राह्मण मार्ग में वणिक्समुदाय की चोरों और लुटेरों से रक्षा करते थे। अपने कर्म और वेश-भूषा से ये गोपों और निषादों के समान प्रतीत होते थे। यही कारण है कि इनका यह विशेष नामकरण पड़ा। नवम कोटि में "लुद्दका ब्राह्मण" आते थे। लुब्धकों के समान ये खरगोशों, बिल्लियों, मछलियों और छिपकलियों

---

[1]जातक ४ पृ० ३६१।

को पकड़ते थे। दशम तथा अन्तिम कोटि में "मलमज्जनसमा" ब्राह्मण परिगणित होते थे। ये सोमयज्ञों में राजाओं का अभिषेक कराते थे।

दीर्घनिकाय में भी ब्राह्मणों को अनेक प्रकार के वर्ण-विरुद्ध व्यवसायों में संलग्न प्रदर्शित किया गया है। वे भूमिधर, कृषक, पशुपालक, शिल्पी, ज्योतिषी, चारण, गायक, हस्तरेखावेत्ता, भविष्यवेत्ता, चिकित्सक, औषधिविक्रेता आदि थे। अनेक ब्राह्मण जीवन के त्यागमय तथा अनुशासनशील आदर्श का परित्याग कर सांसारिक आमोद-प्रमोद तथा विषय-वासना में निमग्न थे[१]। वसिट्ठ सुत्त में भी ब्राह्मणों का सिप्पिका, पेस्सिका, कस्सका, वाणिज्य, योधाजीवा याजका और राजाज्ञा के रूप में वर्णन हुआ है[२]।

जातकों के विभिन्न कथानकों में इन बहुकर्मा ब्राह्मणों के अनेकानेक उल्लेख प्राप्त होते हैं। सरभंग जातक में एक पुरोहित पुत्र जातिपाति का वर्णन है। धनुर्विद्या में पारंगत होने के कारण उसे काशी-नरेश ने अपना सेनापति नियुक्त किया था[३]। महासुतसोम जातक में एक ब्राह्मण वणिक् का उल्लेख है जो अपने महाक्रय-विक्रय के लिये प्रख्यात था[४]। उगर जातक में ब्राह्मण पिता के पुत्र को कृषि-कार्य-संलग्न प्रदर्शित किया गया है[५]। यही दृश्य सोमदत्त जातक में मिलता है[६]। फन्दन जातक में एक ब्राह्मण वड्ढकि बढ़ई की कथा है[७]। अन्य जातकों में ब्राह्मण वैद्य अथवा चिकित्सक के रूप में मिलते हैं[८]। कहीं कहीं पर वे लुब्धक की भांति प्रदर्शित किये गये हैं[९]। अन्य जातकों से विदित होता है कि अनेक ब्राह्मण-मन्त्रों, जादू, नक्षत्र योग और यक्षपूजा में दक्ष थे[१०]। इसीप्रकार जैन ग्रन्थ नायाधम्मकहा[११] में ब्राह्मण यात्रार्थ शुभ मुहूर्त निकालते हुये प्रदर्शित किये गये हैं। कल्पसूत्र के कथनानुसार अनेक ब्राह्मण महानिमित विद्या में कुशल होते थे और लक्षणों के आधार पर विविध स्वप्नों के महत्व को समझाते थे।[१२]

ब्राह्मणों के इस विभिन्न व्यवसायानुसरण का प्रधान कारण आर्थिक था। समाज में उनकी सम्मान्यता, उनकी विद्वत्ता तथा यज्ञ-कुशलता के ऊपर ही निर्भर थी अर्थात् ब्राह्मण ही आमन्त्रण एवं दान-परिग्रह के अधिकारी थे। परन्तु समस्त ब्राह्मण समानरूप से न तो अधीत थे और न सम्मान्य ही। अतःबहुसंख्यक ब्राह्मणों को अपनी जीविका के हेतु वर्ण

१दीर्घनिकाय १,४.

२सुत्त निपात पृ० १२२।

३जातक ५. पृ० १२७।

४जातक ५ पृ० ४७१।

५जातक ३ पृ० १६३।

६जातक २ पृ० १६५।

७जातक ४ पृ० २०७।

८जातक २ पृ० २१३, जातक ६ पृ० १८१।

९जातक २ पृ० २००, जातक पृ० १७०।

१०जातक ४ पृ० ६८, जातक १ पृ० ४५५, जातक १ पृ० ३७२ जातक १ पृ० २५७। जातक २ पृ० २४७, जातक ४ पृ० ३३१। ११. नायाधम्मकहा ८, ९८।

११कल्पसूत्र ४, ६६

१२ऐतरेय ब्राह्मण ७,२७, कात्यायन श्रौत २२,४,२२,लाट्यायन श्रौत ८,६ २८।

विरुद्ध कर्मों को भी अंगीकार करना पड़ता था। वर्णविहित कार्यसंलग्न ब्राह्मणों की अपेक्षा इन बहुकर्मा ब्राह्मणों का स्थान समाज में निम्न समझा जाता था। ऐसा विदित होता है कि बौद्धकालीन भारतवर्ष में भी पूर्वी प्रदेश के ब्राह्मण कम आदरणीय समझे जाते थे। ब्राह्मण संस्कृति का केन्द्र कुरुपंचाल देश था। उसके पश्चिम और दक्षिण के प्रदेशों में ब्राह्मण-सभ्यता का प्रभाव अपेक्षाकृत न्यून था। यही कारण है कि ब्राह्मण-साहित्य में मगध के ब्राह्मणों को उपेक्षापूर्वक ब्रह्मबन्धु नाम से पुकारा गया है[1]। बौद्ध साहित्य में भी पश्चिमी प्रदेश के ब्राह्मण अधिक आदरणीय प्रदर्शित किये गये हैं। सतधम्म जातक में एक ब्राह्मण बड़े गर्व के साथ कहता है कि मैं उदिच्च ब्राह्मण हूँ। महासुपिन जातक में एक उदिच्च ब्राह्मण साधारण ब्राह्मणों के षड्यन्त्रों से राजा की रक्षा करता है[2]। इसी प्रकार अन्य जातकों में भी इन उदिच्च ब्राह्मणों का अनेक बार उल्लेख हुआ है[3]। आर्य सभ्यता के प्रमुख केन्द्र में निवास करने के कारण कदाचित् उन्हें अपनी रक्त-शुद्धता एवं कुल-परम्परा की रक्षा का अधिक ध्यान था। इसी से वर्णाश्रम-धर्म-निषेधों का अनुसरण इनके लिए अधिक स्वाभाविक था। इस प्रदेश के बाहर के ब्राह्मण बहुसंख्या में वर्ण-विरुद्ध व्यवसायों को ग्रहण कर चुके थे। कदाचित् अन्तर्जातीय विवाहों के परिणामस्वरूप उनमें रक्त-सम्मिश्रण भी हो चुका था। बौद्ध साहित्य में वर्णित ब्रह्मसमा तथा देवसमा ब्राह्मणों के अतिरिक्त अन्य समस्त ब्राह्मणों में अवर्ण विवाहों का प्रचलन था। इस प्रचार के वर्जित आचरण के कारण ही में ब्राह्मण समाज में कम आदरणीय समझे जाते थे।

यद्यपि बौद्ध साहित्य में बहुसंख्यक ब्राह्मण बहुकर्मा हो गये थे तथापि सिद्धान्ततः उनका वर्ण धर्म अध्ययन ही समझा जाता था। एक जातक का स्पष्ट कथन है कि ब्राह्मण की उत्पत्ति अध्ययन हेतु हुई।[4] उद्दालक जातक में जब उद्दालक को यह ज्ञात होता है कि मैं ब्राह्मण-पुत्र हूँ तो वह तत्काल वेदाध्ययन करने की इच्छा प्रगट करता है। एक जातक में एक बकरी कहती है कि मैं पूर्वजन्म में ब्राह्मण थी और वेदाध्ययन करती थी।[5] दूसरे जातक में एक पुरोहित को तीनों वेदों और अट्ठारह शिल्पों में पारंगत बताया गया है।[6] ब्राह्मणों के वेदाध्ययन करने के और भी अनेक उदाहरण प्राप्त हैं।[7] अध्ययन-अध्यापन के कार्य में संलग्न ब्राह्मण ही सब से अधिक सम्मान्य समझे जाते थे। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, ऐसे ब्राह्मणों की गणना ब्रह्मसमा और देवसमा कोटि में होती थी। ब्राह्मणों का अन्य प्रधान कार्य यज्ञ-याजन था। जातकों में अनेक कथानक ऐसे हैं जिनमें मनुष्यों के अशुभ-निवारण के हेतु ब्राह्मण यज्ञ-याजन करते हुये प्रदर्शित किये गये हैं।[8] ऐसा ही यज्ञ-कुशल ब्राह्मण राजपुरोहित के पद पर आसीन किया जाता था। वह 'आचारिय' कहलाता था।[9] राजा उसे

[1] जातक २ पृ० ८३।
[2] जातक १ पृ० ३४३।
[3] जातक १ पृ० १४०, ३२४, ३५६, ४१६, जातक ३ पृ० २३२ जातक ५. पृ० १३६।
[4] जातक ६ पृ० २०७ अज्जेन अरिया पटविं जनिन्दा।
[5] जातक १ पृ० १६७।
[6] जातक २ पृ० २४३।
[7] जातक १ पृ० २६६, २८५ जातक २ पृ० १००, २६०।
[8] जातक १ पृ० ३४३, जातक ३ पृ० ४५, जातक ४ पृ० ७६, २३५, जातक २ पृ० २११।
[9] जातक २ पृ० ३७६।

अपना सब से बड़ा शुभचिन्तक समझता था।[1] राजा के दुःस्वप्नसूचित भावी अहित एवं अशुभ के निवारण के हेतु वह अन्य ब्राह्मणों की सहायता से यज्ञादि करता था[2]। आवश्यकता पड़ने पर वह न्याय भी करता था[3]। अनेक विद्वान् ब्राह्मण पुरोहित-पद के अतिरिक्त 'अमच्चों' (अमात्यों) तथा 'महामत्तों' (महामात्रों) के उत्तरदायित्व का भी वहन करते थे। महापरिनिब्बान सुत्तन्त से विदित होता है कि सुनीध और वस्सकार अजातशत्रु के दो ब्राह्मण थे। कौशाम्बी-नरेश ने कासव नामक एक ब्राह्मणको राजकीय परामर्श के हेतु नियुक्त कर रक्खा था।[4] चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रधान मन्त्री के रूप में ब्राह्मण चाणक्य चिर-प्रख्यात हैं।

इसी प्रकार के विद्वान् एवं आचरणशील ब्राह्मणों के लिये बौद्ध साहित्य भी "धम्मिका" ("धार्मिक") शब्द का प्रयोग करता है।[5]। उनका उल्लेख सदाचारी जन एवं बौद्ध श्रमणों के साथ किया गया है[6]। स्वयं महावीर स्वामी "महामाहहण" के नाम से सम्बोधित हुये हैं[7]। अपनी सामाजिक सेवाओं के लिये वे समाज में सम्मान्य समझे जाते थे और उन्हें अनेक विशेषाधिकार एवं सुविधायें प्राप्त थीं। निशीथचूर्णि का कथन है कि प्रजापति ने ब्राह्मण को पृथ्वी पर दैवी पुरुष के रूप में उत्पन्न किया है। अतः उसे भिक्षा दान पुण्यकर होता है[8]। समय समय पर नागरिक, उन्हें भोजनार्थ आमन्त्रित करते थे[9]। घरों में "दक्खिणोदक" द्वारा उनका स्वागत किया जाता था। भोजन के पश्चात् उन्हें 'वाचनक' 'दान' दिया जाता था[10]। साधारण नागरिकों के अतिरिक राजा भी इन निस्पृह एवं सेवाकार्यरत विद्वान् ब्राह्मणों के भरण-पोषण के हेतु दान देते थे[11]। आवश्यक चूर्णि के कथनानुसार राजा भरत प्रतिदिन ब्राह्मणों को प्रीतिभोज कराते थे[12]। इसी प्रकार नन्दराज ब्राह्मणों को सम्पति-दान करते थे[13]। कहीं कहीं तो ब्राह्मण साहित्य की भाँति बौद्ध साहित्य भी ब्राह्मणों की अवध्यता का उल्लेख करता है[14]। परन्तु वर्ण-निर्विशेष बौद्ध व्यवस्था के अन्तर्गत इस विशेषाधिकार को बहुधा व्यवहृत रूप मिलता था, इसमें

---

[1] जातक १ पृ० २८६, जातक २ पृ० २८२ जातक ३ पृ० ३१।

[2] जातक १ पृ० ३३४, जातक २ पृ० ४६।

[3] जातक २ पृ० १८७।

[4] उत्तराध्ययन टीका १२३।

[5] जातक ६ पृ० ५५४ "धम्मिका होन्ति ब्राह्मणा।

[6] जातक १ पृ० ३०५, जातक १ पृ० १८७, चतुर्थ अशोक शिलालेख, बम्मन समनानं। संपडिपति। आवश्यक चूर्णि ६३। समण ब्राह्मण सुत २. १२०. ४. २३४.

[7] उवासगदसाओ ७।

[8] निशीथ चूर्णि १२. ८६५।

[9] उत्तराध्ययन टीका ८, १२३।

[10] जातक १ पृ० ३१८, जातक २ पृ० २३६ जातक पृ० ३६१, जातक ५ पृ० २४७।

[11] जातक १ पृ० ३०३ जातक २ पृ० २७२, जातक ३ पृ० ३०, जातक ४ पृ० १५।

[12] आवश्यक चूर्णि २१३।

[13] उत्तराध्ययन टीका ३.५७।

[14] जातक ६ पृ० १६६ "अवज्झे भवति ब्राह्मणोः।

सन्देह है। किसी किसी जातक में ब्राह्मणों के मृत्युदण्ड का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है[१]। मधुर सुत्त का कथन है कि मृत्युदण्ड में अभियुक्त के ब्राह्मणत्व अथवा अब्राह्मणत्व का विचार नहीं किया जाता[२]। इसी प्रकार यह निश्चित रूप में नहीं कहा जा सकता कि ब्राह्मण करमुक्त थे अथवा नहीं। जातकों के कथानकों में अधिकतर गृहपतियों और कुटुम्बियों को ही करदाता के रूप में प्रदर्शित किया गया है। इससे कदाचित् यह अनुमान निकाला जा सकता है कि ब्राह्मण अथवा कम से कम विद्वान्, लब्धप्रतिष्ठ और समाज-सेवी ब्राह्मण राजकीय कोष के प्रधान साधन न थे।

बौद्ध साहित्य के अनुसार ब्राह्मण की प्रतिष्ठा का कारण जन्म न होकर कर्म ही था। निःस्पृह, निर्द्वन्द, तथा अनासक्त ब्राह्मण ही मोक्षाधिकारी हो सकता है[३]। केवल जाति-विशिष्टता से कोई लाभ नहीं हो सकता। वसिष्ठ सुत्त का स्पष्ट कथन है कि जन्म से ही कोई ब्राह्मण अथवा अब्राह्मण नहीं होता। उसके लिये कर्म ही प्रधान है। गोपालन का अनुसरण करनेवाला व्यक्ति जन्ममात्र से ही ब्राह्मण नहीं हो सकता। वास्तव में वह "वैश्य" है। ब्राह्मण होने के लिये विशिष्ट कर्म की आवश्यकता है[४]। इस प्रकार के कथनों से बौद्धों का कर्म के आधार पर जाति-निर्धारण करने का प्रयत्न दृष्टिगोचर होता है। बौद्ध साहित्य में जात्यपकर्ष के उदाहरण अवश्य मिलते हैं। मातंग जातक के कथानक के अनुसार सोलह हजार ब्राह्मण चन्डालोच्छिष्ट भोजन करने के कारण जाति-च्युत होकर अब्राह्मण हो गये थे[५]। परन्तु समस्त बौद्ध साहित्य में जात्युत्कर्ष का कोई भी निश्चित उदाहरण प्राप्त नहीं होता। उस समय तक जाति-व्यवस्था इतनी दृढ़ हो चुकी थी कि बौद्धों के कर्म-प्रधान जाति-निर्धारण का प्रचार न हो सका। एक स्थान पर तो स्वयं विनय पिटक में उल्लेख है कि ब्राह्मण जन्म से ही ब्राह्मण होता है। यह वस्तुतः उपर्युक्त कथनों के लिये अपवादस्वरूप है।

बौद्ध साहित्य से द्वितीय वर्ण क्षत्रिय के विषय में भी अनेक ज्ञातव्य बातें प्रकट होती हैं। प्रधानता-प्राप्ति के हेतु ब्राह्मण-क्षत्रिय-संघर्ष वैदिक काल से ही चल रहा था। इन दोनों वर्णों का संघर्षजन्य उत्थानपतन ललितविस्तार से स्पष्टतया प्रकट हो जाता है।

इस ग्रन्थ में कहा गया है कि बोधिसत्व ने केवल ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्णों में ही जन्म लिया है, क्योंकि यही दोनों उच्चतम वर्ण हैं। जब ब्राह्मणों की प्रधानता होती है तो वह ब्राह्मणवंश में जन्म लेता है, परन्तु इसके विपरीत जब क्षत्रियों की सामाजिक मान्यता बढ़ जाती है तो वह क्षत्रिय वंश में उत्पन्न होता है।

ईसा की छठी शताब्दी पूर्व तक ब्राह्मण-व्यवस्था तथा उसके अन्तर्गत ब्राह्मणों की प्रधानता लोकमान्य रही। यद्यपि समाज में एक वर्ग में इसके विरुद्ध असन्तोष बढ़ रहा था

---

[१]जातक १ पृ० ४३६

[२]मज्झिमनिकाय २ पृ० ८३

[३]जातक ४, पृ० ३०३

[४]एस० बी० ई० भाग १० पृ० १०८

[५]जातक ४ पृ० ३८८ ललित विस्तार अध्याय ३

[६]निस्संग्गिय १०, २. १.

तथापि यह सबल प्रकाश रूप में न आ सका। परन्तु ६ ठी शताब्दी ई० पू० बौद्ध तथा जैन धर्मों के रूप में यह असन्तोष सर्वप्रथम विद्रोह के रूप में प्रकट हुआ। इन विद्रोही धर्मों के दोनों ही प्रवर्तक क्षत्रिय थे। यह कोई आकस्मिक घटना न थी। इन नवीन मतों के पीछे जहां ब्राह्मणधर्मजन्य कुरीतियों के निराकरण के हेतु सुधार-भावना कार्य कर रही थी वहाँ क्षत्रिय वर्ग की ब्राह्मण वर्ग के समक्ष अपनी प्रधानता स्थापित करने की उत्कट इच्छा भी विद्रोह के लिए प्रेरणा प्रदान कर रही थी। इस कथन की पुष्टि बौद्ध साहित्य के अनेकानेक उल्लेखों से हो जाती है। उसकी सामाजिक व्यवस्था में क्षत्रिय वर्ण सर्वप्रधान रक्खा गया है। उसके समक्ष ब्राह्मण वर्ग को हीनावस्था में प्रदर्शित किया गया है। जहाँ कहीं भी चतुर्वर्णों का उल्लेख मिलता है वहाँ सर्वप्रथम क्षत्रिय को स्थान मिलता है। एक जातक में राजा अरिन्दम पुरोहित पुत्र सोनक को हीनजातीय और स्वयं अपने को असंभिन्न-क्षत्रियवंशजात कहता है[1]। ब्राह्मण का उल्लेख उसके पश्चात् होता है[2]। एक स्थान पर स्वयं बुद्ध कहते हैं कि बौद्धों का जन्म सदैव ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय वंश में हुआ है, क्योंकि अन्य वर्णों की अपेक्षा यह उच्चतर है। परन्तु इस समय क्षत्रिय वंश उच्चतम है। अतः मैं इसी में जन्म लूँगा[3]। अम्बट्ठसुत्त में गौतम का कथन है कि नितांत पतित होने पर भी क्षत्रिय श्रेष्ठ हैं और ब्राह्मण निम्न। इसके आगे ही महात्मा बुद्ध फिर कहते हैं कि चतुर्वर्ण में वंश-प्रतिष्ठा की दृष्टि से क्षत्रिय सर्वोच्च हैं[4]। कण्णकथात सुत्त में महात्मा बुद्ध कहते हैं कि क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र के चार वर्ण हैं। इनमें क्षत्रिय और ब्राह्मण अग्रगण्य समझे जाते हैं[5]। इस स्थान पर यद्यपि क्षत्रियों और ब्राह्मणों की गणना साथ-साथ हुई है, तथापि पूर्वोल्लिखित होने के कारण क्षत्रियों की अधिकतर प्रधानता एवं सम्मान्यता स्वतः परिलक्षित होती है। तत्कालीन क्षत्रियों का प्रधानता-प्राप्ति-आन्दोलन जैन साहित्य से भी सिद्ध होता है। कल्पसूत्र का कथन है कि जैन अर्हत तथा जिन कभी भी ब्राह्मण वंश में उत्पन्न होना स्वीकार नहीं करते। प्रारम्भ में महावीर स्वामी देवानन्दा नामक एक ब्राह्मणी के गर्भ में थे, परन्तु तत्पश्चात् देवराज शुक्रने उन्हें क्षत्रिया त्रिशला के गर्भ में स्थानान्तरित कर दिया[6]। इस कथानक से स्पष्ट प्रकट होता है कि क्षत्रिय अपने वर्ण को ब्राह्मण की अपेक्षा अधिक सम्मान्य समझते थे।

क्षत्रियों ने अपनी प्रधानता की स्थापना का आधार उन्हीं बातों को बनाया जो ब्राह्मणों की विशेषतायें समझी जाती थीं। सर्वप्रथम ब्राह्मणों की ही भांति उन्होंने अपनी रक्त-शुद्धता तथा वंश-प्रतिष्ठा पर अधिकाधिक बल देना प्रारम्भ किया। पीछे राजा अरिन्दम का उदाहरण किया जा चुका है जो सगर्व अपने को शुद्ध क्षत्रियवंश में बताता

---

[1]जातक ५ पृ० २५७

[2]जातक १ पृ० ३२६, जातक ३ पृ० १९४, जातक ४ पृ० २०५ खत्तिया ब्राह्मण वेस्सा सुद्दा चण्डालपुक्कुसा।

[3]जातक १ ४९

[4]अम्बट्ठसुत्त। दीघ निकाय ३.

[5]कण्णकथालसुत्त। मज्झिम निकाय ९०।

[6]एस० बी० ई० भाग २२ पृ० २२५, ६.

है[1]। गंगमाल जातक में जब एक नापित राजा उदय को कुलनाम से सम्बोधित करता है तो राजमाता कुपित होकर यह कहती हुई उसकी भर्त्सना करती है कि यह हीनजातीय मलमज्जन करने वाला नापितपुत्र मेरे पुत्र के पद को नहीं जानता। यह पृथ्वीश्वर क्षत्रिय जातीय मेरे पुत्र को 'ब्रह्मदत्त' के नाम से पुकारता है। यहां पर 'क्षत्रियजातीय' शब्द से राजा की उच्च वंश-प्रतिष्ठा की ओर संकेत किया गया है[2]। दूसरे जातक में क्षत्रिय के लिये माता और पिता दोनों पक्षों का क्षत्रिय होना महत्वपूर्ण कहा गया है[3]। अम्बट्ठसुत्त में स्वयं महात्मा बुद्ध ने यह प्रदर्शित किया है कि माता और पिता दोनों के शुद्ध क्षत्रिय होने पर ही उनकी सन्तान क्षत्रियजातीय कहलाने की अधिकारिणी हो सकती है[4]। अपनी रक्त-शुद्धता को घोषित करने के साथ-साथ क्षत्रियों ने विद्या के क्षेत्र में भी ब्राह्मणों की समता करना प्रारम्भ कर दिया। जातकों से स्पष्ट विदित होता है कि तक्षशिला जैसे उच्च शिक्षा-केन्द्रों के विद्यार्थियों में ब्राह्मणों के साथ-साथ क्षत्रियों की ही बहुसंख्या थी[5]। थुस जातक का कथन है कि बोधिसत्व तक्षशिला में एक विश्व-विख्यात अध्यापक थे और वे बहुसंख्यक राजकुमारों एवं ब्राह्मण कुमारों को शिक्षा दिया करते थे। स्वयं काशीनरेश ने उनसे वेदों और शिल्पों की शिक्षा प्राप्त की थी। गामणिचन्द जातक में एक राजा सात वर्ष तक अपने पुत्र को वेदों एवं लोक-कर्तव्य की शिक्षा देते हुए प्रदर्शित किया गया है[6]। दुम्मेध जातक में एक राजकुमार को हम तीनों वेदों और अठारह विद्याओं में शिक्षा पाते हुए देखते हैं। घोनशाख जातक का कथन है कि एक आचार्य के पास शिक्षा पाने के हेतु भारतवर्ष के समस्त प्रदेशों से राजकुमार तथा ब्राह्मण कुमार आते थे[7]। मज्झिमनिकाय से विदित होता है कि योग की दो विशेष शाखाओं का प्रवर्तन आलार कालाम और उद्दक रामपुत्त नामक दो क्षत्रियों ने किया था[8]।

जातकों में अनेक बार खत्तिय शब्द का प्रयोग हुआ है। इस शब्द को द्वितीय वर्ण के संकुचित अर्थ में न लेकर अधिक विस्तृत अर्थ में लेना चाहिये। इसके अन्तर्गत राजा, राजवंशीय, राजसामन्त तथा सेना के समस्त उच्च पदाधिकारी आते हैं। क्षत्रिय का प्रमुख कार्य राजकीय होता था[9]। परन्तु राजा सदैव क्षत्रिय ही न होता था। जातकों में अनेक अक्षत्रिय राजाओं का उल्लेख आता है। एक जातक में राजा ने एक निम्नजातीय स्त्री के पुत्र को अपना उपराजा बनाया जो कालान्तर में स्वयं राज्य का उत्तराधिकारी बना[10]। अन्य जातक से प्रकट होता है कि अयोग्य

[1] जातक ५ पृ० २५७, असंभिन्नखत्तियवंसे जातो।
[2] जातक ३ पृ० ४५२ पुत्तंपठविस्सरं जातिखत्तियं।
[3] जातक १ पृ० १७७, महाराज मातापितुसु खत्तिय।
[4] अम्बट्ठसुत्त। दीघनिकाय।
[5] जातक १ पृ० ४६३, जातक २ पृ० १६०, जातक ३ पृ० १२२, जातक ३ पृ० १२२,
[6] जातक २.२६७.
[7] जातक १ पृ० २५६
[8] जातक ३ पृ० १५८
[9] मज्झिम १ पृ० १६३
[10] जातक ६ पृ० २०७

होने पर राजा सिंहासन-च्युत कर दिया जाता था और उसके रिक्त स्थान पर ब्राह्मण राजा प्रतिष्ठित कर दिया जाता था[1]। ब्राह्मण साहित्य की भाँति बौद्ध साहित्य में भी राजा अत्यन्त प्रतिष्ठित समझा जाता था। वह मनुष्यों में सर्वप्रमुख समझा जाता था[2] उसका जीवन नितान्त रागरसपूर्ण था। उसके वस्त्रालंकरण, उसकी भोजन-व्यवस्था तथा उसके आमोद-प्रमोद के विविध साधनों का जातकों में विस्तारपूर्वक वर्णन मिलता है[3]।

यद्यपि बौद्ध साहित्य में सवर्ण विवाह को ही श्लाघ्य माना गया है[4] तथापि क्षत्रियों में इस नियम के अनेकशः अपवाद उपलब्ध होते हैं। बिम्बिसार ने अम्बपाली नामक स्त्री के साथ अवर्ण विवाह किया था। जातकों के अनुसार क्षत्रिय वासुदेव ने एक चण्डाली के साथ विवाह किया था।

क्षत्रियों का सहज कर्म युद्ध था[5]। परन्तु समस्त योद्धा क्षत्रिय वर्ण के न होते थे। पहले उल्लेख किया जा चुका है कि अनेक ब्राह्मण भी 'योधाजीव' थे। जातकों में युद्धजीवी होने के कारण उग्र पुत्रों का उल्लेख भी 'खत्तिय' के रूप में किया गया है। इससे 'खत्तिय' शब्द की विस्तारात्मकता का पता लगता है। युद्ध-कर्म के अतिरिक्त क्षत्रिय अन्य वर्ण-विरुद्ध कर्मों का भी अनुसरण करते थे। जातकों के अनेक उल्लेख इस कथन को पुष्टि करते हैं[6]। एक जातक में एक क्षत्रिय राजपुत्र क्रमशः कुम्भकार, वेणुकार, रसोइये आदि का कार्य करता है[7]। दूसरे स्थान पर एक अन्य क्षत्रिय धनुर्धारी के रूप में अपना जीविकोपार्जन करता है[8]। इन व्यवसायों में वणिक् व्यवसाय क्षत्रियों के लिये आकर्षक था। एक जातक में उल्लेख है कि एक राजा ने राजकीय कार्यों का परित्याग कर वणिक् वृत्ति का आश्रय लिया था[9]। दूसरे स्थान पर एक राजकुमार एक वणिक् के साथ अपना जीविकोपार्जन करता है[10]।

ब्राह्मण साहित्य की भांति जैन और बौद्ध साहित्य भी वेस्स, वेस्यत, को तृतीय वर्ण के रूप में उल्लिखित करता है। विरोधी धर्मग्रन्थों में प्राप्त वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत इसे तृतीय स्थान मिला है और ब्राह्मण व्यवसाय की भांति इसका प्रमुख व्यवसाय कृषि बताया जाता है[11]। इस वर्ण के लिये 'गहवइ', कुटुम्बिक', कोडम्बिय, 'इब्भ', 'सेट्ठि', आदि

---

[1]जातक १, पृ० १३३

[2]जातक १ पृ० ३२६

[3]विनय महावग्ग ६, ३५, ८

[4]जातक ५ पृ० ५०५,

[5]जातक ३ पृ' ४२२। एकं समजातिककुलाकुमारिकं गहेण।
१ पृ० १६६, जातक २ पृ० १२१, जातक ३ पृ० ६३.

[6]२पृ० ३१६. जातक १ पृ० ३६३, जातक २ पृ० ४०१, जातक ४ पृ० ३०६,

[7]४पृ० १६६, जातक ५ पृ० २६० , २.

[8]२पृ० २६०.

[9]२पृ० ८७.

[10]४पृ० ८४.

[11]४पृ० १६६.

संज्ञाओं का प्रयोग किया गया है[1]। विनय पिटक में क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र इन चार वर्गों का उल्लेख मिलता है[2]। कंणकथाल सूत्र में स्पष्टतया कहा गया है कि समाज में यही चार जातियां हैं और इनमें क्षत्रिय तथा ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं[3]। इस कथन से विदित होता है कि प्रथम दो वर्णों की अपेक्षा वैश्य समुदाय की सामाजिक स्थिति हीन समझी जाती थी। इस मत की पुष्टि निदान कथा से भी होती है। उसमें महात्मा बुद्ध कहते हैं कि वोधिसत्वों ने सदैव क्षत्रिय-ब्राह्मण वंशो में ही जन्म ग्रहण किया है। वे वैश्यों और शूद्रों के वर्णों में कभी भी उत्पन्न नहीं हुए हैं[4]।

परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि बौद्ध व्यवस्था के अन्तर्गत वैश्यों की अपेक्षा प्रथम दो वर्णों को कोई विशेषाधिकार दिये गये हों। सिद्धान्ततः बौद्ध मत ने कभी भी जाति-विशिष्टता को स्वीकार नहीं किया है। जातकों में स्थान स्थान पर कथन है कि खत्तिय, ब्राह्मण, वैश्य, सुद्द, चन्डाल और पुक्कुस सब समान है और सदाचार से मोक्षाधिकारी हो सकते हैं[5]।

बौद्ध साहित्य में अनेक स्थानों पर गहपति शब्द का प्रयोग हुआ है। इसका साधारण अर्थ तो एक 'गृहस्थ' से ही होता है और इस प्रकार वह किसी भी वर्ण का हो सकता है, परन्तु बौद्धों ने प्रायः सदैव इस शब्द का व्यवहार वैश्य गृहपति के लिये ही किया है। तित्तर जातक में एक स्थान पर महात्मा बुद्ध भिक्षुओं से प्रश्न करते हैं कि कौन व्यक्ति सब से अधिक सम्मान्य है। इसके उत्तर में कोई खत्तिय का, कोई ब्राह्मण का और कोई गृहपति का नाम लेता है[6]। पातिमोक्ख में भी खत्तिय और ब्राह्मण के साथ गृहपति का प्रयोग किया गया है[7]। महापरिनिब्बान सुत्त में खत्तियपन्डिता, ब्राह्मणपन्डिता, और गृहपतिपन्डिता का उल्लेख मिलता है[8]। महावग्ग में खत्तिय परिसद और ब्राह्मण परिसद के साथ ही साथ गृहपतिपरिसद भी परिगणित की गई है[9]। संयुक्त निकाय में खत्तिय-महासाल, ब्राह्मण महासाल और गृहपति महासाल का उल्लेख है[10]। इन समस्त उदाहरणों में गहपति का प्रयोग तृतीत स्थान में और प्रथम दो वर्गोंके साथ साथ किया गया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि गहपति तृतीय वर्ण वैश्य का समानार्थबोधक है।

गहपतिवर्ग समाज का धनाढ्य वर्ग था, जैसा कि पीछे कहा जा चुका है। राजकीय कोष का अधिकांश भाग इसी वर्ग से आता था। अतः स्वाभाविक ही था कि राज्य इस वर्ग

---

[1] ओवाइय सूत्र २७. उत्तराध्ययन सूत्र २५.३१, विवागसुय ५.३३.

[2] विनयपिटक ६.१.४.

[3] कणकथाल सुत. मज्झिमनिकाय. ६०.

[4] निदानकथा १.४६

[5] उद्दालक जातक, सीलवीमंस जातक. ३.१६४.

[6] तित्तिर जातक १.२१७.

[7] पतिमोक्ख, निस्सग्गिय १०

[8] महापरिनिब्बानसुत्त ५.२४

[9] महावग्ग ६.२८.४.

[10] संयुक्तनिकाय १.७१

के हितों का विशेष ध्यान रखता। यही कारण है कि राजकीय कार्यों में सदैव इसका प्रतिनिधित्व होता था। पंचगुरु जातक के अनुसार राजा के आगमन पर राज-सभा में आमात्यों, ब्राह्मणों और राजकुमारों के साथ-साथ गृहपति भी रहते थे[१]। राज्याभिषेक के अवसर पर भी वे अमात्यों, ब्राह्मणों, नागरिकों आदि के साथ उपस्थित होते थे।[२] उनका राजसाहचर्य महावग्ग से भी सिद्ध होता है[३]।

अनेक स्थानों पर गृहपति के स्थान पर 'कुटुम्बिक' शब्द का व्यवहार हुआ है। उसके वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि यह शब्द ब्राह्मण-क्षत्रिय अथवा शूद्र नागरिक के लिए व्यवहृत न होकर साधारणतया वैश्य नागरिक के लिए ही हुआ है। वह प्रायः सर्वत्र वैश्यकर्मी के रूप में ही प्रदर्शित किया गया है। सतपत जातक में एक कुटुम्बिक धन का लेन-देन करते हुए प्रदर्शित किया गया है।[४] सुच्चज जातक में दूसरा कुटुम्बिक ऋणरूप में दिये गये अपने धन की प्राप्ति के हेतु श्रावस्ती से अन्य स्थानों को जाता है।[५] सालक जातक का कथन है कि बोधिसत्व का जन्म एक कुटुम्बिक वंश में हुआ था और वह धान्य-विक्रय द्वारा अपना जीविकोपार्जन करता था।[६]

वैश्य वर्ण के अधिक धनाढ्य व्यक्ति 'इब्भ' और सेट्ठि शब्दों के द्वारा सम्बोधित होते थे। इब्भ संस्कृत के इभ्य का प्राकृत रूप है और इसका साधारण अर्थ है 'धनवान' इस शब्द का उल्लेख अशोक के एक शिलालेख में भी हुआ है।[७] इभ्यों का मुख्य लक्ष्य धनार्जन था और इसके लिये वे अनेकानेक व्यवसायों का अनुसरण करते थे[८]। बौद्ध साहित्य में इभ्य की अपेक्षा सेट्ठि शब्द का व्यवहार कहीं अधिक हुआ है। एक जातक में सेट्ठि की पुत्री को गहपति की पुत्री भी कहा गया है।[९] अतः निश्चित है कि सेट्ठि वनिक गहपति का ही दूसरा नाम था। समाज का धनी-मानी वर्ग होने के कारण इसे भी राजकार्यों में प्रतिनिधित्व प्राप्त था। जातकों से प्रतीत होता है कि अनेक वर्गों के हितों की रक्षा तथा व्यापारिक एवं व्यावसायिक विषयों पर राजा को परामर्श देने के हेतु एक सेट्ठि राज-सभा में उपस्थित रहता था।[१०] इस कथन की पुष्टि महावग्ग से होती है। उसमें राजगृह के एक सेट्ठि को राजा तथा नेगम दोनों का उपकारकर्ता बताया गया है।[११]

इस प्रकार हम देखते हैं कि ब्राह्मण व्यवस्था का यह तृतीय वर्ण बौद्ध साहित्य में अनेक संज्ञाओं एवं वर्गों से विभाजित हुआ है। ब्राह्मण परम्परा के अनुसार 'वेस्स' इसका

---

[१] पंचगुरु जातक. १. ४७०.

[२] जातक ३. ४०८

[३] महावग्ग १. २२. ३

[४] सतपत्त जातक ३. ३८८

[५] सुच्चज जातक ३. ६६

[६] सालक जातक २. २६७

[७] अशोक का पंचम शिलालेख.

[८] जातक पृ० २१४

[९] जातक ४ पृ० ३६१

[१०] जातक १ पृ० २६६, ३४६ जातक ३ पृ० ११९६, ४१५, जातक ४ पृ० ६३

[११] महावग्ग ८. १. १६

वैधानिक अथवा व्यवस्थाव्यवहृत नाम था। जहाँ कहीं सैद्धान्तिक दृष्टि से समाज का जातियों मे विभक्तीकरण किया गया है वहां पूर्वपरम्परानुगत तीसरा वर्ण इसी नाम से सम्बोधित किया गया है। वैश्य वर्ण सदैव से जनसाधारण का वर्ग रहा था। इसकी स्थिति उच्चतम ब्राह्मण-क्षत्रिय समुदाय और निम्नतम शूद्र समुदाय के वीच में थी। न तो उसमें प्रथम दो वर्णों का वौद्धिक अथवा सामरिक अभिजात्य था और न अन्तिम वर्ण का जन्मज हीनत्व, न तो उसे ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्णों के समान आत्मप्रभुत्व की स्थापना की चिन्ता थी और न शूद्र वर्ण के समान आत्मोत्कर्ष की। प्रत्येक दृष्टिकोण से वह मध्यस्थ वर्ग था तथा सर्वातिसंख्यक होने के कारण वहुसंख्यक नागरिकों का वर्ग था। 'गहपति' अथवा कुटुम्बिक के शब्दों से इस वर्ण की यही मध्यस्थता एवं सौम्यता व्यंजित होती है। अतः वौद्ध साहित्य में उपलब्ध ये शब्द वैश्य वर्ण के लौकिक नाम हैं। दो शब्द इब्भ और सेट्ठि वैश्य वर्णी होते हुए भी सम्पूर्ण वर्ण के पर्याय नहीं हैं, वे उसके उच्चतरीय वर्ग का ही वोध कराते हैं। इनके अन्तर्गत वैश्यों का वह समुदाय आता था जो अपनी धनाढ्यता तथा अभिजातता के कारण समाज में अधिक प्रतिष्ठित था और अपनी विशिष्ट परिस्थिति के कारण राजकीय एवं व्यावसायिक विषयों में अपने सम्पूर्ण वर्ण का प्रतिनिधित्व करता था। अतः वैश्य वर्ण के ये दोनों शब्द अभिजात्यवोधक एवं सत्तासूचक हैं।

ब्राह्मण व्यवस्था के समान वौद्ध व्यवस्था में भी वश्यों का प्रमुख व्यवसाय कृषि[1] एवं पशुपालन था। गहपति पारासर अपने कृषि-कार्य की दक्षता के लिये इतना प्रख्यात था कि उसका नाम ही किसिपारासर पड़ गया था।[2] कुहण नामक एक अन्य गहपति अपने पशुधन के लिये प्रसिद्ध था।[3] देश के छोटे-वड़े अनेक व्यावसायिक और व्यापारिक कर्म भी उनके हाथ में थे। जातकों में स्थान-स्थान पर सेट्ठि व्यापारियों तथा जेठ्ठकों का वर्णन आता है। वावेरु जातक के साक्ष्य के अनुसार अनेक व्यापारी सम्मिलित रूप से वावेरु देश के साथ व्यापार करते थे[4]। वुल्लक सेट्ठि जातक में काशी के १०० व्यापारियों का उल्लेख मिलता है[5]। इसी प्रकार कूटवाणिज्य जातक में दो वणिक विपुल सामग्री का क्रय करके उसके विक्रयार्थ प्रस्थान करते प्रदर्शित किये गये हैं। दूसरे स्थान पर काशीनिवासी एक सेट्ठि व्यापारी का उल्लेख मिलता है[6]। एक जातक में व्यापार-संलग्न कुटुम्बिक का वर्णन आया है[7]। अन्य में वह धान्य-विक्रय करते हुये प्रदर्शित किया गया है। आवश्यक चूर्णि में गोसंखो नामक एक कुटुम्बी का पुत्र घी का विक्रय करने के हेतु चम्पा को यात्रा करता है[8]। इन वर्णसम्मत कर्मों के अतिरिक्त वैश्य

[1]जातक ६ पृ० २०७ वेस्सा कसिं०

[2]उत्तराध्ययन टीका २. ४५.

[3]आवश्यक चूर्णिका ४४

[4]जातक ३ पृ० १२६

[5],, १ पृ० ११४

[6],, १ पृ० २७०

[7],, ४ पृ० ३७०

[8],, २ पृ० ३६७

[9]आवश्यक चूर्णि २९७

समुदाय इच्छा अथवा आवश्यकता के अनुसार निम्न कर्मों का अनुसरण भी करते थे। जातक के कथनानुसार एक गहपति अपने तथा अपनी माता के भरण-पोषण के हेतु श्रमजीवी 'भृतक अथवा कम्मकार' का कर्म करता था[१]। इसी प्रकार का अन्य उदाहरण एक अन्य जातक में भी उपलब्ध होता है।[२] अनेक स्थानों पर गहपति 'पण्णक' के रूप में वर्णित किये गये हैं।[3] परन्तु समस्त बौद्ध साहित्य में एक भी उदाहरण ऐसा नहीं मिलता जिसमें किसी वैश्य का वर्णविरुद्ध व्यवसायानुसरण करने से जात्यपकर्ष हुआ हो।

ऐसा प्रतीत होता है कि वैश्य समुदाय में भी समजाति विवाह ही श्रेयस्कर समझे जाते थे[४]। निग्रोध जातक में राजगृह का एक सेट्ठि एक अन्य सेट्ठि पुत्री के साथ अपने पुत्र का विवाह करते हुये प्रदर्शित किया जाता है[५]। इसी प्रकार का उदाहरण एक अन्य जातक में भी प्राप्त होता है[६]। एक नगरवासी कुलपुत्र ग्रामवासी किसी कुटुम्बिक की कन्या के साथ विवाह करने के लिये उत्सुक है[७]। अन्य वर्णों की भाँति कभी कभी वैश्यों में भी सवर्ण विवाह के प्रतिकूल उदाहरण प्राप्त होते हैं। एक सेट्ठि अपनी कन्या का विवाह एक राजा के साथ करने के लिए प्रस्तुत है। वह राजा कन्या के लक्षण निरीक्षण करने के हेतु कतिपय ब्राह्मणों को भी भेजता है। परन्तु उनकी दुश्चरित्रता एवं मिथ्यावादिता के कारण वह विवाह सम्पन्न नहीं हो पाता[८]। एक अन्य जातक में सेट्ठि कन्या का चण्डाल के साथ विवाह उल्लिखित है[९]। परन्तु ये उदाहरण अपवादस्वरूप ही हैं। साधारणतया वैश्यों में भी हम रक्तशुद्धता और आत्मगौरव की भावना पाते हैं। निम्न जातीय मनुष्यों के प्रति उनके हृदय में भी उतना ही हीन भाव है जितना अन्य द्विजातियों को। एक विहार के लिये जाती हुई एक सेट्ठि कन्या मार्ग में दो चण्डालों को देखती है। उनके दर्शन को वह इतना अशुभ समझती है कि तत्काल सुगन्धित जल से नेत्र प्रक्षालन करती है और घर वापस लौट आती है[१०]। दूसरे स्थान पर एक चण्डाल किसी सेट्ठ कन्या के सौन्दर्य से मुग्ध होकर क्षणभर के लिये उसे देखता रहता है। जब उस कन्या को यह ज्ञात होता है कि उसे देखने वाला व्यक्ति चण्डाल है तो वह भी अति क्षुब्ध होती है, अपने नेत्रों को प्रक्षालित करती है और आगे न जाकर घर लौट आती है[११]। जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, उच्च शिक्षा में संलग्न विद्यार्थी अधिकांश ब्राह्मण और क्षत्रिय ही होते थे।

---

[१] जातक ३ पृ० ३२५

[२] जातक ४ पृ० ३६१

[3] जातक ३ पृ० २१, ४ पृ० ४४६

[४] धम्मपद अट्ठकथा। २ पृ० २१८

[५] निग्रोध जातक ४. ३७

[६] जातक २. २२५.

[७] जातक २. १६६

[८] जातक उम्मदन्ती

[९] मातंग जातक

[१०] जातक ४. ३१६.

[११] जातक ४ पृ० ३७८

वैधानिक अथवा व्यवस्थाव्यवहृत नाम था। जहाँ कहीं सैद्धान्तिक दृष्टि से समाज का जातियों मे विभक्तीकरण किया गया है वहां पूर्वपरम्परानुगत तीसरा वर्ण इसी नाम से सम्बोधित किया गया है। वैश्य वर्ण सदैव से जनसाधारण का वर्ग रहा था। इसकी स्थिति उच्चतम ब्राह्मण-क्षत्रिय समुदाय और निम्नतम शूद्र समुदाय के बीच में थी। न तो उसमें प्रथम दो वर्णों का बौद्धिक अथवा सामरिक अभिजात्य था और न अन्तिम वर्ण का जन्मज हीनत्व, न तो उसे ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्णों के समान आत्मप्रभुत्व की स्थापना की चिन्ता थी और न शूद्र वर्ण के समान आत्मोत्कर्ष की। प्रत्येक दृष्टिकोण से वह मध्यस्थ वर्ग था तथा सर्वातिसंख्यक होने के कारण बहुसंख्यक नागरिकों का वर्ग था। 'गहपति' अथवा कुटुम्बिक के शब्दों से इस वर्ण की यही मध्यस्थता एवं सौम्यता व्यंजित होती है। अतः बौद्ध साहित्य में उपलब्ध ये शब्द वैश्य वर्ण के लौकिक नाम हैं। दो शब्द इब्भ और सेट्ठि वैश्य वर्णी होते हुए भी सम्पूर्ण वर्ण के पर्याय नहीं हैं, वे उसके उच्चतरीय वर्ग का ही बोध कराते हैं। इनके अन्तर्गत वैश्यों का वह समुदाय आता था जो अपनी धनाढ्यता तथा अभिजातता के कारण समाज में अधिक प्रतिष्ठित था और अपनी विशिष्ट परिस्थिति के कारण राजकीय एवं व्यावसायिक विषयों में अपने सम्पूर्ण वर्ण का प्रतिनिधित्व करता था। अतः वैश्य वर्ण के ये दोनों शब्द अभिजात्यबोधक एवं सत्तासूचक हैं।

ब्राह्मण व्यवस्था के समान बौद्ध व्यवस्था में भी वैश्यों का प्रमुख व्यवसाय कृषि[1] एवं पशुपालन था। गहपति पारासर अपने कृषि-कार्य की दक्षता के लिये इतना प्रख्यात था कि उसका नाम ही किसिपारासर पड़ गया था।[2] कुइण नामक एक अन्य गहपति अपने पशुधन के लिये प्रसिद्ध था।[3] देश के छोटे-बड़े अनेक व्यावसायिक और व्यापारिक कर्म भी उनके हाथ में थे। जातकों में स्थान-स्थान पर सेट्ठि व्यापारियों तथा जेठ्ठकों का वर्णन आता है। बावेरु जातक के साक्ष्य के अनुसार अनेक व्यापारी सम्मिलित रूप से बावेरु देश के साथ व्यापार करते थे[4]। बुल्लक सेट्ठि जातक में काशी के १०० व्यापारियों का उल्लेख मिलता है[5]। इसी प्रकार कूटवाणिज्य जातक में दो वणिक विपुल सामग्री का क्रय करके उसके विक्रयार्थ प्रस्थान करते प्रदर्शित किये गये हैं। दूसरे स्थान पर काशीनिवासी एक सेट्ठि व्यापारी का उल्लेख मिलता है[6]। एक जातक में व्यापार-संलग्न कुटुम्बिक का वर्णन आया है[7]। अन्य में वह धान्य-विक्रय करते हुये प्रदर्शित किया गया है[8]। आवश्यक चूर्णि में गोसंखो नामक एक कुटुम्बी का पुत्र घी का विक्रय करने के हेतु चम्पा की यात्रा करता है[9]। इन वर्णसम्मत कर्मों के अतिरिक्त वैश्य

---

[1] जातक ६ पृ० २०७ वेस्सा कसिं०
[2] उत्तराध्ययन टीका २. ४५.
[3] आवश्यक चूर्णिका ४४
[4] जातक ३ पृ० १२६
[5] ,, १ पृ० ११४
[6] ,, १ पृ० २७०
[7] ,, ४ पृ० ३७०
[8] ,, २ पृ० ३६७
[9] आवश्यक चूर्णि २६७

समुदाय इच्छा अथवा आवश्यकता के अनुसार निम्न कर्मों का अनुसरण भी करते थे। जातक के कथनानुसार एक गहपति अपने तथा अपनी माता के भरण-पोषण के हेतु श्रमजीवी 'भतक अथवा कम्मकार' का कर्म करता था[१]। इसी प्रकार का अन्य उदाहरण एक अन्य जातक में भी उपलब्ध होता है।[२] अनेक स्थानों पर गहपति 'पण्णक' के रूप में वर्णित किये गये हैं।[३] परन्तु समस्त बौद्ध साहित्य में एक भी उदाहरण ऐसा नहीं मिलता जिसमें किसी वैश्य का वर्णविरुद्ध व्यवसायानुसरण करने से जात्यपकर्ष हुआ हो।

ऐसा प्रतीत होता है कि वैश्य समुदाय में भी समजाति विवाह ही श्रेयस्कर समझे जाते थे[४]। निग्रोध जातक में राजगृह का एक सेट्ठि एक अन्य सेट्ठि पुत्री के साथ अपने पुत्र का विवाह करते हुये प्रदर्शित किया जाता है[५]। इसी प्रकार का उदाहरण एक अन्य जातक में भी प्राप्त होता है[६]। एक नगरवासी कुलपुत्र ग्रामवासी किसी कुटुम्बिक की कन्या के साथ विवाह करने के लिये उत्सुक है[७]। अन्य वर्णों की भाँति कभी कभी वैश्यों में भी सवर्ण विवाह के प्रतिकूल उदाहरण प्राप्त होते हैं। एक सेट्ठि अपनी कन्या का विवाह एक राजा के साथ करने के लिए प्रस्तुत है। वह राजा कन्या के लक्षण निरीक्षण करने के हेतु कतिपय ब्राह्मणों को भी भेजता है। परन्तु उनकी दुश्चरित्रता एवं मिथ्यावादिता के कारण वह विवाह सम्पन्न नहीं हो पाता[८]। एक अन्य जातक में सेट्ठि कन्या का चण्डाल के साथ विवाह उल्लिखित है[९]। परन्तु ये उदाहरण अपवादस्वरूप ही हैं। साधारणतया वैश्यों में भी हम रक्तशुद्धता और आत्मगौरव की भावना पाते हैं। निम्न जातीय मनुष्यों के प्रति उनके हृदय में भी उतना ही हीन भाव है जितना अन्य द्विजातियों को। एक विहार के लिये जाती हुई एक सेट्ठि कन्या मार्ग में दो चण्डालों को देखती है। उनके दर्शन को वह इतना अशुभ समझती है कि तत्काल सुगन्धित जल से नेत्र प्रक्षालन करती है और घर वापस लौट आती है[१०]। दूसरे स्थान पर एक चण्डाल किसी सेट्ठ कन्या के सौन्दर्य से मुग्ध होकर क्षणभर के लिये उसे देखता रहता है। जब उस कन्या को यह ज्ञात होता है कि उसे देखने वाला व्यक्ति चण्डाल है तो वह भी अति क्षुब्ध होती है, अपने नेत्रों को प्रक्षालित करती है और आगे न जाकर घर लौट आती है[११]। जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, उच्च शिक्षा में संलग्न विद्यार्थी अधिकांश ब्राह्मण और क्षत्रिय ही होते थे।

---

[१] जातक ३ पृ० ३२५
[२] जातक ४ पृ० ३९१
[३] जातक ३ पृ० २१, ४ पृ० ४४६
[४] धम्मपद अट्ठकथा। २ पृ० २१८
[५] निग्रोध जातक ४ ३७
[६] जातक २ २२५
[७] जातक २. १९६
[८] जातक उम्मदन्ती
[९] मातंग जातक
[१०] जातक ४. ३९६.
[११] जातक ४ पृ० ३७८

साधारण वैश्य समुदाय अध्ययन-अध्यापन कार्य से विरक्त था। परन्तु बौद्ध साहित्य में कतिपय ऐसे उदाहरण उपलब्ध होते हैं जिनसे विदित होता है कि वैश्यों का धनिक और लब्ध-प्रतिष्ठ वर्ग, विशेषतया सेट्ठि वर्ग शिक्षा-प्राप्ति के लिये विशेष उत्सुक था। अट्ठान जातक में एक अध्यापक का उल्लेख आता है। वह एक राजकुमार तथा एक सेट्ठि कुमार का अध्यापन साथ साथ करता था [1]। निग्रोध जातक तक्षशिला में दो सेट्ठि कुमारों का विद्याध्यन करते हुये उल्लेख करता है। वे अपने अध्यापक को २००० पारिश्रमिक देते थे [2]। इस अध्ययन-कार्य के अतिरिक्त अनेक वैश्यों ने विरक्ति-मार्ग का अनुकरण करते हुये भिक्षु-जीवन को ग्रहण किया था। एक जातक में एक निर्धन गहपतिकुल में उत्पन्न बोधिसत्त्व का अपनी पत्नी से कथन है कि तुम अपने जीविकोपार्जन के हेतु स्वयं प्रबन्ध कर लो, क्योंकि मैं संसार-त्याग करना चाहता हूं।[3] दूसरे जातक में एक सेट्ठि, अपनी समस्त सम्पत्ति, स्त्री और अपने पुत्र को अपने छोटे भाई के संरक्षण में छोड़कर भिक्षु-वृत्ति अंगीकार कर लेता है [4]।

इन समस्त उदाहरणों से स्पष्ट विदित हो जाता है कि अन्य द्विजातियों की भांति वैश्य वर्ण भी जन्म, कर्म एवं समकुल विवाह के आधार पर संगठित था। उन्हें भी अपनी रक्त-शुद्धता तथा कुल-प्रतिष्ठा की पर्याप्त चिन्ता रहती थी। उनके बीच वर्ण-विरुद्ध निम्न कर्मों के अनुसरण तथा अवर्ण विवाह के जो उदाहरण पायेजाते हैं वे तत्कालीन समस्त वर्णों के दोष थे। बौद्ध साहित्य में वर्णाश्रम के विरुद्ध कर्म करनेवाले ब्राह्मणों और क्षत्रियों का भी उल्लेख हुआ है। परन्तु चंडाल-स्पृष्ट भोजन ग्रहण करने के अपराध के अतिरिक्त किसी भी अन्य अपराध में उनके जात्यपकर्ष का कहीं पर भी दृष्टान्त नहीं मिलता। यही मत वैश्यों के विषय में भी स्थिर किया जाता है। बौद्धकालीन भारतीय समाज की आर्थिक दशा ऐसी न थी कि जन-साधारण अपने वर्ण-विहित व्यवसायों का अनुसरण करके ही अपना जीविकोपार्जन कर सकता। उसे अपने तथा अपने कुटुम्ब के भरण-पोषण के हेतु अन्यान्य व्यवसायों को भी ग्रहण करना पड़ता था। पुनः बौद्ध व्यवस्था के अन्तर्गत वर्णाश्रम धर्म का कोई महत्त्व नहीं था। समस्त मनुष्यों की जन्मजात समता में विश्वास करने वाले बौद्ध व्यवस्थापकों ने यदि वर्णाश्रम धर्म का उल्लंघन करनेवाले व्यक्तियों के विरुद्ध किसी दण्ड-विधान का निर्माण नहीं किया तो यह स्वाभाविक ही था। इस आधार पर यह कथन कि वैश्यों का कोई वर्ण ही नहीं था अनुपयुक्त प्रतीत होता है। बौद्ध साहित्य में वर्णित वैश्य समाज में वे समस्त विशेषतायें पाई जाती हैं जिनके आधार पर ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों का वर्ण होना सिद्ध होता है।

देश के विभिन्न उद्योग-धन्धों के अनुसरण करनेवाले व्यक्ति विभिन्न श्रेणियों में संगठित थे। इनका उल्लेख यथास्थान किया जायगा। यहां पर केवल इतना कह देना पर्याप्त होगा कि इस संगठन के तीन प्रमुख आधार थे: (१) परम्परागत व्यवसाय (२) व्यवसायों का स्थानीय-करण और (३) जेट्ठक-संस्था। प्रायःसमस्त श्रेणीगत संगठित व्यवसायों में ये तीन

१. अट्ठान जातक ३. ४७५
२. निग्रोध जातक ४. ३८
३. जातक १. २६०, २. ३०२, ४. २५१, . २६१
४. सुत्तविभंग पाचित्तिय २. २. १.

विशेषतायें उपलब्ध होती हैं। परन्तु ये संगठन व्यावसायिक ही थे। इनमें जातीय दृढ़ता और अपरिवर्तनशीलता का अभी तक अभाव था। परन्तु शनैःशनैः देश के बहुसंख्यक वर्ग विभिन्न जातियों में परिवर्तित हो गये। यहाँ पर इनमें से प्रमुख व्यवसायी वर्गों पर विचार कर लेना असंगत न होगा।

कुम्भकार

अनेक जातकों में कुम्भकार का उल्लेख प्राप्त होता है।[1] सुत्तिविभंग पाचित्तिय में उसे हीनशिल्पी कहा गया है[2]। इस ग्रन्थ में इसका उल्लेख हीन जाति से स्वतन्त्र एवं पृथक् रूप में किया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि उस समय तक कुम्भकार जाति के रूप में प्रादुर्भूत न हुआ था। वह एकमात्र व्यवसायी वर्ग ही था। यद्यपि कुम्भकार की गणना हीन शिल्पियों के बीच में की गई है तथापि उसका व्यवसाय इतना गर्हित न था कि उसके अनुसरण के कारण किसी उच्च जातीय व्यक्ति का जात्यपकर्ष हो जाता। एक जातक[3] में एक क्षत्रिय और दूसरे जातक में[4] एक सेट्ठि कुम्भकार के कर्म का अनुसरण करते हुये प्रदर्शित किये गये हैं। परन्तु इसके कारण उनकी जाति हानि नहीं होती। जातकों में कुम्भकार जातक में कथन है कि बोधिसत्व ने एक कुटुम्ब में पुनः जन्म लिया था और वयस्क होने पर कुम्भ-निर्माण द्वारा ही अपने कुटुम्ब का भरण-पोषण करते थे। इसी प्रकार का कथन कच्छप जातक में भी पाया जाता है। इस व्यावसायिक परम्परानुसरण ने ही कालान्तर में कुम्भकार वर्ग को जाति का रूप दे दिया। हीनकर्मा होने के कारण ब्राह्मण व्यवस्थाकारों ने उसे पहले तो वर्णसंकर जातियों में परिणत किया, परन्तु अन्ततोगत्वा शूद्र वर्ण में स्थान दिया। उशनस के समय तक वह ब्राह्मण-वेश्या की अनुलोम संतान माना जाता था।[5] परन्तु वेदव्यास और देवल[6] ने उसकी गणना शूद्र-कोटि में की है।

कर्मार

इस शब्द से आधुनिक लोहार का अर्थ है। यह शब्द ऋग्वेद में भी उपलब्ध होता है[7]। तत्पश्चात् यह शब्द अथर्व वेद[8], तैत्तिरीय संहिता[9] और तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी पाया जाता है। परन्तु वैदिक साहित्य के समस्तइन उद्धरणों में कहीं पर भी उसका एक विशिष्ट जाति होना सिद्ध नहीं होता। उस समय तक वह एक व्यवसायी ही था। बौद्ध साहित्य में ये कम्मार अधिक संगठित रूप में मिलते हैं। बहुधा उनका व्यवसाय बड़े-बड़े नगरों के विशिष्ट भागों में केन्द्रित था। देश में इनके अपने 'गाम' थे। सूचि जातक में दो सहस्सकुटिकों कम्मारगामों

१. जातक ५. २६०

२. जातक ६. ३७२

३. उशनस ३२,३३

४. वेदव्यास १.१०.११.

५. परासर माधवीय २.१. ४३१. में उद्धृत

६. ऋ० १०.७२.२.

७. अर्थव० ३.५,६.

८. तैत्तिरीय सं० ४,५५४,२

. तैत्ति रीय ब्रा० ३.४.१.

का उल्लेख मिलता है [1]। निरीक्षण एवं पथप्रदर्शन के हेतु इन कम्मारों में एक जेट्ठक का पद होता था [2]। इस प्रकार सहकारिता के आधार पर निर्मित इनकी श्रेणियाँ थीं। परन्तु इनका संगठन व्यावसायिक ही था। अभी तक जाति के रूप में उसका विकास न हो सका था। परन्तु कालान्तर में कम्मार जाति के रूप में लिया जाने लगा। मनु ने इसका उल्लेख एक जाति के अर्थ में भी किया है [3]।

वाजसनेय संहिता [4] और तैत्तिरीय ब्राह्मण में [5] हिरण्यकार का उल्लेख मिलता है।

सुवर्णकारः

जातकों में प्रायः सुवर्णकार के शब्द का प्रयोग किया गया है। उस समय तक यह समाज का एक महत्वपूर्ण व्यवसायीमात्र था [6]। पर अनुगामी ब्राह्मण साहित्य में यह जाति के रूप में प्रतिष्ठित हो गया। महाभारत का कथन है कि परशुराम के संहार से बचने के हेतु कुछ क्षत्रियों ने हेमकारादि 'जातियों को स्वीकार कर लिया [7]। मनु सुवर्णकार को निषाद की हीन जाति के समकक्ष रखते हैं [8] और उसे 'सर्वकण्टकपापिष्ट' मानते हैं [9]। सुवर्णकार की सामाजिक प्रतिष्ठा में यह ह्रास कदाचित् व्यावसायिक सन्दिग्धता का परिणाम था।

मणिकारः

प्रारम्भ में यह भी एक व्यवसायी था। तैत्तिरीय ब्राह्मण में अन्य व्यवसायियों के साथ इसका भी उल्लेख हुआ है [10]। बौद्ध साहित्य से भी इसका जाति के रूप में संगठित होना सिद्ध नहीं होता [11]। परन्तु उशनस् के समय तक मणिकार क्षत्रिय-वैश्या की वर्णसंकर सन्तान माना जाने लगा था। उसका उद्यम मोती-मूंगे तथा शंख आदि का क्रय-विक्रय करना था [12]।

दन्तकारः

जातकों में दन्तकारों के उल्लेख प्राप्त होते हैं। वे हाथी-दांत की अनेकानेक वस्तुयें बनाते तथा पच्चीकारी का काम करते थे [13]। नगर के विशिष्ट स्थानों पर उनके व्यावसायिक केन्द्र थे। अनेक जातकों में 'दन्तकार' वीथि का उल्लेख मिलता है [14]। इससे

---

1. सूची जातक ३. २८१
2. मनु० ४. २१५
3. जातक ६. २७६, गाथा ११६७, जातक ६. १८६ गाथा ८२५, जा० ५. ४३७ गा० १५११
4. वा० सं० ३०, १७
5. तैत्तिरीय ब्रा० ३. ४, १४.
6. जातक १. १८२, जातक ५. ४३८
7. महा० शान्ति० ४६, ४४
8. मनु० ६. २६२.
9. तैत्ति० ब्रा० ३. ४. १.
10. जातक ६. २७६. गाथा ११६७
11. उशनस् ३६. ४०
12. जातक १. ३२०, २. १६७, ५. ३०२ गाथा ३७, ५. ४५
13. जातक १. ३२०, २. १६७

उनके संगठन का पता चलता है। परन्तु यह संगठन जातीय न होकर व्यावसायिक ही था।

रजकः

जातकों में प्राप्त रजक शब्द से आधुनिक धोबी और रंगरेज दोनों का बोध होता है[१]। दन्तकारों की भांति उनका व्यवसाय भी नगर की विशिष्ट वीथियों में केन्द्रित था[२]। प्रारम्भ में ये व्यवसायी थे, परन्तु कालान्तर में ये भी विस्तारात्मक ब्राह्मण-जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत हो गये। पाणिनि ने इन्हें शूद्र कोटि में परिगणित किया है[३]। अत्रि ने इन्हें ७ अन्त्यजों के बीच में स्थान दिया है[४]। उशनस् के मतानुसार ये पुक्कस पुरुष और वैश्य स्त्री की वर्णसंकर सन्तान हैं[५]।

उपर्युक्त व्यवसायियों के अतिरिक्त बौद्ध साहित्य में तच्छक, दुस्तिक, तन्तुवाय, वड्ढिक, गन्धिक, मालाकार आदि अनेक अन्य व्यवसायिओं के वर्णन मिलते हैं[६]। इनमें से प्रायः समस्त श्रेणियों में सगठित थे। उदाहरणार्थ जातकों में महावड्ढिकगाम'[७] वड्ढकि जेट्ठक[८] तथा मालाकार जेट्ठक[९] के उल्लेख प्राप्त होते हैं। जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, ये विशेषतायें श्रेणी संगठन की हैं। श्रेणी-संगठन से जाति-संगठन में विकास कालान्तर की देन है। बौद्ध साहित्य में ये जातियां नहीं वरन् एक मात्र व्यवसायी वर्ग हैं।

जैन एवं बौद्ध साहित्य में विभिन्नकर्मा एक ऐसे जनसमुदाय का अस्तित्व प्रकट होता है जिसे हम जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत नहीं रख सकते। संगठनहीन होने के कारण इस समुदाय में उन समस्त विशेषताओं का अभाव था जो जातिनिर्माण के लिये आवश्यक होती हैं। इस समुदाय के व्यक्तियों की आर्थिक दशा अत्यन्त हीन थी। बहुधा उनका कोई स्थिर निवास-स्थान न होता था। अपने जीविकोपार्जन के लिये उन्हें बहुधा विभिन्न कर्मों का अनुसरण करते हुए एक स्थान से दूसरे स्थान के लिये घूमना पड़ता था। तित्तिर जातक में एक ऐसे ही अनिश्चितकर्मा की जीवन-चर्या का वर्णन है। वह स्वजीविकोपार्जनार्थ विभिन्न स्थानों का भ्रमण करता हुआ कुली, नट, लुब्धक, मृतक तथा भिखारी की वृत्ति का अवलम्ब लेता है।[१०] ऐसे गृहविहीन, चिरभ्रमणशील अथवा अनिश्चित जीविकावाले व्यक्तियों में जातीय संगठन हो ही नहीं सकता। इस समुदाय में आने वाले व्यक्तियों में नट, गन्धव्व संखधमक, भेरीवादक, मायाकार, अतिगुन्ठिक, गोपालक, पशु-पालक, तिणहारक, कट्ठहारक, वनकम्मिक, लुट्ठक, भतक, दास आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।[११] निम्नकर्मा होने के कारण

---

१. जातक ६. २७६ गाथा ११६७

२. जातक ४. ८१.

३. पाणिनि २. ४ १०.

४. अत्रि १९९.

५. अशनस् १८

६. अवदान २. ३५७, जातक ४.१५०, ६.३३२, १.२६०, ४.८२, १. ९५, २. ३२१,

७. जातक ४. १५९, १५०.

८. जातक ४. १६१

९. जातक ३. ४०५

१०. तितिर जातक ३. ५४१.

११. उत्तराध्ययन टीका ११. १. ७४, १८. २५०, 'व्यवहार भाष्य' ३. ९४.

ये वैश्यों की अपेक्षा हीन समझे जाते थे, परन्तु शूद्रों की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्र, उपयोगी और अपरिवर्तनशील होने के कारण इनका सामाजिक स्तर चतुर्थ वर्ण की अपेक्षा उच्चतर था। यहाँ पर स्पष्टीकरण के हेतु कतिपय प्रमुख जातिहीन वर्गों पर विचार कर लेना आवश्यक है।

नट अथवा नटक

इनका जीवन नितान्त अस्थिर और भ्रमणशील था। ये स्थान-स्थान पर जाकर अपने नृत्य-संगीत से जनता का मनोरंजन करते और अपना जीविकोपार्जन करते थे।[१] कभी-कभी निर्धनावस्था के कारण ये भिक्षा-वृत्ति का भी अनुसरण करते थे।[२] जातकों के समय तक नटों का संगठित वर्ग जाति के रूप में नहीं मिलता, पाणिनि ने शिलालिन् तथा कृशाश्व द्वारा निर्मित नटसूत्रों का उल्लेख किया है। परन्तु इससे यह स्पष्ट नहीं होता कि वे उस समय तक जाति के रूप में प्रादुर्भूत हो चुके थे अथवा नहीं, परन्तु ब्राह्मण व्यवस्थाकारों ने निश्चित रूप से उन्हे अपनी वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत जाति के रूप में संगठित किया। मनु का कथन है कि व्रात्य क्षत्रिय दम्पति की सन्तान झल्ल, मल्ल, नट, करण, खश, अथवा द्रविण कहलाती है।[४] अत्रि के मतानुसार नट जाति सात अन्तज्यों में एक है।[५]

गन्धव्य अथवा गन्धर्व

इनकी वृत्ति संगीत थी। जीविकोपार्जन के हेतु ये यत्र-तत्र भ्रमण किया करते थे, परन्तु इनमें से अनेक राजाओं अथवा धनिकों के स्थिर संरक्षण में रहकर उनका मनोरंजन करते थे। जातकों में उल्लिखित गुट्ठिल[६] और सग्ग[७] ऐसे ही गन्धर्वों में से थे। वाद्य-विभेद से गन्धर्व वर्ग भी अनेक उपवर्गों में विभक्त था। शंख बजाने वाले व्यक्ति 'संखधमक' कहलाते थे, शंख ही इनकी जीविका का प्रमुख साधन था।[८] इसी प्रकार भेरी बजाने वाले भेरी-वादन के नाम से प्रसिद्ध थे। ये विभिन्न स्थानों एवं 'समाजों' में जाकर अपना लाघव प्रदर्शित करते थे और उसी के द्वारा जीविकोपार्जन करते थे।[९] अनेक स्थानों पर गन्धव्यकुल, 'संखधमक कुल' और 'भेरीवादकुल' शब्दों का प्रयोग हुआ है, इससे ज्ञात होता है कि वाद्य-संगीत अनेक कुटुम्बों के परम्परा-गत व्यवसाय बन गये थे, परन्तु जाति की अन्य प्रमुख विशेषताओं के अभाव के कारण ये व्यवसायी जाति के रूप में संगठित न हो सके थे।

अस्थिर एवं भ्रमणशील जीवन व्यतीत करने वालों में मायाकार और अहिगुन्ठिक के नाम आते हैं। हम प्रथम को आधुनिक जादूगर के रूप में समझ सकते है। वह अनेक

---

१. जातक ३ पृ० ६२, जातक ४. पृ० ३२४, जातक ६ पृ० ६१
२. जातक २. पृ० १६७
३. पाणिनि ४. ३. ११०. १११
४. मनु० १०. २२
५. अत्रि १६६
६. जातक २. २४६
७. जातक ३. १८८
८. जातक १. २८४
९. जातक १. २८३

प्रकार के हस्तचातुर्य से जनता को आश्चर्यान्वित एवं मनोरंजित करता था और अपनी जीविका चलाता था।[१] द्वितीय से आधुनिक सपेरे का बोध होता है। यह भी घूम-घूम कर सांप, बन्दरों आदि का प्रदर्शन करता था।[२]

कुणाल जातक में गोपालक, पशुपालक, तिणहारक, कट्ठहारक, और वनकम्मिक जातिहीन निम्नकर्मा वर्गों का उल्लेख मिलता है।[३] अपनी कार्य-विशिष्टता के कारण इनका भी जीवन नितान्त अस्थिर एवं संगठनहीन था। जातकों में 'लुद्दक' लुब्धक का भी उल्लेख अनेक वार मिलता है। यह वर्ग अनेक श्रेणियों में विभक्त था यथा सकुणलुद्दक,[४] मिगलुद्दक,[५] वट्टकलुद्दक[६] आदि। इनका कार्य पशु-पक्षियों को पकड़ कर अथवा मारकर वेचना था।[७] इस हेतु ये पर्वतों, वनों और नगरों में सदैव घूमा करते थे।[८] अपने बर्बर तथा हिंसात्मक कर्म के कारण लुब्धकों की सामाजिक स्थिति निन्दनीय समझी जाती थी। एक जातक में एक सेट्ठिपुत्र अपने मित्र लुब्धक से यह निन्दनीय कर्म छोड़ देने के लिये कहता है।[९] रोहन्तमिग जातक में राजा एक अन्य लुब्धककर्मा व्यक्ति को किसी अन्य व्यवसाय के अनुसरण करने की सम्मति देता है।[१०]

ब्राह्मण साहित्य में कैवर्त एक जाति के रूप में वर्णित है। मनु के मतानुसार वह निषाद पुरुष और आयोगव स्त्री की संतान है और नौकार्य उसकी जीविका का प्रमुख साधन है।[११] मेधातिथि ने उसे एक वर्णसंकर जाति कहा है।[१२] अत्रि ने उसकी गणना ७ अन्त्यजों के बीच में की है।[१३] शंकर ने कैवर्त को दास का दूसरा नाम माना है।[१४] इस प्रकार हम देखते हैं कि ब्राह्मण साहित्य में कैवर्त अपने निम्न कर्म के कारण उपेक्षित समझे जाते हैं। जातकों में केवल शब्द उपलब्ध होता है। वहाँ पर उनका तात्पर्य मछुओं से है।[१५] 'बलिस' से मछली पकड़ने वाले केवल 'बालिक' कहलाते थे।[१६] परन्तु जातकों में कोई भी ऐसा संकेत प्राप्त नहीं होता जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि वे जातिरूप में संगठित हो चुके थे।

---

१. जातक १. ४२०, जातक २. १४२, ४३१, जातक ४. ४९५, जातक ५. १६

२. जातक १. ३७०, जातक २. ४२६, २६७

३. कुणाल जातक ५. ४१७.

४. जातक २. १६१,

५. जातक ३. ४९

६. कक्कर जातक १. २०८.

७. जातक ३. ३२५, ४. २५८, ६. ५८२, १. १७३, ४. ४९

८. जातक ४. ४१३, ६. १७०

९. जातक ३. ५१

१०. रोहन्तमिग जातक ४. ४२२.

११. मनु १०. ३४

१२. मेधातिथि मनु० १०. ४.

१३. अत्रि १९९.

१४. शंकर वेदान्तसूत्र २. ३. ४३.

१५. जातक १. ४२७, जातक २. १७८

उपर्युक्त वर्गों के अतिरिक्त कम्मकार, भतक, मयग और दास का जनसमुदाय भी जातिहीन वर्ग ही कहा जायेगा, क्योंकि इसमें प्रत्येक जाति के व्यक्ति सम्मिलित थे। सुवण्ण-हंस जातक का उल्लेख है कि निराश्रय तीन ब्राह्मण पुत्रियों को भतक के समान अपना जीविकोपार्जन करना पड़ा।[१] सुतनों जातक में एक निर्धन गहपति भतक-वृत्ति का अवलम्ब लेता है।[२] परन्तु बहुधा श्रमजीवी वर्ग जन्मज होता था, श्रमिक कार्य उसका परम्परागत व्यवसाय होता था। कुम्मास पिन्ड जातक में कथन है कि वोधिसत्व पुनः एक दरिद्रकुल में उत्पन्न हुए और युवा होने पर एक सेट्ठि के घर में भतककर्म के द्वारा अपना जीविकोपार्जन करने लगे।[३] जातकों के भी कथानकों से विदित होता है कि प्रायः समस्त कृषिकर्मा धनिक महिपति अपने निम्नकार्यों के लिये कम्मकार रखते थे।[४] ये अपने स्वामियों के लिये प्रातः काल से लेकर सायंकाल तक अधिक कार्य करते थे।[५] कभी-कभी ये अपने स्वामियों के घर पर ही भोजन करते थे।[६] दिन भर काम करने के पश्चात् सन्ध्याकाल ये कम्मकार अपने घर लौट जाते थे।[७] साधारण कम्मकारों की आय अत्यल्प थी। बहुधा वह एक माश अथवा अर्धमाश से अधिक न होती थी।[८] ऐसी दशा में उसकी जीवनचर्या आधुनिक श्रमजीवी की ही भाँति कष्टकर होती थी। कम्मकार वर्ग के अन्तर्गत पुरुष और स्त्री दोनों सम्मिलित थे। ऊपर ३ ब्राह्मण पुत्रियों की श्रमवृत्ति का उल्लेख किया जा चुका है। गंगमाल जातक में एक निर्धन स्त्री का वर्णन है जो पानी भर कर अपनी जीविका चलाती है।[९] जैन साहित्य में 'कोडुम्बिय पुरिसों' का उल्लेख है। ये कौटुम्बिक भृत्य होते थे और अपने स्वामी के साथ रहते हुए उसके विविध गृहकार्यों को करते थे।[१०] इनके अतिरिक्त इस साहित्य[११] में ४ प्रकार के भयगों का भी वर्णन मिलता है।

१. दिवसभयग जो प्रतिदिन पारिश्रमिक पाते थे।
२. अत्ताभयग जो यात्रा के अवसर पर नियुक्त किये जाते थे।
३. उच्चत्तभयग जो दीर्घकालीन ठेके पर काम करते थे, और
४. कव्वालभयग जो दैनिक ठेके पर काम करते थे।

जैन और बौद्ध साहित्य में कम्मकार के साथ साथ दास के भी अनेकानेक उल्लेख उपलब्ध होते हैं। राजाओं के अतिरिक्त सम्पन्न ब्राह्मण, भूमिपति तथा नागरिकों के घरों में

---

१. सुवण्णहंस जातक १. ४७५.
२. सुतनों जाजक ३. ३२५.
३. जातक ३. ४०६.
४. सालिकेदार जातक ४. २७७.
५. जातक ३. ४४५,४. ११४.
६. जातक ६. ४२६ गाथा १४८५.
७. जातक ३. ४४५.
८. जातक १.४७५, ३. ३२५.
९. गंगमाल जातक ३. ४४६.
१०. नायाधम्मकहा ७.८८
११. ठाणांग ४. २७१.

भी दास पाये जाते थे[1]। अनेक स्थलों पर दास-कर्म के परम्परागत होने के भी प्रमाण मिलते हैं[2]। दास-वर्ग में स्त्री और पुरुष दोनों ही सम्मिलत थे। जातकों में दास के अतिरिक्त दासियों के भी उल्लेख उपलब्ध होते हैं[3]। जैन साहित्य दासियों के एक महोत्सव दासीमह का उल्लेख करता है[4]। ये दासियाँ उपहार-सामग्री की भाँति एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के पास हस्तान्तरित भी होती थीं[5]। अपने स्वामी के घर में दासों के अनेक कर्तव्य होते थे। वहाँ ये भाड़ू लगाते,[6] पानी भरते,[7] खाना बनाते[8] और अपने स्वामियों के खेतों की निगरानी करते थे[9]। इस प्रकार सेवा-कार्य में इनका जीवन अत्यन्त व्यस्त रहता था। इनके अधिकार स्वामी की कृपा-दृष्टि पर निर्भर थे। धन-धान्य के समान दास और कम्मकार भी स्वामी की सम्पत्ति समझे जाते थे[10]। मनु की व्यवस्था के अन्तर्गत व्यक्ति का अपनी स्त्री, अपने पुत्र और दास के सर्वस्व पर अधिकार है[11]। स्वामी के दुष्ट प्रकृति होने पर कभी कभी दासों को दुर्व्यवहार भी सहन करना पड़ता था। एक जातक में स्वामि-स्वामिनी अत्यन्त अपराध के लिये अपनी दासी को घर के बाहर निकाल कर कोड़े से पीटते हैं[12]। अन्य जातक में कन्हा का कथन है कि यह ब्राह्मण मुझे इस प्रकार ताड़ित करता है जैसे कि मैं गृहजा दासी हूँ[13]। यह स्वामीके अपने दास के प्रति ताड़नाधिकार को प्रकट करता है।

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि समाज में दास की स्थिति निन्दनीय समझी जाती थी। जहाँ कहीं भी 'दासीपुत्र' का प्रयोग किया गया है वहाँ उसमें एकमात्र उपेक्षा का ही भाव अन्तर्निहित है[14]। परन्तु फिर भी साहित्य के अनेकानेक उल्लेखों से स्पष्टतया परिलक्षित हो जाता है कि सामान्यता भारतीय दास के साथ उदारता और सहानुभूति का वर्ताव किया जाता था। आपस्तम्ब का कथन है कि अपनी स्त्री और अपने पुत्र को अपर्याप्त भोजन दिया जा सकता है, परन्तु दास को नहीं[15]। मेगस्थनीज़ के कथनानुसार भारतवर्ष

---

1. जातक २. ४२८. ३. १०१, ५. १०५, ६. ११७.
2. जातक १. २२५, ३. ४०६. ४४४
3. जातक १. ४०२, २. ४२८, ३. १६२.
4. उत्तराध्यन टीका ३. १२५.
5. नायाधम्मकहा १. २३.
6. जातक ६. १३८ गाथा ६०६.
7. जातक ५. २८४.
8. जातक ५. १०५.
9. जातव ६. ३३६.
10. विसह्य जातक २. १२६, ६. ३०० गाथा १३१७, वृहत्कल्पभाष्य १. ८२५.
11. मनु० ८. ४१५.
12. जातक १. ४०२.
13. ६. ५५४. गाथा २१६६.
14. १. २२५, ५. ४१.
15. आप० ध० सू० २. ४. ६. ११.

में दास प्रथा थी ही नहीं[1]। बात यह थी कि भारतीय कुटुम्बों में रहने वाले दास-दासी इतने अत्यल्प थे और वे अपने स्वामि-परिवारों में इतने घुल मिल गये थे कि इस विदेशीय को उन्हें पहचानना असम्भव हो गया। स्वयं सम्राट अशोक ने अपने एक शिलालेख में दासों और कम्मकारों के प्रति सद्व्यवहार का निर्देश दिया है[2]। जातकों से भी परिलक्षित होता है कि भारतीय कुटुम्बों में दास-दासियों के साथ उदारतापूर्ण व्यवहार होता था। एक जातक में राजा एक ब्राह्मण पुरोहित से अपना अभीष्ट माँगने के लिये कहता है। उस समय वह ब्राह्मण न केवल अपने परिवार से सम्मति लेता है वरन् वह अपने दासी-पुत्र की भी अभिलाषा जानना चाहता है[3]। वास्तव में दास-दासी परिवार के अंग थे[4]। बहुधा वे अपने स्वामि-परिवार के अन्य व्यक्तियों के समान ही धार्मिक विधि-निषेधों का पालन करते थे और भिक्षा-दान देते थे। उनके ऊपर पूर्ण विश्वास किया जाता था। कभी-कभी वे स्वामि-सम्पति की संरक्षा करते हुये प्रदर्शित किए गये हैं[5]। आवश्यक चूर्णि के वर्णनानुसार एक दास-पुत्र अपने स्वामी की मृत्यु के पश्चात् उसकी सम्पति का अधिकारी हो गया था[6]। यही नहीं, उदार परिवारों में उन्हें स्वामि-पुत्रों के साथ ही साथ पठन-पाठन और शिल्पों की शिक्षा दी जाती थी[7]। मनु[8] की व्यवस्था के अन्तर्गत दासों को सात श्रेणियों में विभक्त किया गया है :—

(१) ध्वजाहृत-युद्ध में पकड़े गये व्यक्ति।
(२) भक्तदास-जीविकोपार्जन के हेतु दासकर्मा व्यक्ति।
(३) गृहज-घर में उत्पन्न हुए व्यक्ति।
(४) क्रीत-धन देकर खरीदे गये व्यक्ति।
(५) दत्रिम-दान में दिये गये व्यक्ति।
(६) पैतृक-परम्परानुगत।
(७) दण्ड दास-न्यायालय में दासत्व-दण्ड-प्राप्त व्यक्ति।

इसी प्रकार जैन साहित्य[9] में ६ प्रकार के दासों का उल्लेख किया गया है।

(१) गव्य-परम्परागत।
(२) क्रीय-क्रीत।
(३) अणय-जो उऋण नहीं हो सके हैं।

---

१. स्ट्रैबो १५. १. ५४.
२. शिलालेख ६.
३. जातक २. ४२८.
४. ,, ३. १६२.
५. ,, ४. ५०.
६. आवश्यक चूर्णि ५४०.
७. जातक १. ४५१.
८. मनु० ८. ४१५.
९. पिन्ड निर्युक्त ३१६, व्यवहार भाष्य २. २०७, महानिशीथ निर्युक्त २८; निशीथ चूर्णि २. ७४१.

(४) दुब्भिक्ख-जो दुर्भिक्ष में दास हुये हैं।

(५) सावराह-जो दण्ड नहीं दे सके हैं।

(६) रुद्ध-युद्ध में पकड़े गये व्यक्ति।

यदि हम बौद्ध साहित्य का अवलोकन करें तो हमें इन समस्त श्रेणियों के उदाहरण उपलब्ध हो जायंगे[१]। चुल्लनारद जातक का कथन है, कुछ डाकुओं ने एक ग्राम पर आक्रमण किया, उसके निवासियों को पकड़ ले गये और उन्हें अपना दास बना लिया[२]। ये दास ध्वजाहृत श्रेणी में रक्खे जा सकते हैं। पीछे तीन ब्राह्मण पुत्रियों का जीविकोपार्जन के हेतु दासी कर्म अंगीकार करने का उल्लेख किया जा चुका है। यह भक्त दास का उदाहरण है। बौद्धों ने ऐसे दासों को संव्य उपपांति श्रेणी में रखा है। जातकों में उल्लिखित विवीरणी और कटाहक 'गृहज' कोटि में आते हैं[३]। इस कोटि को बौद्ध व्यवस्थापक 'आमायदाता' के नाम से पुकारते हैं। मनु की क्रीतदास श्रेणी बौद्धों की धनेनकीता श्रेणी है। जातकों में इसके भी उदाहरण उपलब्ध होते हैं। एक जातक में एक राजकुमार का १००० कार्षापण के मूल्य पर विक्रय का उल्लेख है[४]। दूसरे में एक ब्राह्मणी अपने पति से एक दासी खरीद कर लाने का आग्रह करती है[५]। दत्रिम कोटि का विनय पिटक में भी उल्लेख है[६]। इसके अन्तर्गत प्रायः दासियों का ही वर्णन मिलता है[७]। पैतृक दास की वृत्ति परम्परागत थी। इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं[८]। कुलावक जातक में वर्णन है कि एक ग्राम का अधिकारी अपराधी सिद्ध हुआ और दण्डस्वरूप उसे समस्त ग्रामनिवासियों का दासत्व स्वीकार करना पड़ा[९]। यह उदाहरण 'दण्डदास' कोटि के अन्तर्गत आयेगा।

इन विभिन्न श्रेणियों के अन्तर्गत वर्णित दासों में पृथक्-पृथक् जाति के मनुष्य सम्मिलित हैं। निम्नकर्मा होने के कारण इन मनुष्यों के स्वजातीय अधिकारों का स्वतः लोप हो जाता था। उन्हें अपनी जीवनचर्या अपने स्वामी की इच्छा तथा परिवर्तित परिस्थिति के अनुसार ही निर्धारित करनी पड़ती थी। ऐसी विवशता की स्थिति में जातीय धर्मानुसरण के लिये अवकाश दुष्प्राप्त था। विभिन्न जातियों से निर्मित तथा विभिन्न परिस्थितियों में जीवन-यापन करने वाला यह दाससमुदाय नितांत संगठनहीन था। अतः यह किसी पृथक् जाति के रूप में भी प्रादुर्भूत न हो सका। अतः इसे जातिहीन वर्ग कहना ही सबसे उपयुक्त प्रतीत होता है।

---

१. जातक ६. २८५ गाथा १२२८, विनयपिटक. भिक्खुनिविभंग संघा दिसेस १. २. १.

२. चुल्लनारद जातक ४. २२०.

३. निमि जातक ६. ११७ कटाहक जातक १. ४५२.

४. वेस्सन्तर जातक ६. ५७७.

५. जातक ३. ३४३.

६. भिक्खुनी विभंग संघादि सेस १. २. १.

७. जातक ६. ४६२ गाथा १६३०, ४६४, गाथा १६३८.

८. जातक १. २२५, ४५१. ३. ४०६, ४४४.

९. कुलावक जातक १. २००.

जाति-वर्णन में सबसे अन्तिम वर्ग रह जाता है। 'हीन' जातियों का जो अपने निम्न-जन्मकर्म के कारण समाज में अत्यन्त उपेक्षित और हेय समझे जाते थे। सुत्तविभंग पाचित्तिय में दो प्रकार की जातियाँ बताई गई हैं :—

(१) उक्कट्ठ, (उत्कृष्ट,) और

(२) हीन,

उत्कृष्ट में खत्तिय और ब्राह्मण जातियां रक्खी गई हैं और हीन में चन्डाल, वेण, नेसाद, रथकार और पुक्कुस। इस उल्लेख में शूद्र वर्ण का कहीं नाम भी नहीं है। इसके विपरीत बौद्ध साहित्य में अनेक ऐसे स्थल मिलते हैं जिनमें जातियों के अन्तर्गत खत्तिय, ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र के तो नाम लिये गये हैं, परन्तु चन्डाल, वेण आदि उपर्युक्त जातियों के नाम का अभाव है [१]। पुनः कुछ अन्य स्थल ऐसे भी हैं जिनमें चतुर्थ वर्ण शूद्रों के साथ-साथ चन्डाल-पुक्कुस अथवा नेसाद का वर्णन किया गया है [२]। अब प्रश्न यह उठता है कि बौद्ध लेखों से कितने वर्णों का अस्तित्व प्रकट होता है और शूद्र, चन्डाल, वेण, नेसाद तथा पुक्कुस एक ही वर्ण के अन्तर्गत आते हैं अथवा चतुर्थाधिक वर्ण के अन्तर्गत। विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि इस विषय में बौद्ध साहित्य में वर्णित सामाजिक स्थिति प्रायः ब्राह्मण साहित्य में वर्णित सामाजिक स्थिति के समान है। बौद्ध भी केवल चार वर्णों से ही परिचित थे। सिद्धान्ततः वर्णों का उल्लेख करते हुए उन्होंने केवल चार वर्णों का ही नाम लिया है [३]। चतुर्थ वर्ण शूद्रों का था। ब्राह्मण साहित्य की भाँति अम्बट्ठसुत भी शूद्रों के लिये कन्हा, (कृष्ण) और बन्धुपादापच्चा, (ब्रह्मा के पादों से उत्पन्न) आदि शब्दों का प्रयोग करता है। यही नहीं, ब्राह्मण व्यवस्था की भाँति शूद्रों का जातीय धर्म भी परिचर्या बताया गया है [४]। परन्तु जिस अर्थ में प्रथम तीन वर्ण लिये जाते हैं उस अर्थ में शूद्र वर्ण नाम का कोई वर्ण न था। प्रथम तीनों वर्णों में से प्रत्येक के सदस्यों में रक्त, कर्म तथा परम्परा की न्यूनाधिक एकता थी. परन्तु शूद्र वर्ण के सदस्यों में इनका अभाव था। कुछ अनार्यत्व के कारण. कुछ निष्कर्मत्व के कारण और कुछ वर्ण-सांकर्य के कारण शूद्र वर्ण में परिगणित होते थे। सामाजिक उपेक्षा के अतिरिक्त बहुधा शूद्र वर्ण के एक सदस्य और दूसरे सदस्य के बीच अन्य कोई भी उभयनिष्ठ आधार न होता था। ऐसी दशा में यह वर्ण-संगठन हीन, त्याज्य, उपेक्षित, निम्नकर्मा व्यक्तियों का समुदाय-मात्र था। इसमें चन्डाल, वेण, नेसाद, रथकार, पुक्कुस आदि सभी निम्नस्तरीय वर्ग सम्मिलित थे। चन्डाल और रथकार में न रक्त की एकता थी और न कर्म अथवा परम्परा की, परन्तु समाज में उपेक्षित होने के कारण दोनों ही शूद्र थे। यही कथन इस वर्ण के अन्य वर्गों के लिये भी उपयुक्त है। समानता के सुदृढ़ आधार के अभाव के कारण ही बौद्ध साहित्य में शूद्रों को हम अत्यन्त असंगठित पाते हैं। उसमें चन्डाल, पुक्कुस आदि वर्णों के जीवन-वृतांत का अनेक स्थलों पर वर्णन किया गया है। परन्तु आपूर्ण शूद्रवर्ण के जीवन-वृतांत का कहीं पर भी वर्णन नहीं है। इसका कारण यह है कि द्विजातियों के समाम शूद्र वर्ण का अस्तित्व

---

१. चुल्लवग्ग. विनय ९. १. ४.
२. दीघनिकाय ३. १. १५.
३. जातक ४. ३०३.
४. जातक ६. २०७.

ही न था। इस वर्ण के सदस्यों में इतनी विभिन्नता थी, इतना पार्थक्य था कि उनका शूद्रवर्ण के अन्तर्गत समष्टिरूप से वर्णन हो ही नहीं सकता था। इसी से बौद्ध-साहित्य में चन्डाल, पुक्कुस आदि का पृथक्-पृथक् वर्णन किया गया है। जहाँ कहीं चार वर्णों के साथ चन्डाल और पुक्कुस का नामोल्लेख हुआ है [1] वहाँ इन अन्तिम दो को शूद्र के ही पृथक्-पृथक् दो निम्नतम वर्ग समझना चाहिए। शूद्रवर्ण दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम वर्ग के अन्तर्गत चन्डाल, पुक्कुस और निषाद के निम्नतम वर्ग हैं। इनमें से प्रत्येक एक विशिष्ट अनार्यजातीयता के आधार पर खड़ा था। दूसरे वर्ग के अन्तर्गत वेण, रथकार, कुम्भकार आदि निम्नकर्मा थे जो अपने हीन शिल्प के कारण शूद्रत्व को प्राप्त हुये थे। यहाँ पर स्पष्टीकरण के हेतु प्रत्येक पर विचार कर लेना उपयुक्त होगा।

चन्डाल

चन्डालों का वर्ग समाज में निम्नतम समझा जाता था [2]। 'चण्डालसदिसो' [3] और 'पापचण्डाली' [4] अत्यन्त अवज्ञा के शब्द समझे जाते थे। वे नितान्त स्पृश्य थे। उनका स्पृष्ट भोजन त्याज्य था। मातंग जातक के कथानक के अनुसार ऐसे ही त्याज्य भोजन के ग्रहण करने से १६००२ ब्राह्मणों का जाति-बहिष्कार हो गया था [5]। सतधम्म जातक के अनुसार एक ब्राह्मण ने चण्डालोच्छिष्ट भोजन खाने पर प्रायश्चित्त स्वरूप आत्म-हत्या कर ली था [6]। यही नहीं, चण्डालों का दर्शन भी अशुभ समझा जाता था। एक सेट्ठि-कन्या पालकी में बैठी कहीं जा रही है। मार्ग में एक चण्डाल उसके सौंदर्य से आकृष्ट होकर क्षण भर उसे देखने लगता है। कन्या उसे देख लेती है और जब उसे यह ज्ञात होता है कि वह व्यक्ति चण्डाल है तो उसके क्षोभ की सीमा नहीं रहती। अशुभ-निवारण के हेतु वह अपने नेत्र धोती है और आगे न जाकर घर लौट आती है। इस पर उसके संरक्षक चण्डाल को इतना पीटते हैं कि वह संज्ञाहीन हो जाता है [7]। इसी प्रकार का एक अन्य कथानक दूसरे स्थान पर मिलता है [8]। सेतकेतु जातक में एक ब्राह्मण कुमार मार्ग में एक चण्डाल को देख लेता है और उसके शरीर से स्पृष्ट वायु से बचने के लिये भागता है [9]। ऐसी परिस्थिति में चण्डालों का नगर के भीतर निवास असम्भव था। यही कारण है कि वे नगर के बाहर रहते हुये पाए जाते हैं [10]। जाति-परिचय के हेतु उनकी वेश-भूषा भी विशिष्ट प्रकार की होती थी। वे रक्त वर्ण का दुपट्टा, एक पेटी (कायबन्धनम्) और ऊपर एक गन्दी सम्पाटी पहनते थे। उनके हाथ में एक मृन्पात्र

---

[1]. अंगुतर १. १६२, ३. २१४. खत्तिय ब्राह्मण वेस्सा सुद्दा. चण्डाला पुक्कुस

[2]. जातक ४. ३९१–२.

[3]. सिंगाल जातक २. ६

[4]. जातक ४. २४६.

[5]. जातक ४. ३८८.

[6]. जातक २. ८२.

[7]. जातक ४. ३७६.

[8]. जातक ४. ३९०–१.

[9]. जातक ३. २३३.

[10]. जातक ४. ३७६, ३९०.

रहता था [१]। उनके प्रमुख जीविका कार्य शव-दहन करना [२], जीर्ण-शीर्ण निवास-गृहों की मरम्मत करना [३] तथा वेणु-वादन थे [४]।

पुक्कुस

ब्राह्मण-साहित्य में इनका वर्णन पोल्कस के रूप में हुआ है। ये भी चण्डालों के समान अति हेय एवं गर्हित समझे जाते थे। बौद्ध साहित्य में अनेक स्थलों पर इनका वर्णन चण्डालों के साथ-साथ हुआ है [५]। इनका कार्य कदाचित् प्रयुक्त तथा शुष्क पुष्पों को फेकना था।[६]

नेसाद

यह ब्राह्मण-व्यवस्था में उल्लिखित निषाद जाति है। पशु-पक्षियों को मारना और पकड़ना ही इनकी जीविका का साधन था [७]। इस क्रूर कर्म के कारण नेसाद की सामाजिक स्थिति निन्दनीय समझी जाती थी। एक जातक में राजा एक नेसाद को अपना पाप-कर्म छोड़ देने के लिये कहता है [८]। दूसरे जातक में एक सेट्ठि नेसाद को अपना मित्र बनाने के पूर्व उससे अपना हिंसात्मक उद्यम छुड़वा देता है [९]। समानवृत्ति होने के कारण नेसादों में संगठन था। जातकों में उनके ग्रामों का उल्लेख उपलब्ध होता है, परन्तु ये ग्राम-नगर के बाहर ही बसे हुये होते थे [१०]।

वेण

पूर्वोल्लिखित सुत्तविभंग पाचित्तिय के उद्धरण में इसका नाम भी चण्डाल और पुक्कुस के साथ-साथ हीन जातियों में लिया गया है। अतः निश्चित है कि यह जाति भी उनके समान ही निन्दनीय थी। 'चण्डाल' के समान 'वेण' भी अत्यन्त उपेक्षा एवं तिरस्कार का शब्द था। एक जातक में रानी अपनी पुत्रवधू की इन्हीं शब्दों के द्वारा भर्त्सना करती है [११]। जैसा कि इसके नाम से प्रकट होता है, इसका प्रधान कार्य वेण-सम्बन्धी था। इस कथन की पुष्टि कुल्लूक से भी होती है [१२]। लकड़ी का काम करने के कारण कौटिल्य ने इसके और रथकार के उद्यम को समान बताया है [१३]। अपनी कार्य-निम्नता के कारण ही यह जाति समाज में हेय समझी जाने लगी थी। कालान्तर में ब्राह्मण व्यवस्थाकारों ने इसे वर्ण-संकर जाति के रूप में स्थान दिया। बौधायन

---

१. जातक ४. ३७६—गा० ३८०-१.

२. जातक ५. ४४६.—गा० ३३५, व्यवहार भाष्य २. ३७, ४. २२.

३. जातक ५. ४२६.

४. जातक ४. ३६१—२.

५. जातक ४. ३०३, अंगुत्तर १. १६२, ३. २१४.

६. जातक ५. ४४६—गाथा ३३५, थेरगाथा ५. ६२०.

७. २. १३२, ३. ६७, ४. ३६४.

८. जातक ४. ४२२—गाथा ११२.

९. जातक ३. ५१.

१०. जातक २.३६. ४.४२२.

११. कुस जातक २. ३०६.

१२. कुल्लूक, मनु० ४. २१५, मिता० याज्ञवल्क्य १. १६१.

१३. कौटिल्य २. ७.

के मतानुसार यह वैदेहक पुरुष और अम्बष्ठ स्त्री की सन्तान है[1] मनु भी इस मत का समर्थन करते हैं[2]। परन्तु कौटिल्य का कथन है कि यह अम्बष्ठ पुरुष और वैदेहक स्त्री की सन्तान है[3]।

रथकार

इसका भी उल्लेख हीन जातियों के बीच में हुआ है। ललित विस्तार का कथन है कि बोधिसत्व ने कभी भी रथकार-कुल में जन्म ग्रहण नहीं किया[4]। यह कथन इस जाति के प्रति समाज का अनादर-भाव प्रकट करता है। जिस प्रकार वेण बाँस का काम करता था, उसी प्रकार रथकार काष्ठ-जीवी था। काष्ठ की सहायता से वह रथों एवं अन्य वाहनों का निर्माण करता था। ब्राह्मण साहित्य में यह वर्णसंकर जाति के रूप में उल्लिखित है। बौधायन के मतानुसार यह वैश्य-शूद्रा की सन्तान है[5]। परन्तु याज्ञवल्क्य ने इसे महिष्य पुरुष और करण स्त्री की सन्तान माना है[6]। उशनस् के मत में इसका प्रमुख उद्यम घोड़ागाड़ी चलाना है[7]।

सुत्तविभंग पाचित्तिय में नलकार, कुम्भण, पुस्कार, चम्मकार और नहापित को हीनशिल्पजीवी कहा गया है[8]। इनका निष्कर्ष निकलता है कि ये हीनशिल्पजीवी उस समय तक जाति में परिणत न हुए थे। परन्तु बौद्ध साहित्य के उल्लेखों से विदित होता है कि अपने हीन एवं निम्न कर्म के कारण ये शूद्रों की भांति ही उपेक्षित व्यक्ति थे। उनके प्रति समाज का यह उपेक्षा-भाव उत्तरोत्तर बढ़ता गया और अन्त में वे पूर्णरूपेण शूद्र वर्ण में परिगणित होने लगे।

नलकार

यह वेलकार के नाम से सम्बन्धित होता था। जातकों में अनेक स्थानों पर इसका उल्लेख हुआ है[9]। इसका प्रमुख कार्य रस्से, चटाइयाँ, टोकरियां तथा बाँस की अन्य वस्तुएं बनाना था[10]। नल-प्राप्ति की सुगमता के हेतु वे कभी-कभी वनों में जाकर भी अपना कार्य करते थे[11]। हीनकर्मा होने के कारण समाज में उनकी स्थिति आदरणीय न थी। तवकारिय जातक से प्रकट होता है कि वे उपेक्षा की दृष्टि से देखे जाते थे[12]।

---

१. बौधा० ध० सू० १. ६. १३.

२. मनु० १०. १६.

३. कौटिल्य ३. ७.

४. ललित विस्तार २.

५. बौधा० ध० सू० १. ६. ६.

६. याज्ञ० १. ६. ५.

७. उशनस् ५–६.

८. सुत्तविभंग पाचित्तिय २. २. १.—हीनं नाम सिप्पं नलकारसिप्पं कुम्भकार सिप्पं चम्मकारसिप्पं नहापितसिप्पं......।

९. जातक १. २६०, २. ३०२, ४. २५१, ६. ३४१.

१०. वही

११. जातक ४. ३०२.

१२. जातक ४. २५१.

जातकों में वेसकार और तन्तवाय शब्दों का प्रयोग समान अर्थ में हुआ है। अवदान से प्रकट होता है कि अन्य निम्न शिल्पियों की भाँति पेसकर भी अपनी जीविका के हेतु बड़े-बड़े सेट्ठियों पर निर्भर रहता था[१]। समाज की दृष्टि में उसका कर्म्म निम्न था[२]। इसी से उसकी सामाजिक स्थिति हेय थी[४]।

वेसकार

बौद्ध साहित्य में इसका उल्लेख अनेक स्थानों पर हुआ है[४]। यह वर्ग भी हीनशिल्पियों में परिगणित होता था। जातक-कपाल में इसके जाति के रूप में संगठित होने का कोई प्रकाण उपलब्ध नहीं होता। परन्तु कालान्तर में ब्राह्मण व्यवस्थाकारों ने इसके निम्नकर्म के कारण इसे शूद्र वर्ण में स्थान दिया। अत्रि के मतानुसार वह ७ अन्त्यजों में से एक है[५]। उशनस् एक स्थान[६] पर उसे शूद्र-क्षत्रिय की सन्तान[६] और दूसरे स्थान पर वैदेहक-ब्राह्मणी की सन्तान[७] बताते हैं। उनके कथनानुसार उसका प्रधान कार्य चर्म-सम्बन्धी होता है। इसी कथन की पुष्टि मनुस्मृति से भी होती है[८]।

चर्मकार

अपने हीन कर्म के कारण यह साधारणतया समाज में आदर की दृष्टि से देखा जाता था। एक जातक में गंगमाल नापित के लिये 'हीनजच्च' शब्द का प्रयोग किया गया है[९]। परन्तु ऐसा ज्ञात होता है कि राजकीय सेवा में संलग्न नापितों का सामाजिक स्तर अधिक ऊँचा था वे अपेक्षाकृत अधिक आदर की दृष्टि से देखे जाते थे। मखादेव जातक में राजा अपने नापित को मित्र समझता है[१०]। उपालि नामक दूसरा नापित भी शाक्यों के समक्ष मित्र-सम है[१]। जैसा कि पीछे कहा गया है, सुत्तविभंग पाचित्तिय में नापित को हीनशिल्पी कहा गया है। अपने व्यवसाय की हीनता के कारण ही वह शनैः शनैः समाज के उच्चस्तरीय वर्गों के समक्ष अधिकाधिक हेय होता गया और कालान्तर में शूद्र-वर्ण में परिगणित होने लगा। उशनस् ने उसे ब्राह्मण-वेश्या की सन्तान माना है[२]। पाराशर के मत में वह ब्राह्मण पुरुष और शूद्रा स्त्री से उत्पन्न है तथा पूर्णरूपेण संस्कारहीन होता है[३]।

नापित

---

१. अवदान १ ३५७.
२. जातक १. ३५६.
३. भीमसेन जातक ४. ४७५.
४. सुत्तविभंग पाचित्तिय २. २. १. अवदान २. ३५७.
५. अत्रि १९९.
६. उशनस् ४.
७. ,, २१.
८. मनु० ४.८. १२
९. जातक ३. ४५२.
१०. मखादेव जातक १. १३७।
११. उशनस् ३२-३४.
१२. पाराशर ११. २१.

इस प्रकार जाति के ऊपर विचार करने के पश्चात् हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि लिखते समय बौद्धों और ब्राह्मणों के सम्मुख सामाजिक सामग्री मूलतः एक सी थी। सैद्धान्तिक मतभेद होते हुए भी दोनों ही वास्तविक स्थिति से अवगत थे। दोनों के लेखों में चतुर्वर्णों एवं उनके 'सहज' कर्मों का वर्णन मिलता है। परन्तु यह प्राचीन 'आदर्श' व्यवस्था-मात्र रह गया था। वास्तविक स्थिति उससे बहुत दूर हो चुकी थी। वर्ण-विहित कर्मों के कठोर आचरण का प्रायः लोप होता जा रहा था। आर्थिक प्रभाव एवं जीविकोपार्जन की चिन्ता के कारण प्रत्येक वर्ण के मनुष्य प्रत्येक प्रकार के कर्मों में संलग्न थे। बौद्ध साहित्य में वर्णाश्रम धर्म की संरक्षा के हेतु राजसत्ता उत्सुक नहीं प्रतीत होती। परन्तु ब्राह्मण व्यवस्थाकारों ने उसे राजा का प्रमुख कर्त्तव्य माना है। वर्णाश्रम धर्म की संरक्षा के हेतु उन्होंने अनेक विधि-निषेधों एवं राजकीय दण्डों को भी निर्धारित किया है। परन्तु ये सारे प्रयास काल की गति के प्रतिकूल थे। अतः इन्हें व्यावहारिक रूप न मिल सका। बौद्ध साहित्य से स्पष्ट होता है कि समाज में अनेकानेक ऐसे आर्येतर, व्यावसायिक एवं हीनशिल्पी वर्ग विद्यमान थे जो चतुर्वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत सुगमता से न आ सकते थे। बौद्ध साहित्य में ये वर्णहीन वर्ग भिन्न भिन्न नामों से सम्बोधित होते थे। इनमें से कुछ नाम और कुछ शिल्पों पर आधारित थे। यद्यपि इनमें से अधिकांश जाति के रूप में विकसित न हो सके थे तथापि इनकी प्रवृत्ति अधिकाधिक उसी ओर हो रही थी। बौद्धों ने 'वर्णसंकर' के समाज में किसी ऐसी व्यवस्था का निर्माण न किया था जिसके अन्तर्गत ये सब समाविष्ट हो सकते। वर्ण-व्यवस्था के विरुद्ध होने के कारण उन्होंने इसकी आवश्यकता भी न समझी थी। परन्तु ब्राह्मणों की सामाजिक व्यवस्था का केन्द्र-बिन्दु 'वर्ण' ही था। अतः उसे अक्षय रखने की उनकी चिन्ता स्वाभाविक थी। परिणाम-स्वरूप उन्होंने अपनी विवेचनात्मक बुद्धि के सहारे एक ऐसी व्यापक एवं सुविस्तृत व्यवस्था का सृजन किया जिसके अन्तर्गत समाज का सम्पूर्ण निम्न-वर्ण आ सके। यह व्यवस्था थी 'वर्ण-संस्कर' की। अनुलोम एवं प्रतिलोम विवाहों की व्यापकता ने समाज के प्रत्येक नागरिक को आत्मसात् कर लिया।

इस वर्ण-व्यवस्था के चिरस्थायी होने में अनेक कारणों ने साथ दिया। भारतीय सदैव से धर्मप्राण रहे हैं। उनके लिये जीवन और धर्म दो पृथक वस्तुयें नहीं थीं। उनका जीवन धर्म का व्यावहारिक रूप था और धर्म जीवन का संग्रहीत तथ्य। दोनों का अविच्छेद्य एवं अन्योन्याश्रित सम्बन्ध था। दोनों एक दूसरे से ओत-प्रोत थे। इस प्रकार की भावना का परिणाम यह हुआ कि भारतीयों के समक्ष जो वस्तु भी धर्म का अंग बन कर आई वह मान्य बन गई, चिरस्थाई हो गयी। भारतीय परम्परा के अनुसार वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति मानवी न होकर दैवी है[1]। इस दैवी आधार ने कालान्तर में इस व्यवस्था की लोक-मान्यता को दृढ़तर किया।

वर्ण व्यवस्था के चिरस्थायी होने का दूसरा कारण ब्राह्मणों की लोकमान्यता थी। उनकी प्रारम्भिक विद्वत्ता, सदाचारिता, त्याग-परायणता एवं सरलता से उन्हें देश में

[1]. पुरुषसूक्त-- ब्राह्मणोस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः
ऊरुःतदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोजायत्।

अग्रगण्य स्थान दे दिया था। इन गुणों और ब्राह्मण के जीवन में इतना अधिक तारतम्य स्थापित हो गया था कि लोक-बुद्धि उन दोनों को अविच्छेद्य समझने लगी थी। जनता की मनोवृत्ति का परिणाम यह हुआ कि उपर्युक्त गुणों के न्यूनाधिक अभाव में भी ब्राह्मण लोक-वन्द्य बना रहा। देश में क्षत्रियों की भौतिक अभिजातता की स्थापना हो चुकी थी परन्तु ब्राह्मणों की बौद्धिक अभिजातता ने उसे भी अपने प्रभाव में कर लिया था। परिणाम-स्वरूप क्षत्रिय राजत्वाधिकारी होते हुए भी ब्राह्मण के सन्मुख विनीत था, बल का प्रतीक ज्ञान की प्रतिमा के समक्ष विनम्र ही बना रहा। ब्राह्मण देश का मस्तिष्क था और क्षत्रिय देश की भुजा। यही कारण है कि सामाजिक संगठन की अधिकांश योजनायें ब्राह्मणों के मस्तिष्क से निकलीं और क्षत्रियों की छत्रच्छाया में कार्यान्वित हुईं। इस प्रकार दीर्घकाल तक ब्राह्मण समाज के व्यवस्थापक समझे जाते रहे। ब्राह्मणों की सर्व-मान्यता ने उनके विधि-निषेधों को भी सर्व मान्य बना दिया। वर्ण-व्यवस्था के चिरस्थायित्व के पीछे यही सत्य कार्य कर रहा था।

वर्ण-व्यवस्था के चिरस्थायित्व का तीसरा कारण भारतीयों की जगत्प्रसिद्ध आमूल अथवा क्रान्तिकारी परिवर्तनों के प्रति अरुचि है। उनकी सामंजस्य-भावना एवं ग्रहणशीलता किसी भी नियम में कभी भी आमूल परिवर्तन करने के हेतु प्रस्तुत न होती थी। यही कारण है कि भारतवर्ष की अनेक प्राचीन संस्थायें एवं परम्परायें आज भी विद्यमान हैं। काल-परिवर्तन से उनमें इतस्ततः परिवर्तन अवश्य हुए, परन्तु इसका आधार ज्यों का त्यों बना रहा। देश का कोई भी वर्ग किसी समय इसका पूर्णरूपेण परित्याग न कर सका। बौद्ध अथवा जैन होने पर भी अधिकांश भारतीय अपनी चारित्रिक विशेषता रूढ़िवादिता के कारण इसे पूर्णरूप से दूर न कर सके। उनमें भी किसी न किसी रूप में जाति-भेद विद्यमान रहा।

इस वर्ण-व्यवस्था की चिर-प्रियता का चौथा कारण इसकी दीर्घकालीन उपयोगिता था। परिस्थिति-परिवर्तन से इस व्यवस्था में अनेकानेक दोष उत्पन्न होते गये। यह निरन्तर परिवर्तनशील काल के साथ कदम न रख सकी और अपनी उपयोगिता खो बैठी। परन्तु इसके साथ-साथ यह स्वीकार करना पड़ेगा कि शताब्दियों तक इसने भारतीय समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति की, उसे एक संगठन, एक व्यवस्था एवं एक आदर्श प्रदान किया। वर्ण-व्यवस्था को पाकर भारतीय समाज एक सुदृढ़ इकाई बन गया। उसके अन्तर्गत समाज का प्रत्येक व्यक्ति पारस्परिक अधिकार एवं कर्तव्य के आधार पर एक दूसरे से सम्बद्ध था। सब का कुछ न कुछ कर्तव्य था। उस कर्तव्य का आधार वर्तमान एवं आगामी जीवन-सम्बन्धी स्वार्थ था। वर्तमान जीवन में सामाजिक प्राणी के रूप में एक व्यक्ति जिन अधिकारों की अपेक्षा करता था वे किसी अन्य व्यक्ति के कर्तव्य थे। अतः आवश्यक था कि प्रत्येक व्यक्ति अपने अधिकारों का उपयोग करने के पूर्व अपने कर्तव्यों को भी पूर्ण करे। उदाहरण के लिये ब्राह्मण की सर्वमान्यता समाज में इसलिये थी कि वह उसके बौद्धिक एवं आध्यात्मिक विकास में सहायता देता था। उसकी जीविका एवं अन्य आवश्यकताओं के प्रदान के लिये समाज इसलिये उत्तरदायी था कि वह अपनी विद्या-बुद्धि के द्वारा समाज में व्यवस्था स्थिर रखता था। लोक-कल्याण के हेतु अध्ययन-

अध्यापन एवं यजन-याजन ब्राह्मण का कर्तव्य था। इसी के प्रतिदान में उसे अनेकानेक सुविधायें अधिकार के रूप में प्राप्त थीं। यही बात अन्य वर्णों के साथ थी। इसी प्रकार स्वार्थ और परार्थ का कर्म- विभाजन द्वारा समन्वय किया गया। अब रही आगामी जीवन की बात। उसका आधार पुनर्जन्म एवं कर्मजफल के सिद्धान्त पर था। अपने पूर्व कर्मों के फलस्वरूप ही मनुष्य का समाज में स्थान होता था। यदि उसने अपने पूर्व जन्म में स्ववर्ण-विहित कर्म किये हैं तो उसे उच्चवर्ण में जन्म मिलता है[१] अन्यथा निम्न में। निम्न वर्ण में उत्पन्न होकर यदि वह व्यक्ति इस जन्म में भी दैवी वर्ण-व्यवस्था द्वारा निर्धारित कर्तव्यों का पालन नहीं करता तो वह निश्चित ही अपने धर्म से च्युत होता है, और ब्राह्मण व्यवस्था के अनुसार धर्म-च्युत मनुष्य का आगामी जन्म भी श्रेष्ठ वर्ण में नहीं हो सकता।[२] अतः अपने आगमी जीवन को सुधारने के लिये मनुष्य को अपने वर्ण के कर्तव्यों का पालन करना अभीष्ट था। यही उसका आगामी जीवन-सम्बन्धी स्वार्थ था। इस प्रकार व्यक्तिगत स्वार्थ के आधार पर स्थित वर्ण-व्यवस्था ने समाज में कार्य-विभाजन को लोक-मान्यता दी। अब समाज में प्रत्येक मनुष्य का अस्तित्व था, छोटे से छोटे मनुष्य का भी कुछ उत्तरदायित्व था। एक समुदाय के सदस्य की भांति प्रत्येक मनुष्य अपना निर्धारित कार्य करता था। वह अपनी योग्यतानुसार समाज को अधिक से अधिक लाभ प्रदान करता था और उसके प्रतिरूप में अपनी आवश्यकतानुसार अधिक से अधिक लाभ समाज से पाता था। समाज़वाद का यह स्थूल सिद्धान्त भारतीयवर्ण-व्यवस्था में सर्वप्रथम प्रयुक्त हुआ था।

इस प्रकार सब मनुष्यों के व्यक्तिगत कार्य स्वार्थ से प्रेरित होते थे। परन्तु उनका एक सार्वजनिक आदर्श भी था और वह था लोक-कल्याण। व्यक्ति तथा समष्टि का यह सम्बन्ध बड़ी ही कुशलता से स्थापित किया गया था। व्यक्ति समष्टि की इकाई था। परन्तु लोक-कल्याण के आदर्श ने उसकी पृथक् सत्ता को समष्टि में निमज्जित कर दिया था। वह अपने पृथक् हित को भूल बैठा और परिणाम-स्वरूप समाज में केवल एक हित रह गया-लोक-कल्याण। इस प्रकार वर्ण-व्यवस्था व्यक्ति की इकाई को लेकर चली और समष्टि की इकाई में अवसित हो गई। अगणित व्यक्तियों का विशाल समुदाय वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत एक लघु इकाई के समान हो गया। उसमें एक सुदृढ़ संगठन था। समाज की विभिन्न कड़ियां एक दूसरे से जुड़ कर सबल शृंखला के रूप में परिवर्तित हो गई थीं जिसे शताब्दियों के प्रबल आघात भी विच्छिन्न न कर सके। वर्ण-व्यवस्था ने हमारे समाज को ऐसा बल दिया कि वह अनेकानेक बाह्य आक्रमणों एवं आन्तरिक परिवर्तनों के समक्ष भी विच्छंखल न हुआ। राजनीतिक उथल-पुथल के बीच में भी यदि हमारी साहित्यिक, शारीरिक, चारित्रिक, औद्योगिक एवं व्यापारिक प्रगति सक्रम रही तो इसका मुख्य कारण वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत हमारा कार्य-विभाजन था। चारों वर्णों के अपने-अपने कार्य थे। वे दूसरे के कार्यों की चिन्ता किये बिना अपने कार्यों एवं व्यवसायों को अग्रसर करते रहते थे।

---

१. गौतम ११, २६ आप० २. ११. १०.

२. आप० २. ११. ११. मनु० १२. ७१-७२.

शताब्दियों के परम्परागत एकव्यवसायानुसरण से उनका व्यवसाय वर्णिक अथवा कौटुम्बिक बन गया था। उसमें एक आश्चर्यजनक विशिष्ठता आ गई थी जो कदाचित् सामाजिक कार्य-विभाजन के अभाव में सम्भव न होती। वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत ब्राह्मण निश्चिन्त होकर देश की आध्यात्मिक एवं साहित्यिक उन्नति में लग गया। उसे अपनी जीविका एवं सुरक्षा की चिन्ता न थी। ये कार्य समाज के अन्य वर्णों के हाथ में थे। इस एकाग्रता एवं एकलग्नता का परिणाम यह हुआ कि उसने अपने कार्य-क्षेत्र में आशातीत प्रगति की। आध्यात्मिक क्षेत्र में उसका तर्क ब्रह्माण्ड को चीर कर अनन्त और असीम से साक्षात्कार करने लगा। साहित्यिक क्षेत्र में उसकी कल्पना ने आकाश-पाताल को मिला दिया, चर-अचर को एक कर दिया और जड़ीभूत वास्तविकता की अवहेलना करता हुआ चिर अलभ्य 'आदर्श' की ओर धावित होने लगा।

यही हाल क्षत्रिय वर्ण का हुआ। देश के शासन एवं सुरक्षा का भार उसी के हाथ में था। इस क्षेत्र में भी कार्य-विभाजन ने सुफल उत्पन्न किया। देश में प्रभुत्व की विभिन्न कोटियों—एकराजता, अधिराजता, साम्राज्य इत्यादि, प्रभुत्व-सूचक विभिन्न यज्ञों वाजपेय, राजसूय इत्यादि, विभिन्न शासन-प्रणालियों गणतन्त्र, राजतन्त्र इत्यादि, वैधानिक शासन के उपकरणों-सभा, समिति, मत, निर्वाचन, अधिकार, कर्तव्य इत्यादि तथा कूटनीति एवं सुरक्षा के अनेक विधानों का विकास हुआ।

वैश्य वर्ण ने देश के आर्थिक हित का उत्तरदायित्व लिया। कहना न होगा कि इस समुदाय के उत्साह, अध्यवसाय एवं हस्तलाघव ने देश की औद्योगिक एवं व्यापारिक उन्नति में आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त की। देशीय एवं अन्तर्देशीय व्यापार-व्यवसाय के जो प्रमाण हमें साहित्य एवं मुद्रा-शास्त्र से उपलब्ध होते हैं वे वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत कार्य-विभाजन-प्रणाली की सफलता के द्योतक हैं।

चौथा वर्ण शूद्रों का था। इसका मुख्य धर्म द्विजों की सेवा करना था। कालान्तर में इसके लिये बनाये गये नियम अवश्य कठोर हो गये, परन्तु प्रारम्भिक साहित्य में ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं है जहां इनके साथ न्याय एवं सहानुभूति के साथ काम लिया जाता था। प्रत्येक समाज में निम्न कोटि के कार्य-संचालन के लिये एक वर्ग रहा है। इसकी अवस्था अन्य उच्च वर्गों की अवस्था से निश्चित रूप से हेय होती है। भारतीय साहित्य में यही वर्ग शूद्र के नाम से विख्यात है। नैतिकता की दृष्टि से इस वर्ग का सृजन अन्यायपूर्ण भले ही हो, परन्तु यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि समाज के निम्नकोटि के कार्य-कलाप के लिये ऐसे वर्ग की आवश्यकता थी। इस वर्ग के निर्माण ने द्विजों को निम्नकोटि के कार्यों से मुक्त कर दिया और उन्हें अन्य महत्वपूर्ण सामाजिक कार्यों के लिये और अधिक समय प्रदान किया।

कालान्तर में वर्णों में जातियां और जातियों में उपजातियां उत्पन्न हो गई। इस उत्पत्ति के मूलकारण अनार्यों का आर्यीकरण, मनुष्यों की व्यवसाय-विभिन्नता, दूरस्थ प्रादेशिक स्थिति एवं धर्मच्युति थे। परिणाम-स्वरूप प्रारम्भिक चार-वर्णों की सरल व्यवस्था अधिकाधिक जटिल हो गई। प्रारम्भ काल में द्विजों में कार्य-विभेद के अतिरिक्त और

कोई अन्य भेद न था। सब एक दूसरे के साथ खाते-पीते और विवाह-सम्बन्ध करते थे। कार्य-परिवर्तन भी हो जाता था। वर्ण कर्मज थे। परन्तु चार वर्णों के स्थान पर समाज में जब अनेकानेक जातियों एवं उपजातियों का प्रादुर्भाव हुआ तो उनमें पारस्परिक भेद-भाव, ऊँच-नीच का विचार एवं जातीय प्रतिवन्ध आने लगे। कुछ समय के पश्चात् जातियां जन्मज हो गईं। उनमें अन्तर्जातीय खान-पान एवं विवाह-सम्बन्ध भी समाप्त हो गये। यही नहीं, धीरे-धीरे ऊंच-नीच के भेद-भाव ने जातियों में पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष उत्पन्न कर दिया। इस परिवर्तन ने हमारे समाज को जर्जरित कर दिया। उसके संगठन की इकाई लुप्त हो गई। सामाजिक संगठन के स्थान पर जातीय संगठन होने लगे और उनकी दृष्टिसंकीर्णता ने हमारे समाज की एकता, सवलता, सहयोगिता एवं लोक-संग्रह की भावना को चूर्ण कर दिया। इन दोषों के उत्पन्न होने से जाति-व्यवस्था चतुर्दिक निन्दनीय हो गई और आधुनिक मनुष्य उसके अस्तित्व को मिटाने के लिये कटिवद्ध है।

कार्य-विभिन्नता के कारण प्रत्येक समाज में ही भिन्न-भिन्न वर्ग पाये जाते हैं। परन्तु भारतीय समाज की भाँति उन समाजों में वर्गों ने तथाकथित 'वर्णों' के रूप में कभी भी अपना विकास नहीं किया। इसका विशेष कारण यही है कि अन्य देशों में या तो अन्त-र्वर्गीय विवाह एवं खान-पान के विरुद्ध प्रतिवन्ध थे नहीं या वे इतने कठोर न थे कि उनका उल्लंघन समाज-वहिष्कार तथा धर्म-च्युति के द्वारा दण्डित किया जाता। पुनः विदेशीय वर्गों का आधार सदैव अनिवार्य रूप से जन्म-मात्र न था। वहाँ कर्म के आधार पर वर्गोत्कर्ष भी सम्भव था। परन्तु भारतीय समाज में वर्गोत्कर्ष अथवा जात्युपकर्ष का सिद्धांत नियमतः अव्यवहृत रहा। इसके अतिरिक्त विदेशीय व्यवस्थाओं के विरुद्ध भारतीय सामाजिक एवं धार्मिक व्यवस्था समाज के एक विशिष्ट-वर्ग ब्राह्मण वर्ग का कार्य थी। इसके अन्तर्गत ब्राह्मण वर्ग की प्रधानता-स्थापना स्वाभाविक थी। इस प्रधानता को अक्षय रखने के हेतु ब्राह्मणों ने अपने वर्ग तथा अन्य वर्गों की सीमायें इस प्रकार निर्धारित कीं कि वे सदैव एक दूसरे से पृथक् रहें। परिणामतः चारों वर्गों ने अपनी-अपनी सीमा के भीतर ही अपना विकास किया। उनके पृथक्-पृथक् विधि-निषेधों ने उनकी सीमाओं को कभी भी नष्ट न होने दिया। अतः ये वर्ग दृढ़ीभूत होकर चार नितान्त पृथक् एवं भिन्न वर्णों के रूप में विकसित हुए। पुनः इस भारतीय वर्ण-व्यवस्था की आधार-शिला धर्म था। अतः इसकी समस्त विशेषताओं अन्तर्जातीय विवाह एवं खान-पान के निषेध, जाति-कर्म, आचार, रक्तशुद्धता आदि का पालन करना और कराना समस्त नागरिकों और शासकों का धार्मिक कर्तव्य वन गया था। फलस्वरूप वर्ण-व्यवस्था उत्तरोत्तर सवल होती गई। नितान्त भिन्न नियमों के आधार पर संचालित प्रत्येक वर्ण एक पृथक् 'समाज' के रूप में विकसित हुआ। परन्तु विदेशीय समाजों के वर्गों का आधार धर्म न था। अतः उनके विकास को लोकमान्यता का वल न मिला जो जनता की धर्म-भीरु भावना से उत्पन्न होता है। परिणामतः वह विदेशीय विभाजन वर्ग की सीमाओं का अतिक्रमण कर कभी भी और आगे न वढ़ सका। भारतीय समाज में वर्ण वर्ग का तार्किक उपसंहार (logical conclusion) था।

वह कौटुम्बिक धन-जन की रक्षा के लिए अधिक उपयोगी होता है। वंश की साम्पत्तिक वृद्धि करने में वह अपने पिता को महत्वपूर्ण योग देता है। पिता की मृत्यु के पश्चात् कुटुम्ब के लिए जीविकोपार्जन का प्रमुख भार उसी पर पड़ता है। मृतक पितरों की शान्ति के हेतु यज्ञ, उदक-दानादि भी उसी के उत्तरदायित्त्व हैं।

पुत्री की स्थिति इससे विपरीत है। वह वंश के लिए स्वयं एक उत्तरदायित्त्व है। वंश की रक्षा करने के स्थान पर वह स्वयं वंश-रक्षिता है। अविवाहित स्त्री के संरक्षकों को वहुधा उसके विपथ होने की आशंका वनी रहती है। अपने माता-पिता के घर में वह परन्यस्त सम्पत्ति के समान है। उन्हें उसके उचित विवाह की सदैव चिन्ता रहती है। पति के दुर्गुणी निकल जाने पर अथवा मर जाने पर स्त्री अपने संरक्षकों के लिए विशेष संताप का कारण वन जाती है। योग्य वर न मिलने पर यदि स्त्री आजीवन अविवाहित रही तो उसका भार उसके माता-पिता अथवा भाई को ही वहन करना पड़ता है[1]। अविवाहित पुत्री को पैतृक सम्पत्ति का भी अधिकार रहा है[2]। उसके विवाह के अवसर पर भी दहेज एवं उपहार के रूप में पैतृक सम्पत्ति का कुछ भाग दूसरे के घर चला जाता है[3]। इन्हीं सव कारणों से वैदिक काल से लेकर आधुनिक काल तक भारतीय समाज में मनुष्य पुत्री की अपेक्षा पुत्र की ही कामना अधिक करता रहा है।

ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर पुत्र-प्राप्ति के लिए प्रार्थनाएँ की गई हैं[4]। एक स्थान पर एक ऋषि शक्तिवान्, मनोरंजक, यजी, धनद तथा शत्रुहन्ता पुत्र के लिए प्रार्थना करता है[5]। दूसरे स्थान पर मृतक पूर्वजों को उदकादि देने के लिए उसकी आवश्यकता अनुभव होती है[6]। अन्य स्थानों[7] पर पुत्र को अपने पिता के कार्य-संपादन में सहायक एवं आज्ञाकारी वताया गया है जिससे उसकी उपयोगिता और अधिक हो जाती थी। इस प्रकार के अनेक उदाहरण अथर्व-वेद में भी मिलते हैं[8]। इस ग्रंथ में तो पुत्र-प्राप्ति के हेतु विशेष विधियों की योजना की गई है और पुत्री की अपेक्षा पुत्र को स्पष्टतया अधिक महत्त्व दिया गया है[9]। ऐतरेय ब्राह्मण में एक स्थान पर पुत्र को तो दिव्य ज्योति कहा गया है, परन्तु पुत्री को कृपण बताया गया है[10]। महा-काव्यों में भी ऐसे उदाहरणों का बाहुल्य है

---

[1]. ऋ० १. ११७. ७, २. १७. ७. १० ३६३. अथर्व० १. १४. ३

[2]. ऋ० १०. ८५, २९—परा देहि शामुल्यं ब्रह्मभ्यो विभजा वसु।

[3]. ऋ० १. १०९. २

[4]. ऋ० १. ९१, २०, ३. १. २३, १०. ८५. २५

[5]. ऋ० ६. ३३. १

[6]. ऋ० १. १०५, ३

[7]. ऋ० १. ७३. ३ और १. ६८. ५

[8]. अथर्व० ३. २३. २. ६. ११. २

[9]. अथर्व० ६. २. ३

[10]. ऐतरेय ब्रा० ३३. १-- कृपणंहि दुहिता ज्योतिर्ह पुत्रः परमे व्योमन्।

जिनमें जन-साधारण की पुत्र-प्राप्ति की लालसा दृष्टिगत होती है। एक स्थान पर पुत्र को शतयज्ञों से भी श्रेष्ठ बताया गया है[1]। पुत्र इहलोक तथा परलोक दोनों के लिए आवश्यक समझा जाता है[2]। उसके द्वारा ही मनुष्य 'पुत्' नामक नरक में जाने से बचता है[3]। पुत्र के बिना मनुष्य का जीवन व्यर्थ है[4]। यज्ञ, तर्पण अथवा उदक-दान के लिए तो पुत्रों की आवश्यकता थी ही, इसके साथ ही साथ महाकाव्य-काल की सतत-युद्ध प्रवृत्ति ने उसकी प्राप्ति अत्युपयोगी बना दी। यही कारण है कि इस समय स्वयंजात, प्रणीत और परिक्रीत पुत्रों के अतिरिक्त पौनर्भव (पत्नी के पूर्व पति द्वारा पुत्र), कानीन (अविवाहिता कन्या का पुत्र) और कुण्ड (रखेल स्त्री का पुत्र) पुत्रों को भी मान्यता दी गई। मनुष्यों के लिए एक पुत्र पर्याप्त न था[5]। अतः अनेक पुत्रों की प्राप्ति पर महत्त्व दिया गया। स्ट्रैबो का कथन है कि ब्राह्मण अनेक स्त्रियों से विवाह करते थे जिससे वे बहुसंख्यक संतान उत्पन्न कर सकें। उसका कथन है कि भारतीयों में दास-प्रथा न थी। अतः अपने सेवा-कार्य के लिए ही प्रत्येक ब्राह्मण अधिकाधिक संतान प्राप्त करने के हेतु लालायित रहता था। परन्तु यह उसकी भ्रमपूर्ण धारणा थी। सन्तान-प्राप्ति की लालसा का कारण विशेषतया धार्मिक अथवा याज्ञिक था। इस चतुर्दिक पुत्र-प्राप्ति की लालसा के अधिकाधिक प्रसार ने स्वाभाविक रूप से पुत्री के पद को निम्नतर कर दिया। अथर्ववेद में पुत्री-जन्म पर खेद प्रकट किया गया है[6]। ऐतरेय ब्राह्मण की भांति महाभारत में उसे 'आपत्ति' कहा गया है[7]। अपने पिता के घर में वह न्यास-स्वरूप थी[8]। यही नहीं, वह माता, पिता तथा पति तीनों के कुलों के लिए संकट थी[9]। रामायण में भी इसी कथन की पुष्टि की गई है[10]। मनु-प्रणीत सामाजिक व्यवस्था में भी पुत्री का स्थान पुत्र की अपेक्षा कहीं नीचा है[11]।

---

1. महा० ६. ७४. १०२—वरं क्रतुशतात् पुत्रः।

2. महा० ७. १६५. १७-१८—यदर्थं पुरुष व्याघ्र पुत्रानिच्छन्ति मानवाः।

प्रेत्य चेह च संप्राप्ताः त्रायन्ते महतो भयात्।

3. महा० १. २२६. १४—पुन्नामो नरकात् त्रायते।

4. महा० ३. २००. ४—वृथा जन्म ह्यपुत्रस्य।

5. महा० १. १००. ६५—अनपत्यतैकपुत्रत्वमाहुर्धर्मवादिनः।

6. अथर्व० ६. २. ३, ८. ६. २५,

7. आत्मा पुत्रः सखा भार्या कृच्छ्रं हि दुहिता किल—महा० १. १५९. ११

8. भर्तुरर्थाय निक्षिप्तं न्यासं धात्रा महात्मना— महा० १. १५७. ३५

9. मातुः कुलं पितृकुलं यत्र चैव प्रदीयते

कुलत्रयं संशयितं कुरुते कन्यका सताम्—महा० ५. ९७. १५—१६

10. रामायण ८. ६. ११

11. मनु० ४. १८४—५

ब्राह्मण-साहित्य की भाँति बौद्ध साहित्य में भी पुत्र को ही अधिक महत्त्व दिया गया है। उद्दालक जातक[1] में एक पुरोहित का कथन है कि यदि पुत्री हो तो इस मुद्रिका को उसके पालन-पोषण में व्यय कर देना, परन्तु यदि पुत्र हो तो मुद्रिका और शिशु दोनों को मेरे समीप ले आना। इस कथन से स्पष्ट है कि पुत्र और पुत्री के पदों में अन्तर समझा जाता था। इसी प्रकार का कथन कट्ठहारि जातक में भी उपलब्ध होता है[2]। एक अन्य जातक में पुत्री-जन्म स्पष्टतया अनभीष्ट प्रदर्शित किया गया है[3]।

पुत्र-जन्म की अपेक्षा पुत्री-जन्म की यह न्यूनाधिक अप्रियता केवल सामाजिक एवं आर्थिक कारणों से थी। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि प्राचीन भारत में पुत्री के संरक्षक उसके साथ दुर्व्यवहार अथवा अत्याचार करते थे अथवा उसे नितान्त हेय तथा त्याज्य समझते थे। विदेशों के प्राचीन इतिहास में अवश्य ऐसे उदाहरण मिलते हैं जब पुत्री को चिरस्थायी व्याधि समझ कर उसके माता-पिता उत्पन्न होते ही उसकी हत्या कर डालते थे अथवा उसे कहीं फेंक आते थे[4]। अरब में तो यह प्रथा इस्लाम के उदय के पूर्व तक चलती रही। कुरान के साक्ष्यानुसार मुहम्मद साहब ने इस कुप्रथा की निन्दा की है[5]। परन्तु भारतीय प्राचीन इतिहास में इस प्रकार का कोई साक्ष्य नहीं मिलता। वेस्टरमार्क महोदय ने ऋग्वेद का एक उदाहरण देते हुए वैदिक काल में नवजात कन्या के वहिःक्षेप की प्रथा सिद्ध करने की चेष्टा की है[6]। परन्तु वह अंश केवल अविवाहित कन्या की अवैध सन्तान के वहिःक्षेप का उल्लेख करता है। उसमें कहीं भी विवाहित दम्पति की वैध नवप्रसूत कन्या के वहिःक्षेप का वर्णन नहीं है। वैदिक काल में कन्याओं का विवाह पूर्ण वयस्कावस्था में होता था। उस समय स्वयंवर की प्रथा थी और प्रायः युवतियाँ अपना पति स्वयं ढूंढ़ लेती थीं। गान्धर्व-विवाह का यह वैदिक रूप था। ऐसे स्वच्छन्द वातावरण में यह सम्भव था कि यदा-कदा कोई युवती विवाह के पूर्व ही किसी व्यक्ति के प्रेम-पाश में पड़ कर विपथ हो जाती थी और कौलीन-भीता अपनी सन्तान का वहिःक्षेप कर देती थी। ऋग्वेद में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं[7]। परन्तु वैध रूप से उत्पन्न कन्या की हत्या अथवा वहिःक्षेप का एक भी उदाहरण उपलब्ध नहीं होता। दो अन्य विद्वानों-ज़िमर और डेल्बुक ने तैत्तिरीय संहिता

---

१. जातक ४. पृष्ठ २६८

२. जातक १. पृष्ठ १३४

३. जातक ३. पृष्ठ ४५६

४. वेस्टरमार्क—ओरिजिन ऐण्ड डेवेलपमेन्ट आफ मॉरल आइडियाज, भाग १ पृष्ठ ३९३-४१३

५. कुरान १७- 'निर्धनता के भय से अपनी सन्तान की हत्या न करो। हम उनकी तथा तुम्हारी जीविका प्रदान करेंगे। उनकी हत्या करना घोर पाप है।'

६. ऋ० २. २९. १ - आरेमत्कर्त रहूसरिवागः।

७. ऋ० १. ११२. ८, २. १३. १२, १०. ६१. ८, १०. ९९. १२, ४. १९. ९

के एक अंश[1] का अशुद्ध अर्थ करते हुए वैदिक काल में कन्या के बहिःक्षेप के प्रचलन को सिद्ध करने की पुनः चेष्टा की थी। उस अंश का यथार्थ इस प्रकार है : वे अवभृथ (अन्तिम याज्ञिक स्नान) के लिए जाते हैं, वे स्थाली (पात्र) को एक ओर रख देते हैं और वायु के लिए (अन्य) पात्र उठा लेते हैं। अतः वे उत्पन्न होने पर पुत्री को एक ओर रख देते हैं और पुत्र को ऊपर उठा लेते हैं। इस उद्धरण में कन्या के फेंक देने का तात्पर्य नहीं है। इससे केवल प्राचीन आर्यों की पुत्र-प्रियता ही परिलक्षित होती है। पुत्र उत्पन्न होने पर वे प्रसन्नता के कारण उसे तत्काल पृथ्वी पर से उठा लेते थे। पुत्री इतनी अधिक प्रिय न थी। उससे उन्हें इतना हर्षातिरेक न होता था कि वे तत्क्षण उसे ऊपर उठा लें।

अथर्ववेद एवं संहिताओं में[2] भ्रूण-हत्या की घोर निन्दा की गई है। ऐसी दशा में यदि कन्या-हत्या की प्रथा प्रचलित होती तो उसकी भी निन्दा की जाती। परन्तु उनमें उसका कहीं संकेत भी नहीं मिलता।

महाभारत में अपने पिताओं द्वारा शुनःशेप तथा जन्तु की हत्या का उल्लेख मिलता है। ये हत्याएं याज्ञिक प्रयोजन से की गई थीं। इनसे प्राचीन भारत में नवजात शिशु की हत्या की प्रथा सिद्ध नहीं होती।

मनुस्मृति[3] में स्त्री, शिशु और ब्राह्मण की हत्या करने वाले व्यक्ति के लिए प्राण-दंड की व्यवस्था की गई है।

यूनानी-लेखकों ने जहां सती प्रथा[4] तथा कतिपय स्थानों पर अपने सम्बन्धियों द्वारा वृद्ध एवं रोगी जन की हत्या[5] का उल्लेख किया है वहां वे नवजात शिशु की हत्या के विषय में पूर्णरूपेण मौन हैं। अतः स्पष्ट है कि इस वर्बर प्रथा का प्रचलन प्राचीन भारतवर्ष में न था। ब्राह्मण साहित्य की भांति प्राचीन बौद्ध-साहित्य, जैन साहित्य अथवा शिला लेखों में एक भी ऐसा उदाहरण उपलब्ध नहीं होता जिससे नवजात शिशु की हत्या का प्रचलन सिद्ध किया जा सके।

इसमें कोई सदेह नहीं कि आधुनिक काल की भांति प्राचीन-काल में भी पुत्री की अपेक्षा पुत्र प्रियतर था। परन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि समाज में पुत्री के लिए कोई स्थान ही न था। यदि हम वैदिक साहित्य का अवलोकन करें तो स्पष्ट हो जायगा कि तत्कालीन समाज में पुत्री-जन्म इतना चिन्ताजनक न था जितना कालान्तर में हो गया।

---

1. तै०सं० ६. ५. १०. ३- अवभृथमवयन्ति । परा स्थलीरस्यन्ति । उद्वायव्यानि हरन्ति । तस्मात् स्त्रियं जातां परास्यान्ति उत्पुमांसंहरन्ति ।
2. अथर्व० ६. ११२. ३. तै० सं० ६. ५. १०. २ मैत्रायणी सं० ४. १. ६
3. मनु० ६. २३२
4. स्ट्रैबो १५. १. ६२, डियोडोरस १७. ६१.
5. हेरोडोटस ३. ६६.

इसका विशेष कारण था। वैदिक-काल में पुत्र और पुत्री के सामाजिक एवं धार्मिक अधिकारों में बहुत अधिक अन्तर न था। पुत्र की भांति पुत्री भी उपनयन, शिक्षा-दीक्षा एवं यज्ञादि की अधिकारिणी थी। अतः इनके लिए एकमात्र पुत्र की ही आवश्यकता न थी। ये धार्मिक एवम् याज्ञिक कार्य पुत्री द्वारा भी संपादित हो सकते थे। स्वयम्वर एवं विधवा-विवाह के प्रचलित होने के कारण उसके प्रति संरक्षकों का उत्तरदायित्व बहुत कुछ कम रहता था। इन विशेषाधिकारों के कारण उसकी सामाजिक स्थिति पर्याप्त रूप से संतोषजनक थी। ऋग्वेद[1] में उसका स्थान आदरणीय बताया गया है। माता-पिता के वक्षःस्थल पर लेटी हुई अबोध कन्याओं का वर्णन कदापि उनकी हेयता सिद्ध नहीं करता। दूसरे स्थान[2] पर एक यजी दम्पत्ति की कामना है कि वह अनेक पुत्र-पुत्रियों को प्राप्त कर दीर्घायु हो। यहां पर पुत्रों के साथ साथ पुत्रियों की भी कामना की गई है। अतः निश्चित है कि वे अनादृत एवं हेय न समझी जाती थीं। एक अन्य स्थान पर तर्कश की प्रशंसा बहु-पुत्रीक पिता के रूप में की गई है[3]। यह प्रशंसा भी उसकी आदृतता की द्योतक है। वृहदारण्यक उपनिषद् में तो धीमती कन्या के जन्म के लिए कतिपय विधि-नियमों की व्यवस्था की गई है[4]। आपस्तम्ब गृहसूत्र का कथन है कि यात्रा से लौटने पर पिता पुत्र के समान अपनी पुत्री का भी मन्त्र-पाठ के साथ आशीर्वाद करे[5]। महाकाव्यकाल में यद्यपि पुत्र-प्राप्ति अधिक अभीष्ट समझी जाती थी तथापि पुत्री की सामाजिक स्थिति हेय न थी। दोनों महाकाव्यों में पुत्र और पुत्री दोनों के लिए समान रूप से "सन्तति" तथा "अपत्य" शब्दों का प्रयोग हुआ है। अनेक विधियों एवं यत्नों के पश्चात उत्पन्न हुई सावित्री तथा दमयन्ती[7] में उनके पिता अश्वपति तथा भीम का जो प्रगाढ़ अनुराग था वह उनकी प्रियता का ही द्योतक है। इसी प्रकार का पितृ-स्नेह कुन्ती, देवयानी, द्रौपदी, उत्तरा तथा सीता को प्राप्त था। महाभारत में मणिपुर-नरेश अपनी पुत्री को पुत्रसम समझता है[8]। इसी ग्रन्थ का कथन है कि पुत्र के अभाव में पुत्री राज्याधिकारिणी हो सकती है[9]। भीष्म का स्पष्ट कथन कि 'पुत्री' पुत्र के समान होती है,[10]

---

1. ऋ० ३. ३१. १–२.
2. ऋ० ८. ३१. ८–पुत्रिणा ता कुमारिणा विश्वमायुर्व्यश्नुतः।
   ऋ० १. १८५.५–संगच्छमाने युवती समन्ते स्वसारा जामीपित्रोरूपस्थे।
3. ऋ० ६. ७५. ५–बह्वीनां पिता बहुरस्य पुत्रश्चिश्चा कृणोति समनावगत्य।
4. वृहद्० उप० ६. ४. २७.
5. आप० गृ० सू० १५. १३.
6. महा० ३. २०३. ८–११
7. महा० ३. ५३. ५–८.
8. महा० १.२१५.२३–पुत्रो ममायमिति।
9. महा० १२.३३.४५–कुमारो नास्ति येषां च कन्यास्तत्राभिषेचय।
10. महा० १३.४५.११–पुत्रेण दुहिता समा।

विद्वद्वर्ग की विचार-धारा का प्रतिनिधित्व करता है। एक अन्य स्थान पर महाभारत का कथन है कि कन्या में लक्ष्मी वास करती है [१]। विजय, राज्याभिषेक आदि शुभ अवसरों पर उसका दर्शन अत्यन्त कल्याणकर माना जाता था [२]। कहीं-कहीं तो पुत्र की अपेक्षा पुत्री ही प्रियतरा मानी गई है [३]। मनुस्मृति में एक स्थान पर पुत्री का पद पुत्र के समान व्यवस्थित किया गया है [४]।

ब्राह्मण साहित्य की अपेक्षा बौद्ध साहित्य में कन्या की स्थिति अधिक सन्तोषजनक थी। इसके कई कारण थे। बौद्ध धर्म का प्रादुर्भाव ब्राह्मण धर्म के विरुद्ध प्रतिक्रिया के स्वरूप में हुआ था। अतः उसका मुख्य ध्येय ब्राह्मण धर्म की त्रुटियों एवं दोषों का निराकरण करना था। ब्राह्मण धर्म में पुत्र का विशेष महत्त्व था। वही यज्ञादि धार्मिक क्रियाओं एवं तर्पणादि पितृ-क्रियाओं का विशेषाधिकारी था। पितरों की प्रेतात्मा की शान्ति के लिए पुत्र परमावश्यक था। इसके विरुद्ध बौद्ध धर्म यज्ञादि में विश्वास न करता था। अतः उसके अन्तर्गत पुत्र अनिवार्य न था। महात्मा बुद्ध की व्यवस्था के अनुसार पुत्रहीन व्यक्ति भी मोक्षाधिकारी हो सकता था। अतः स्वाभाविक ही था कि बौद्ध साहित्य में ब्राह्मण साहित्य की अपेक्षा पुत्र तथा पुत्री प्रायः समान रूप से वांछनीय होते। इस कथन की पुष्टि के अनेक उदाहरण मिलते हैं। एक स्थान पर महासुवरण नामक एक गृहस्थ एक वृक्ष से अभ्यर्थना करता है कि यदि मुझे पुत्र अथवा पुत्री प्राप्त हो तो मैं तुम्हारी पूजा करूंगा [५]। इसी प्रकार एक जातक में ब्रह्मदत्त नामक एक व्यक्ति पुत्र अथवा पुत्री के लिए प्रार्थना करता है [६]। अतः स्पष्ट है कि माता-पिता के लिए पुत्र और पुत्री समान रूप से अभीष्ट थे। संयुक्तनिकाय में तो स्वयं महात्मा बुद्ध का कथन है कि कभी-कभी पुत्री पुत्र की अपेक्षा अधिक श्रेयस्कर सिद्ध होती है [७]। उब्बीरि तथा इसियासी में उनके माता-पिता का प्रगाढ़ प्रेम [८] तत्कालीन समाज में पुत्रियों की संतोषजनक प्रतिष्ठा को ही सिद्ध करता है। ब्राह्मण धर्म के प्रतिकूल बौद्ध-साहित्य में दत्तका पुत्रियों के भी उदाहरण उपलब्ध होते हैं। सोमवती ऐसी ही अनेक पुत्रियों में से एक थी। इस प्रथा से भी पुत्रियों की प्रियता प्रकट होती है।

अयाज्ञिक होने के कारण जैन धर्म के अन्तर्गत भी पुत्र-प्राप्ति अनिवार्य न थी। भद्रबाहु का कथन है कि पुरुष केवल पुत्रवान् होने से ही अधिक पुण्यवान् नहीं हो जाता। अनेक पुत्रहीन पुरुष तीर्थंकर-पद की प्राप्ति कर चुके हैं। इसके विरुद्ध बहुसंख्यक सपुत्र

१. महा० १३.११.१४—नित्यं निवसते लक्ष्मीः कन्यकासु प्रतिष्ठिता।

२. महा० ४.६८.२६, रामा० २.१५.८.

३. महा० १.१५७.३७—मन्यते केचिदधिकं स्नेहं पुत्रे पितुर्नराः
कन्यायां केचिदपरे मम तुल्यविमौ स्मृतौ।

४. मनु० ९. १३०

५. धम्मपाद टीका, श्लोक १

६. जातक ५२१

७. संयुक्तनिकाय ३-२-६

८. थेरीगाथा टीका ३३

व्यक्ति निम्न स्तर में दृष्टिगत होते हैं [१]। अतः जैन समाज-व्यवस्था में पुत्र और पुत्री की स्थिति प्रायः समान है। पुत्र की भांति पुत्री की भी अपने माता-पिता की सम्पत्ति पर अधिकार था [२]।

वैदिक-काल में बाल-विवाह की प्रथा न थी। कन्याओं का विवाह वयस्कावस्था में होता था। ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर विवाह-सन्नद्धा कन्या को युवती के रूप में प्रदर्शित किया गया है [३]। एक स्थान पर नव-वधू को श्वसुर-गृह में सम्राज्ञी के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है [४]। दूसरे स्थान पर कहा गया है कि 'सुदर्शना' एवं अलंकृता होने पर कन्या स्वयं पुरुषों में से अपना साथी चुन ले [५]। स्वयंवर की इस प्रणाली से स्पष्ट है कि कन्याओं का विवाह युवावस्था में ही होता था। घोषा का विवाह पर्याप्त आयु में हुआ था। इसी प्रकार सूर्या का विवाह भी पूर्ण यौवन-काल में हुआ था जब वह पति-प्राप्ति के हेतु आकांक्षिणी थी [६]। उसके लिए 'पत्ये शंसन्तीम्' शब्दों का प्रयोग किया गया है। सायण ने टीका करते हुये इन शब्दों को 'पतिं कमयमानां पर्याप्तयौवनामिति' कह कर समझाया है। इससे सूर्या की युवावस्था सिद्ध होती है। ऋग्वेद १०, ८५. २६ तथा ३७ में नव-विवाहिता पत्नी के उद्वाह एवं सहवास का वर्णन है। इस वर्णन से उसका पूर्णरूपेण युवती होना ही परिलक्षित होता है। अथर्ववेद में ऐसे मंत्रों एवं विधि-नियमों का उल्लेख है जिनकी सहायता से स्त्री अथवा पुरुष अपने अभीष्ट व्यक्ति को प्राप्त करने की चेष्टा किया करते थे।

कतिपय विद्वानों ने ऋग्वेद के कतिपय अंशों एवं शब्दों के आधार पर यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि तत्कालीन समाज में बाल-विवाह प्रचलित था। एक स्थान पर दंपति का वार्तालाप है [७]। इसमें पत्नी अपने पति से कहती है कि मैं पूर्णरूपेण यौवनरूढ़ा हूँ और मेरे शरीर में यौवनावस्था के अनेक लक्षण विद्यमान हैं। इस पर कतिपय विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि कदाचित् उस कन्या का विवाह अल्पावस्था में हुआ था और वह कालान्तर में पति संयोग-सुलभ हुई। परन्तु इस वार्ता से पत्नी के विवाह के समय उसकी अल्पावस्था कदापि नहीं सिद्ध होती। वह केवल अपने पति की कामेच्छा जागृत करने के हेतु ही उपर्युक्त कथन करती है, अपनी यौवनावस्था सिद्ध करने के हेतु नहीं। एक अन्य स्थान

---

१. भद्रबाहु संहिता ७-६
२. भद्रबाहु संहिता १७.
३. ऋ० १०.८५.२२—अन्यामिच्छ प्रफर्व्यां सं जाया पत्या सृज।
४. ऋ० १०.८५.४६—सम्राज्ञी श्वसुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव।
५. ऋ० १०.२७.१२.
६. ऋ० १. १२४. ७.
७. ऋ० १०. ८५. ६—सूर्यां यत्पत्ये शंसंतीम् मनसा सवितादाते।
८. ऋ० १. १२६. ६–७—पति-आगधिता परिगधिता, या कशीकैव जंगहे
ददाति मह्यं यादुरी याशनां भोज्याशता
पत्नी–उपेय मे परामर्शमा मे दभ्राणि मन्याः
सर्वाऽहमस्मि रोमशा गान्धारी रागभिवाविका।

पर[1] एक पत्नी रोमांकुरण के लिए प्रार्थना करती है। परन्तु यह प्रार्थना उसकी अल्पावस्था को नहीं वरन् उसके चर्मरोग को परिलक्षित करती है। इसी प्रकार का अन्य विवाद अर्भ और 'अर्भक' शब्दों के ऊपर है। ये शब्द प्रायः अल्पावस्था के सूचक हैं। ऋग्वेद में[2] कक्षीवत् की पत्नी वृचया के लिए 'अर्भ' शब्द का प्रयोग किया गया है। स्वयं कक्षीवत् के लिए 'महते' (प्रौढ़ावस्था) शब्द का प्रयोग किया गया है। परन्तु यहाँ पर 'अर्भा' का प्रयोग 'महते' के साथ-साथ सापेक्ष रूप में हुआ है। इससे पत्नी की अल्पावस्था सिद्ध नहीं होती। इससे केवल इतना प्रमाणित होता है कि कक्षीवत् की अपेक्षा वृचया की आयु कम थी। दूसरे स्थान पर[3] इस शब्द का प्रयोग विमद नामक पति के लिए हुआ है। परन्तु वहीं पर उसका युद्ध-भूमि में शत्रु के ऊपर विजय प्राप्ति करना उल्लिखित है। अतः निश्चित है कि वह बालक न होकर वयस्क रहा होगा। वैदिक साहित्य में आयु सम्बन्धी अन्य विवाद-ग्रस्त शब्द 'आटिकी' है। यह शब्द छान्दोग्य उपनिषद् में पाया जाता है। वहाँ[4] कहा गया है कि उषस्ति चाक्रायण कुरु देश में अपनी आटिकी पत्नी के साथ रहता था। वह निर्धन था। अतः उसने अपनी पत्नी के साथ भिक्षावृत्ति का अवलम्ब लिया था। शंकर ने टीका करते हुये 'आटिकी' को 'अनुपजात पयोधरा' के रूप में समझाया है। परन्तु इसकी यथार्थता का कोई अन्य साक्ष्य नहीं मिलता। यह सम्भव है कि भिक्षा-वृत्ति के लिये एक ब्राह्मण-युवती का पर्यटन अवांछनीय समझकर ही टीकाकार ने उसे अल्पायु प्रदर्शित करने की चेष्टा की हो। कदाचित् 'आटिकी' का सम्बन्ध वैदिक 'इटन्त्' अथवा 'इट' से है और इस प्रकार यहाँ इसका अर्थ भ्रमणशीला स्त्री से है। यह भी संभव है कि आटिकी उस स्त्री का नाम हो। ऐसी अवस्था में इस संदिग्ध शब्द के आधार पर यह कहना कि वैदिक काल में विवाह अल्पावस्था में होते थे, नितान्त अनुपयुक्त है। इस प्रकार उपर्युक्त किसी भी उद्धरण से वैदिक काल में बाल-विवाह की प्रथा सिद्ध नहीं होती। नियमतः विवाह वयस्कावस्था में ही होते थे। अनुमानतः विवाह के समय कन्या की आयु १६ वर्ष और २० वर्ष के बीच की होती थी।

प्रारम्भिक सूत्र-साहित्य में भी युवावस्था में विवाह होने की प्रथा प्रतिपादित होती है। पारस्कर-गृह्यसूत्र का कथन है[5] कि विवाहित मिथुन (विवाह के पश्चात्) ३ रात्रि तक क्षार और लवण का सेवन न करें, भूमि पर शयन करें। १ वर्ष तक १२ रात्रि तक अथवा अन्ततः ३ रात्रि तक समागमन न करें। इसी प्रकार का नियम आश्वलायन[6] तथा आप-

---

[1]. ऋ० ८. ९१. ५-६—इमानि त्रीणि विष्टपातानीन्द्र विरोहय,
शिरस्ततस्योवरीम दिंदये उपोदरे।
असौ च या न उर्वरा दिमां तन्वं मम,
अथ ततस्य यच्छिरः सर्वास्ता रोमशा कृधि।

[2]. ऋ० १. ५१. १३—अददा अर्भां महते वचस्यवे कक्षीवते वृचयामिन्द्र सुन्वते।

[3]. ऋ० १.११६. १

[4]. छान्दोग्य १. १०. १—मटचीहतेषु कुरुष्वाटिक्या सह जाययोषस्तिर्ह
चाक्रायण इभ्यग्रामे भद्राणक उवास।

[5]. पारस्कर गृ० सू० १.८—

[6]. आश्वलायन गृह-सूत्र १. ८. १०

स्तम्ब[१] के गृह्यसूत्रों में भी उपलब्ध होता है। इस नियम से स्पष्ट विदित होता है कि विवाह के समय कन्या पूर्णरूपेण वयस्का तथा पतिसमागमसुलभा होती थी। बौधायन गृह्यसूत्र में प्रवृत्त विवाह-संस्कार के बीच में कन्या के मासिकधर्म प्रारम्भ हो जाने की कल्पना की गई है और इस स्थिति में प्रायश्चित का विधान निर्देशित किया गया है[२]। इससे भी विवाह-सन्नद्धा कन्या की वयस्कता सिद्ध होती है। सांख्यायन[३], पारस्कर[४] तथा आपस्तम्ब[५] आदि के गृह्यसूत्रों में चतुर्थीकर्म का वर्णन है। यह संस्कार विवाह के ३ दिन पश्चात् (चौथे दिन) होता था। इसमें विवाहिता दम्पत्ति के समागम की योजना की गई है। अतः निश्चित है कि विवाह के समय कन्या की आयु समागम के योग्य होगी।

प्रारम्भिक गृह-सूत्रों के समकालीन बौद्ध-साहित्य में भी साधारणतया बाल-विवाह के उदाहरण नहीं मिलते। जातकों में[६] विवाहार्हा कन्या की आयु प्रायः १६ वर्ष की बताई गई है। कुलावक जातक में सुजाता के स्वयंवर का वर्णन है।[७] इसी प्रकार कन्हा[८] तथा इरन्दति[९] के विवाह भी स्वयंवर प्रथा के अनुसार ही हुए थे। स्वयम्वर-प्रणाली के प्रचलन से ही स्पष्ट है कि अपने पतियों को चुनने वाली कन्यायें कदापि अबोध अथवा अल्पवयस्का बालिकाएँ नहीं हो सकतीं। उनकी आयु कम से कम १५-१६ वर्ष की अवश्य रही होगी। यही सत्य तत्कालीन विवाह की दूसरी प्रणाली (गान्धर्व) से प्रकट होता है। महोम्मग्ग जातक में महोसध तथा अमरा के (गान्धर्व) विवाह का वर्णन है।[१०] इसी प्रकार कट्ठहारि जातक में राजा तथा एक प्राकृत नारी के गान्धर्व-विवाह का उल्लेख है।[११] इन प्रेमी-प्रेमिकाओं की वयस्कता में किसी को भी सन्देह नहीं हो सकता। अम्ब जातक में वणिक् पुत्री की शपथ[१२] से भी सिद्ध होता है कि कन्याओं का विवाह यौवनावस्था में होता था। संयुक्त-निकाय (३७.३.१,३) का कथन है कि नारी के लिए अल्पावस्था का विवाह ५ महाःदुखों

---

१. आपः गृ० सू० ८. ८-९

२. बौधा. गृ० सू०. ४. १. १०

३सांख्या० गृ० सू० १. १८-१९

४. पार. गृ०. सू०. १. ११

५. आप. गृ० सू० ८. १०-११

६. जातक १ पृष्ठ ४५६—सोलसिकवस्सुद्दे सिकभावम्।
जातक ३. पृष्ठ ९३—सोलसवस्सकाले अभिरूपा।

७. जातक. १ पृष्ठ २०५-६—सुजातं अलंकारित्वा सन्निपतट्ठानं आनेत्वा चित्तरूचितं सामिकं गहाति आहन्सु।

८. जातक ५. पृष्ठ ४२६-७,८. जातक ५. पृष्ठ २६४-५

९. जातक ६ पृष्ठ २६४

१०. जातक १ पृष्ठ १३४

११. जातक ३. पृष्ठ १३८—वीसं वा पन्नुवीसं वा अनतिंसं वा जातिया।
तादिसा पतिं मा लद्धा या ते अम्वे अवाहरि।

में से एक है। इससे स्पष्ट होता है कि समाज का शिक्षित-वर्ग वाल-विवाह का विरोधी था। धम्मपद टीका (२१-२२) में वाल-विवाह के प्रति अपने विरोध का कारण वताते हुए सोमवती का पिता राजा से कहता है कि दुर्व्यवहार एवं दुरुपयोग के भय से हम गृहस्थ अपनी अल्पवयस्क कन्याओं का विवाह नहीं करते। धम्मपद-टीका[1] में पति-समागमनाकांक्षिणी नारियों का उल्लेख किया गया है। इनमें विशाखा तथा कुण्डलकेशा का विवाह १६ वर्ष के पूर्व न हुआ था। थेरीगाथा[2] के साक्ष्यानुसार सुमेधा, सेला आदि कन्याओं का विवाह 'विवेक प्राप्ति' की अवस्था तक सम्पन्न न हुआ था। विवेकप्राप्ति की आयु १५-१६ वर्ष से नीचे नहीं हो सकती।

यूनानी लेखों में यत्र-तत्र संकेत मिलते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि विवाह वयस्कावस्था में ही होता था। निआर्कस का कथन है कि भारतीयों के एक वर्ग में कन्या का विवाह उस व्यक्ति से किया जाता था जो शौर्य-प्रतियोगिता में सफल होता था। इस कथन की पुष्टि एरियन ने भी की है। उसके सूचनानुसार वयस्कावस्था प्राप्त होने पर कन्या का पिता उसे उपस्थित व्यक्तियों के समक्ष लाता था। वहाँ पर शूरतापूर्ण कार्यों की प्रतिद्वन्द्विता में जो व्यक्ति अग्रगण्य होता था वही उस कन्या का वरण करता था। वास्तव में यह विवाह की स्वयंवर-प्रणाली का वर्णन है और इसमें कोई सन्देह नहीं कि स्वयम्वर युवती कुमारियों के लिए ही होते थे। स्ट्रैबो ने कठों में प्रचलित गान्धर्व-विवाह का भी उल्लेख किया है। इस प्रणाली के अन्तर्गत प्रेमी-प्रेमिकाओं की अल्पायु असम्भव है। अल्पावस्था में विवाह की प्रथा प्रचलित होने के पक्ष में मेगस्थनीज़ के लेख का एक अंश उद्धृत किया जाता है। उसमें उसका कथन है कि दक्षिण के पाण्ड्यों में कन्याओं का विवाह ६ वर्ष की अवस्था में होता था और ७ वर्ष की अवस्था में गर्भ धारण करने के उपयुक्त हो जाती थीं। यह विशेषता उन्हें हेराक्लीज़ के वरदानस्वरूप प्राप्त हुई थी जो उनके देश में किसी समय आया था। भारतवर्ष में यूनानी-दैवी-पुरुष हेराक्लीज़ के आगमन तथा पाण्ड्य-कन्याओं का ७ वर्ष में गर्भ-धारण के उल्लेख कोरी कल्पना हैं। इनमें कोई ऐतिहासिक सत्य नहीं है। मेगस्थनीज़ केवल उत्तरी भारत से ही सम्यक् रूप से परिचित था। वह दक्षिण में नहीं गया था। अतः पाण्ड्य कन्याओं के ६ वर्ष की अवस्था में विवाह की वात किसी नानी से सुनी हुई कहानी के आधार पर लिखी गई है।

महाकाव्यों में वाल-विवाह का उल्लेख किया गया है। महाभारत के अनुसार[3] ३०-वर्ष का व्यक्ति १० वर्ष की कन्या से तथा २१ वर्ष का व्यक्ति ७ वर्ष की कन्या से विवाह कर सकता है। परन्तु ऐसा ज्ञात होता है कि यह प्रणाली व्यवहाररूप में कभी भी कार्यान्वित न हुई थी। विवाह के जितने भी उदाहरण उपलब्ध होते हैं वे सब वयस्कावस्था के हैं। शकुन्तला, देवयानी, सत्यवती, दमयन्ती, कुन्ती, सुभद्रा, द्रौपदी आदि सब कुमारियों का विवाह पूर्ण यौवनावस्था में हुए थे। भीष्म का स्पष्ट कथन है कि वयस्क कन्या के साथ

---

1. धम्मपद टीका—१०२-१३.
2. थेरीगाथा टीका—३५.
3. महा० १३.४४ तथा १४.१६

विवाह करना चाहिये।[1] रामायण का उल्लेख है कि विवाह के समय दशरथ के चारों पुत्र यौवनशाली थे।[2] विवाह के पश्चात् अपनी पत्नियों के साथ उनके रहसि रमण का वर्णन है[3] जिससे सिद्ध होता है कि जनक की चारों पुत्रियाँ विवाह के समय वयस्क थीं।

परन्तु कुछ विद्वानों ने कतिपय उद्धरणों के आधार पर विवाह के समय उत्तरा तथा सीता की अल्पवयस्कता सिद्ध करने की चेष्टा की है। एक स्थान पर उत्तरा ने अर्जुन से कुछ वस्त्र लाने को इच्छा प्रकट की है जिससे वह अपनी तथा अपनी सहेलियो की गुड़ियों का वस्त्रालंकरण कर सके। परन्तु गुड़ियों के खेल के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि उत्तरा अल्पवयस्क बालिका थी। महाभारत[4] में स्पष्टतया विवाह के समय उसे वयस्का कहा गया है। अन्य स्थानों पर भी उसका जो वर्णन किया गया है वह उसकी यौवनावस्था को सिद्ध करता है।[5] महाभारत में एक स्थान पर (७.४६.२३) अभिमन्यु को अल्पवयस्क प्रदर्शित किया गया है। परन्तु यह केवल सापेक्ष वर्णन है। इसका अर्थ केवल इतना ही है कि अन्य योद्धाओं की अपेक्षा वह नितान्त तरुण तथा कोमल था। महाभारत में कहा गया है कि अपने गुरुजनों के समक्ष पुत्र सदैव बालक के समान ही होता है चाहे उसकी आयु ६० वर्ष की ही क्यों न हो (महा० १४.६०. ६०)।

इसी प्रकार रामायण में एक अंश है जिसमें अपहरण के हेतु आये हुए रावण से सीता कहती है कि निर्वासन के समय मेरी आयु १८ वर्ष की थी और उसके १२ वर्ष पूर्व मेरा विवाह हो चुका था।[6] इससे निष्कर्ष निकलता है कि विवाह के समय सीता की आयु ६ वर्ष की थी। परन्तु राम की सुरक्षा के लिए व्यग्र सीता का एक अपरिचित नवागन्तुक के साथ इस प्रकार अपनी आयु के विषय में वार्ता करना नितान्त अस्वाभाविक प्रतीत होता है। ऐसा ज्ञात होता है कि रामायण का यह अंश प्रक्षिप्त है जो कालान्तर में उसमें जोड़ दिया गया है। इस मत की पुष्टि रामायण के ही अन्तःसाक्ष्य से होती है। ऊपर कहा जा चुका है कि विवाह के समय सीता पूर्ण वयस्का थीं।[7] दूसरे स्थान पर स्वयं सीता अनुसूइया से कहती है कि विवाह की आयु में अवतीर्ण पूर्ण वयस्का मुझे देखकर मेरे पिता को उतनी ही चिन्ता होती थी जितनी कि किसी निर्धन को अपने वित्तनाश पर।[8] इस वर्णन के पश्चात् सीता की पूर्ण वयस्कता में तनिक भी सन्देह नहीं रहता।

---

[1]. महा० १३.१०४.१२४

[2]. रामा० १.७२७–पुत्रा दशरथस्येमे रूपयौवनशालिनः।

[3]. रामा० १.७७.१४–रेमरे मुदिताः सर्वा भर्तृभिर्मुदिता रहः।

[4]. महा० ४.७२.४

[5]. महा० ४.३७.१–हस्ति हस्तोप संहितोरू, महा० ४.३७.४ नागवधूरिव।

[6]. रामा० ३.४४७. एवं १०

[7]. रामा० १.७७.१४

[8]. रामा० २.११८.३४–पतिसंयोगसुलभं वयो दृष्ट्वा तु मे पिता।
चिन्तामभ्यगमद्दीनां वित्तनाशात् इवाधनः॥

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि दीर्घकाल तक कन्याओं के विवाह वयस्कावस्था में ही होते रहे। परन्तु साहित्य साक्ष्यों के अवलोकन से ऐसा भासित होता है कि ४०० ई० पूर्व समाज में एक नवीन विचार-धारा का उदय हुआ जिसने कन्याओं की विवाह-आयु को कम करने की चेष्टा की और कालान्तर में वह सफल भी हुई। सर्व-प्रथम यह परिवर्तन बाद के सूत्र-साहित्य में परिलक्षित होता है। बौधायन का कथन है कि यौवन-प्राप्ति के ३ वर्ष पश्चात् तक कन्या अविवाहित रक्खी जा सकती है[1]। इस मत की पुष्टि वसिष्ठ धर्मसूत्र[2] एवं मनुस्मृति[3] से भी होती है। कौटिल्य ने अपने अर्थ-शास्त्र में भी इसी प्रकार की व्यवस्था की है[4]। इस प्रकार इन व्यवस्थाकारों के अनुसार कन्या की विवाहावस्था अधिक से अधिक लगभग १६-१७ वर्ष की थी। परन्तु यौवनावस्था के पश्चात् ३ वर्ष के अनुग्रह के साथ-साथ उनका यह भी कथन है (बौधा, ४, १, १२, वसिष्ठ, १७, १०, ७१) कि अविवाहित कन्या के प्रत्येक मासिकधर्मोदय पर उसका संरक्षक भ्रूण-हत्या का अपराधी होता है। इसी प्रकार योग्य वर के अभाव में बौधायन ने अयोग्य वर को भी कन्या-प्रदान की व्यवस्था कर दी है, क्योंकि दीर्घायु तक अविवाहित कन्या का अपने पिता के घर में रहना उन्हें स्वीकृत नहीं है।[5] अतः उनके इस वर्णन से स्पष्ट भासित होता है कि समाज

१. बौधा० ध० सू० ४. १. १४—त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमारी ऋतुमती सती।

२. वसिष्ठ ध० सू०—१७, ५६,
कुमारी ऋतुमती त्रीणिवर्षाण्युदीक्षेत। ऊर्ध्वं त्रिभ्यो वर्षेभ्यः पतिं विन्दतुल्यम्।

३. मनु० ६, ६०—त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमारी ऋतुमती सती
उर्ध्वं तु कालादेतस्माद्विन्देत सदृशं पतिम्।

४. कौटिल्य ४, १२,

५. बौधा० ४. १. १२— दद्यात्गुणवते कन्यां नग्निकां ब्रह्मचारिणीम्।
अपि वा गुणहीनाय नोपरुन्ध्याद्रजस्वलाम्।

नग्निका—-ब्राह्मण साहित्य में अनेक स्थानों पर इस शब्द का प्रयोग किया गया है। अनेक अन्य गृहसूत्रों में भी (मानव गृहसूत्र १. ७. ८., गोभिल गृहसूत्र ३. ४. ६., वैखानस गृहसूत्र ६. १२) कहा गया है कि नग्निका कन्या के साथ विवाह करना चाहिए। गृह्या संग्रह में इसका तात्पर्य अवयस्क कन्या से है। पुराणों में इसका अर्थ अबोध बालिका से है जिसे अपने शरीर को ढकने का भी ज्ञान नहीं है। इन समस्त अर्थों का निष्कर्ष यही निकलता है कि नग्निका कन्या अल्पवयस्का होती थी। पूर्ण यौवना नहीं। यदि यह यथार्थ है तो केवल नग्निका शब्द के आधार पर ही बालविवाह का प्रतिपादन हो जाता है। परन्तु ये समस्त साक्ष्य बहुत बाद के हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि प्रारम्भ में नग्निका का अर्थ अल्पवयस्का कन्या न था। महाभारत में षोडशवर्षीया कन्या को नग्निका कहा गया है। त्रिंशद्वर्षः षोडशवर्षां भार्यां विन्देत् नग्निकाम्-वीरमित्रोदय. संस्कारप्रकाश पृष्ठ ७६६। बौधायन गृहसूत्र (४. १. १२) तथा हिरण्यकेशि गृहसूत्र (१. १६. २) में नग्निका को ब्रह्मचारिणी कहा गया है। यदि वह केवल ६-७ वर्ष की अबोध कन्या होती तो ब्रह्मचारिणी का कोई अर्थ नहीं होता अतः निश्चित है कि प्रारंभ में नग्निका कन्या का अर्थ पूर्णवयस्का कन्या से था। परन्तु कालान्तर में जब बाल विवाह का प्रतिपादन हुआ तो इस शब्द का अर्थ भी परिवर्तित कर दिया गया। अब इसका तात्पर्य उस कन्या से माना जाने लगा जो पूर्ण रूप से अल्पवयस्का हो और जिसे अपने शरीर को ढकने का बोध न हो।

की प्रवृति कन्या के यौवनागमन पर ही (लगभग १४ वर्ष की अवस्था में) उनका विवाह कर देने के पक्ष में होती जा रही थी। इस प्रवृत्ति के प्रमुख प्रतिनिधि गौतम[1] तथा विष्णु[2] थे। उनके अनुसार कन्या का विवाह यौवनागमन के पश्चात् ३ मास के भीतर ही हो जाना चाहिए। इस नवीन विचार-धारा के उदाहरण महाभारत में भी परिलक्षित होते हैं। इसमें एक स्थान पर कहा गया है कि मनुष्य को ऐसी कन्या का वरण करना चाहिए जिसने कभी स्वप्न में भी कामेच्छा न की हो। वर्णन से स्पष्ट है कि महाकाव्यकार बाल-विवाह का प्रतिपादन कर रहा है[3]। अल्पवयस्क-विवाह के कतिपय उदाहरण बौद्ध साहित्य से भी उपलब्ध होते हैं। (४ पृ० ३२१-२२) भिक्षुणी-विभंग के साक्ष्यानुसार कन्याओं का विवाह १२ वर्ष से कम की आयु में ही हो जाता था। मिलिन्दपन्हो (२, २, ६) भी एक स्थान पर बालविवाह का उल्लेख करता है। विवाह की आयु कम करने का यह आन्दोलन अनेक कारणों से सम्भूत हुआ था। ईसा की प्रथम शताब्दी तक आते-आते कन्याओं के उपनयन एवं शिक्षा-दीक्षा की प्रथा का अन्त हो गया। अतः स्वाभाविक था कि कन्याओं के संरक्षक उन्हें अधिक समय तक अपने घर में अकर्मण्यता की स्थिति में न रखना चाहते थे। वे उन्हें शीघ्रातिशीघ्र विवाहित करके अपने भार से मुक्त हो जाना चाहते थे। पुनः बौद्ध धर्म के प्रसार से समाज में मनुष्य के मस्तिष्क में सांसारिक अनित्यता का भाव अधिकाधिक दृढ़ीभूत होने लगा। अतः मनुष्य अतिकाल न करके शीघ्रातिशीघ्र अपने जीवन के प्रमुख उत्तरदायित्वों को पूर्ण कर देने के लिए उत्सुक रहने लगा। इन उत्तरदायित्वों में कन्या-विवाह प्रमुख था। कदाचित् बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणियों के पारस्परिक सम्पर्क एवं सहवास से यत्र-तत्र समाज में सदाचारिता को भी आघात लगा। जहाँ बौद्ध विहारों एवं मठों में अधिकांश बौद्ध भिक्षु और भिक्षुणी सदाचार एवं त्याग के मूर्ति थे वहां उनमें से कुछ उस उच्च स्तर एवं आदर्श से च्युत होकर विलासिता का जीवन व्यतीत करने लगे थे। इन पदच्युत व्यक्तियों का दुष्प्रभाव स्त्री समाज पर न पड़े, इसी ध्येय से कदाचित् समाज-व्यवस्थाकारों ने अधिक आयु तक कन्याओं को अविवाहित रखना श्रेयस्कर न समझा और उन्होंने शीघ्रातिशीघ्र उनका विवाह कर देने के मत को प्रतिपादित करना प्रारम्भ किया जिससे कन्याओं की पवित्रता में किसी को सन्देह न हो। इन कारणों के अतिरिक्त समाज में एक वर्ग ऐसा भी होगा जो सदैव शीघ्रातिशीघ्र संतान-प्राप्ति के लिए आकांक्षी होगा। इस वर्ग ने इस नवीन आन्दोलन को पुष्ट करने में यथाशक्ति योग दिया होगा। इन समस्त कारणों को हम बीजरूप में महाभारत में एक स्थान पर पाते हैं। वहाँ पर अल्पायु में विवाह करने के पक्ष में ३ कारण बताये गये हैं : (१) सांसारिक अनित्यता (२) मनुष्यों की प्रजार्थिता (२) कन्याओं की अन्तःशुद्धि[4]।

यद्यपि विवाह की आयु कम करने का यह आन्दोलन ५००-४०० ई० पू० से ही प्रारम्भ हो गया था तथापि ईसा की पहली तथा दूसरी शताब्दी तक इसका अधिक प्रभाव न

---

१. गौतम ध० सू० १८. २०

२. विष्णु २४. ४१.

३. महा० १३. ७६. १५

४. महा० १३, ७६. १४–१५

पड़ा। मनु की व्यवस्था से यह कथन स्पष्ट हो जाता है। यद्यपि वे कन्या के शीघ्रातिशीघ्र विवाह करने के पक्ष में हैं[१] तथापि एक स्थान पर उनका स्पष्ट कथन है कि योग्य वर के अभाव में कन्या आजीवन अपने पिता के घर रह सकती है[२]। परन्तु दूसरी शताब्दी से समाज में अल्पवयस्क कन्याओं के विवाह की प्रथा प्रतिष्ठित हो गई[३]।

यौवनावस्था में विवाह होने के कारण कन्याओं को शिक्षा-दीक्षा मिलने के लिए पर्याप्त काल मिल जाता था। यह शिक्षा गृह-कार्य-सम्बन्धी होने के कारण सर्वतोमुखी होती थी। माता-पिता के साथ दीर्घ-काल तक रहते हुए पुत्रियों को गार्हस्थ्य-जीवन के दैनिक कार्यों में विशेष दक्षता प्राप्त हो जाती थी। ऋग्वेद में गाय दुहती हुई तथा दही और मक्खन तैयार करती हुई कन्याओं का वर्णन उपलब्ध होता है।[४] उसी ग्रन्थ में एक स्थान पर अपाला का उल्लेख है जो अपने माता पिता के कृषि-कार्यों का निरीक्षण करती थी।[५] गृह-कार्य के लिए कन्यायें कूपों से जल लाती थीं[६] तथा अवकाश मिलने पर कताई, बुनाई[७] और सिलाई का कार्य करती थीं।[८] वैदिक साहित्य में स्त्रियों का उल्लेख रजयित्री, विदलकारी, पेशस्कारी आदि के रूप में हुआ है। इन घरेलू-धन्धों में घर की कन्याओं को अनिवार्यतः शिक्षा दी जाती होगी। कालान्तर में गृह-कार्यों में कुशल स्त्रियों को 'स्त्रीप्रज्ञा' का विशेषण दिया गया। उपनिषद् काल में याज्ञवल्क्य की स्त्री कात्यायनी इसी नाम से सम्बोधित हुई है।

वैदिक साहित्य में अनेक ऐसे उल्लेख प्राप्त होते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि गृहस्थ-कार्यों के अतिरिक्त महिलाओं को संस्कृति के अन्य प्रधान उपांगों में भी पर्याप्त शिक्षा दी जाती थी। इनमें संगीत एवं नृत्य विशेष महत्वपूर्ण थे। ऋग्वेद में गाती हुई स्त्रियों का वर्णन मिलता है[९]। इसी प्रकार विदथ (सभा) में एकत्र हुई महिलाओं को भी हम ऋक्-गान करते हुये पाते हैं[१०]। संगीत का नृत्य के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः निश्चित है कि दोनों कलाओं की शिक्षा साथ-साथ होती होगी। ऋग्वेद में कतिपय स्थानों पर नृत्यकुशला स्त्रियों का उल्लेख मिलता है[११]। शतपथ ब्राह्मण का कथन है कि स्त्रियां संगीतविद् तथा नृत्यविद् व्यक्ति में सुगमतापूर्वक अनुरक्त हो सकती है[१२]। उसी ग्रन्थ में अन्य स्थान पर कहा गया है कि साम-गान स्त्रियों का विशेष कार्य है[१३]। इसी प्रकार तैत्तिरीय संहिता[१४] और मैत्रायणी संहिता[१५] में भी स्त्रियों की सङ्गीत-नृत्याभिरुचि का उल्लेख है।

१. मनु० ९. ९० २. मनु—९. ८९
३. याज्ञ० १. ६४ —अप्रयच्छन्समाप्नोति भ्रूणहत्यामृतौ ऋतौ।
४. ऋ० १. १३५. ७— ५. ऋ० ८. ८०.
६. ऋ० १. १९१. १४—तास्ते विषं विजभ्रिर उदकं कुम्भिनीरिव।
७. ऋ० २. ३. ६ —तन्तुं ततं संवयन्ती समीची यज्ञस्य पेशः सुदुघे पयस्वती।
८. ऋ० २. ३२. ४—सीव्यत्वपः सूच्याच्छिद्यमानया ददातु वीरं शतदायमुक्थ्यम्
९. ऋ० ६. ६६. ८ —समुत्वा धीभिरस्वरन्हिन्वती सप्तजामयः विप्रमाजा विवस्वतः
१०. ऋ० १०. ७१. ११—ऋचां त्वं पोषमास्ते पुपुष्वान्गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु
११. ऋ० १. ९२. ४—अधिपेशांसि वपते नृतूरिवापोर्णुते वक्ष उस्रेव बर्जहम्।
१२. शतपथ ब्रा० ३. २. ३ ६—तस्माद् एवं नृत्यति यो गायति तस्मिन्नेवैता निम्लिष्टतमा इव।
१३. शतपथ ब्रा० १४. ३. १. ३५—पत्नीकर्मैव वे तेऽत्र कुर्वन्ति यदुद्गातारः
१४. तैत्ति० सं०—६. १. ६. ५. १.
१५. मैत्रा० सं० ३. ७. ३.

गृहस्थ कार्यों एवं ललित कलाओं के अतिरिक्त कन्याओं को वैदिक शिक्षा का भी अधिकार था। वैदिक काल में पुत्री की शिक्षा उतनी ही आवश्यक समझी जाती थी जितनी पुत्र की। ऋग्वेद में शिक्षित स्त्री-पुरुष के विवाह की उपयुक्तता बताई गई है[१]। इसी प्रकार का कथन यजुर्वेद में उपलब्ध होता है।[२]

प्रारम्भ में पुत्रों की भांति पुत्रियों का भी उपनयन-संस्कार होता था और तत्पश्चात् वे ब्रह्मचारिणी के रूप में शिक्षा प्राप्त करती थीं। वास्तव में कन्या का यह ब्रह्मचर्य-काल उसके आगामी गृहस्थ-काल के लिए तैयारी मात्र था। इसमें वह अपनी शारीरिक एवं बौद्धिक शक्तियों को विकसित करती हुई संस्कृति एवं धर्म के उन समस्त उपकरणों से भिज्ञ हो जाती थी जिनकी उसे गृहस्थ-जीवन में आवश्यकता होती थी। यही कारण है कि अथर्ववेद में पति-प्राप्ति के हेतु कन्या के लिए ब्रह्मचर्य को अत्यधिक महत्वपूर्ण बताया गया है।[3] इस ब्रह्मचर्य-काल में वे पुरुषों की भांति शिक्षा पाती थीं। वैदिक साहित्य में अनेक विदुषियों के उल्लेख मिलते हैं जो पुरुषों की भाँति ही अपने-अपने विषय में पारंगत थीं। इनमें से लोपामुद्रा (ऋ० १. १७६) विश्ववारा (ऋ० ५. २८) सिकता (ऋ० २८.६१) निशवरी (ऋ०६.८१) और घोषा (ऋ० १०.३६.४०) ने तो ऋषियों की भाँति ऋचाओं की भी रचना की थी। कौति० ब्रा० (२६) में एक कुमारी गन्धर्वग्रहीत अग्निहोत्र में पारंगत प्रदर्शित की गई है। वैदिक काल में शिक्षा का आधार मूलतः याज्ञिक एवं धार्मिक था। उस समय स्त्रियों को यज्ञ करने का अधिकार था।[४] अतः मन्त्र-पाठ की शुद्धता के लिए वेदाध्ययन आवश्यक था। उपनिषद्-काल में जब दार्शनिक विचार-धारा का उदय हुआ तो उसमें भी विदुषी महिलाओं ने महत्वपूर्ण योग दिया। बृहदारण्यक उपनिषद् में पंडिता दुहिता की उत्पत्ति के लिए विशेष विधि की योजना की गई है।[५] यहाँ 'पाण्डित्य' का तात्पर्य 'वेदों में 'पांडित्य' से है क्योंकि इस वाक्य के ऊपर ही वह ग्रन्थ पुत्र के पांडित्य के सम्बन्ध में तीन वेदों का उल्लेख करता है। परन्तु शंकर ने टीका करते हुए दुहिता का 'गृह-कार्यों में पांडित्य' से अर्थ लिया है।[६] इसका एक विशेष कारण था। शंकर के समय तक स्त्रियों के उपनयन-संस्कार तथा वेदाध्ययन के अधिकारों का अपहरण हो चुका था। अतः शंकर ने प्रचलित सामाजिक विचारों के अनुसार उस उपनिषद्-अंश की टीका की है। परन्तु प्रारम्भ में उसका यह अर्थ न था। उपर्युक्त उपनिषद् में ही पतंचलकाप्य की पुत्री एवम्

१. ऋ० ३.५५.१६—आ धेनवो धनयन्तामशिश्वीः सर्वदधाः शशया अप्रदुग्धा
नव्यानव्या युवतयो भवन्तीर्महद्देवानामसुरत्वमेकम्।

२. यजु० ८.१—उपायाम्गृहीतो स्यादित्येव्यस्तवा।
विष्णुरगायेषते सोमस्तं रक्षस्व मा त्वादवन्।

३. अथर्व० ११.५.१८—ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्।

४. ऋ० ८.९१.१—कन्या वारयावती सोममपि स्युता विदत्।
अस्तं भरन्त्यब्रवीदिन्द्राय सुनवैत्वा।

तथा ऋ० ५.२८.१—एति प्राची विश्ववारा नमोभिर्देवां ईलाना

५. बृह० उप० ६.४.१७ अथ य यच्छेद्दुहिता मे पण्डिता जायेत।

६. शंकरभाष्य—दुहितुः पांडित्यं गृहतन्त्रविषयमेव वेदे नाधिकारात्।

पत्नी दोनों ही विदुषी के रूप में उल्लिखित हैं।[१] इस काल की अन्य विदुषियों में गार्गी वाचक्नवी तथा मैत्रेयी प्रमुख थीं। बृहदारण्यक उपनिषद्[२] में विदेहराज जनक की राज-सभा में गार्गी वाचक्नवी तथा याज्ञवल्क्य के वाद-विवाद का वर्णन है। उसके प्रश्न इतने सूक्ष्म तथा गूढ़ थे कि याज्ञवल्क्य ने उनका उत्तर देना अस्वीकार कर दिया। मैत्रेयी स्वयं याज्ञवल्क्य की पत्नी थी जिसे संसार के भोगविलास की अपेक्षा दार्शनिक विषयों में ही अधिक अभिरुचि थी। वानप्रस्थ आश्रम को स्वीकार करने के पूर्व जब याज्ञवल्क्य ने अपनी दोनों पत्नियों—मैत्रेयी तथा कात्यायनी—के बीच अपनी सम्पत्ति का विभाजन करना चाहा तो विद्या-व्यसना मैत्रेयी ने मोक्ष-प्राप्ति के लिए सम्पत्ति को व्यर्थ समझ कर अपना भोग लेना अस्वीकार कर दिया तथा अपने पति से ऐसे ज्ञान-दान की प्रार्थना की जो उसे अमरत्व प्रदान करें[३]। कदाचित् इस प्रकार की विदुषियों के कारण ही उनके पुत्रों के नाम माताओं के नाम से संबन्ध थे[४]। आश्वलायन गृहसूत्र[५] में वैदिक ऋषितर्पण के लिए अनेक ऋषियों के नाम उल्लिखित हैं। इनमें गार्गी वाचक्नवी, वडवा प्रातिथेयी तथा सुलभा मैत्रेयी के नाम भी सम्मिलित हैं। ऋषियों के साथ इन महिलाओं के नाम की गणना इनकी महती विद्वत्ता एवं कीर्ति को प्रमाणित करती है। इसी गृहसूत्र में स्त्रियों के समावर्तन संस्कार[६] का उल्लेख किया गया है जिससे स्पष्ट होता है कि उन्हें वेदाध्ययन का अधिकार था। आपस्तम्ब का कथन है कि अन्य अनुलिखित कर्त्तव्यों का ज्ञान स्त्रियों से उपलब्ध करना चाहिए[७] तथा उनका ज्ञान समस्त अध्ययन का पूरक है[८]। इन कथनों से विदित होता है कि सामाजिक एवं धार्मिक शिक्षा में स्त्रियों का विशेष स्थान था। गोभिल गृहसूत्र में वर के साथ वधू के 'प्रमे पतियानः पन्थाः कल्पताम्। शिवा अरिष्टा पतिलोकं गमेयमिति' मन्त्रोच्चार का आदेश है[९]। इसी प्रकार काठक गृहसूत्र में वर-वधू द्वारा अनुवाक-पाठ का उल्लेख[१०] है। हारीत के साक्ष्य[११] से विदित होता है कि ५०० ई० पू० के लगभग महिला-

---

१. बृह० उप० ३.३.१ तथा ३.७.१. २. बृह० उप० ३.६ तथा ८

३. बृहदारण्यक उप० २.४.३—तथा ४.५.४. सा होवाच मैत्रेयी येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्यां यदेव भगवान् वेद तदेव मे ब्रूहि।

४. यथा गार्गी पुत्र—बृह० उप० ६.४.३०.

५. आश्वलायन गृ० सू० ३-४. ६. आश्व० गृहसूत्र ३.८ ११

७. आप० २.२.२९.१२. ८. आप० २.२.२९ १५.

९. गोभिल गृ० सू० २.१.१९.-२० १०. काठक गृ० सू० २५. २३

११. तत्र ब्रह्मवादिनीनामग्नीन्धनं वेदाध्ययनं स्वगृहे च भैक्ष्यचर्येति सद्योवधूनां तूपस्थिते विवाहे कथंचिदुपनयनमात्रं कृत्वा विवाहः कार्यः
पुराकल्पे तु नारीणां मौञ्जीबंधनमिष्यते
अध्ययनं च वेदानां सावित्रीवचनं तथा
पिता पितृव्यो भ्राता वा नैनामध्यापयेत्परः
स्वगृहे चैव कन्यायां भैक्ष्यचर्या विधीयते
वर्जयेदजिनं चीरं जटाधारणमेव च
वीरमित्रोदय संस्कार प्रकाश में उद्धृत हारीत।

समुदाय दो वर्गों में विभक्त था। (१) ब्रह्मवादिनी वर्ग तथा (२) सद्योवधू वर्ग। प्रथम वर्ग में उन महिलाओं की गणना होती थी जो विवाह एवं गार्हस्थ्य जीवन का विचार त्याग कर आजीवन विद्याध्ययन करती हुई अनवरत तपस्या एवं अनुशासन का जीवन व्यतीत करती थीं। द्वितीय वर्ग के अन्तर्गत वे महिलायें थीं जो विवाह के पूर्व तक ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करतीं और विद्याध्ययन करती थीं। तत्पश्चात् वे विवाह कर गृहस्थ जीवन में प्रविष्ट होती थीं। जब तक विवाह की आयु १६-१७ वर्ष की रही तब तक कन्याओं के विद्याध्ययन के लिए पर्याप्त समय मिल जाता था। परन्तु प्रथम शताब्दी के पश्चात् जब अल्पवयस्क कन्याओं के विवाह की प्रथा का प्रचलन हुआ तो सद्योवधूवर्ग के अन्तर्गत कन्याओं की शिक्षा का प्रायः पूर्णरूपेण ह्रास हो गया।

हारीत के उपर्युक्त साक्ष्य से तत्कालीन शिक्षा-प्रणाली पर भी कुछ प्रकाश पड़ता है। युवकों की भांति युवतियाँ भी उपनयन संस्कार के पश्चात् ब्रह्मचर्य व्रत को धारण किये हुए विद्याध्ययन करती थीं। परन्तु उनके यम-नियम पुत्रों के यम-नियमों से थोड़े-बहुत भिन्न थे। वे अजिन, चीर, जटा आदि धारण करने तथा भैक्ष्यचर्या आदि से मुक्त थीं। उनकी शिक्षा भी प्रायः घर पर ही होती थी। उनका शिक्षा-काल भी युवकों की अपेक्षा कम होता था, क्योंकि उनके विवाह की आयु १६ वर्ष के लगभग थी जब कि युवकों का विवाह लगभग २४-२५ वर्ष की अवस्था में होता था।

पाणिनि की अष्टाध्यायी से भी तत्कालीन स्त्री-समाज के ऊपर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। उसके ३. ३. २१ तथा ४. १. ४६ सूत्रों में काशिकाकार ने 'उपाध्याया' तथा 'आचार्या' की रचना समझाई है। इन दोनों शब्दों का आचार्यानी तथा उपाध्यायनी शब्दों से अन्तर है। बाद के दोनों शब्दों का तात्पर्य गुरु की स्त्री से होता है। ये सदैव पंडिता न होती थीं। परन्तु आचार्या[1] तथा उपाध्याया[2] उन शिक्षित महिलाओं को कहते थे जो स्वयं अध्यापन-कार्य करती थीं। अतः इन शब्दों से ज्ञात होता है कि महिला-समाज में शिक्षा का सम्यक् प्रचार था। महिलाओं द्वारा अध्यापन प्रचलित होने का साक्ष्य पतंजलि के महाभाष्य से भी उपलब्ध होता है। उसमें 'औदमेधाः' का अर्थ 'औदमेध्या' नामक अध्यापिकाओं के छात्र से है[3]। इसी प्रकार इस ग्रंथ में काशकृत्स्न-मीमांसा में पारंगता ब्राह्मणी को काशकृत्स्ना तथा आपिशलि-व्याकरण में पारंगता ब्राह्मणी को आपशला पुकारा गया है[4]। इन समस्त उदाहरणों से स्पष्ट सिद्ध होता है कि महिलाओं में केवल प्रभूत शिक्षा का प्रचार ही न था वरन् वे विविध विषयों में विशेषीकरण भी करती थीं। इन महिलाओं की बहुसंख्या के कारण ही कदाचित् उनके वर्गों के पृथक्-पृथक् नामकरण करने की आवश्यकता प्रतीत हुई थी। यह अध्ययन-अध्यापन का कार्य विशेषतया ब्राह्मण महिलाओं द्वारा ही संपादित होता था।

---

[1] अमरकोश—उपाध्याया स्वयं विद्योपदेशिनी।

[2]. अमरकोश—स्यादाचार्यापि—स्वयं मन्त्रव्याख्यात्री।

[3]. महाभाष्य. भाग २ पृष्ठ २२६—औदमेध्याश्छात्रा औदमेधाः।

[4]. माहभाष्य. भाग २ पृष्ठ २०५—आपिशलमधीते ब्राह्मणी आपशला ब्राह्मणी।
महाभाष्य भाग २—पृष्ठ २०६—काशकृत्सिना प्रोक्ता मीमांसा काश कृत्स्नी।
काशकृत्स्नीमधीते काशकृत्स्ना ब्राह्मणी अत्र प्राप्नोति।

महाकाव्यों से भी विदित होता है कि कन्याओं की शिक्षा का पूरा ध्यान रखा जाता था। परन्तु साधारणतया यह शिक्षा उन्हें घर पर ही दी जाती थी। राम के प्रति सीता का कथन इसी आशय का है [१]। द्रौपदी ने भी राजनीति की शिक्षा अपने भाइयों के संसर्ग में पाई थी। उत्तरा की संगीत एवं नृत्य की शिक्षा अर्जुन के द्वारा घर पर ही दी गई थी। परन्तु उच्च शिक्षा के लिए कदाचित् महिलाएँ घर के उत्कृष्ट विद्वानों के निरीक्षण में भी अध्ययन करती थीं। रामायण से विदित होता है कि अत्रेयी वेदान्त की विद्यार्थिनी थी और वह वाल्मीकि के आश्रम में लव-कुश के साथ पढ़ती थी। कहीं-कही सहशिक्षा के प्रमाण उपलब्ध होते हैं। महाभारत में शैखावत्य के साथ अम्बा के अध्ययन का उल्लेख है [३]। महाकाव्य-काल में स्त्री वैदिक शिक्षा से वर्जित न थी। रामायण में कौशल्या और तारा को 'मन्त्रविद्' कहा है [२]। इसी ग्रंथ में सीता के संध्या करने का उल्लेख है।[३] महाभारत में द्रौपदी के लिए "पंडिता' शब्द का प्रयोग किया गयाहै। इसी महाकाव्य के अनुसार सुलभा ने अपना सम्पूर्ण जीवन वेदान्त में ही व्यतीत किया था। विराटपर्व का उल्लेख है कि क्षत्रिय स्त्रियाँ नृत्य-संगीत आदि ललितकलाओं का भी अध्ययन करती थीं। इस प्रकार की शिक्षा क्षत्रियों के अतिरिक्त कदाचित् समाज के अभिजात वर्ग में भी प्रचलित थी। वात्स्यायन का कामसूत्र पहली-दूसरी शताब्दी में सम्प्राप्त महिला-समाज की शिक्षा के विषय पर अच्छा प्रकाश डालता है। इसके अनुसार कन्याओं को पुस्तक-वाचन, काव्य, पुराण, प्रहेलिका, नृत्य, संगीत, चित्रकला आदि ६४ कलाओं में शिक्षा दी जाती थी [४]। परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि उपर्युक्त उदाहरण उच्च एवं अभिजात वर्ग की महिला-शिक्षा के विषय पर ही अधिक प्रकाश डालते हैं। जनसाधारण में महिला-शिक्षा का शनैः शनैः ह्रास हो रहा था। इसका मुख्य कारण अल्पावस्था में कन्याओं के विवाह के प्राचलन का प्रारम्भ तथा स्त्रियों के वेदाध्ययन एवं धार्मिक क्रियाओं के अधिकारों का उत्तरोतर ह्रास था।

बौद्ध-साहित्य में भी महिला-शिक्षा सम्बन्धी अनेक ज्ञातव्य बातें उपलब्ध होती हैं। जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, बौद्ध साहित्य में भी कन्याओं के विवाह की आयु प्रायः १६ वर्ष की थी। अतः उन्हें धर्म, दर्शन, ललित कलाओं, गृह-कार्य आदि की शिक्षा के लिए पर्याप्त समय मिल जाता था। एक जातक में रानी उदुम्बरा को 'शिक्षिता' कहा गया है[५]। दूसरे में अमरा को एक विदुषी एवं गृहस्थ-कार्य-कुशल के रूप में प्रदर्शित किया गया है। इसी प्रकार जातकों में भेरी, सुगाता, सिगालमाता आदि अनेक विदुषी 'परिव्राजिकाओं' का उल्लेख है जो संसार के भोग-विलासों से दूर रह कर साधना, अध्ययन एवं मनन का

---

१. रामा० २. २७. १०—अनुशिष्टास्मि मात्रा च पित्रा च विविधा श्रयम्।

२. रामा० २. २०. ७५.—रामा० किष्किन्धा १६. १२

३. रामा० ५. १५. ४८—संध्याकालमनाः श्यामा ध्रुवमेष्यति जानकी।
नदीं चेमां शुभजलां संध्यार्थे वरवर्णिनी ॥

४. कामसूत्र १. १. १६.

५. जातक ६ पृ० २५.

जीवन व्यतीत कर रही थीं[१]। थेरीगाथा में लगभग ७७ विदुषी भिक्षुणियों के गीत संग्रहीत हैं। ये थेरियां ज्ञान एवं सदाचारिता की दृष्टि से किसी भी उच्चतम बौद्ध विद्वान् से हीन न थी। बौद्ध साहित्य में उल्लिखित विदुषी भिक्षुणियों में महाप्रजापति, खेमा, किसा गौतमी, उत्पलवण्णा, वाजिरा, सुखा, तुलनन्दा विशेष उल्लेखनीय हैं। इनकी कुशाग्र बुद्धि, तर्कशीलता, जिज्ञासा एवं ज्ञानशीलता उपनिषद्-काल की प्रसिद्ध विदुषी मैत्रेयी एवं गार्गी की कोटि की थी। खेमा के प्रकांड दार्शनिक ज्ञान तथा सूक्ष्म विवेचन ने तत्कालीन राजा पसेनदि को आश्चर्यान्वित कर दिया था। उसकी ख्याति दूर-दूर तक प्रसारित हो गई थी[२]। भद्दकुण्डलकेशा का ज्ञान अति उच्चकोटि का था[३]। धम्मनीना बौद्ध-धर्म की लब्धप्रतिष्ठ प्रचारिका थी। वाजिरा 'सन्तज्ञान' में प्रगाढ़ थी। इस प्रकार के अनेकानेक दृष्टान्त उद्धृत किये जा सकते हैं। इन सुविख्यात भिक्षुणियों की साधना एवं विद्वत्ता ने बौद्ध-व्यवस्था के अन्तर्गत स्त्री का स्थान ब्राह्मण-धर्मव्यवस्था की अपेक्षा उच्चतर बना दिया था। उन्हें मोक्षाधिकार प्राप्त हो चुका था[४]। इस लिए उन्हें ब्राह्मण-व्यवस्था के अनुसार अपने पति अथवा पुत्र पर आश्रित न रहना पड़ता था। परन्तु ये समस्त उदाहरण भिक्षुणियों अथवा अभिजातवर्गीया महिलाओं के ही हैं। विहार-निवासिनी भिक्षुणियों को छोड़ कर ऐसा प्रतीत होता है कि तत्कालीन समाज में उच्च शिक्षा कदाचित् अभिजात वर्ग में ही सीमित थी और वह भी प्रायः घर पर ही होती थी। तक्षशिला जैसे प्रसिद्ध विश्वविद्यालय में हम एक भी महिला का प्रवेश नहीं पाते।

धर्म एवं दर्शन के अतिरिक्त ललित कलायें शिक्षा का एक महत्वपूर्ण अंग थीं। एक जातक में कन्हा नामक एक स्त्री को संगीतपटु के रूप में प्रदर्शित किया गया है[५]। अनेक स्थानों पर कार्यसंलग्ना कन्याएं एवं महिलाएं गीत गाती हुई प्रदर्शित की गई हैं[६]। जातकों में उनके लिए बहुधा 'कुसला नच्चगीतेसु' शब्दों का प्रयोग किया गया है। कभी-कभी उनकी यह संगीत-नृत्य-विद्या उनके लिए जीविका का साधन भी बन जाती थी[७]। इन कलाओं की लोकप्रियता बौद्धसाहित्य[८] में उल्लिखित वीणा, तबला, ढोल आदि अनेक प्रकार के वाद्यों एवं सोलस हस्सनाटकित्थियों के उल्लेखों[९] से निनादित होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि शिष्ट कुटुम्बों में संगीत एवं नृत्य संस्कृति के प्रमुख अंग समझे जाते थे।

---

१. जातक ३ पृ० ९३-४, 'जातक ४ पृ० २३-७,; जातक ५ पृ० ४२७ इत्यादि।

२. संयुक्तनिकाय १२-२

३. जातक ५४२.

४. अंगुत्तर निकाय २ पृ० १४४; संयुक्तनिकाय १-५-६

५. जातक ४ पृ० ३९३.

६. जातक १ पृ० ४७०; जातक ४ पृ० २२१

७. जातक ५२६.

८. महावग्ग १-७-२

९. जातक १ पृ० ४३७; जातक ३ पृ० २७८; जातक ४ पृ० १९१

इन ललित कलाओं के अतिरिक्त कन्याओं को अन्य लाभदायक उद्योग-धन्धों-कताई, बुनाई, सिलाई आदि –में भी शिक्षा दी जाती थी। आवश्यकता पड़ने पर ये उपयोगी धन्धे जीविकोपार्जन में सहायक होते थे[1]। धम्मपद टीका में अनेक स्त्रियां अपना कृषि कर्म करतीं, सूत कातती तथा कपड़ा बुनतीं प्रदर्शित की गई हैं[2]।

जैन-साहित्य में स्त्री-शिक्षा के विषय में अत्यल्प सामग्री उपलब्ध होती है। परन्तु जैन शिक्षा-प्रणाली को देख कर यह स्पष्ट हो जाता है कि उसमें स्त्रियों के लिए भी पर्याप्त स्थान एवं अवकाश था। अनुयोगद्वार-सूत्र के अनुसार शिक्षा का ध्येय मनुष्य को लौकिक एवं लोकोत्तर दोनों प्रकार के विषयों का ज्ञान देता है[3]। अतः जैन पाठ्यक्रम में व्याकरण, गणित, ज्योतिष, भूगोल, संगीत, रामायण, महाभारत, नाट्य-शास्त्र, प्रश्न, व्याकरण आदि की व्यवस्था की गई थी। इनमें से अनेक विषय पूर्णरूपेण स्त्रियोचित थे। परन्तु जैन साहित्य में सार्वजनिक महिला-शिक्षा के सुप्रसार के उल्लेख नहीं मिलते। कदाचित् साधारण स्त्री गृहिणी के रूप में ही अधिक प्रतिष्ठित थी। जैन परम्परा के अनुसार उनके तीर्थंकर ऋषभदेव की व्यवस्था थी कि स्त्रियां केवल गृह-कार्यों की शिक्षा की ही अधिकारिणी हैं। उन्हें साहित्यिक अथवा उद्योग-धन्धा-सम्बन्धी शिक्षा का अधिकार नहीं है[4]। जैन साहित्य में सुलसा, रेवती आदि महिलाओं की प्रशंसा 'सती' अथवा सुगृहिणी के रूप में ही की गई है। परन्तु समाज के अभिजात एवं विरक्तिपूर्ण वर्ग की स्त्रियों में उच्च शिक्षा के प्रसार के कतिपय उदाहरण उपलब्ध होते हैं। कौशाम्बी के राजा सहस्त्रानीति की पुत्री जयन्ती ने आजन्म अविवाहित रह कर धर्म एवं दर्शन का उच्च ज्ञान प्राप्त किया था। भगवती सूत्र में महावीर के साथ उसके वाद-विवाद का उल्लेख है[5]। चन्दना नामक स्त्री चम्पा-नरेश दधिवाहन की पुत्री थी। परन्तु उसने संस्कार के भोग-विलास का परित्याग कर जैन धर्म स्वीकार कर लिया था और अपनी विद्वत्ता के कारण महावीर स्वामी के समय में जैन स्त्री-संघ की अध्यक्षा बन गई थी। उसकी प्रेरणा से लगभग २०,००० व्यक्तियों ने जैन धर्म स्वीकार कर लिया था। इसी प्रकार की अन्य विदुषी धर्मप्रचारिकाओं एवं साध्वियों का उल्लेख जैन साहित्य में मिलता है। इनमें आर्य पक्षिणी, पुष्पचला, महासुव्रता तथा निर्नामिका विशेष प्रख्यात हैं। कल्पसूत्र[6] का कथन है कि २०,००० जैन भिक्षुणियों ने अपनी ज्ञान-शीलता तथा साधना से कर्म-बंधन को नष्ट कर दिया था। निश्चित ही ऐसी स्त्रियों का बौद्धिक विकास ऊँचे स्तर का होगा।

---

१. अंगुत्तरनिकाय ३ पृ० २६३—कुसलाहं गहपति कप्पासं कंतितुं वेणि मोलिलिखितुं सक्काहंगहपति तवच्चयेन दारके पोसितुम्।

२. धम्मपद टीका ११३

३. अनुयोगद्वार सूत्र अध्याय १८

४. दि हार्ट आफ जैनिज्म—पृ० ५१

५. भगवती सूत्र भाग ३ पृ० २५७

६ कल्पसूत्र ७

विदेशी साक्ष्य से स्त्री-शिक्षा के विषय पर कोई उल्लेखनीय प्रकाश नहीं पड़ता। केवल एक स्थान पर मेगस्थनीज का कथन है कि पुरुषों के साथ स्त्रियां भी दर्शन-शास्त्र का अध्ययन करती थीं और सम्भोग से विरत रहती थीं[१]।

इस प्रकार समस्त ब्राह्मण, बौद्ध, जैन तथा विदेशीय साक्ष्यों के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि ऋग्वेद से लेकर ईसा की प्रथम शताब्दी तक कम से कम स्त्री-समाज के उच्च, अभिजात एवं धर्मप्रवृत्त वर्ग में शिक्षा का सम्यक् प्रसार रहा। प्राचीन भारत में मूलतया स्त्री-शिक्षा की अनेक प्रणालियां थीं। प्रथम प्रणाली के अन्तर्गत कन्याओं को शिक्षा घर पर ही माता-पिता एवं भाई-बहनों के बीच में होती थी। वैदिक काल में शिक्षा का उद्देश्य मन्त्रोच्चार एवं याज्ञिक विधि में शुद्धता प्रदान करना था और इसकी पूर्ति घर पर ही सरलतापूर्वक हो जाती थी। उस समय प्रत्येक कुटुम्ब में पिता अथवा गुरुजन यज्ञादि का कार्य भी किया करते थे। उनका यह ज्ञान परंपरानुगत उनके पुत्र-पुत्रियों को भी प्राप्त होता रहता था। इस प्रकार की शिक्षा प्रायः घरेलू थी। परन्तु जैसे-जैसे वैदिक साहित्य एवं याज्ञिक विधि-निषेधों का विकास एवं संवर्द्धन होता गया वैसे ही वैसी शिक्षा में विशेषीकरण तथा असाधारणता आती गई। अब पाठ-शुद्धता तथा याज्ञिक क्रिया-कुशलता उन्हीं व्यक्तियों के अधिकार की वस्तु थी जो अनवरत अध्ययन के पश्चात् उसमें विशेष योग्यता प्राप्त करते थे। याज्ञिक साहित्य के पश्चात् जब उपनिषद्-काल में दार्शनिक साहित्य का उदय हुआ तो उसमें विशेष अधिकार कतिपय दार्शनिकों के हाथ में रहा। यद्यपि इसके प्रारम्भिक साक्ष्य उपलब्ध नहीं होते, परन्तु यह नितान्त स्वाभाविक ही जान पड़ता है कि उच्च स्तर की शिक्षा के लिये मनुष्य अपने पुत्रों के समान पुत्रियों को भी इन्हीं ऋषियों तथा महा-पंडितों के पास भेजते होंगे। ऐसी दशा में बाल-बालिकाएं एवं युवक-युवतियां योग्य निर्देश एव नियंत्रण के अन्तर्गत सह-शिक्षा प्राप्त करते थे। यह शिक्षा की दूसरी प्रणाली थी। महाभारत में उल्लिखित अम्बा एवं शैखावत्य की सह-शिक्षा, उत्तर-राम-चरित में उल्लिखित आत्रेयी एवं लव कुश की सह शिक्षा तथा भवभूतिकृत मालतीमाधव में उल्लिखित कामन्दकी एवं भूरिवसु-देवरात को सह-शिक्षा इस दूसरी प्रणाली के उदाहरण हैं। इसमें कोई संदेह नहीं है कि यह साक्ष्य बहुत बाद के हैं, परन्तु अप्रत्यक्ष रूप से इनका महत्व है। जब सह-शिक्षा ईसा की आठवीं शताब्दी तक प्रचलित थी तो यह अनुमान कर लेना अनुपयुक्त न होगा कि उसके पूर्व के अपेक्षाकृत स्वतंत्रता वातावरण में उसका प्रचलन अवश्य रहा होगा। स्त्री-समाज में बाल-विवाह का प्रतिपादन, वेदाध्ययन का वर्जन, धार्मिक क्रियाओं का अपहरण आदि परिवर्तन पहली शताब्दी के बाद प्रतिष्ठित हुए। इसके पूर्व उसकी सामाजिक, धार्मिक एवं शिक्षा-संबंधी स्थिति पर्याप्त रूप से सन्तोषजनक थी। अतः उस काल में यदि युवक-युवतियों में सह-शिक्षा का प्रचलन रहा हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। तीसरे प्रकार की शिक्षा-प्रणाली के अन्तर्गत कन्याओं एवं युवतियों का अध्यापन महिला-अध्यापिकाओं द्वारा ही होता होगा। इस प्रणाली के भी प्रत्यक्ष साक्ष्य नहीं मिलते, परन्तु आचार्या, उपाध्याया, औदमेध्या, काशकृत्स्ना तथा

---

१. मेगस्थनीज २१

आपिशला आदि विशिष्ट रूप से शिक्षित महिलाओं के उल्लेखों से अनुमान किया जा सकता है कि समाज में जब कन्याओं की गृह-शिक्षा के ऊपर जोर दिया गया तो अभिजात वर्ग की कन्याओं के संरक्षकों ने इन विदुषियों के संरक्षण में ही अपनी कन्याओं के अध्यापन कराने की चेष्टा की होगी। चौथे प्रकार की शिक्षा अयाज्ञिक बौद्ध एवं जैन धर्म द्वारा प्रतिपादित हुई थी। इसके अन्तर्गत सांसारिक स्त्रियां मठों एवं विहारों में रह कर प्रख्यात बौद्ध एवं जैन भिक्षु-भिक्षुणियों के निर्देश में धर्म तथा दर्शन के गूढ़ सिद्धान्तों का अध्ययन और मनन करतीं थीं। इस प्रकार भिक्षु तथा भिक्षुणियों के ये निवास-स्थान शिक्षा के केन्द्र बन गये थे। नालन्दा तथा तक्षशिला के विश्वविद्यालय ऐसे ही बौद्ध विहारों के विकसित एवं संवर्धित रूप थे।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, प्राचीन भारत में शिक्षा का अर्थ बड़े विस्तृत रूप में लिया जाता था। उसके अन्तर्गत स्त्री के शारीरिक, मानसिक एवं बौद्धिक विकास की पूर्ण योजना थी। कन्याओं का ब्रह्मचर्य-काल इसी लक्ष्य के लिए आयोजित था। ऋग्वेद[1] तथा अथर्ववेद[2] में प्रत्येक स्त्री के चार पुरुष बताये गये हैं-(१) सोम (२) अग्नि (३) गन्धर्व तथा (४) वास्तविक पुरुष जिसके साथ उसका विवाह होता था। इस कथन में गूढ़ सांस्कृतिक रहस्य है। इसके द्वारा विवाह के पूर्व कन्या के व्यक्तित्व में विविध गुणों की कल्पना की गई है। वह काल जिसमें उसका काल्पनिक पति सोम है, उसके सौन्दर्य एवं संस्कृति के विकास की व्यवस्था है। दूसरे काल्पनिक पति अग्नि के निर्मंत्रण में वह चारित्रिक शुद्धता एवं याज्ञिक क्रियाओं का ज्ञान प्राप्त करती है। यह उसके व्यक्तित्व-विकास की दूसरी अवस्था है। तीसरी अवस्था में उसका काल्पनिक पति गन्धर्व होता है। इस काल में वह विविध ललितकलाओं—संगीत, नृत्य, चित्रकला आदि में शिक्षा पाती है। इस प्रकार इन तीन अवस्थाओं का अतिक्रमण करने के पश्चात् वह एक सुसंस्कृता एवं सुशिक्षिता कन्या बन जाती है। उसमें संस्कृति एवं धर्म के समस्त उपकरण आविर्भूत हो जाते हैं जिनकी उसे गृहस्थ-जीवन में आवश्यकता होती है। इस व्यक्तित्व-निर्माण के पश्चात् उसका योग्य व्यक्ति से विवाह होता है और यही उसका वास्तविक पति होता है।

शिक्षा का यह क्रम एक कोरी कल्पना न थी। स्त्री-शिक्षा के अन्तर्गत जो विभिन्न विषय समय-समय पर अध्यापित होते रहे हैं, उनका वर्णन ऊपर किया जा चुका है। उसका आपूर्ण चित्रण वात्सायन के काम-सूत्र में मिलता है। इसमें ६४ कलाओं के अध्यापन की योजना वर्णित है। इनमें पुस्तक-वाचन, काव्य, पुराण, प्रहेलिका, छंद, कोष, संगीत, नृत्य, तथा चित्रकला आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

परन्तु ईसा की प्रथम शताब्दी तक आते-आते स्त्री-शिक्षा का परित्याग होने लगा। तक्षशिला तथा नालन्दा के विश्वविद्यालयों में जहाँ सहस्रों विद्यार्थी अध्ययन करते थे, वहां हम एक भी महिला का उल्लेख नहीं पाते। स्त्रियों का उपनयन संस्कार समाप्त हो गया। पति-सेवा ही उनका अध्ययन और गृह-कर्म ही उनकी धार्मिक क्रियाएं बन गईं (मनु २.६७)।

---

[1] ऋ० १०, ८५, ४०—४१

[2] अथर्व० ५. १७. २; १४. २. ३—४

मनु ने जहाँ ब्रह्मचारियों की शिक्षा का सविस्तार विवेचन किया है वहाँ उन्होंने ब्रह्मचारिणी का नामोल्लेख भी नहीं किया है। कन्या की शिक्षा अब उसके विवाह के लिए आवश्यक न थी। वधू के अभीष्ट गुणों का वर्णन करते हुए मनु तथा याज्ञवल्क्य शिक्षा को आवश्यक नहीं बताते। परिणामतः हम धर्मशास्त्रकाल अथवा उसके पश्चात् स्त्रियों अथवा विदुषी महिलाओं का उल्लेख अपवाद-स्वरूप ही पाते हैं। उपर्युक्त उद्धरणों से यही प्रतिभासित होता है कि ईसा की प्रथम शताब्दी तक स्त्री-शिक्षा का प्रचलन रहा। तत्पश्चात् उसका शनैः शनैः ह्रास हो गया। इसका विशेष कारण बाल-विवाह की प्रतिष्ठा थी जिसका वर्णन आगे किया जायगा। इस परिवर्तन के कारण कन्याओं को विवाह के पूर्व इतना समय न मिलता था कि वे वेदाध्ययन आदि कर सकें। जो थोड़ा-बहुत समय मिलता भी था वह उन्हें घरेलू कार्यों की शिक्षा देने में ही प्रयुक्त किया जाता था। यज्ञादि धार्मिक क्रियायें करने के लिये मन्त्र-पाठ की शुद्धता परमावश्यक थी। उसके लिये दीर्घकालीन अध्ययन की आवश्यता थी। अतः अब कन्याओं से इसकी आशा करना असम्भव हो गया। परिणाम यह हुआ कि व्यवस्थाकारों ने स्त्री की शिक्षा-दीक्षा का ही अन्त कर दिया। अब वे न तो उपनयन संस्कार की अधिकारिणी रहीं और न वेदाध्ययन अथवा धार्मिक क्रियाओं की। ये समस्त कर्तव्य उसके पति के एकाधिकार हो गये। इसी परिवर्तित विचार-धारा का प्रतिनिधित्व करते हुये मनु का कथन है कि विवाह ही स्त्री का एकमात्र संस्कार है।

ब्रह्मचर्याश्रम के पश्चात् कन्या विवाह करती थी और गृहस्थ आश्रम में प्रविष्ट होती थी। भारतीय समाज-व्यवस्थाकारों के अनुसार प्रत्येक देश में विवाह-संस्कार समस्त संस्कारों में सर्वप्रधान है। संसार के प्रत्येक देश में विवाह-संस्था की प्रतिष्ठा क्रमिक विकास का परिणाम है। अति प्राचीनकाल में जिस समय मनुष्य असभ्य था, ऐसे समाज की कल्पना की जा सकती है जिसमें नियमित रूप से विवाह न होते थे और नर-नारी स्वेच्छाचारी होते थे। परन्तु भारतीय साहित्य में कोई ऐसा उदाहरण नहीं मिलता जिसके आधार पर निश्चयपूर्वक यह कहा जा सके कि अमुक समय में भारतीय समाज में विवाह-संस्था न थी। महाभारत के कुछ अंशों के आधार पर कतिपय विद्वानों का वह अनुमान है कि महाकाव्यकाल में भी भारतवर्ष के कुछ प्रदेशों में विवाह-संस्था प्रतिष्ठित न थी। एक स्थान[१] पर पाण्डु का कुन्ती से कथन है कि प्राचीन काल में नारियां अनियन्त्रित एवं स्वेच्छाचारिणी थीं और वे एक व्यक्ति को छोड़ कर दूसरे व्यक्ति को ग्रहण करती रहती थीं। इस प्रकार की स्थिति अब भी (पाण्डु के समय तक) उत्तरकुरु देश में विद्यमान है।[२] एकबार एक व्यक्ति ने अपने पिता के समक्ष ही अपनी माता के प्रति कामाचार प्रदर्शित किया। ऐसी सामाजिक उच्छृंखलता से क्षुब्ध हो कर अन्त में उद्दा-

---

१. अनावृताः किल पुरा स्त्रिय आसन्वरानने
कामाचारविहारिण्यः स्वतन्त्राश्चारुहासिनि-महा० १. १२२. ४.

२. उत्तरेषुच रम्भोरु कुरुष्वद्यापि दृश्यते—महा० १. १२२. ७.

लक के पुत्र महर्षि श्वेतकेतु ने विवाह की मर्यादा स्थापित की। परन्तु इस कथन में महाकाव्यकार की कल्पना ही परिलक्षित होती है।[१] उत्तरकुरु का देश कदाचित् काल्पनिक देश है। यहां पर लेखक ने महाकाव्यकालीन समाज का वर्णन नहीं किया है वरन् अति प्राचीन काल के एक ऐसे समाज की कल्पना की है जिसमें विवाह-संस्था का अभाव था।

इसी प्रकार महाभारत में दूसरे स्थान पर कहा गया है कि माहिष्मती की स्त्रियाँ भी अनियन्त्रित एवं स्वेच्छाचारिणी थी।[२] इस कथन में भी कदाचित् कवि के काल्पनिक समाज का ही चित्रण आभासित होता है, क्योंकि हम जानते हैं कि भारतवर्ष में महाकाव्य-काल के बहुत पूर्व ही विवाह-संस्था प्रतिष्ठित हो चुकी थी।

ऋग्वैदिक काल में विवाह एक पवित्र एवं उच्च संस्कार समझा जाता था।[३] इसका ध्येय नर-नारी को गृहस्थ-जीवन में प्रविष्ट कराना था।[४] वैयक्तिक एवं सामाजिक विकास के लिये विवाह कदाचित् आवश्यक समझा जाता था। इसी से पत्नी की प्रशंसा में उसे गृह का अलंकरण[५] अथवा स्वयं गृह[६] कहा गया है। पति और पत्नी दोनों मिल कर याज्ञिक कार्य करते थे।[७] लौकिक एवं पारलौकिक शान्ति के लिये ऋग्वैदिक काल में भी पुत्रों की आवश्यकता समझी जाती थी।[८] अतः उनकी प्राप्ति के लिए विवाह आवश्यक था।

इस प्रकार यद्यपि ऋग्वेदिक काल में विवाह साधारणतया आवश्यक समझा जाता था, परन्तु कालान्तर की भांति वह अनिवार्य न था। ऋग्वेद में अनेक कन्याओं के उदाहरण हैं जो दीर्घकालपर्यन्त अथवा जीवनपर्यन्त अविवाहित अवस्था में अपने माता-पिता के साथ रहती थीं।[९] ऐसी कन्याओं को "अमाजूः" कहते थे। अथर्ववेद (१, १४, ३) में भी अविवाहित कन्याओं का आजीवन पितृगृह में रहते हुये उल्लेख किया गया है।

परन्तु जैसे-जैसे याज्ञिक कर्मों की प्रधानता बढ़ती गई वैसे ही वैसे उन्हें करने के लिये पुत्रों की आवश्यकता भी अधिकाधिक रूप में बढ़ती गई।[१०] ऋग्वैदिक काल में यज्ञ-कर्म

---

१. इति तेन पुरा भीरुमर्यादा स्थापिता बलात्
उद्दालकस्य पुत्रेण धर्म्या वै श्वेतकेतुना-महा० १. १२२. ११.

२ स्वैरिण्यस्तत्र नार्योहि यथेष्टं विचरन्त्युत-महा० २. ३२. ४०

३ ऋतस्य यौनो सुकृतस्य लोके-ऋ० १०. ८५. २४.

४ ऋ० १०. ८५. ३६.

५ " १. ६६. ३

६ " ३. ५३. ४

७ " ५. ३. २-और ५. २८. ३

८ " १. १०५. ३. तथा ऋ० ५. ४. १०.
प्रजाभिरग्ने अमृतत्वं अश्याम्

९ ऋ० १. ११७. ७. २. १७. ७., १०. ३९. ३-

१० तैत्तिरीय संहिता ६. ३. १०. ५.—जायमाने वै ब्राह्मण त्रिभिर्ऋणवा जायत। ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः एष वा अनृणो यः पुत्री यज्वा ब्रह्मचारिवासी। तथा
ऐतरेय ब्राह्मण ३३. १.—नापुत्रस्य लोकोऽस्ति तत्सर्वे पशवो विदुः।

करने को केवल पुत्रों को ही अधिकार न था वरन् उसे पुत्रियाँ भी कर सकती थीं। परन्तु धीरे-धीरे यह पुत्रों का ही विशेषाधिकार होने लगा। शनैः शनैः पुत्रियाँ उससे वर्जित की जाने लगीं। पुनः उपनिषद्-काल तथा बौद्ध-काल में विरक्ति की जो सबल धारा बही उससे स्त्री-समाज अछूता न रहा। विरक्ति प्रधान बौद्ध-धर्म वैवाहिक जीवन को मनुष्य के निर्वाण के लिए बाधक समझता था। तेविज्ज सुत्त ४७ में स्वयं महात्मा बुद्ध का इसी आशय का कथन है। दूसरे स्थान (धम्मिक सुत २१) पर उन्होंने कहा है कि वैवाहिक जीवन अंगारमय खंड के समान है। अतः बुद्धिमान पुरुष को उससे दूर रहना चाहिये। इस वैराग्य-आंदोलन का प्रभाव स्त्री समाज पर भी पड़ा। सुलभा तथा सुभू की भाँति अनेक कन्यायें अविवाहित रह कर आध्यात्मिक शान्ति के लिए प्रयत्नशील होने लगीं। इनमें से बहुतों ने बौद्ध-संघ अथवा जैन-संघ में भी प्रवेश किया। थेरीगाथा की टीका में अनेक अविवाहित बौद्ध भिक्षुणियों का उल्लेख है। इसी प्रकार भगवती सूत्र में जैन-भिक्षुणी जयन्ती का वर्णन है जिसने अविवाहित रह कर धर्म एवं दर्शन के अनुसंधान में ही अपना जीवन व्यतीत किया। इन अविवाहित रहने वाली स्त्रियों में कुछ ऐसी भी होंगी जो साधना तथा तपस्या के कठोर आदर्श को भूलकर कभी-कभी विपथ हो जाती होंगी। इनसे सामाजिक सदाचारिता पर आघात लगा। अतः पथ-भ्रष्टा की सम्भावना को न्यूनतम करने के ध्येय से स्त्रियों के संसार-त्याग निषेध[1] तथा उनके विवाह की अनिवार्यता[2] का प्रतिपादन होने लगा। पहले बताया जा चुका है कि वैदिक-काल में पुत्रों की भाँति पुत्रियों को भी उपनयन-संस्कार का अधिकार था। परन्तु ५०० ई० पू०[3] से उनके इस अधिकार का अपहरण करने का प्रयत्न होने लगा और ईसा की प्रथम अथवा द्वितीय शताब्दी तक आते-आते वे उपनयन-संस्कार से वर्जित कर दी गईं।[4] अब कन्याओं के जीवन में विवाह-संस्कार का वही स्थान था जो बालकों के जीवन में उपनयन-संस्कार का।[5] बालकों के लिये उपनयन-संस्कार अनिवार्य था। अतः कन्याओं के लिये विवाह अनिवार्य हो गया।

उपर्युक्त समस्त कारणों के परिणाम-स्वरूप हम देखते हैं कि वैदिक काल के पश्चात् अधिकाधिक बल के साथ स्त्रियों के लिये विवाह-संस्कार की अनिवार्यता का प्रतिपादन होने लगा। शतपथ-ब्राह्मण का कथन है कि मनुष्य अपूर्ण है। उसकी पूर्णता के लिये स्त्री-प्राप्ति

---

[1] सुतव्यावायः प्रव्रजेदारवृश्च्य धर्मस्वान्। अन्यथा नियम्येत्। पुत्रदारम प्रतिविधाय प्रव्रजतः पूर्वः साहस दण्डः। स्त्रिं च प्रव्राजयतः तथा स्त्रियां श्रुतौ वा शास्त्रे वा प्रव्रज्या न विधीयते प्रजा हि तस्याः स्वो धर्मो सवर्णादिति धारणा--यम.

२. अपतीनां तु नारीणामद्यप्रभृति पातकम् महा० १. ११४. ३६.

३. सद्योवधूनां तपःस्थिते विवाहे कंथचिदुपनयनमात्रं कृत्वा विवाहः कार्यः—हारीत

४. याज्ञवल्क्य १. १३.

५. " २. ६७.—वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकःस्मृतः।
पति सेवा गुरौ वासो गृहार्थाग्नि परिक्रिया।

तथा पुत्र-प्राप्ति परमावश्यक है[१]। अविवाहित पुरुष को यज्ञ का अधिकार नहीं है[२]। बिना स्त्री के वह स्वर्ग नहीं जा सकता (शत० ब्रा० ५. २. १. ८) इसी प्रकार का उल्लेख ऐतरेय आरण्यक में भी मिलता है[३]। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में यज्ञकर्म में पति-पत्नी के सहत्व की व्यवस्था की गई है[४]। दूसरे स्थान पर उसी धर्म-सूत्र का कथन है कि धर्म-प्रजासम्पन्न स्त्री के होते हुए मनुष्य को दूसरा विवाह नहीं करना चाहिये[५]। इससे प्रकट होता है कि धार्मिक क्रियाओं एवं पुत्र-प्राप्ति के लिये विवाह आवश्यक समझा जाता था। महाभारत में भी अनेक ऐसे उदाहरण उपलब्ध होते हैं जिनसे विवाह की अनिवार्यता स्पष्टतया दृष्टिगोचर होती है। उसमें एक स्थान पर कहा गया है कि जो व्यक्ति अपनी कन्या का विवाह उचित वर के साथ नहीं करता वह ब्रह्मघाती है[६]। इसी प्रकार जो व्यक्ति कन्या के पिता का विवाह-प्रस्ताव अस्वीकृत करता है वह भी निन्दनीय है[७]। महाभारत[८] स्त्री के विना गृह की ही कल्पना नहीं करता। भार्या को दैवकृत सखा कहा गया है[९]। और इस प्रकार विवाह को एक दैवी संस्था के रूप में प्रस्तुत किया गया है। विवाह की अनिवार्यता इसी बात से सिद्ध हो जाती है कि इस महाकाव्य में गृहस्थाश्रम को अन्य तीन आश्रमों का आधार माना गया है।[१०] भार्या मनुष्य का अर्ध-भाग है। उसके विना वह अपूर्ण है। वह उसकी श्रेष्ठतम सखा है तथा त्रिवर्ग एवं मोक्ष प्राप्ति की मूल है[११]। इसी प्रकार रामायण में भी पतिहीन स्त्री

---

१. शतपथ० ब्रा० ५. २. १. १०—ऊर्धो ह वा एष आत्मनो यज्जाया तस्मात् याव-
ज्जायां न विन्दते नैव तावत्प्रजायते असर्वो हि
तावत्भवति। अथ यदैव जायां विन्दत अथ प्रजायते
तर्हि हि सर्वो भवति।

२. अयज्ञीयो वपथां यलीकः—शत ब्रा० ५. १. ६. १०

३. तस्मात् पुरुषो जायां वित्वा कृत्स्नतरमिवात्मानं मन्यते–ऐ आ० १. २. ५.

४. पाणिग्रहणादि सहत्वं कर्मसु–आप० ध० सू० २. ६. १३. १६–१७

५. आप० ध० सू० २. ५. ११. १२–धर्म प्रजासंपन्ने दारे नान्यां कुर्वीत

६. महा० १३. २४. ६.–आत्मजां रूपसम्मानां महतीं सदृशे वरे
न प्रयच्छति यः कन्यां तं विद्यात् ब्रह्मघातिनम्।

७. अप्रदाता पिता वाच्यः वाच्यः चानुपयन् पतिः– महा० ३ २९३. ३५.

८. न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणीगृहमुच्यते–शान्ति० १४४. ६६.

९. महा० १२. २९५. ३९–यथा नदी नदाः सर्वे समुद्रे यान्ति संस्थितिम्
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्।

१०. महा० १. ७४. ४१–अर्धम् भार्या मनुष्यस्य भार्याश्रेष्ठतमः सखा
भार्या मूलं त्रिवर्गस्य भार्या मूलं तरिष्यतः

११. महाभारत में उल्लेख है कि ऋषि जरत्कारु को उसके पूर्वजों ने वृद्धावस्था में विवाह करने तथा सन्तान-प्राप्ति के लिये विवश किया। इससे विवाह की अनिवार्यता निर्विवाद हो जाती है।

के जीवन को तन्त्रीहीन वीणा तथा चक्रहीन रथ के समान निरर्थक बताया गया है[1]। चूंकि यज्ञादि के लिये पुत्र की आवश्यकता अत्यधिक बढ़ गई थी[2] अतः विवाह-संस्कार भी अनिवार्य हो गया था। इसी प्रकार जैमिनि ने याज्ञिक कर्म के लिये स्त्री की आवश्यकता बताई है[3]। मनु ने धर्म सम्पत्ति, प्रजा और रति के लिये विवाह-संस्कार का प्रतिपादन किया है[4]। याज्ञवल्क्य का कथन भी इसी प्रकार का है[5]।

परन्तु निवृत्ति-मार्गी होने के कारण जैन धर्म तथा बौद्ध धर्म में मनुष्य के लिये विवाह अनिवार्य न था। यही नहीं, उसके लिये तो वह बंधन-स्वरूप था। पुरुष के आध्यात्मिक उत्थान में स्त्री बाधक थी[6]। जिस प्रकार लाक्षापूर्ण पात्र अग्नि में विलीन हो जाता है उसी प्रकार स्त्री-संवास से भिक्षु नष्ट हो जाता है[7]। स्त्री विषाक्त कंटक के समान है[8]। उत्तराध्ययन सूत्र (२, १६, १७) में कहा गया है कि इस संसार में स्त्रियों के प्रति मनुष्य की स्वाभाविक अभिरुचि है......जो उन्हें सम्यक् रूप से समझ जायगा और उनका त्याग कर देगा वह सुगमता-पूर्वक श्रमण के कर्त्तव्यों का पालन कर सकेगा। इसी आशय का कथन आचारांग सूत्र (५, ४, ५,) में उपलब्ध होता है। विवाहित जीवन प्रज्वलित आवा की भांति भयानक है। इसलिये बुद्धिमान् मनुष्य के लिये वह सर्वथा अग्राह्य है[9]। इस जीवन में अनेकानेक बाधायें एवं अनुराग हैं। अतः इसमें रहते हुये, मनुष्य कभी भी उच्चतर जीवन नहीं व्यतीत कर सकता[10]। यह संसार निराशामय है। इसलिये इसमें किसी को भी गृहस्थ-जीवन अंगीकार न करना चाहिये।[11] स्वयं महात्मा बुद्ध का सत्य की खोज के लिये अपनी स्त्री का त्याग आवश्यक जान पड़ा था। नवीन धर्मों के प्रसार के परिणाम-स्वरूप अनेकानेक स्त्रियां ने भी गृहस्थ जीवन को अस्वीकार कर भिक्षुणी-ग्रहण किया था। थेरीगाथा में अनेक अविवाहित भिक्षुणियों का उल्लेख है। सुमेधा, अनोपमा

[1]. रामा० २. ३६. २६—नातन्त्री वाद्यते वीणा नाचक्रो विद्यतेरथः
नापतिः सुखम्......

[2]. महा० १. १४. १०२—वरं क्रतुशतात् पुत्रः
तथा
महा० १. १२०, १६.—नानपत्याय लोकाः सन्तीति।

[3]. जेमिन ६. १. १७

[4]. मनु० १६ २.

[5]. याज्ञ० १. ७७

[6]. जातक १. पृ० १२८—इत्थियो नाम पब्बजितस्य मलम्

[7]. सूयगडंग ४. १. २७.

[8]. सूयगडंग ४. १. ११

[9]. धम्मिक सुत्त २१

[10]. तेविज्ज सुत्त ४७.

[11]. गर्व सुत्त १-१०

तथा गुत्ता आदि बौद्ध भिक्षुणियों ने बौद्ध धर्म की प्रतिष्ठा में महत्व-पूर्ण योग दिया था। इसी प्रकार जैन साहित्य में जयन्ती, मल्लि सुभुमालिया, अज्ज चन्दणा आदि भिक्षुणियों का उल्लेख मिलता है। ब्राह्मण-धर्म के अनुसार तो मोक्ष अथवा स्वर्ग की प्राप्ति के लिये विवाह अनिवार्य था,[१] परन्तु बौद्ध तथा जैन धर्म के अनुसार विवाह-हीनता इसके लिये किसी प्रकार बाधक न थी[२]।

परन्तु उपर्युक्त कथन निवृत्ति-मार्गी जैन एवं बौद्ध भिक्षुओं की ही विचार-धारा के द्योतक हैं। बौद्ध एवं जैन साहित्य में जिस सामाजिक स्थिति का चित्रण किया गया है उससे विदित होता है कि जन-साधारण की दृष्टि में विवाह एक आवश्यक सामाजिक अंग था। इस साहित्य में विवाह के जिन अनेकानेक विभेदों का उल्लेख हुआ है उससे भी यही निष्कर्ष निकलना है। संयुक्त निकाय का कथन है कि स्त्री मनुष्य की सर्वश्रेष्ठ सखा है[३]। वह पुत्र-प्राप्ति का एकमात्र साधन है और इसी से उसे पजावती कहा गया है[४]। मिलिन्द-पन्हो के साक्ष्यानुसार पतिहीन स्त्री निन्दनीय समझी जाती थी[५]। पुत्री के वयस्थ हो जाने पर यदि उसके माता-पिता उसका विवाह नहीं करते तो वे नरक के भागी होते हैं[६]।

कन्या के गृहस्थ जीवन की सफलता-विफलता बहुत-कुछ भावी पति की चारित्रिक, शरीरिक एवं सामाजिक स्थिति के ऊपर निर्भर रहती है। यही कारण है कि आधुनिक काल की भांति प्राचीन काल में भी वर के विषय में विभिन्न बातें स्थिर करने के पश्चात् ही संरक्षक उनके साथ अपनी कन्या का विवाह करते थे। यही बात कन्या के विषय में भी लागू होती है। ऋग्वेद में ऐसे उदाहरण मिलते हैं जब वर के असन्तोषजनक होने पर माता उसके साथ अपनी कन्या का विवाह करने में आपत्ति करती है[७]। द्यूत-व्यसनी जमाता के कारण अपनी पुत्री को दुःख होते देख कर माता अपना तीव्र असन्तोष प्रकट करती है[८]। इससे ज्ञात होता है कि विवाह के पूर्व माता अपनी पुत्री के भावी पति के आचार-विचार जानने के लिये कितनी उत्सुक रहती होगी। अथर्ववेद में पुत्री के लिये सुवर प्राप्त करने के हेतु कतिपय मन्त्रों

---

१. उदाहरणार्थ महाभारत में सुभ्रू का दृष्टान्त है। तपस्यारता वह आजीवन अविवाहित रही। परन्तु मरने के समय उसे ज्ञात हुआ कि अविवाहित होने के कारण वह स्वर्गाधिकारिणी नहीं हो सकती।

अतः विवश होकर उसे एक दिन के लिये ऋषि शृंगवत से विवाह करना पड़ा। तब कहीं वह स्वर्ग जा सकी।

२. थेरीगाथा—६१.

३. संयुक्त निकाय भाग २. पृ० ३७-भरिया परमा सखा।

४. जात २ पृ० ६

५. मिलिन्द ४. ८. २२

६. पिण्डनिज्जुत्ति निरुक्ति ५.०६

७. ऋ० ५. ५२.६१, ८. ३५-३८, ६. १२.

८. ऋ० १०. ३४. ३.

का प्रयोग किया गया है[1]। आश्वलायन श्रोत सूत्र में कुलस्थिति पर सब से अधिक बल दिया गया है। इसके अनुसार वर उस कुल का होना चाहिये जो माता और पिता दोनों पक्षों से विद्या, तप, पुण्य एवं रक्तशुद्धि के लिये दस पीढ़ियों से प्रतिष्ठित हो[2]। उस प्रकार के कथन का मुख्य कारण यह है कि लोगों की यह दृढ़ धारणा थी कि सन्तान कुल के गुणावगुणों को ही अपनाती है[3]। बौधायन धर्मसूत्र में वर के सद्गुणों एवं ब्रह्मचर्य को अधिक विचारणीय कहा गया है[4]। इसी प्रकार आपस्तम्ब गृहसूत्र में विवाह के सम्बन्ध में कुल, शील, लक्षण, विद्या तथा स्वास्थ्य अधिक परीक्षणीय है[5]। आश्वलायन गृह्सूत्र की दृष्टि में बुद्धिमत्ता ही वर का सर्वप्रधान अभीष्ट गुण है[6]। मनु ने विशेषतया कुल के ऊपर बल दिया है। उनके अनुसार कन्या का विवाह ऐसे कुल में न रहना चाहिए जो संस्कारहीन, वेदाध्ययन-विरत एवं रोगग्रस्त रहता हो[7]। इन दोषों के होते हुए कुल की धन्यधान्यता गौण समझी जानी चाहिए। महाभारत ने समविवाह की अभीष्टता का उल्लेख किया है। गृहस्थ जीवन की सफलता के लिये यह आवश्यक है कि वर-वधू के पक्ष में विद्या-वित्त की समता हो। वास्तव में इस धारणा में आदर्शवादिता की अपेक्षा व्यावहारिकता का अंश ही अधिक है।

वर की भाँति वधू के अभीष्ट गुणों का अत्यधिक ध्यान रक्खा जाता था। ऋग्वेद में सौन्दर्य, संस्कृति आदि गुणों के अतिरिक्त कन्या की धनाढ्यता एवं अरुग्णता भी कम विचारणीय न थे। एक स्थान पर स्पष्टतया कहा गया है कि स्वस्थ एवं धनवती कन्या के लिके वर- प्राप्ति सुगम है[8]। दूसरे स्थान से विदित होता है कि चर्मरोग के कारण घोषा का विवाह अतिदीर्घकाल तक नहीं हुआ[9]। शतपथ ब्राह्मण[10] उसके शारीरिक सौन्दर्य एवं आवयविक संगठनकी अभीष्टता का उल्लेख करता है। मानवगृह्सूत्र में (१.७.६.-७) भी सौन्दर्य को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। सौन्दर्य एवं संगठन के विविध अंगों का सविस्तार वर्णन मनुस्मृति में उपलब्ध होता है। इसके अनुसार मनुष्य की कोमलांगी, लघुदशना, साल्पकेशा, गजगामिनी अथवा हंसगामिनी तथा अदोषगात्री कन्या से विवाह करना

---

१. अथर्व २. ३६.

२. आश्व० श्रौत सूत्र ६. ३ – ये मातृतः पितृतश्च दशपुरुष समनुष्ठिता विद्यातपोभ्यां पुण्यैश्च कर्मभिः येषामुभयतो वा ब्रह्मण्यं निनयेयुः पितृतश्चैके।

३. कुलानुरूपः प्रजाः संभवन्ति-संस्कार प्रकाश में उद्धृत हारीत पृ० ५८६।

४. बौधा० धर्मसूत्र ४. १. २०- दद्याद्गुणवते कन्यां नाग्निकां ब्रह्मचारिणम्।

५. आप० गृ० सू० १. ३. २०–बन्धुशील: लक्षणसम्पन्नः श्रुतवानरोग इति वर संपत्।

६. आश्व० गृ० सू० १.५.२- बुद्धिमते कन्यां प्रयच्छेत्

७. मनु० ३.६.-७

८. शतपथब्रा० १.२.५.१६.

९. ऋ० १०.१०१२.–भद्रा वधूर्भवति यत्सुपेशाः स्वयं सा मित्रं वनुते जने चित्

१०. ऋ० १, ११७. ७. २.१७.७.

चाहिये। इसके विपरीत केशहीनता अथवा केशबाहुल्य, अवयवाधिक्य अथवा अवयव-न्यूनता, नेत्रपीतता तथा वाचालता आदि कन्या के दोष समझे जाते थे।

सौन्दर्य के अतिरिक्त कन्या के अन्य गुण-दोष कम विचारणीय नहीं थे। कामसूत्र में कन्या में अभिलषित विविध गुणों का उल्लेख किया गया है। इनमें अभिजातता, रूप, शील, लक्षण, स्वास्थ्य और धन विशेष उल्लेखनीय हैं[1] इनमें से कुछ गुणों का उल्लेख वसिष्ठ धर्मसूत्र में भी किया गया है[2]। इसी प्रकार आश्वलायन गृहसूत्र में बुद्धि, रूप, शील, लक्षण एवं स्वास्थ्य कन्या के प्रमुख गुण हैं[3]। देश, काल एवं अभिरुचि के अनुसार इन गुणों में से प्रत्येक का महत्व न्यूनाधिक मात्रा में घटता-चढ़ता रहा है। इस प्रकार सांख्यायन गृहसूत्र में कन्या के लक्षणों के ऊपर अधिक महत्व दिया गया है।[4] भारद्वाज गृहसूत्र[5] कन्या के ४ प्रमुख गुणों का उल्लेख करता है :—(१) धन (२) सौन्दर्य (३) बुद्धि और (४) कुल इनमें अपेक्षाकृत प्रथम दो गौण और अन्तिम दो प्रधान हैं। महाभारत में अधिक महत्व कन्या की यौवनावस्था पर दिया गया है[6]। रामायण के अनुसार वधू शील, वय, चरित्र एवं कुल में वर के तुल्य होनी चाहिये[7]। गौतम, वसिष्ठ और मानव गृहसूत्र वर की अपेक्षा कन्या का यवीयसी होना आवश्यक बताते हैं[8]। मिताक्षरा में इस शब्द का तात्पर्य आयु तथा कद दोनों में छोटी कन्या से है। कामसूत्र में भी वर की अपेक्षा कन्या का कम से कम उम्र में ३ वर्ष अल्पायु होना अभीष्ट कहा गया है[9]। मनु के मत में अभ्रातृका कन्या के साथ विवाह करना अनुपयुक्त है[10] इसी मत का प्रतिपादन निरुक्त ने भी किया है[11]। ऐसा विदित होता है कि अभ्रातृका कन्या के साथ विवाह करना ऋग्वैदिक काल में भी दोषपूर्ण समझा जाता था। यही मत अथर्ववेद में भी

१. कामसूत्र ३. १. २.-तस्मात्कन्यामभिजनोपेतां मातापितृमतीं त्रिवर्षात्प्रभृति न्यूनवयसं श्लाघ्याचारे धनवति पक्षवति कुले संबन्धिप्रिये संबधिभिराकुले प्रसूतां प्रभूतमातापितृपक्षां रूपशीललक्षणसंपन्नमान्यूनाधिकाविनष्टदन्त-नखकर्णकेशाक्षिस्तनीमरोगिप्रकृतिशरीरां तथाविध एवं श्रुतवान शीलयेत्

२. वसिष्ठ १. ३८.

३. आश्वलायन गृह १. ५. ३—बुद्धिरूपशीललक्षणसंपन्नामरोगामुपयेच्छेत।

४. सांख्यायन गृहसूत्र १. ५. ६.

५. भारद्वाज गृह सू० १. ११.—चत्वारि विवाहकारणानि वित्तं रूप प्रज्ञा बान्धवमिति। तानि चैत्सर्वाणि न शक्नुयाद्वित्तमुदस्येत्ततो रूपं प्रज्ञायां च तु बान्धवे च. विवन्दते। बान्धवमुदस्येदित्येक आहुरप्रज्ञे न हि कः संवासः।

६. महा १३. १०४ १२४-वयस्थां च महाप्रज्ञः कन्यामवो ढुमहति।

७. रामा० ५. १६ ५ तुल्यशीला वयोवृत्ता तुल्याभीजनलक्षणाम्।

८. गौतम ४. १, वसिष्ठ ८. १, मानव गृह० १. ७. ८

९. कामसूत्र ३. १. २.

१०. मनु० ३. ११.

११. निरुक्त ३. ५.

मिलता है[१]। निरुक्त[२] के अनुसार पुत्रहीन पिता प्रायः अपनी कन्या का विवाह किसी व्यक्ति के साथ इसी शर्त पर करता है कि उसकी कन्या का पुत्र अपने पिता का न हो कर उसका ही होगा तथा अपने पिता के स्थान पर उसी के लिये पिण्डदान इत्यादि करेगा। ऐसी कन्या को पुत्रिका कहते हैं। इसका उल्लेख वसिष्ठ धर्मसूत्र में किया गया है[३]। गौतम का तो कथन है कि अपने पिता के मानसिक विचारमात्र से ही कन्या पुत्रिका हो जाती है[४]। अतः कहीं अभ्रातृका कन्या पुत्रिका न हो, इसी भय से लोग उसके विवाह करना अभीष्ट नहीं समझते थे। इस धार्मिक कारण के अतिरिक्त एक अन्य कारण और सम्भव प्रतीत होता है[५]। कभी-कभी अभ्रातृका कन्यायें उचित संरक्षण के अभाव में विपथ हो जाती थीं। अतः प्रायः लोग उनके चरित्र के विषय में सशंकित रहते थे और उनके साथ विवाह न करना ही उचित समझते थे। बहुधा वधू की प्रियता एवं अप्रियता वर की निजी अभिरुचि एवं मनोवृति के ऊपर निर्भर करती है[६]। ऐसी दशा में अन्य गुण-दोष अतिक्रमित हो जाते हैं। इसी व्यावहारिक तथ्य से प्रेरित होकर कतिपय व्यवस्थाकारों ने कन्या के विविध गुणदोषों का विवेचन व्यर्थ समझ कर अंत में वर की अभिरुचि को ही प्रमाण माना है। आपस्तम्ब गृहसूत्र ऐसे ही व्यवस्थाकारों के मत को उद्धृत करते हुए कहता है[७] कि कुछ व्यक्तियों के अनुसार व्यक्तिविशेष की जिस कन्याविशेष में अनुरक्ति हो, उसे उसी के साथ विवाह कर लेना चाहिये। इसमें अन्य बातों पर विचार करना निरर्थक है।[८] इसी आशय का उल्लेख भरद्वाज गृहसूत्र में भी मिलता है।[९] कामसूत्र भी विस्तृत विवेचन के पश्चात् इसी मत के प्रतिपादक घोटकमुख का विचार उद्धृत करता है।

बौद्ध-ग्रन्थों में वर-वधू के अभीष्ट गुणों की उपर्युक्त प्रकार से सुविस्तृत एवं सुव्यवस्थिति विवेचना नहीं की गई है। परन्तु जातकों के कथनकों से ज्ञात होता है कि जन-

---

१. निरुक्त ३ ५.

२. ऋग्वेद १. १२४. ७—अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्तारुगिव सनये धनानाम्।
जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हस्रेव निरिणीते अप्सः।

३. अथर्व० १. १७. १.

४. निरुक्त ३. ४.—प्रशास्ति वोढ़ा सन्तानकर्मणेदुहितुः पुत्रभावम्।

५. वसिष्ठ. १७. १५. १७—तृतीयः पुत्रिका। विज्ञायते अभ्रातृका पुंस पितॄनभ्येति
प्रतीचीनं गच्छति पुत्रत्वम्। तत्र श्लोकः। अभ्रातृकां
प्रदास्यामि तुभ्यं कन्यामलंकृताम्। अस्यां जो जायते पुत्रः
से में पुत्रो भवेदति।

६. गौतम २८. २७—अभिसंधमात्रात्पुत्रिकेत्येकेषाम्।

७. ऋ० ४. ५. ५.—अभ्रातरो न योषणो व्यन्तः पतिरिपो न जनयो दुरवाः
पापासः सन्तो अनृता असत्या इदं पदमजनता गभीरम्।

८. आप० गृहसूत्र ३. २१—यस्यां मनश्चक्षुषोर्निबन्धस्तस्यामृद्धिर्नेतरदाद्रियेतेत्येके

९. भारद्वाजगृहसूत्र १. ११.—यस्यां ममोनुरमते चक्षुश्च प्रतिपद्यते तां विद्यात्पुण्य
लक्ष्मीकां किं ज्ञानेन करिष्यति।

साधारण में विवाह के पूर्व वर-वधू के चारित्रिक, शारीरिक एवं आपूर्ण व्यक्तित्व सम्बन्धी गुणावगुणों का ज्ञान प्राप्त करने की उतनी ही तीक्ष्ण उत्कण्ठा थी जितनी वह विवेचनात्मक ब्राह्मण-ग्रन्थों में प्रदर्शित की गई है[1]। एक स्थान पर एक कुटुम्ब का आचार्य कन्याओं के पिता को आवश्यक वर की अभीष्ट विशेषताओं के विषय में सम्मति देता है। उसके कथनानुसार सौन्दर्य और विनति श्लाघ्य गुण हैं। परन्तु सर्वप्रमुख गुण सदाचार है।[2] इसी प्रकार अग-विज्जापाठकों द्वारा कन्या की लक्षण-परीक्षा की प्रथा थी।[3] उम्मदन्ती जातक में उम्मदन्ती नामक एक कन्या के लक्षणपरीक्षणार्थ राजा के द्वारा कतिपय ब्राह्मणों के भेजे जाने की कथा है।[4] अनेक जातकों में सुलक्षण स्त्री को सादिसी, तुल्यावाहा पियमाणिनी आदि विशेषणों से सम्बोधित किया गया है। परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि विवाह के लिये कुल तथा जाति का ही विचार अधिक रक्खा जाता था। जातकों में अनेक स्थानों पर कन्या के लिए समान-जातिककुला शब्द का प्रयोग किया गया है।[5] कुल एवं जाति की मर्यादा का ध्यान विशेष-तया ब्राह्मणों में अधिक था। अननुसोचिय जातक[6] में एक ब्राह्मण अपने पुत्र के लिये ब्राह्मण कन्या ढूंढ़ने का आदेश देता है।

प्राचीन नियामकों ने विवाह के लिये वर-वधू की वांछनीय बातों के अतिरिक्त ऐसी अवांछनीय बातों का भी उल्लेख किया है जिनके आधार पर विवाह वर्ज्य अथवा अधर्म्य समझे जाते थे। मनु[7] ने ऐसे कुटुम्ब के साथ विवाह-सम्बन्ध स्थापित करने का निषेध किया है जो क्षय, कुष्ट आदि भयंकर रोगों से ग्रस्त हो। याज्ञवल्क्य ने भी मनु का अनुमोदन किया है[8]। प्राचीन भारतवर्ष में नियोग-प्रथा प्रचलित थी। अतः क्लीव व्यक्तियों के विवाह के विरोध में व्यवस्था करने की विशेष आवश्यकता न थी। महाभारत के साक्ष्य के अनुसार कुन्ती[9] तथा श्रुतसेना[10] ने नियोग-प्रथा के द्वारा पुत्र-प्राप्ति की थी। मनु ने यद्यपि नियोग-प्रथा का विरोध किया है तथापि क्लीव व्यक्तियों के पुत्रों को अपना व्यवस्था के अन्तर्गत स्वीकृत कर लिया है।[11] ऐसा ज्ञात होता है कि लगभग पहली अथवा दूसरी शताब्दी तक

---

1. कामसूत्र ३.१.३-यां गृहीत्वा कृतिनमात्मानं मन्येत न च समानैर्निन्द्येत तस्यां प्रवृत्तिरिति घोटकमुखः
2. जातक २ पृ० १३८, ४ पृ० ३५.
3. जातक १ पृ० २६, ३ पृ० १२२,१५८,५ पृ० २११, ४५८
4. जातक ५ पृ० २११
5. जातक १ पृ० १६६, २ पृ० १२६,३ पृ० ६३, ४ पृ० २५५.
6. जातक ३ पृ० ६३—ब्राह्मणकुमारिकं आनेथा।
7. मनु० ३. ६-७
8. याज्ञ० १. ५४-५५
9. महा० १. १२३.६३-४
10. महा० १. १२६.
11. मनु० ६. २०३ —यद्यर्थिता तु दारैः स्यात्क्लीवादीनां कथंचन। तेषामुत्पन्नतन्तूनामपत्यं दायमर्हति।

क्लीव व्यक्तियों के विवाह के विरुद्ध प्रभावात्मक व्यवस्था न थी। परन्तु उसके पश्चात् नियोग-प्रथा की समाप्ति पर उनके विवाह का भी निषेध हो गया। अनुगामी व्यवस्थाकारों ने क्लीवों के विवाह का स्पष्टतया विरोध किया है।[1]

स्मृतिमुक्ताफल[2] में उद्धृत हारीत के एक श्लोक में अन्य विवाह-निषेधों का भी उल्लेख मिलता है। उसके अनुसार प्रत्युद्वाह वर्जित है अर्थात् किसी के पुत्र को अपनी कन्या के लिए लेकर बदले में उसकी कन्या के साथ अपने पुत्र का विवाह करना अनुपयुक्त है। इसी प्रकार एक ही व्यक्ति के साथ अपनी दो कन्याओं का विवाह करना अथवा दो भाइयों के साथ अपनी दो कन्याओं का विवाह करना भी निषिद्ध है। परन्तु साहित्य में इन निषेधों के अनेक अपवाद मिलते हैं। महाभारत में विचित्रवीर्य के साथ काशीराज की दो कन्याओं के विवाह का उल्लेख है। एक जातक में एक पिता का अपनी चार कन्याओं का एक ही व्यक्ति के साथ विवाह करते हुये प्रदर्शित किया गया है।[3]

धर्मशास्त्र जिन अनेक प्रकार के निषिद्ध विवाहों का उल्लेख करते हैं उनमें सपिण्ड विवाह, सगोत्र विवाह तथा सप्रवर विवाह विशेष महत्वपूर्ण हैं। पिण्ड शब्द का प्रयोग ऋग्वेद तथा तैत्तिरीय संहिता में हुआ है।[4] परन्तु वहाँ इसका अर्थ अग्नि में प्रक्षेप्य बलि-पशु-अंग से है। शतपथ ब्राह्मण[5] में इसका प्रयोग पितरों को दिये जाने वाले चावल के पिंड के अर्थ में किया गया है। निरुक्त[6] में भी इसका प्रयोग इसी अर्थ में किया गया है। परन्तु सम्पूर्ण वैदिक संहिता में कहीं पर भी सपिण्ड का उल्लेख नहीं मिलता। इसका प्रयोग सर्वप्रथम धर्मसूत्रों में उपलब्ध होता है और वह भी अत्यन्त महत्वपूर्ण रूप में। सपिण्ड विवाह को अत्यन्त वर्जित बताते हैं। पिण्ड का साधारण अर्थ होता है शरीर। अतः सपिण्ड का अर्थ हुआ शरीरवान् अथवा शरीरवती। इस शब्द की विस्तृत व्याख्या के अनुसार सपिण्ड विवाह का तात्पर्य उन दो व्यक्तियों के विवाह से है जिनमें समान शरीर के अंश विद्यमान हों। साधारण भाषा में इसे हम समान रक्त-सम्बन्ध कह सकते हैं जो धर्मसूत्रों के अनुसार विवाह के लिए प्रतिबाधक है। गोभिल गृहसूत्र[7] तथा आपस्तम्ब धर्मसूत्र[8] के अनुसार सपिण्ड कन्या के साथ विवाह नहीं हो सकता। मनु[9] ने भी इसी मत का अनुमोदन किया

१. नारद १२. १६.—नाबीजी क्षेत्रमर्हति।

२. स्मृतिमुक्ताफल-वर्णाश्रमधर्म पृ० १४८-प्रत्युद्वाही नैव कार्यो नैकस्मै दुहितृद्वयम्,
न चैकजातयोः पुंसा प्रयच्छेद्दुहितृद्वयम्।

३. जातक २ पृ० १३८.

४. ऋ० १. १६२. १९. तथा तैत्ति० सं० ४. ६. ६. ३.—एकस्त्वष्टुरश्वस्या विशस्ता द्वायन्तारा भवतस्तथ ऋतुः। या ते गात्राणामृतुथा कृणोमिताता पिण्डानां प्रजुहोम्यग्नौ।

५. शतपथ ब्रा० २. ४. २. २४.

६. निरुक्त ३. ४. ५.

७. गोभिल गृहसूत्र ३. ४; ५.

८ आप० ध० सू० २. ५. ११. १६.

९. मनु० ३. ५.

है। परन्तु यदि रक्तसम्बन्ध की अतिरंजित व्याख्या की जाय तो समस्त मानव-जाति ही सपिण्ड प्रमाणित हो जायगी, क्योंकि सब मनुष्य एक ही परम पिता परमात्मा की सन्तान हैं।[1] इस दशा में कोई भी विवाह उपयुक्त नहीं हो सकता। यही कारण है कि अनेक नियामकों ने सपिण्ड-सम्बन्ध का अर्थ परिमित कर दिया है। गौतम[2] के अनुसार सपिण्ड सम्बन्ध पिता के पक्ष में ७ पीढ़ियों तक और माता के पक्ष में ५ पीढ़ियों तक रहता है। वसिष्ठ[3] तथा याज्ञवल्क्य[4] ने भी इसी मत का प्रतिपादन किया है। इसी आधार पर व्यवस्थाकारों ने मातुलदुहिता, पितृस्वसृदुहिता, आदि के साथ विवाह-कार्य निषिद्ध ठहराया है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र[5] का कथन है कि इनके साथ सम्भोग पतनीय है। बौधायन धर्मसूत्र के अनुसार दक्षिणी भारतवर्ष में मातुल एवं पितृस्वसा की सुताओं के साथ विवाह का प्रचार था, परन्तु गौतम तथा बौधायन इस प्रणाली के विरोधी थे।[6] उत्तरी भारतवर्ष में यह प्रथा न थी। मनु ने भी उपर्युक्त सपिण्ड विवाहों का विरोध किया है[7] तथा उनके करने वालों को प्रायश्चितस्वरूप चान्द्रायण व्रत करने का निर्देश दिया है। महाभारत[8] में भी असपिंड एवं असगोत्र विवाह का ही प्रतिपादन किया गया है। परन्तु साहित्य में यदाकदा इन नियमों के उल्लंघन भी प्राप्त होते हैं। अर्जुन ने सुभद्रा के साथ विवाह किया था जो उसके मातुल की दुहिता थी। इसी प्रकार श्रीकृष्ण ने भी अपने मातुल की पुत्री रुक्मिणी से विवाह किया था। सपिण्ड विवाह के अनेक उदाहरण बौद्ध-साहित्य में भी प्राप्त होते हैं। उदय जातक के अनुसार उदय ने अपनी वैमातृका-भगिनी उदयभद्दा से विवाह किया था।[9] वेस्सन्तर का विवाह मातुलभगिनी मद्दी के साथ हुआ था।[10] इसी प्रकार मुदुपाणि जातक[11] में एक राजा अपनी पुत्री का विवाह अपनी भगिनी के पुत्र के साथ करता है। इस प्रकार के कुछ उदाहरण जैन-साहित्य में भी उपलब्ध होते हैं। इस साक्ष्य के अनुसार माउलदुहिया (मातुलदुहिता)

---

1. तै० उ० २. ६—सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायाय इदं सर्वमसृजत।
2. गौतम ४. २.
3. वशिष्ठ ८. २.
4. याज्ञ० १. ५३.
5. आप० ध० सू० १, ७. २१. ८.
6. बौधा० ध० सू० १. १. १६–२६—पंचधा विप्रतिपत्तिर्दक्षिणतस्तथोत्तरतः यानि दक्षिणतस्तानि व्याख्यास्यामः। यथेतदनुपेतेन सह भोजनं स्त्रिया सह भोजनं पर्युषितभोजनं मातुलपितृस्वसृदुहितृगमनमिति...मिथ्येतदिति गौतमः उभयं चैव नाद्रियेत शिष्टस्मृतिविरोधदर्शनात्।
7. मनु० ११. १७२–१७३.
8. महा० १३. ४४. १८—असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः। इत्येतामनुगच्छेत तं धर्मं मनुरब्रवीत्।
9. जातक ४. पृ० १०५.
10. जातक ६ पृ० ४८६.
11. जातक १ पृ० ४५७.

के साथ विवाह करना यद्यपि उत्तरापथ में वर्जित था तथापि वह लाट और दक्षिणापथ में प्रचलित था।[१] कहीं-कहीं पर बुआ अथवा बहिन की पुत्री के साथ विवाह के भी दृष्टान्त मिलते हैं।[२] गोल्ल देश में ब्राह्मणों को अपनी विमाता के साथ विवाह करने का भी उल्लेख है।[३] परन्तु इस प्रकार के उदाहरण नियम की अपेक्षा अपवाद के रूप में ही लिये जाने चाहिये।

व्यवस्थाकारों ने सपिण्ड विवाह की भांति सगोत्र विवाह का भी विरोध किया है। गोत्र शब्द का प्रयोग ऋग्वेद[४] में हुआ है, परन्तु वहां इसका अर्थ गोरक्षक अथवा गोसमुदाय है। कहीं-कहीं पर[४/१] इसका प्रयोग कदाचित् समुदाय के अर्थ में भी हुआ है और इसी से गोत्र (व्यक्तियों का एक विशिष्ट समुदाय) के आधुनिक विशेषार्थ का सूत्रपात हुआ। अथर्ववेद[५] में निश्चित रूप से इस शब्द का प्रयोग सम्बन्धित व्यक्तियों के समुदाय के रूप में हुआ है। यही अर्थ कौशिक सूत्र[६] से उद्धृत एक मन्त्र में भी है। इन नाम का शनैः शनैः विकास होता गया और ६०० ई० पू० तक गोत्र अपनी समस्त प्रमुख विशेषताओं के साथ प्रतिष्ठित हो गया। साधारण भाषा में गोत्र किसी व्यक्ति के उस निकटतम पूर्वज का नाम होता है जिसके नाम से उसका कुटुम्ब संशोधित होता है। इस प्रकार इससे सम्बन्धित व्यक्तियों के एक विशिष्ट समुदाय का बोध होता है। प्रमुख ऋषियों के नाम से समुदायों के नाम-करण की प्रथा ऋग्वेद में ही प्रचलित थी। उसमें वसिष्ठ, भारद्वाज आदि ऋषियों के नाम पर समुदायों के नाम मिलते हैं[७]। तैत्तिरीय ब्राह्मण में आंगिरस ऋषि के नाम पर एक समुदाय को आंगिरसी प्रजा कहा गया है[८]। ताण्ड्य ब्राह्मण[९] तथा कौषीतकि ब्राह्मण[१०] में सगोत्र ब्राह्मणों का उल्लेख मिलता है। ऐतरेय ब्राह्मण[११] शुनः शेप को जन्मतः आंगिरस कहता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि गोत्र का निर्णय जन्म के आधार पर होने लगा था। उपनिषद्-काल तक भारद्वाज, आश्वलायन, गार्ग्य, भार्गव, कात्यायन, गौतम, जमदग्नि, कश्यप, वसिष्ठ आदि अनेक गोत्र प्रतिष्ठित हो चुके थे और मनुष्य

---

१. आवश्यक चूर्णि २. ८१.

२. आवश्यक चूर्णि २. १६०

३. आवश्यक चूर्णि २. ८१. निशीथ चूर्णि २. ७४५.

४/१. ऋ० १. ५१. ३. २. १९. १. ३. ३६. ४.

४. ऋ० २. २३. १८. ६. ६५. ५

५. अथर्व० ५. २१. ३—वानस्पत्यः संभृत उस्त्रियाभिर्विश्वगोत्र्यः।
पुत्रासभिमित्रेभ्यां वदाज्येनाभिधारितः।

६. कौशिक सूत्र ४. २.

७. ऋ० १०. ६६. १४. ६. ३५. ५.

८. तैत्ति० ब्रा० २ २. ३.

९. ताण्ड्य ब्रा० १८. २. १२.

१०. कौषी ब्रा० २५. १५.

११. ऐत० ब्रा० ३३. ५—आंगिरसो जन्मनास्याजीगर्तिः श्रुतः कविः। ऋष पैतामहात्तन्तो-र्मापगाः पुनरेहि माम्।

अपने गोत्र-नाम से ही सम्बोधित होते थे[1]। परन्तु इस काल तक गोत्र का महत्त्व प्रमुखतया यज्ञ एवं शिक्षा के ही सम्बन्ध में था। विवाह के सम्बन्ध में इसका प्रयोग विशेष रूप से सूत्र-साहित्य में ही उपलब्ध होता है। प्रायः समस्त सूत्रकारों ने सगोत्र-विवाह को निषिद्ध बताया है। इसका क्षेत्र सपिण्ड की अपेक्षा कहीं अधिक विस्तृत है। पिताके पक्ष में सात पीढ़ी तथा माता के पक्ष में पाँच पीढ़ी के पश्चात् सपिण्ड विवाह हो सकता है, परन्तु सगोत्र विवाह किसी भी रूप में धर्म्य नहीं है, चाहे युवक- युवती के बीच में सैकड़ों पीढ़ियों का अन्तर ही क्यों न हो। सगोत्र कन्या के साथ समागम करने वाले के लिये बोधायन[2] ने चान्द्रायण व्रत द्वारा प्रायश्चित करने की व्यवस्था की है। गोभिल गृहसूत्र[3] तथा हिरण्यकेशि गृहसूत्र[4] ने सगोत्र कन्या के साथ विवाह वर्जित बताया है। आपस्तम्ब-धर्मसूत्र[5] में भी इसी मत का प्रतिपादन किया है। सगोत्र कन्या विवाह के पश्चात् भी धर्मविहित पत्नी नहीं हो सकती[6]। अतः इस प्रकार का विवाह पूर्णरूपेण धर्मविरुद्ध होता है। महाभारत में भी असगोत्र विवाह का ही प्रतिपादन किया गया है[7]। बौद्ध साहित्य से भी प्रायः असगोत्र विवाह के ही उदाहरण अधिकांश रूप में उपलब्ध होते हैं। एक जातक[8] में नाम-गोत्र-कुल का उल्लेख किया गया है जिससे स्पष्ट होता है कि विवाह के अवसर पर समाज इन विशेषताओं का ध्यान रखता था। कच्छप जातक से भी यही सत्य प्रमाणित होता है[9]।

धर्म-शास्त्रों में गोत्र के साथ प्रवर का भी उल्लेख किया गया है। सगोत्र विवाह के समान सप्रवर विवाह भी वर्जित है। ऋग्वेद में प्रवर शब्द नहीं मिलता, परन्तु वहां उसके पर्यायवाची शब्द आर्षेय का प्रयोग हुआ है।[10] अथर्ववेद में आर्षेय का अर्थ ऋषि-सन्तान है[11]। ब्राह्मणों एवं सूत्रों में स्थान-स्थान पर प्रवर अथवा ऋषियों का उल्लेख किया गया है। साधारण भाषा में प्रवर का तात्पर्य उन प्राचीनतम ऋषियों से है जो स्वयं गोत्र-संस्थापक ऋषियों के भी पूर्वज थे। यज्ञादि धार्मिक कृत्यों के अवसर पर इन प्रवर-नामों का उच्चारण आवश्यक था। यह प्रथा कदाचित् ऋग्वैदिक काल में ही प्रतिष्ठित हो चुकी

---

1. बृह० उप० २.२.४, छान्दो उप० ५.१४.१ इत्यादि।
2. बौधा० (प्रवराध्याय ५४) सगोत्रां गत्वा चान्द्रायणं चरेत्।
3. गोभिल गृ० सू० ३.४.४
4. हिरण्य गृहसूत्र १.११.२.
5. आप० ध० सू० २.५.११.१५.
6. मेधा० (मनु० ३-११) अता सगोत्रादिविवाहः कृतोप्यकृत एवं एवं सगोत्राया न भार्यात्वम्।
7. महा० १३.४४.१८-असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः इत्येतामनुगच्छेतु तं धर्मम् मनुरब्रवीत्
8. जातक ४ पृ० ३२८.
9. जातक २ पृ० ३६०.
10. ऋ० ६.६७.४१.
11. अथर्व० ११.१.१६.१२.४.२

थी [1] । कौषीतकि ब्राह्मण का कथन है कि प्रवर-विहीन यजियों के हव्य को देवता स्वीकार नहीं करते हैं। इसी से प्रत्येक के लिए प्रवर नामोच्चारण आवश्यक था। आपस्तम्ब के मतानुसार यदि किसी व्यक्ति को अपना प्रवर ज्ञात न हो तो वह अपने आचार्य के प्रवर का प्रयोग कर सकता है [2]। बौधायन श्रौतसूत्र [3] तथा आश्वलायन श्रौतसूत्र [4] की व्यवस्था है कि क्षत्रिय एवं वैश्य अपने पुरोहित के प्रवरों का प्रयोग करें। ऐसा ज्ञात होता है कि उस समय तक क्षत्रिय तथा वैश्य अपने प्रवरों को भूल गये थे। आपस्तम्ब [5] के मतानुसार प्रत्येक गोत्र में प्रायः तीन प्रवर ऋषि हैं, परन्तु किसी-किसी में इनसे न्यूनाधिक भी उपलब्ध होते हैं।

इस प्रकार के उद्धरणों से ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में प्रवर का बड़ा महत्व था। प्रायः समस्त सूत्रकारों ने सप्रवर विवाह का निषेध किया है। संस्कार प्रकाश में उद्धृत आपस्तम्ब के मतानुसार यदि कोई व्यक्ति सप्रवर कन्या के साथ समागम करता है तो वह अपनी जाति से हीन हो जाता है तथा उनकी सन्तान चण्डाल होती है [6]। गौतम धर्मसूत्र [7], वसिष्ठ धर्मसूत्र [8] तथा शाखायन धर्मसूत्र में सप्रवर कन्या के साथ विवाह वर्जित बताया गया है। यही मत मानवगृह-सूत्र में भी प्रतिपादित किया गया है। ब्राह्मण साहित्य की भांति बौद्ध अथवा जैन साहित्य में सप्रवर विवाह के विरोध में उल्लेख नहीं मिलते। ब्राह्मण साहित्य की अपेक्षा कम व्याख्यात्मक होने के कारण उन्होंने गोत्र तथा प्रवर के बीच निश्चित रूप से सूक्ष्म अन्तर स्थापित करने की कभी भी चेष्टा नहीं की। कदाचित् उनके मत के अनुसार सगोत्र विवाह-निषेध ही सामाजिक व्यवस्था के लिए पर्याप्त था।

विवाह के सम्बन्ध में अन्तिम महत्वपूर्ण प्रश्न जातीयता एवं अन्तर्जातीयता का है। यद्यपि ऋग्वैदिक काल में वर्ण-व्यवस्था का उदय हो चुका था तथापि ऐसा ज्ञात होता है कि उसके स्वतंत्र वातावरण में, जब कन्याओं का विवाह वयः प्राप्ति पर होता था और जब विवाह के लिये उनकी सहमति अथवा स्वीकृति भी आवश्यक होती थी और उनमें गन्धर्व-विवाह का प्रचलन था, तब अन्तर्जातीय विवाह के ऊपर कोई प्रतिबन्ध न था। ऋग्वेद ५. ६१. १७-१९. में ब्रह्मर्षि श्यावाश्व तथा राजा रथवीति दार्भ्य की कन्या के विवाह का

---

1. ऋ० ८. १२४. ४—और्वभृगुवच्छुचिमप्रवानवदा हुये। अग्निं समुद्रवाससम्।
2. आप० श्रौत २४. १०. १७—अथासंप्रज्ञातबन्धुराचार्यामुष्यायण मनुप्रब्रवीताचार्य प्रवरं प्रवृणीत
3. उत्तरषट्क बौधा० श्रौत-प्रवरप्रश्न ५४.
4. आश्व० श्रौ०-उत्तरषट्क ६. १५. ४-५
5. आप० श्रौत० २४.५.६—त्रीन्वृणीत मन्त्रकृतो वृणीतं यथर्षि मन्त्रकृतो वृणीत इति विज्ञायते।
6. सं० प्र० पृष्ठ ६८०—समानगोत्रप्रवरां कन्यामपगम्य च। तस्यामुत्पाद्य ब्राह्मण्यादेव हीयते।
7. गौतम ध० सू० ४. २
8. वसिष्ठ ध० सू० ८. १.

उल्लेख है। इसी प्रकार ऋ० १. ११२. १६ में ब्राह्मण विमद तथा राजा पुरुमित्र की कन्या कमद्यु का विवाह अन्तर्जातीय विवाह का ही उदाहरण है। अन्तर्जातीय विवाह का तीसरा प्रमुख दृष्टान्त महर्षि कक्षीवान् तथा रामेशा का है[1]। ये तीनों उदाहरण अनुलोम विवाह के हैं। इनके अतिरिक्त ऋग्वेद में प्रतिलोम विवाह के भी कतिपय उदाहरण उपलब्ध होते हैं। महर्षि आंगिरस की पुत्री शाश्वती का विवाह राजा असंग के साथ हुआ था (ऋ० ८.१.३४)। इसी प्रकार महर्षि शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी का विवाह राजा ययाति के साथ हुआ था (ऋ० १०.६३.१)। अनुगामी वैदिक साहित्य में भी दोनों प्रकार के अन्तर्जातीय विवाहों के बहुसंख्यक दृष्टांत उपलब्ध होते हैं। तैत्तिरीय संहिता[2] में शूद्रा तथा आर्य का सम्बन्ध प्रदर्शित किया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण[3] में कवष ऐलूष को 'दास्याः पुत्र' कहा गया है जिससे ज्ञात होता है कि उस समय आर्य-अनार्य मे भी विवाह होते थे। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार ऋषि च्यवन ने राजा शर्यात की पुत्री सुकन्या के साथ विवाह किया था[4]। परन्तु सूत्रकाल तक आते-आते जाति-व्यवस्था दृढ़तर हो गई थी और अन्तर्जातीय विवाह हेय समझे जाने लगे थे। आपस्तम्ब धर्मसूत्र[5] में सवर्ण विवाह का प्रतिपादन किया गया है। यही मत मानव-गृह-सूत्र[6] तथा गौतम-धर्मसूत्र[7] में भी उल्लिखित है। मनु ने[8] भी सवर्ण विवाह को ही श्रेयकर समझा है। इस व्यवस्था के होते हुये भी ऐसा ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में अन्तर्जातीय विवाह होते थे, यद्यपि अश्लाघ्य अवश्य समझे जाते थे। गौतम ने ऐसे अन्तर्जातीय विवाहों के परिणाम-स्वरूप अनेक वर्ण-संकर जातियों के नामोल्लेख किये हैं[9]। मनु की अनुकल्प-व्यवस्था के अनुसार ब्राह्मण किसी भी वर्ण की स्त्री के साथ, क्षत्रिय अपने तथा वैश्यवर्ण की स्त्री के साथ, वैश्य अपने तथा शूद्र वर्ण की स्त्री के साथ तथा शूद्र केवल शूद्रा स्त्री के साथ विवाह कर सकते थे[10]। यही मत बौधायन[11] तथा विष्णु[12] के धर्मसूत्रों में उपलब्ध होता है।

---

1. ऋ० १. १२६.
   ऋ० १० ४०.
2. तैत्ति० सं० ७.४.१६.३. शूद्रा यदर्यजारा न पोषाय धनायति।
3. ऐत० ब्र० ८.१.
4. शत० ब्र० ४.१.५
5. आप० ध० सू० २.६.१३.१.३—सवर्णापूर्वशास्त्रविहितायां यथर्तु गच्छतः पुत्रास्तेषां कर्मभिः संबन्धः। पूर्ववत्यामसंस्कृतायां वर्णान्तरे च मैथुने दोषः।
6. मानव गृ० सू० १.७.८
7. गौतम ध० सू० ४.१.
8. मनु० ३.१२.
9. गौतम ध० सू० ४.१४–१७
10. मनु० ३.१३.
11. बौधा० ध० सू० १.८.२
12. विष्णु ध० सू० २४.१–४

याज्ञवल्क्य [1] भी ब्राह्मण तथा वैश्यों को अपने से नीचे वाले वर्ण की कन्या के साथ विवाह करने की अनुमति देते हैं। ये सब अनुलोम विवाह के ही उदाहरण हैं। यद्यपि किसी-किसी व्यवस्थाकार ने द्विजाति के पुरुष के साथ शूद्रास्त्री के विवाह की अनुमति दे दी है तथापि अधिकांश व्यवस्थाकारों ने इस प्रकार के विवाह का घोर विरोध किया है। गौतम का उल्लेख है कि यदि किसी ब्राह्मण ने शूद्रा के साथ विवाह कर लिया है तो वह श्राद्ध में भोजन के अवसर पर आमन्त्रित नहीं किया जा सकता [2]। वसिष्ठ धर्मसूत्र का कथन है कि शूद्रा के साथ विवाह करने वाला द्विजाति पुरुष कुलायकर्म करता है तथा मरने के पश्चात् स्वर्गाधिकार से हीन हो जाता है। [3] इसी प्रकार विष्णु धर्मसूत्र भी द्विजाति-शूद्रा-विवाह की घोर निन्दा करता है। इसके मतानुसार ऐसे विवाह की सन्तान धार्मिक क्रियाओं के लिये पूर्णरूपेण अनुपयुक्त होती है, क्योंकि उसका स्तर शूद्र के समान होता है। मनु ने जहां शूद्र के साथ द्विजाति पुरुष के विवाह की कल्पना की है वहां उन्होंने तत्कालीन प्रचलित प्रथा का ही अपनी व्यवस्था के अन्तर्गत समावेश किया है। परन्तु जहां तक सिद्धान्त का प्रश्न है, वे स्वयं इस प्रकार के विवाह के घोर विरोधी हैं। उनके मतानुसार शूद्रा के साथ समागम करने वाला ब्राह्मण नरकाधिकारी होता है तथा अपनी जाति से च्युत हो जाता है [4]। इसी प्रकार याज्ञवल्क्य ने द्विजाति-शूद्रा-विवाह को अति वर्जित बताया है [5]। परन्तु ऐसा ज्ञात होता है कि इस घोर विरोध के होते हुए भी समाज में द्विजाति पुरुषों एवं शूद्रा स्त्रियों के अन्तर्जातीय विवाह होते रहे, क्योंकि नियामकों ने अपनी व्यवस्था में ऐसे विवाहों से उत्पन्न पुत्रों का भी उल्लेख किया है तथा उनका साम्पत्तिक अधिकार स्वीकृत किया है [6]।

परन्तु जहाँ तक प्रतिलोम विवाह का प्रश्न है, प्रायः समस्त व्यवस्थाकारों ने उसकी घोर निन्दा की है। गौतम का कथन है कि समस्त प्रतिलोम सन्तानें धर्महीन होती हैं [7]। विष्णुधर्म सूत्र में उन्हें अति निन्दनीय कहा गया है [8]। कौटिल्य के अनुसार चण्डालातिरिक्त समस्त प्रतिलोम शूद्र के समान होते हैं [9]। मनु का कथन है कि ६ अनुलोम जातियों

---

१. याज्ञवल्क्य १. ५०

२. गौतम ४. १५. १८.

३. वसिष्ठ १. २४. -२७. शूद्राप्येके मन्त्रवर्जं तद्वत्। तथा न कुर्यात्। अतो हि ध्रुवः कुलापकर्षः प्रेत्य चास्वर्गः।

४. मनु ३. १५-१६.

५. याज्ञ० १. ५७.

६. बौधा० ध० सू० २. २. १६—नानावर्णस्त्रीसमवाये दाये दशांशान्कृत्वा चतुरस्त्रीन्द्वावेकमिति यथाक्रमं विभजेत् मनु ३. ४४. ६ १५२-१५३.

७. गौतम ४.२०

८. विष्णु ध० सू० १६.३.—प्रतिलोमास्त्वार्यविगर्हिताः।

९. कौटिल्य ३.७.—शूद्रसधर्माणो वान्यत्र चण्डालेभ्यः।

को तो द्विजों के संस्कारों का अधिकार है, परन्तु प्रतिलोम जातियां शूद्रसमान होने के कारण इन अधिकारों से वर्जित हैं [1]।

महाकाव्य-काल में भी विवाह मूलतया सजातीय ही होते थे। कन्याओं का सवर्णा होना ही श्रेयस्कर समझा जाता था। तथापि अपवादों से स्पष्ट है कि समाज में अन्तर्जातीय विवाह भी हुआ करते थे। महाभारत में शान्तनु तथा सत्यवती के विवाह का उल्लेख है। जरत्कारु ने नागकन्या के साथ विवाह किया था और ऋचीक ब्राह्मण ने गाधिपुत्री के साथ। इसीप्रकार राजकुमारी सुकन्या का ऋषि च्यवन के साथ विवाह का उदाहरण प्राप्त होता है। यह कहा जा सकता है कि इनमें से कोई भी विवाह महाकाव्यकालीन नहीं है वरन् अति-पूर्वकालीन प्रथा के उदाहरण हैं। परन्तु यदि हम विचार करें तो इस प्रकार के अन्तर्जातीय विवाहों के उदाहरण हमें महाभारतकाल में भी मिल जायेंगे। भीम ने हिडिम्बा राक्षसी के साथ विवाह किया था [2]। कर्ण का विवाह सूत-कन्या के साथ हुआ था [3]। इसी प्रकार विदुर का विवाह पारसवी कन्या के साथ हुआ था [4]। ये सब अनुलोम विवाह के ही उदाहरण हैं। ययाति तथा देवयानी के प्राचीन प्रतिलोम विवाह के उल्लेख के अतिरिक्त महाभारत में इस प्रणाली का अन्य उदाहरण प्राप्त नहीं होता। इससे ज्ञात होता है कि समाज में प्रतिलोम विवाह सूत्रकाल की भांति ही अति गर्हित समझा जाता था और उसका प्रचलन न था।

बौद्ध-साहित्य में भी विवाह प्रायः सजातीय ही प्रदर्शित किये गये हैं। अनुसोचिय-जातक में एक ब्राह्मण अपने पुत्र के लिये ब्राह्मण-कुमारी ढूढ़ने के लिये कहता है [5]। जातकों में स्थान-स्थान पर सादीसी भरीया तथा समानजातिककुला शब्दों का प्रयोग किया गया है [6] जिनसे ज्ञात होता है कि साधारणतया विवाह सजातीय होते थे। एक जातक [7] में राजा अरिन्दम अपने का असम्भिन्न खत्तिय वसे जाते कहता है। इससे ज्ञात होता है कि ब्राह्मणों की भाँति क्षत्रिय भी मातृपक्ष तथा पितृपक्ष की रक्त-शुद्धता को गौरवपूर्ण समझते थे। दीर्घ-निकाय [8] के अनुसार क्षत्रियब्राह्मणी-विवाह भी श्लाघ्य न समझा जाता था। सिगाल जातक [9] में शृगाल के विवाह-प्रस्ताव पर एक सिंहनी का कथन है कि पशुओं में शृगाल निम्नजातीय होता है। इसी जातक में एक नापित लिच्छविकन्या में अनुरक्त अपने

---

१. मनु० १०.४१.
२. महा०.१.१५५.१६–१८.
३. महा० ५.१४१.१४–अवाहाश्च विवाहाश्च सह सूतैर्मया कृताः
४. महा० १.११४ १२–१४.
५. जातक ३ पृ० ६३.
६. जातक ४. पृ० ६६, जातक १ पृ० १६६, ४५५, जातक २ पृ० १३६, २२५ जातक ३ पृ० ६३, १६२, जातक ४ पृ० ७, २२, ३७, २५५.
७. जातक ५ पृ० २५७
८. दीर्घनिकाय ३. १. २४
९. जातक २ पृ० ६.

पुत्र को समझाता है कि पुत्र! असम्भव वस्तुओं की इच्छा न करो। तुम नापित-पुत्र हो अतः निम्नजातीय हो और क्षत्रियपुत्री होने के कारण वह लिच्छवि-कन्या उच्चजातीया है। अतः वह तुम्हारे वरण के योग्य नहीं है। मैं तुम्हारे लिये अन्य कन्या ढूँढ़ दूंगा जो तुम्हारी जाति एवं तुम्हारे वंशके सदृश हो। भद्दसाल जातक के अनुसार कोसलराज पसेनदि को जब यह विदित हुआ कि उसकी पत्नी शाक्यपिता द्वारा उत्पन्न दासी-पुत्री है तो वह तुरन्त उसका परित्याग करने के लिए उद्यत हो गया। इन उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि विवाह-कार्य में जाति का विशेष ध्यान रक्खा जाता था। परन्तु अनेक स्थानों पर अन्तर्जातीय विवाह के भी उल्लेख मिलते हैं। एक जातक के अनुसार सेनापति अहिपादक ने एक वणिक्-कन्या उम्मदन्ती के साथ विवाह किया[1] था। कटृहारि जातक में एक राजा तथा एक प्राकृत कन्या का विवाह उल्लिखित है[2]। कुल जातक में एक ब्राह्मण निस्सन्तान राजमहिषी से विवाह करता है। बौद्ध साहित्य में निसाद (ब्राह्मण-शूद्रा-सन्तान), सपाक अथवा श्वपाक (क्षत्रिय-उग्रा-सन्तान) अम्बट्ठ, अथवा अम्बष्ठ (ब्राह्मण-वेश्या-सन्तान)उग्ग अथवा उग्र (क्षत्रिय-शूद्रा-सन्तान) आदि अनेक वर्णसंकरों के नाम उपलब्ध होते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि समाज में अन्तर्जातीय विवाह प्रचलित थे। परन्तु समाज में इनका स्तर निम्न समझा जाता था। ये समस्त उदाहरण भी अनुलोम विवाह के ही हैं। प्रतिलोम विवाह के उदाहरण बौद्ध साहित्य में भी अतिन्यून हैं जिससे समाज में उनकी त्याज्यता सिद्ध होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि बौद्ध-धर्म-जाति-भेद का विरोधी था तथापि वह ब्राह्मण-संस्थापित जातिमूलक सामाजिक व्यवस्था को भंग करने में असमर्थ रहा था।

यही निष्कर्ष जैन साहित्य से भी निकलता है। इसमें भी मनुष्यों की सरिसयकुल में उत्पन्न कन्या के साथ ही विवाह-सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा परिलक्षित होती है। उदाहरणार्थ, राजवंशीय मेघकुमार का विवाह समान वय, सौन्दर्य और गुण की आठ राज-कन्याओं से हुआ था[3]। परन्तु यत्र-तत्र अन्तर्जातीय विवाह के भी उदाहरण मिलते हैं। राजवंशीय बम्भदत्त[4] ने ब्राह्मण एवं वणिक कन्याओं के साथ और राजा जियसत्तु[5] ने एक चित्रकार की कन्या के साथ विवाह किया था। क्षत्रिय गयसुकुमाल ने ब्राह्मण कन्या-का वरण किया था।[6] परन्तु ऐसे उदाहरण अल्पसंख्यक होने के कारण अपवाद-स्वरूप ही हैं।

इस प्रकार समस्त साक्ष्यों से यही प्रकट होता है कि समाज साधारणतया सजातीय विवाह को ही अधिक श्रेयस्कर समझता था, परन्तु बहुधा उसमें अनुलोम विवाह भी हुआ

---

१. जातक पृ० २११,
२. जातक १ पृ० १३४,
३. नायाधम्मकहा १, २३,
४. उत्तराध्ययन टीका ६, १८८
५. उत्तराध्ययन टीका ६, १४१,
६. अन्तगडदसाओ ३, १६,

करते थे। शूद्र-कन्याओं के अतिरिक्त अन्य वर्ण की कन्याओं के साथ विवाह यद्यपि अधिक शलाघ्य न समझे जाते थे तथापि उनकी धर्म्यता में किसी को सन्देह न था। समाज ने इन अनुलोम विवाहों से उत्पन्न सन्तानों को अपनी व्यवस्था के भीतर स्थान दिया था। परन्तु प्रतिलोम विवाह की स्थिति पूर्णरूपेण भिन्न थी। वह नितान्त गर्हित एवं वर्जित था। यही कारण है कि सम्पूर्ण साहित्य में इसके उदाहरण अत्यल्प हैं।

ब्राह्मण ग्रन्थों में ८ प्रकार के विवाह की कल्पना की गई है। वास्तव में इस प्रकार का संगठन एवं व्यवस्थापन ब्राह्मणों की आश्चर्यजनक विवेचनात्मक बुद्धि का ही परिणाम है। विवाह-सम्बन्धी यह व्यवस्था किसी एक काल, जाति अथवा स्थान पर आधारित नहीं है। समय-समय पर विभिन्न मनुष्यों ने भिन्न-भिन्न स्थानों पर अपनी आवश्यकताओं एवं अभिरुचियों के अनुकूल जो वैवाहिक सम्बन्ध निर्मित किये उन्होंने समाज के समक्ष प्रचुर मात्रा में विवाहविषयक सामग्री प्रस्तुत कर दी। इसी शृखंला-विहीन, नियमविहीन तथा क्रमविहीन एकत्रीभूत तन्तु-समुदाय को परिष्कृत एवं विनियमित करके समाजनियामकों ने ८ प्रकारों में नियोजित किया और इस प्रकार समाज के इस विषय को भी विवेचनात्मक रूप से सुव्यवस्थित बना दिया।

इस अष्टप्रकार-विवाह की प्रणाली का विकाश शनैः शनैः हुआ, परन्तु कुछ अंशों में इसके बीज हमारे प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद में भी विद्यमान हैं।

प्राचीन साहित्य[१] में जिन आठ प्रकार के विवाहों का उल्लेख किया गया है वे इस प्रकार हैं :—(१) ब्राह्म, (२) प्राजापत्य, (३) दैव, (४) आर्ष, (५) गान्धर्व, (६) आसुर, (७) राक्षस, (८) पैशाच। इनमें भी दो वर्ग हैं। प्रथम चार धर्मविहित एवं शास्त्रानुमोदित तथा अन्तिम तीन धर्मविरुद्ध एवं शास्त्रविनिन्दित बताये गये हैं। गान्धर्व विवाह के विषय में व्यवस्थाकारों में मतभेद है। कुछ का मत है कि यह पूर्णरुपेण धर्मविहित है, परन्तु इसके विरुद्ध अन्य इसे अधर्मपूर्ण कह कर इसकी निन्दा करते हैं।

१—ब्राह्म

इसके अन्तर्गत पिता किसी सुयोग्य वर को अपने घर आमन्त्रित कर के विधिपूर्वक उसे अपनी अलंकृता कन्या अर्पित करता है। ब्रह्म का अर्थ धर्म है। अत्यन्त धर्मविहित एवं अष्ट विवाहों में सर्वश्रेष्ठ[२] होने के कारण भी इसे ब्राह्म की संज्ञा दी गई है[३]। प्रारम्भ में जब कन्याओं के विवाह वयस्कावस्था में होते थे तो उस समय उनकी भी सम्मति आवश्यक रहती थी[४]। परन्तु कालान्तर में जब बाल-विवाह का प्रतिपादन हुआ तो वर का चुनाव पिता अथवा संरक्षक का ही एकमात्र उत्तरदायित्व हो गया। ब्राह्म-विवाह का प्रादुर्भाव ऋग्वेद में ही परिलक्षित होता है।

---

१. आश्व० गृहसूत्र १.६, बौधायन ध० सू० १.११, गौतम ध० सू० ४.६-१३, महा० १.६३, ४-१३, कौटिल्य ३.१.५६, मनु० ३.२१, याज्ञ० १.५८

२. आप० ध० सू० २.५.१२.४, बौध० ध० सू० १.११.११,

३ स्मृतिमुताक्फल भाग २ पृ० १४०

४. ऋ० १०.७८.४, १०.७८.८५

अपनी पुत्री के साथ विवाहेच्छुक श्यावाश्व को राजा रथवीति कीरानी ने अनुपयुक्त वर समझ कर अस्वीकृत कर दिया था और उन दोनों का विवाह कुछ काल के लिये स्थगित हो गया था [१]। इसी प्रकार विमद को भी कन्या के माता-पिता की अनुमति प्राप्त न हो सकी थी और अन्त में विवश हो कर उसने अपनी प्रेमिका के साथ राक्षस विवाह करना पड़ा था [२]। कालान्तर में ब्राह्म विवाह सबसे अधिक प्रचलित हुआ।

यदि पिता किसी यज्ञ के समय अपनी अलंकृता कन्या को यज्ञ कराने वाले किसी पुरोहित को अर्पित करे तो उसे दैव विवाह कहते है [३] विवाह के समय वर दैव-कार्य में संलग्न रहता है। इसी से इस विवाह को दैव संज्ञा दी गई है। इस प्रकार

२--दैव

के विवाह में कन्या दक्षिणास्वरूप होती है अथवा नहीं; इस पर व्यवस्थाकारों एवं टीकाकारों में मतभेद है। वौधायन का स्पष्ट कथन है कि कन्या दक्षिणा में दी जाती है। अपरार्क भी इसी कथन का समर्थन करते हैं [४]। इस प्रकार कन्या पुरोहित का पारिश्रमिकस्वरूप हो जाती है। मेधातिथि ने इसी विचार से प्रेरित होकर कन्या को दक्षिणास्वरूपा नहीं माना है [५]। जो कुछ भी हो, प्रारम्भ में दैव-विवाह किसी प्रकार से भी कन्या के हित में अनुचित एवं अहितकर न था। दीर्घकालीनयज्ञ के अवसर पर प्रायः अनेक पुरोहितों के उपस्थित होने की प्रथा थी। उस समय कभी-कभी कन्या का पिता किसी विशेष पुरोहित के व्यक्तित्व से प्रभावित हो कर उसे अपनी कन्या अर्पित कर देता था। वह वयस्थ-विवाह का काल था। अतः वयस्था कन्या भी अपने भावी पति के गुणावगुणों से अवगत हो जाती थी और उस सम्बन्ध में अपने पिता से अपनी इच्छा-अनिच्छा प्रगट कर देती थी। प्रायः पुत्री के सहमत होने पर ही किसी व्यक्ति के साथ उसका विवाह होता था। वृहद्दैवत [६] में कुछ भिन्न रूप में इस दैव-विवाह का दृष्टान्त उपलब्ध होता है। अन्तर इतना है कि वहां पर पुरोहित आत्रेय अर्चनानस् ने यजमान राजा रथवीति की कन्या के साथ स्वयं विवाह न कर के उसे अपने पुत्र श्यावश्व के लिये मांगा था वैदिक यज्ञों के अंत होने पर दैव-विवाह का प्रचलन भी समाप्त हो गया। अयाज्ञिक बौद्ध एवं जैन साहित्य में तो इसका उल्लेख भी नहीं मिलता।

इस प्रणाली के अन्तर्गत पिता अपने भावी जामाता से एक गाय तथा एक बैल लेकर उसके साथ अपनी कन्या का विवाह कर देता है। स्पष्टतया यह कन्या-विक्रय का ही परिवर्तित एवं अवशिष्ट रूप है। प्राचीन काल में यदा-कदा कन्याओं का क्रय-विक्रय

---

१. ऋ० १०. ३४. ३.
२. ऋ० १. ११२. १६.१. ११६. १.
३. वौधा० ध० सू० १. ११. ५ – दक्षिणासु—नीयम नास्वन्तर्वेदि ऋत्विजे स दैवः
४. अपरार्क पृ० ८६
५. मनु० ३. २८ की टीका करते हुए मेधातिथि।
६. वृहद्दैवत् ५. ५४-५८.

होता था। परन्तु कालान्तर में समाज-सुधारकों ने इसका घोर विरोध किया[1]। उनके आन्दोलन के परिणाम-स्वरूप इस कुप्रथा का शनैः-शनैः ह्रास होने लगा। परन्तु फिर भी बहुत समय तक समाज में एक ऐसा वर्ग रहा जो अपनी कट्टरता के कारण पूर्व प्रचलित किसी भी प्रथा को पूर्णरूपेण छोड़ने के लिये प्रस्तुत न था। यह कथन महाभारत की शल्य-भीष्म-वार्ता[2] से स्पष्ट हो जाता है। शल्य सिद्धान्ततः कन्या के उपलक्ष में लिये जाने वाले विक्रय-मूल्य के विरोधी हैं। परन्तु पूर्व प्रतिष्ठित कुल-प्रथा का दृढ़तापूर्वक त्याग करने के लिये उनमें शक्ति नहीं। अतः अपनी बहन माद्री के विवाह-अवसर पर नितांत संकोचवश एवं लज्जाक्रान्त हो कर ही वे भीष्म से विक्रय-मूल्य मांगते हैं। अतः ऐसे कट्टरपन्थियों की रुढ़िवादिता को संतुष्ट करने के लिये समाज-नियामकों को मध्यममार्ग का आश्रय लेना पड़ा। उन्होंने कन्या के विक्रय-मूल्य में प्रभूत धन-धान्य लेने के स्थान पर केवल एक गाय और एक बैल लेने की प्रथा प्रतिष्ठित की, और वह भी लोभवश नहीं, वरन् यज्ञादिक कार्य के आवश्यकतावश। याज्ञिक कार्यों में आवश्यक दुग्ध के लिये जामाता के पिता से गाय-बैल का जोड़ा लेना उपहासास्पद ज्ञात होता है। परन्तु जब हम इस नियम में अन्तर्निहित दो परस्पर-विरोधी विचार-धाराओं के सामञ्जस्य की चेष्टा से अवगत होते हैं तो हमें इसकी उपयोगिता प्रतीत होती है। इस नियम के द्वारा एक ओर तो कन्या के विक्रय की प्रथा का प्रायः अन्त हो गया और दूसरी ओर प्रच्छन्न रूप में नाम-मात्र का विक्रय-मूल्य निर्धारित होने के कारण रुढ़िवादियों की परम्पराशालीनता का भी उन्मूलन न हुआ।

३. आर्ष

काल की गति के साथ-साथ कन्या के क्रय-विक्रय के प्रति विरोध भी अधिकाधिक बढ़ता गया। कदाचित् लोग कन्या के पिता को दिये जाने वाले गाय-बैल के जोड़े को भी विक्रय-मूल्य कह कर निन्दा करने लगे।[3] अतः उनके क्षोभ तथा आन्दोलन को शान्त करने के हेतु समाजनियामकों को स्पष्टतया यह कहना पड़ा कि गाय-बैल का जोड़ा कन्या के विक्रय-मूल्य के रूप में नहीं, वरन् कुटुम्ब के धार्मिक कार्यों के हेतु दिया जाता है। इस ग्रहण में लोभ का अंश नहीं है।[4]

---

१. बौधायन १.११.२०-१, जैमिनि ६.१.१५ आपस्तम्ब ध० सू० २.६.१३.१०-११ मनु० ३.५१, ५४-५५, १०.६८, ११ ६१, महाभारत, अनुशासन ४५ . १८.१६ ४६ . २-३ याज्ञ० ३.२३६

२. महा० १.१२२.६—पूर्वैः प्रवर्तितं किंचित्कुलेऽस्मिन्नृपसत्तमैः
साधु वा यदि वासाधु तन्नातिक्रान्तुमुत्सहे
व्यक्तं तद्भवतश्चापि विदितं नात्र संशयः
न च युक्तं तथा वक्तुं भवान्देहीति सत्तम
कुलधर्मः स नौ वीर प्रमाणं परमं च तत्
तेन त्वां न ब्रवीम्येतदसंदिग्धं वचोरिहन्।

३. महा० अनुशासन ४५ . २० तथा मनु० ३ . ५३.

४. जैमिनि ६ . १.१५ क्रयस्य धर्ममात्रत्वम् तथा शबर-नासो क्रय इति। तथा मित्रमिश्रकृत वीरमित्रोदय पृष्ठ ८५०

इस प्रणाली के प्रत्यक्ष उदाहरण नहीं मिलते। बौद्ध एवं जैन साहित्य में तो इसका नाम भी नहीं मिलता। परन्तु निश्चित ही यह ई० पू० चौथी अथवा तीसरी शताब्दी तक प्रचलित रही होगी, क्योंकि मेगास्थनीज के आधार पर स्ट्रैबो का कथन है कि माता-पिता बैलों का एक जोड़ा लेकर कन्या को अर्पित कर देते थे।[1]

इसके अन्तर्गत पिता वर का मधुपर्कादि से स्वागत करके इन शब्दों के साथ अपनी कन्या उसे अर्पित करता है कि तुम दोनों साथ-साथ धार्मिक क्रियाओं को करो। वास्तव में यदि देखा जाय तो ब्राह्म तथा प्राजापत्य प्रणालियों की परिभाषाओं में कोई विशेष अन्तर नहीं दिखाई देता। दोनों के नाम भी परस्पर-पर्यायवाची एवं समानार्थक हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि प्रारम्भ में दोनों नाम एक प्रणाली के बोधक थे। इस मत का पोषण आपस्तम्ब एवं वसिष्ठ धर्मसूत्रों से होता है। ये सूत्रकार प्राजापत्य-विवाह का नाम नहीं लेते, केवल ब्राह्म-विवाह का उल्लेख करते हैं। मानव गृहसूत्र[2] भी केवल ब्राह्म-विवाह का वर्णन करता है। परन्तु अन्य व्यवस्थाकारों ने संख्या-वर्धन के लिये ब्राह्म तथा प्राजापत्य विवाहों को भिन्न-भिन्न प्रदर्शित किया और दोनों में अन्तर स्थापित करने की भी यथाशक्ति चेष्टा की। इस प्रकार हरदत्त-टीका[3] तथा संस्कार-कौस्तुभ[4] में कहा गया है कि प्राजापत्य प्रणाली के अन्तर्गत प्रयुक्त शब्दों का एक विशेष अर्थ तथा महत्व है और वही इसे प्रमुखतया ब्राह्म-विवाह से पृथक् करता है। उन शब्दों के अनुसार पति के लिये यह बाध्यता हो जाती है कि वह आजीवन पत्नी के साथ धार्मिक क्रियायें करता रहे तथा उसकी सम्मति वा साहचर्य के बिना न गृह-त्याग करे और न अन्य विवाह।

४. प्राजापत्य:

परन्तु इस प्रकार का अर्थ ब्राह्म विवाह से भी निकाला जा सकता है। आपस्तम्ब ने पाणिग्रहण के पश्चात् समस्त क्रियाओं में पत्नी के सहत्व की कल्पना की है[5] तथा धर्म-प्रजा-

---

१. स्ट्रैबो (१५. १. ५४)

२. मानव गृहसूत्र—१. ७. ८.

३. यद्यपि ब्राह्मादिषु अपिसह धर्मचर्या भवति तथापि आअन्तादनया सह धर्मश्चरितव्यो नाश्रमान्तरं प्रवेष्टतव्यं नापि स्वयन्तरमुन्तव्यमिति मन्त्रेण समयः क्रियते। एषः ब्राह्मादेः प्राजापत्यस्य विशेषः। आच्छाद्यालंकृता मिति समानम्—हरदत्तप्रणीत गौतम धर्मसूत्रटीका १. ४. ५

४. अत्र विशेषं पारिजाते भगवान्। अन्येष्वपि विवाहेषु धर्मस्याचरणं सह यद्यप्युक्तं तथा प्यत्र विशेषोक्तिग्रहाश्रात्। आश्रमान्तर संप्राप्तेर्निषेधार्थेति गम्यते। न चात्र तस्यां जीवन्त्यां विवाहस्य परिग्रहः। आश्रमान्तरयोगो वा मृतायांभवतस्तु तौ। अननंतदेवकृत संस्कारकौस्तुभ पृ० ७२२.

५. आप० ध० सू० २.६.१३.१६-१७ जायापत्योर्न विभागो दृश्यते। पाणिग्रहणाद्धि सहत्वं कर्मसु।

सम्पन्न पत्नी के होते हुये द्वितीय विवाह का निषेध किया है।[1] इस प्रकार के कथन से पति-पत्नी का अविच्छेद्य सम्बन्ध बड़ी सुगमता से सिद्ध किया जा सकता है। उस दशा में ब्राह्म तथा प्राजापत्य विवाहों में कोई अन्तर नहीं रहता। कालान्तर के लेखकों के द्वारा प्रदर्शित अन्तर केवल बुद्धि-लाघव है।

आधुनिक शब्दावलि में इसे हम प्रणय-विवाह कह सकते हैं। प्रणय-मूलक होने के कारण ही इसका नाम गान्धर्व पड़ा। गन्धर्व जाति अपने अनुरागी स्वभाव के लिये चिर-प्रसिद्ध थी।[2] इसमें युवक-युवती विवाह के पूर्व ही हमारे समक्ष प्रेमी-प्रेमिका के रूप में आते हैं। एक दूसरे पर अनुरक्त होने के पश्चात् वे अपने उत्तरदायित्व पर ही अनियमित रूप से विवाह कर लेते हैं। इस प्रणाली के अन्तर्गत विवाह-संस्कार की धार्मिक क्रियायें भी उनके सहवास के पश्चात् ही होती हैं।[3] महाभारत का वह अंश जिसमें[4] विवाह की धार्मिक क्रियाओं के पश्चात् शकुन्तला और दुष्यन्त का सहवास प्रदर्शित किया गया है निश्चित् रूप से प्रक्षिप्तांश है, क्योंकि यह गान्धर्व-विवाह की परिभाषा के विरुद्ध है।[5] कालिदासकृत-अभिज्ञानशाकुन्तलम् में भी विवाह के पूर्व ही पति-पत्नी का सहवास उल्लिखित है।

५. *गान्धर्व*

गान्धर्व-विवाह पति-पत्नी की यौवनावस्था की अपेक्षा करता है। इस प्रणाली के अन्तर्गत विवाह करने वाले निश्चित रूप से पूर्णवयस्क होते थे। ऋग्वैदिक काल के स्वच्छन्द वातावरण में जब कन्यायें प्रायः सदैव वयस्क होने पर विवाहित होतीं थीं, यह प्रणाली विद्यमान थी। ऋग्वेद में कहा गया है[6] कि सुन्दरी एवं अलंकृता कन्या पुरुषों के मध्य में स्वयं अपना पति चुन लेती है। ऋग्वेद ७.२.५ तथा ४.५८.८ में समनों (उत्सव; समारोह) का उल्लेख है जिनमें कन्यायें स्वयं अपना पति ढूँढ़ लेतीं थीं। अन्य स्थान पर (ऋ० १०.१५.२) में कहा गया है कि सूर्य उषा का उसी प्रकार अनुगमन करता है जिस प्रकार प्रेमी किसी सुन्दरी का। इस प्रकार पति-वरण के ध्येय से जाने वाली कन्याओं का मातायें स्वयं अलंकरण करतीं थीं[7]। अथर्ववेद में (२.३६.४-५,६.६०३) स्वयं मात-पिता कामना करते

---

[1]. आप० ध० सू० २.५.११.१२—धर्मप्रजासम्पन्ने दारे नान्यां कुर्वीत।

[2]. तैत्तिरीय संहिता ६.१.६.५—स्त्रीकामा वै गन्धर्वाः।

[3]. मनु० ८.२२६ पर कुल्लुक द्वारा उद्धृत देवल—

गान्धर्वेषु विवाहेषु पुनर्वैवाहिको विधिः
कर्तव्यश्च त्रिभिर्वर्णैः समयेनाग्निसाक्षिकः।

[4]. महा० १.९४.३८—शासनाद्धि प्रमुखस्य कृतकौतुक मंगलः
जग्राह विधिवत्पाणिमुवास च तया सह

[5]. महा० ४.६४.६०—क्षत्रियस्य तु गन्धर्वो विवाहः श्रेष्ठ उच्यते
सकामायाः सकामेन निर्मन्त्रः श्रेष्ठ उच्यते।

[6]. ऋ० १०–२७.१२—भद्रा वधूर्भवति यत्सुपेशाः स्वयं सा मित्रं कृणुते जने हति।

[7]. ऋ० १.१२३.११—सुसंकाशा मातृमृष्टेव योषाविस्तन्वं कृणुषे दृशेकमे।

है कि उनकी कन्या स्वेच्छानुसार एवं प्रणयानुकूल पति प्राप्त कर सके। बौद्ध-साहित्य में गान्धर्व। विवाह के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं। एक जातक में महोसघ और अमरा के गान्धर्व विवाह का वर्णन है[1]। इसी प्रकार कट्ठहारी जातक में एक राजा तथा एक प्राकृत कन्या का गान्धर्व विवाह प्रदर्शित किया गया है[2]। जैन साहित्य में भी इस विवाह-प्रणाली के अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं। पुण्डवद्धण के राजा सीहरह ने गान्धर्व विवाह किया था[3]। रक्तसुभद्रा नामक एक कन्या ने इसी प्रणाली के अन्तर्गत अर्जुन के साथ विवाह किया था[4]। स्ट्रैबो ने कठों के बीच इस प्रणाली के प्रचलित होने का उल्लेख किया है (१५. १.३०)। महाभारत में उल्लिखित शकुन्तला-दुष्यन्त का गान्धर्व विवाह सर्वविदित है। ऋग्वैदिक काल से लेकर लगभग प्रथम शताब्दी तक गान्धर्व विवाह प्रचलित रहे। परन्तु बाल-विवाह की प्रणाली ने स्वभावतः इनका अन्त कर दिया।

गान्धर्व-विवाह की उपयुक्तता-अनुपयुक्तता के विषय में प्राचीन लेखकों में मतभेद है। कुछ इसे धर्म्य तथा कुछ अधर्म्य कहते हैं। बौधायन धर्मसूत्र में गान्धर्व विवाह का समर्थन किया गया है[5]। महाभारत में भी एक स्थान पर यह धर्मविहित विवाहों के अन्तर्गत रक्खा गया है[6]। कामसूत्र में तो इसे सर्वश्रेष्ठ विवाह माना गया है[7]। परन्तु अनेक नियामकों ने इस विवाह को अधर्म्य माना है। इनमें वसिष्ठ तथा आपस्तम्ब विशेष उल्लेखनीय हैं।

इस विवाह-प्रणाली के अन्तर्गत पिता एक प्रकार से अपनी कन्या का विक्रय करता था। कन्यार्पण के बदले में उसे जामाता अथवा उसके संरक्षकों से धन-धान्य मिलता था।

६. आसुर

इस शुल्क-ग्रहण के कारण ही मानव-गृहसूत्र में इसे शौल्क-विवाह कहा गया है। यह प्रणाली अति प्राचीन विदित होती है। जिस समय कन्या कुटुम्ब की सामग्री समझी जाती थी और उसकी सेवायें कुटुम्ब का उपयोगी अधिकार समझा जाता था उस समय कोई भी संरक्षक उसे अधिक से अधिक समय तक अपने से पृथक् नहीं करना चाहता था। जब विवाह के हेतु उसका पार्थक्य अनिवार्य हो जाता था तो उसके प्रदान के बदले में जामाता के कुटुम्ब की कन्या के पिता को प्रचुर धन-धान्य देना पड़ता था। यही इस विवाह के अन्तर्गत कन्या के क्रय-विक्रय का कारण था। प्राचीन असीरिया-निवासियों में यह विवाह खूब प्रचलित था। कदाचित् उन्हीं से इसका नाम आसुर पड़ा। आर्षविवाह जिसका पहले वर्णन किया जा चुका है, इसी विवाह का परिष्कृत लघु रूप है। दोनों विवाहों में अन्तर यह है कि जहां आर्ष-विवाह में कन्या के पिता को

---

1. जातक ६ पृ० ३६४.
2. जातक १ पृ० १३४.
3. उत्तराध्ययन टीका ६. १४१.
4. पण्हवागरण टीका ४. ६. ८५.
5. गान्धर्वमप्येके प्रशंसन्ति सर्वेषा स्नेहानुगतत्वात्-बौधा० ध० सू० १. ११. १३. ७.
6. महाभारत २३.४४
7. कामसूत्र ३.५.३०- सुखत्वादबहुक्लेशादपि चावरणादिति
अनुरागात्मकत्वाच्च गान्धर्वः प्रवरो मतः।

केवल गाय-बैल का एक जोड़ा दिया जाता है, वहां आसुर विवाह में विक्रयमूल्य निश्चित अथवा निर्धारित नहीं था। देश, काल और अवस्था एवं कन्या के गुणावगुणों के अनुसार यह सदैव घटता बढ़ता रहता था।

ऐसा विदित होता है कि प्राचीन काल में भी यदा-कदा भारतवर्ष में कन्या का क्रय-विक्रय होता था। मैत्रायणी संहिता में कहा गया है कि पति के द्वारा क्रीत होने पर जो स्त्री दूसरे व्यक्तियों के साथ घूमती है वह पाप-भागिनी होती है।[१] जैमिनि ने [२] एक अन्य वैदिक अंश का उल्लेख किया है जिससे विदित होता है कि विवाह के हेतु कन्या के पिता को १०० गाय तथा एक रथ देने की प्रथा थी। वसिष्ठ धर्मसूत्र भी इस कथन का पोषण एवं समर्थन करता है [३]। निरुक्त ने एक स्थान पर कहा है कि दक्षिण भारतवर्ष में विजामाता का अर्थ कन्या के लिये क्रीत पति से होता है[४]। कन्या के विक्रय का प्रमाण निरुक्त के एक दूसरे अंश [५] में भी मिलता है। उसका कथन है कि कन्या के दान, विक्रय तथा त्याग की सम्भावना रहती है। इसी से उसे साम्पत्तिक अधिकार नहीं है। शल्य ने अपनी बहन माद्री के विवाह में भीष्म से कन्या-विक्रय-मूल्य मांगा था [६]। ब्राह्मण ऋचीक गाधि को क्रय-मूल्य देने के पश्चात् ही उसकी कन्या प्राप्त कर सका था [७]। इसी प्रकार रामायण में कैकयी के पिता का कन्या के विवाह में विक्रय-मूल्य लेने का उल्लेख है।

बौद्ध-साहित्य में भी कन्या-विक्रय के अनेक उदाहरण मिलते हैं। इसिदासी नामक भिक्षुणी के पिता ने कन्या के विवाह में विक्रय-मूल्य लिया था [८]। इसी प्रकार धम्मपद में भी इस प्रथा का उल्लेख किया गया है [९]। एक जातक में उदयभद्दा नामक स्त्री का कथन है कि मनुष्य प्रचुर धन के द्वारा स्त्री प्राप्त कर सकता है[१०]। दूसरे जातक में स्त्री को क्रय-प्राप्य कहा गया है। इसी प्रकार अन्य जातक में भार्या के लिये धनक्रीत शब्द का प्रयोग किया

१. मैत्रायणी संहिता १. १०. ११- अनृतं वै सत्यं यज्ञोऽनृतं स्त्री अनृतं वा एश करोति या पत्युः क्रीता सत्यथान्यैश्चरति।

२. जैमिनि ६. १. १५.

३. वसिष्ठ ध० सू० १. ३६. ३७.

४. निरुक्त ६. ६- अश्रवं हि भूरिदावत्तरा वा विजामातुरुत घा वा स्यालात् (ऋ० १. १०९२)...अश्रौष हि बहुदातृतरो वा विजामातुः असुसमाप्तज्जामातुः। विजामाता इति शश्वद् दक्षिणाजाः क्रतापतिमाचक्षते असुसमाप्त इव वरोऽभिप्रेतः।

५. निरुक्त ३. ४.

६. महा० १.१२२.६-

७. महा० ३ ११५.२० २४

८. थेरीगाथा ५ ५.१२० और १५३

९. धम्मपद ५ ५. २१५.

१०. जातक ४. पृ० १०८ नारी नरी निज्झपयं धनेन उक्क० सती यत्थकरोति चन्दम्। जातक ४ पृ० ११२ भरिया यापि धनेन होति कीता।

गया है ।[१] मिलिन्दपन्ह (२.२.–६) में भी दो कन्याओं के आसुर-विवाह के उदाहरण उपलब्ध होते हैं। बौद्ध साहित्य की भाँति जैन साहित्य में भी इस प्रकार के विवाह के अनेक उदाहरण मिलते हैं। एक स्थान पर एक डाकू ने 'जहच्छिय सुंकम्' देकर एक कन्या के साथ विवाह किया था[२]। इसी प्रकार एक वणिक् ने प्रभूत धन देकर एक कन्या का वरण किया था[३]। अन्य स्थान पर तेयलिपुत नामक एक मन्त्री एक कन्या के संरक्षक से पूछता है कि उसके साथ विवाह करने के लिये मुझे कितना शुल्क देना होगा[४]। यूनानी लेखक अरिस्टोव्यूलस ने भी तक्षशिला में एक निर्धन पिता का अपनी कन्या का विक्रय करते हुए वर्णन किया है[५]।

परन्तु यह विवाह-प्रणाली अति प्राचीन काल से ही निन्दनीय मानी गई है। इसकी गणना अधर्म्य विवाहों के अन्तर्गत की गई है। बौधायन ने इस प्रणाली का घोर विरोध किया है। उनके अनुसार कन्या-विक्रयी पिता घोर नरक का अधिकारी होगा तथा क्रीत पत्नी धर्मविहिता पत्नी न होगी। उसका पद एक दासी के समान होगा[६]। दूसरे स्थान पर वे कहते हैं कि कन्या-विक्रयी पिता वास्तव में अपने पुण्य को बेच देता है[७]। विक्रय-विरोधी आन्दोलन की तीव्रता के परिणाम-स्वरूप ही परगामी व्यवस्थाकारों तथा टीकाकारों ने उन वैदिक अंशों की दूसरे अर्थ में व्याख्या की है जिनमें कन्या के विवाह के उपलक्ष में पिता को किसी प्रकार के धनधान्य देने का उल्लेख है। इस प्रकार जैमिनि का कथन है कि वह वैदिक अंश जिसमें कन्या के पिता को १०० गाय तथा एक रथ देने का निर्देश है, कन्या का विक्रय मूल्य-बोधक नहीं है। गाय और रथ केवल कर्तव्यवश एवं उपहारस्वरूप ही दिये जाते थे[८]। इसी प्रकार का उल्लेख आपस्तम्ब धर्मसूत्र में भी मिलता है[९]। कन्या-विक्रय का विरोध मनु ने भी किया है। उनका कथन है कि शूद्र को भी अपनी कन्या के विवाह में धन न लेना

---

१. जातक ५ पृ० २६६–भरिया धनविक्कता।

२. उत्तराध्ययन चूर्णि १००

३. उत्तराध्ययन टीका ४. ६७

४. नायाधम्मकहा १४.१४८

५. स्ट्रैबो १५.१.६२.

६. बौधायन ध० स० १.११.२०–१

७. बौधायन ध० सू० २.१.५६–सुकृतांशान्वा एष विक्रीणीते यः परममानौः दुहितरं ददाति।

८. शबर (जैमिनि ६.१.१५) यत्तु क्रयः श्रूयते धर्ममात्रं तु तत्। नासौ क्रय इति। नियतं त्विदं दानम्। शतमातिरथं शोभनामशोभनां च कन्यां प्रति।

९. आप० ध० सू० २.६.१३.१०.११–दानं क्रयधर्मश्चापत्यस्य न विद्यते। विवाहे दुहितृमते दानं काम्यं धर्मार्थम् श्रूयते तस्माद् दुहितृमते अतिरथं शतं देयं तन्मिथुया कुर्यादिति तस्यां क्रयशब्दः संस्तुतिमात्रं धर्माद्धि सम्बन्धः।

चाहिये [1] । दूसरे स्थान पर वे कन्या-विक्रय को उप-पातक समझते हैं [2] । महाभारत में भी उसके क्रय-विक्रय की प्रथा की निन्दा की गई है [3] ।

कुछ भी हो, इतना निश्चित है कि अन्य दो अधर्म्य विवाहों—राक्षस एवं पैशाच—की अपेक्षा आसुर विवाह कहीं अच्छा था। विवाह के उपलक्ष में वर अथवा उसके संरक्षकों को कन्या के पिता को जो धन-धान्य देना पड़ता था उससे एक प्रकार से कन्या का सामाजिक मूल्य निर्धारित हो गया था। उसकी स्थिति आदरणीय वन गई थी। प्रचुर धन के व्यय के भय से मनुष्य स्वेच्छानुसार प्रायः वहुविवाह भी नहीं करते थे। अतः इस प्रथा ने अप्रत्यक्ष रूप से एकविवाह-प्रथा को वल दिया।

इस अधर्म्य विवाह-प्रणाली के अन्तर्गत कन्या का अपहरण होता है। कभी-कभी यह अपहरण उसकी इच्छा के विरुद्ध भी होता है। यदि कन्या का पिता अथवा उसके संरक्षक शक्तिशाली हुए तो अपहरणकर्ता के साथ युद्ध की सम्भावना भी रहती है। उस दशा में कन्या के संरक्षकों को पराजित कर अथवा उनकी हत्या कर अपहरणकर्ता रुदन करती हुई कन्या को वलात् ले जाता था। यह प्रणाली भी पूर्व-ऐतिहासिक काल की विदित होती है जव स्त्रियां युद्ध में प्राप्त अन्य सामग्रियों के समान समझी जाती थीं। राक्षसों की भाँति क्रूर कर्मों की अपेक्षा होने के कारण ही इस विवाह का नाम राक्षस-विवाह पड़ा। इस नामकरण से ही विदित होता है कि प्रारम्भ में यह प्रणाली श्लाघ्य नहीं समझी जाती थी। परन्तु कालान्तर में यह अपहरण शूरकर्मों के लिये गौरव की वस्तु वन गया और राक्षस-विवाह-प्रणाली वीरोचित समझी जाने लगी। इसका प्रचलन भी अधिकांश में युद्धरत-क्षत्रिय जाति में ही हुआ। अतः इसमें श्लाघ्यता का पुट देने के हेतु इसे क्षात्र-विवाह का अधिक शिष्ट नाम दिया गया।

७ राक्षस

भारतवर्ष में इस प्रकार के विवाह का सर्वप्रथम उदाहरण हमारे प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद में उपलब्ध होता है। उसके उल्लेखानुसार [4] विमद ने पुरुमित्र की कन्या कमद्यु

---

[1]. मनु० ६.६८

[2]. मनु० ६.६१

क्रीता द्रव्येण या नारी सा न पत्नी विधीयते
सा न देवे न सा पित्र्ये दासी तां कवयो विदुः
शुल्केन ये प्रयच्छन्ति स्वासुतां लोभमोहिताः
पतन्ति नरके घोरे घ्नन्ति चासप्तमात्कुलम् ।

[3]. (१) महा० १३ ४४.४६– न ह्येव भार्या क्रेतव्या न विक्रय्या कथंचन ।
(२) महा० १.१२१.४– प्रदानमपि कन्यायाः पशुवत्कोऽनुमन्यते ।
विक्रयंचाप्यपत्यस्य कः कुर्यात् पुरुषो भुवि ।
(३) तथा महा० १३.४५.११.

[4]. ऋ० १.११२.१६; १.११६.१.

का अपहरण किया था। विशेषता की बात यह है कि अपहरण के लिये कन्या भी सहमत थी। बौद्ध साहित्य में राक्षस-विवाह के एक-आध उदाहरण उपलब्ध होते हैं। एक जातक में उल्लेख है कि एक डाकुओं का सरदार एक ग्राम-कन्या का अपहरण कर लाया और उसको उसने अपनी पत्नी बना लिया [१]। दूसरे जातक में एक राजा ने अपने शत्रु एक अन्य राजा की हत्या करने के पश्चात् उसकी विधवा पत्नी का अपहरण किया और तत्पश्चात् उससे विवाह कर लिया [२]। जैन साहित्य में राजा सेणिय द्वारा चेल्लणा तथा उदयन द्वारा वासवदत्ता के अपहरण के उल्लेख हैं। इसी प्रकार कण्ह ने रुप्पिणी और सागरचंद्र ने कमलामेला का अपहरण किया था [३]। अमरकंका के राजा पौमनाह ने दोवई के साथ इसी प्रणाली के अनुसार विवाह किया था[४]। महाभारत में अर्जुन द्वारा सुभद्रापहरण का उदाहरण है। अर्जुन कृष्ण की बहन सुभद्रा के साथ विवाह करना चाहते थे। सुभद्रा भी अर्जुन में अनुरक्त थी। परन्तु सुभद्रा का विवाह धृतराष्ट्र के एक पुत्र के साथ होने जा रहा था। ऐसी दशा में अन्य कोई उपाय न देख कर अर्जुन ने सुभद्रा का अपहरण किया। महाभारत के साक्ष्य से विदित होता है कि श्रीकृष्ण ने इस कार्य का समर्थन किया तथा क्षात्र-विवाह को पूर्ण-रूपेण क्षत्रियोचित एवं धर्म-विहित बताया [५]। इसी महाकाव्य में भीष्म द्वारा विचित्रवीर्य के लिये काशीराज की कन्या अम्बा के हरण का उल्लेख है। इस अपहरण में न तो कन्या की सहमति थी और न अपहरणकर्ता ने उसे स्वयं अपने लिये अपहृत किया था। इसमें उसे कन्या के पिता से युद्ध भी करना पड़ा था। काशीराज की पराजय के पश्चात् ही भीष्म अम्बा को अपने साथ ले जा सके थे। यद्यपि महाभारत में क्षात्र-विवाह के ये उदाहरण उपलब्ध होते हैं तथपि ऐसा ज्ञात होता है कि उसकी उपयुक्तता के विषय में लोगों में शनैः शनैः मतभेद बढ़ रहा था। वसिष्ठ-धर्मसूत्र का कथन है कि केवल बलात् अपहरण से कोई कन्या धर्मपत्नी नहीं बन सकती। यदि किसी का बलात् अपहरण किया गया है और उसका शास्त्रविहित विवाह नहीं किया गया है तो उसे पूर्णरूपेण अविवाहित कन्या समझना चाहिये। उसका विवाह दूसरे व्यक्ति के साथ हो

---

१. जातक १. पृ० २६७

२. जातक ५. पृ० ४२५

३. बृहत्कल्प भाष्यपीठिका ५७.

४. नायाधम्म कहा १६. १८६

५. महा० १. २४५-६ —प्रदानमपि कन्याः पशुवत्कोऽनुमन्यते
विक्रयं चाप्यपत्यस्य कः कुर्यात्पुरुषो भुवि
एतान्दोषाँस्तु कौन्तेयो दृष्टवानिति मे मतिः
क्षत्रियाणान्तु वीर्येण प्रशस्तं हरणं बलात्
अतः प्रशस्तं हृतवान् कन्यां धर्मेण पाण्डवः।

सकता है[1]। इसी प्रकार का कथन बौधायन-धर्म सूत्र में भी उपलब्ध होता है[2]। महाकाव्य काल में भी कदाचित् एकवर्ग ऐसा था जो इस बलात् कन्यापहरण की निन्दा करने लगा था। इस कथन की पुष्टि महाभारत में भीष्म-शिशुपाल-वार्ता से होती है। उसमें शिशुपाल अम्बा के अपहरण के लिये भीष्म की निन्दा करता है[3]।

६. पैशाच

अधर्म्य-विवाहों के अन्तर्गत पैशाच-विवाह का स्थान निकृष्टतम है। इसमें व्यक्ति सुपुप्त, अचेतन अथवा प्रमत्त कन्या के साथ सम्भोग करता है। पिशाच-कर्म होने के कारण ही इसका नामकरण पैशाच किया गया। विवाह के उच्च लक्ष्यों-प्रजाप्राप्ति एवं धार्मिक क्रियाओं का इसमें सर्वथा अभाव है। वह केवल काम-वासना से प्रेरित होता है। इसकी निन्द्यता इसी बात से सिद्ध हो जाती है कि वसिष्ठ तथा आपस्तम्ब ने इसे अधर्म्य विवाहों के अन्तर्गत भी स्थान नहीं दिया है। जिन व्यवस्थाकारों ने इसे अधर्म्य-विवाहों में स्वीकृत भी किया है। उन्होंने इसकी घोर निन्दा की है, परन्तु कन्या के हित को ध्यान रखते हुए उन्होंने इसे स्वीकृत कर लिया है। यदि पैशाचकर्मा को सम्भुक्त कन्या को अपनी धर्मविहित पत्नी स्वीकार करने पर विवश न किया जाता तो उस दशा में कन्या का सम्पूर्ण जीवन ही व्यर्थ हो जाता। उससे एक ओर तो वह निर्दोष कन्या समाजत्यक्ता हो कर किसी अन्य के पाप-कर्मों का फल स्वयं भुगतती और दूसरी ओर वह पापिष्ठ व्यक्ति समाज के विधि-निषेधों से स्वतन्त्र तथा अपने पापकर्म के उत्तरदायित्व से मुक्त अपने दुराचरण की पुनरावृत्ति करता घूमता। इसी सामाजिक तथ्य को ध्यान में रखते हुए नियामकों ने पैशाच-विवाह को निकृष्टतम समझते हुए भी विवशतावश उसे अपनी विवाह-व्यवस्था में स्थान दिया है। मनु ने उस दुराचारी के लिये पाप-कर्म करने के पश्चात् उस निरीह कन्या को होम तथा सप्तपदी आदि धार्मिक क्रियाओं के साथ अपनी पत्नी बनाने के लिये व्यवस्था की है। यदि वह व्यक्ति इस कार्य के लिये प्रस्तुत न हो तो उसे दण्डित किया जाय तथा कन्या का विवाह किसी अन्य व्यक्ति के साथ कर दिया जाय[4]। याज्ञवल्क्य ने भी इस व्यवस्था का समर्थन किया है[5]। ऐसी अवस्था में कतिपय आधुनिक लेखकों का यह कथन कि प्राचीन हिन्दू। व्यवस्था ने दुराचार को प्रश्रय दिया है, केवल उनकी प्राचीन व्यवस्थाकारों की

---

[1]. महा० १.६.४.२२-को हि धर्मिणमात्मानं जानन् ज्ञानविदांवरः
कुर्याद्यथा त्वया भीष्म कृतं धर्ममवेक्षता
अन्यकामा हि धर्मज्ञा कन्यका प्राज्ञमानिना
अम्बा नामेति भद्रं ते कथं सा पहृता त्वया

[2]. वसिष्ठ १७.७३-बलाच्चेत्प्रहृता कन्या मन्त्रैर्यदि न संस्कृता।
अन्यस्मै विधिवद् देया यथा कन्या तथैव सा।

[3]. बौधायन धर्मसूत्र ४.१.१७.

[4]. मनु० ८.३६६

[5]. याज्ञ० २.२८७-२८८

सद्भावना समझने में अक्षमता प्रकट करता है[१]। प्राचीन व्यवस्थाकारों ने दुराचार को प्रश्रय नहीं दिया है वरन् निरीहता की सहानुभूति एवं उदारता के साथ रक्षा की है।

वर्ण-व्यवस्था-प्रधान समाज में यह स्वाभाविक ही था कि अन्य विषयों की भांति अष्ट-प्रकार-विवाह-प्रणाली भी वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत ही प्रतिष्ठित होती। अतः इसी ध्येय से व्यवस्थाकारों ने भिन्न-भिन्न विवाहों को भिन्न-भिन्न वर्णों के लिये उपयुक्त बताया है। बौधायन धर्मसूत्र[२] में प्रथम चार प्रकारों को (ब्राह्म, दैव, आर्ष, तथा प्राजापत्य को) ब्राह्मणों के लिये उपयुक्त कहा गया है। यद्यपि मनु ने प्रथम ६ प्रकारों को ब्राह्मणों के लिये उपयुक्त बताया है तथापि उनमें से प्रथम ४ को ही अधिक उचित कहा है।[३] यही व्यवस्था महाभारत से भी उपलब्ध होती है। मनु की व्यवस्था के अनुसार अन्तिम चार प्रकार (गान्धर्व, आसुर, राक्षस और पैशाच) क्षत्रियों के लिये तथा इनमें से तीन, गान्धर्व, आसुर और पैशाच वैश्यों तथा शूद्रों के लिये उपयुक्त है)।[३] महाभारत में प्रथम ६ प्रकार क्षत्रियों के लिये निश्चित किये गये हैं।[५]

यदि हम समस्त साक्ष्यों का अध्ययन करें तो उपर्युक्त योजना में हमें अनेक परस्पर-विरोधी बातें मिलेंगी। बात यह है कि यह विवाह-योजना किसी एक काल की नहीं है। इसके अन्तर्गत भिन्न-भिन्न कालों में प्राप्त विवाह-प्रकारों को वर्ण-व्यवस्था के आधार पर समाविष्ट एवं व्यवस्थित करने की चेष्टा की गई है। समाज में समय-समय पर होने वाले परिवर्तन इसके व्यावहारिक रूप को बहुत-कुछ बदलते रहे। उपर्युक्त व्यवस्था के अनुसार गान्धर्व, आसुर और पैशाच वैश्यों तथा शूद्रों के लिये निर्धारित किये गये हैं। परन्तु यह कोरी योजना-मात्र है। इसमें व्यावहारिकता का अंश अति न्यून है। इसका कारण यह है कि पैशाच-विवाह हमारे काल से पूर्णरूपेण लुप्त हो गया था। यह पूर्वैतिहासिक काल की प्रणाली थी। ऐतिहासिक काल में इस विवाह का एक भी उदाहरण प्राप्त नहीं होता। प्रायः समस्त व्यवस्थाकारों ने इसका निकृष्टतम विवाह-प्रकार के रूप में उल्लेख किया है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि यह उनके समय में प्रचलित था। वे पूर्वैतिहासिक काल के इस विवाह प्रकार से परिचित-मात्र थे। अतः आत्म-निर्धारित सामाजिक व्यवस्था को सर्वांगपूर्ण एवं सुविस्तृत करने के हेतु उन्होंने इसका भी उल्लेख अति जघन्य-प्रकार के रूप में कर दिया। अतएव शूद्रों अथवा वैश्यों के लिये इस विलुप्त विवाह-प्रणाली की व्यवस्था कोई अर्थ नहीं रखती। अब रहा गान्धर्व-विवाह। इस प्रकार का विवाह हमारे काल में कदाचित् ही किसी वैश्य अथवा शूद्र ने किया हो, क्योंकि प्रधानतया यह क्षत्रियों का प्रयुक्त

---

१. मैक्नाटेन कृत प्रिंसिपल्स ऐण्ड प्रेसिडेण्ट्स ऑन हिन्दू ला, पृष्ठ ६०.

२. बौधा० ध० सू० १. ११. १०. ६. मनु. ३. २२-२४.

३. महा. १. ७३. १८.

४. मनु ३. २२.

५. महा. १. ७३. १८.

प्रकार था।[1] अतः स्वाभाविक निष्कर्ष यही है कि वैश्य तथा शूद्र प्रायः आसुर विवाह हीकरते होंगे। यही विवाह-प्रणाली उनमें सब से अधिक प्रचलित हुई। यही कारण है कि महाभारत ने[2] उनके लिये इस विवाह-प्रणाली का विशेषतया उल्लेख किया है। यही निष्कर्ष अधिक प्राचीन ग्रन्थ वौधायन धर्मसूत्र[3] के साक्ष्य से निकलता है। उसमें आसुर तथा पैशाच विवाहों को वैश्यों तथा शूद्रों के लिये आयोजित किया गया है। पैशाच विवाह के विलोप पर उनके लिये केवल आसुर विवाह ही रह जाता है।

ऊपर कहा गया है कि अंतिम ४ प्रकार--गान्धर्व, आसुर, राक्षस तथा पैशाच-क्षत्रियों के लिये प्रयोज्य हैं। इनमें पैशाच विवाह का उल्लेख व्यर्थ है, क्योंकि जैसा पहले कहा गया है, इसका अस्तित्व बहुत पहले ही लुप्त हो चुका था। आसुर विवाह विशेषतया वैश्यों एवं शूद्रों के लिये था। पाण्डु के साथ माद्री का आसुर-विवाह[4] अपवाद-मात्र है। वह नियम के रूप में नहीं लिया जा सकता। किसी समय यह आसुर विवाह क्षत्रियों में अवश्य प्रचलित रहा होगा। कभी-कभी परिस्थितिवश ब्राह्मणों ने भी इसका व्यवहार किया था। इस दृष्टि से ब्राह्मण ऋचीक का गाधि-पुत्रि के साथ आसुर-विवाह करना विशेष उल्लेखनीय है[5]। परन्तु यह पूर्व-प्रचलित परम्परा का ही उदाहरण है। महाभारत-काल के आते-आते आसुर-विवाह मूलतया वैश्यों एवं शूद्रों के लिये ही रह गया था। अन्य दो विवाहों-गान्धर्व तथा राक्षस-का उल्लेख क्षत्रियों के सम्बन्ध में होता है। वास्तव में उनके लिये यही दो प्रकार मुख्य थे। अन्य दो आसुर और पैशाच तो पूर्वकालीन प्राप्त उदाहरणों के कारण विवाह-व्यवस्था में क्षत्रियों के लिये समाविष्ट कर लिये गये थे। परन्तु क्षत्रियों में उनका प्रयोग समाप्तप्राय था। यही कारण है कि मनु ने एक अन्य स्थान पर क्षत्रियों के लिये गान्धर्व तथा राक्षस का उल्लेख विशेष रूप से किया है[6]। इस निष्कर्ष की पुष्टि महाभारत से भी होती है। उसमें भी गान्धर्व तथा राक्षस विवाहों को क्षत्रियों के लिये धर्म्य कहा गया है।[7] इस महाकाव्य में तो राक्षस-विवाह को क्षात्रविवाह कहा गया है[8]। इससे स्पष्ट है कि यह प्रकार प्रमुखतया क्षत्रियों में ही प्रयुक्त था। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, गान्धर्व-

---

[1]. मनु. ३.२६. महा. १.७३.२७.

शाकुन्तल ३. गान्धर्वेण विवाहेन बहवो राजर्षिकन्यकाः।
श्रूयन्ते परिणीतास्ताः पितृभिश्चाभिनन्दिताः।

[2]. महा १. ७३. १०-११

[3]. वौधा ध० सू० १. ११

[4]. महा १. ११३. ५.

[5]. महा० ३. ११५. २०-२४

[6]. मनु० ३. २६

[7] महा० गान्धर्वराक्षसे क्षत्रे धर्म्यौ तौ मा विशंकिताः।

[8] महा० १३. ४४. १०

विवाह को क्षत्रियों के लिये सर्वोपरि बताया गया है। स्पष्ट है कि शान्तिकाल में क्षत्रिय साधारणतया राक्षस-विवाह की अपेक्षा गान्धर्व-विवाह को ही अधिक श्रेयस्कर समझते थे।

इस प्रकार के विवेचन से यही ज्ञात होता है कि प्रमुखतया दैव तथा आर्ष विवाह केवल ब्राह्मणों में, गान्धर्व तथा राक्षस विवाह केवल क्षत्रियों में और आसुर विवाह केवल वैश्यों एवं शूद्रों में प्रतिष्ठित थे। पैशाच विवाह का तो हमारे काल में अस्तित्व ही न था। सिद्धान्त की दृष्टि से यद्यपि दैव तथा आर्ष विवाह केवल ब्राह्मणों के लिये प्रतिष्ठित थे तथापि हमारे काल के इतिहास में उनके प्रयोग नहीं मिलते। अतः यही निष्कर्ष स्वाभाविक प्रतीत होता है कि पूर्वकालीन उदाहरणों के आधार पर ही वे परकालीन विवाह-व्यवस्था में सम्मिलित कर लिये गये थे, परन्तु उनका प्रयोग समाप्तप्राय हो चुका था। व्यवहृत न होने पर उनका केवल ऐतिहासिक महत्व रह गया था। शेष ब्राह्म तथा प्राजापत्य विवाह वास्तव में एक ही प्रणाली के नाम हैं। पहले लिखा जा चुका है कि इनमें कोई भी विशेष भिन्नता नहीं है।

ब्राह्म अथवा प्राजापत्य विवाह सर्वोपरि कहा गया है[1]। मानव गृह्यसूत्र[2] में तो शौल्क के अतिरिक्त केवल इसी विवाह-प्रणाली का उल्लेख किया गया है। रतिप्रधान होते हुए भी कामसूत्र[3] एक स्थान पर ब्राह्म विवाह को सर्वश्रेष्ठ बताता है। इन उल्लेखों से ऐसा विदित होता है कि काल की गति के साथ-साथ समाज में ब्राह्म-विवाह अधिकाधिक प्रतिष्ठित हो रहा था तथा अन्य प्रकार या तो लुप्त हो गये थे या उनकी लोक-प्रतिष्ठा कम हो गई थी। विवाह-प्रकारों की यह प्रतिष्ठा हमारे साहित्य में स्पष्टतया परिलक्षित होती है।

वास्तव में यदि देखा जाय तो दैव, आर्ष तथा आसुर तीनों प्रकार के विवाह एक कोटि में आते हैं। तीनों का आधार-भूत सिद्धान्त क्रय-विक्रय है। आसुर विवाह के अन्तर्गत स्पष्टतया पिता अपनी कन्या का विवाह धन-धान्य लेकर करता है। आर्ष-विवाह में कन्या के पिता को गाय-बैल के जोड़े का दान इसी आसुर प्रणाली का प्रच्छन्न, परिमार्जित तथा परिमित रूप है। दैव विवाह में कन्या-विक्रय धन-धान्य के आधार पर न हो कर शुभ के आधार पर होता है। ब्राह्मण यजमान के यज्ञादिक कार्य करता है और उसके परिणाम-स्वरूप उसकी कन्या उपलब्ध करता है। इनमें दैव तथा आर्ष वैदिक यज्ञों की समाप्ति के साथ ही समाप्त हो गये, परन्तु आसुर विवाह चलता रहा। मानव गृह्यसूत्र से विदित होता है कि किसी समय समाज के दो प्रमुख विवाह प्रकारों में यह एक था। वहां इसे शौल्क के नाम से पुकारा गया है, क्योंकि इस प्रणाली के अन्तर्गत पिता अपनी कन्या के प्रदान के बदले में शुल्क लेता था। परन्तु प्राचीन काल से ही व्यवस्थाकारों

---

1. आप० ध० सू० २. ५. १२. १२. ४. तथा बौधा० ध० सू० १ ११. ११.
2. मानव गृह्यसूत्र १. ७. ८.
3. कामसूत्र ३. ५. २८

ने कन्या के क्रय-विक्रय का घोर विरोध किया है। इसका सविस्तार वर्णन पीछे किया जा चुका है। उनके आन्दोलन के परिणाम-स्वरूप इसका व्यवहार बहुत कुछ कम हो गया। परन्तु वैश्यों तथा शूद्रों के वर्ग में जहां विवाह के अन्य उत्कृष्ट साधन विकसित न हो सके थे यह प्रणाली दीर्घ काल तक चलती रही। परन्तु कालान्तर में उनके वर्ग में भी ब्राह्म प्रणाली प्रसरित हुई। बौद्ध साहित्य में अधिकांश वैश्य अपनी कन्याओं का विवाह ब्राह्म-प्रणाली के अनुसार ही करते हुए प्रदर्शित किये गए हैं।

अपने प्राचीन साहित्य में हम स्वयंवर विवाह के अनेकानेक उदाहरण पाते हैं। वास्तव में यह कोई नवीन विवाह प्रकार नहीं है। यह केवल राक्षस, गान्धर्व तथा प्राजापत्य प्रणालियों का सम्मिश्रित रूप है। राक्षस विवाह क्षत्रियों में अवश्य प्रचलित था। महाभारत में श्री कृष्ण ने क्षत्रियों के लिए इसकी उत्कृष्टता की प्रशंसा भी की है[1]। परन्तु उसी महाकाव्य में भीष्म-शिशुपाल-वार्ता से सिद्ध होता है कि समाज में अन्य-कामा कन्याओं के अपहरण की प्रणाली निन्दनीय समझी जाने लगी थी[2]। विवाह के लिए कन्या की सहमति आवश्यक थी। असहाय एवं वशीभूत कन्या के साथ विवाह-कार्य गर्हित समझा जाने लगा था[3]।

ऐसे विचारों के प्रसार होने पर समाज में गान्धर्व विवाह की प्रतिष्ठा हुई और वह श्रेष्ठतम माना जाने लगा[4]। परन्तु जैसे-जैसे पुत्री के प्रति पिता का उत्तरदायित्व बढ़ता गया वैसे ही वैसे स्वतन्त्र गान्धर्व विवाह की रूप-रेखा में परिवर्तन होता गया। उसमें भी ब्राह्म विवाह के सिद्धान्तों का समावेश होने लगा। इसका ज्वलन्त उदाहरण महाभारत से प्राप्त होता है। राजा संवरण तपती नामक कन्या के साथ गान्धर्व विवाह करना चाहता था। परन्तु कन्या ने यह कह कर उसके प्रस्ताव को अस्वीकृत कर दिया कि मैं स्वतन्त्र नहीं हूँ। मेरे पिता मेरे संरक्षक हैं। अतः उन्हीं से मेरे विवाह का प्रस्ताव कीजिये[5]। ययाति ने देवयानी के साथ उसके पिता की अनुमति के बिना विवाह करना अस्वीकार कर दिया था[6]। रामा-

---

1. महा० १ २४५. ५–६ क्षत्रियाणां तु वीर्येण प्रशस्तं हरणं बलात्।
2. महा० १. ६४. २२–अन्यकामा हि धर्मज्ञ कन्यका प्राज्ञमानिना
अम्बा नामेति भद्रं ते कथं सापहृता त्वया।
3. महा० १३. ४५. २२-वश्या कुमारी बलतो ये तां समुपभुञ्जते
एते पापस्य कर्तारः तमस्यन्धे च शेरते।
4. महा० १. १७२. १६—विवाहानां हि रम्भोरु गान्धर्वः श्रेष्ठ उच्यते।
कामसूत्र ३. ५. २९–३०
5. महा० १. १०२. २०—नाहमीशात्मनो राजन् कन्या पितृमती ह्यहम्।
मयि चेदस्ति ते प्रीतिः याचस्व पितरं मम।
6. महा० १. ८१. २६—अतो दत्तापित्रा त्वां भद्रे न विवाहाम्यहम्।

यण में स्पष्टतया कहा गया है कि कन्या का विवाह-कार्य पिता का उत्तरदायित्व है[1]। इन उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि कन्या की स्वेच्छाचारिता के स्थान पर पिता का निरीक्षण एवं उत्तरदायित्व बढ़ता जा रहा था और इस प्रकार समाज में ब्राह्म-विवाह का सर्वतोमुखी प्रतिपादन होने लगा था।

शूरकर्मा क्षत्रियों को दान के रूप में कन्याग्रहण करना अरुचिकर था। अतः वे दीर्घकाल तक ब्राह्म विवाह को अस्वीकृत करते रहे। उनके इस विरोध को नष्ट करने के लिये यह आवश्यक था कि समाज में कोई मध्यवर्ती प्रणाली प्रसारित होती जिसके अन्तर्गत क्षत्रियों के वीर-कर्मों का प्रदर्शन, कन्याओं के अभिरुचि का समादर तथा पिता का उत्तरदायित्व, सब न्यूनाधिक रूप में सम्मिलित होते। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिये समाज ने राक्षस, गान्धर्व तथा ब्राह्म विवाहों की तीन प्रणालियों को मिला कर एक नवीन प्रणाली का आविर्भाव किया जो कालान्तर में स्वयंवर प्रणाली के नाम से प्रख्यात हुई। यह प्रणाली किसी एक काल की उत्पत्ति नहीं है। इसके विकास में दीर्घकाल लगा। इसी से भिन्न-भिन्न कालों अथवा एक ही काल के स्वयम्वर की रूप-रेखा में भिन्नता प्राप्त होती है। इसके प्रारम्भिक रूप का उल्लेख बौधायन धर्मसूत्र, वसिष्ठ धर्म सूत्र तथा मनुस्मृति में उपलब्ध होता है। इन साक्ष्यों के अनुसार यदि पिता अपनी वयस्था कन्या के लिये तीन वर्ष तक पति प्राप्त न कर सके तो कन्या को यह अधिकार हो जाता था कि वह स्वयं अपने लिये पति ढूंढ़ ले[2]। गौतम ने भी इस प्रकार के स्वयम्वर का अनुमोदन किया है, परन्तु उन्होंने पिता को ३ वर्ष के स्थान पर केवल ३ मास का अवकाश दिया है[3]। सावित्री का स्वयम्वर इसी रूप में हुआ था। दमयन्ती के स्वयम्वर में यद्यपि गान्धर्व-विवाह का ही सिद्धान्त अन्तर्निहित था तथापि उसके लिये एक विशाल राजमण्डली का आयोजन किया गया था। बौद्ध साहित्य में जो स्वयम्वर के दृष्टान्त मिलते हैं उनमें गान्धर्व विवाह की भांति कन्या की अभिरुचि ही अंतिम निर्णायक होती है। कुलावक जातक में सुजाता का पिता देवचित्तिय असुरों की एक मण्डली एकत्र करता है। वहां सुजाता अपनी अभिरुचि के अनुकूल अपने पति को चुनती है।[4] इसी प्रकार अन्य जातक में सभा के बीच कन्हा पंच पाण्डवों को देखती है, उनमें अनुरक्त हो जाती है तथा उन्हीं के गले में वरमाला डालती है[5]। जैन साहित्य भी स्वयंवर-प्रथा के प्रचलन को प्रमाणित करता है। एक स्थान पर निव्वुइ नामक राजकुमारी का स्वयंवर में राजा इन्द्रदत्त के एक शूरकर्मा पुत्र के साथ विवाह का वर्णन है[6]। दूसरे स्थान पर दोवइ (द्रौपदी) का स्वयंवर में पंचपाण्डवों के वरण का उल्लेख है।[7]

---

१. रामा० १. ७७. २६—दारां पितृकृता इति।

२. बौधायन ध० सू० ४. १. १३, वसिष्ठ ध० सू० १७. ६७-६८, मनु० ६. ९०

३. गौतम १८. २०

४. जातक १ पृ० २०५-६

५. जातक ५ पृ० ४२६.

६. उत्तराध्ययन टीका ३. ६५.

७. नायाधम्मकहा १६. ६७६-८२.

वास्तव में यह कथानक महाभारत की ही अनुकृति है। परन्तु सीता तथा द्रौपदी के स्वयंवर इनसे भिन्न थे। उनमें कन्याओं की इच्छा-अनिच्छा से अभीष्ट वर के शूर कर्मों पर अधिक महत्व दिया जाता था। परन्तु इन समस्त विवाहों में पिता द्वारा नियोजित व्यवस्था के अनुसार ही कार्य हो रहा था। इससे स्पष्ट होता है कि कन्या-दान में पिता के अधिकारों में उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही थी और फलस्वरूप ब्राह्म विवाह की प्रणाली का शनैः शनैः आविर्भाव हो रहा था। कालान्तर में यही प्रणाली समाज में सब से अधिक प्रतिष्ठित हुई और क्षत्रियों ने भी इसे अपना लिया। ब्राह्म-विवाह की प्रतिष्ठा इसी बात से सिद्ध होती है कि क्रूर-कर्मा राक्षसों ने भी अपने विवाह इसी प्रणाली के अनुसार प्रारम्भ कर दिये थे। रावण, विभीषण तथा कुम्भकर्ण के विवाह ब्राह्म-प्रणाली के अनुसार ही हुये थे[१]। रामायण में ही एक अन्य स्थान पर कुशनाभ की पुत्रियां स्पष्टरूप से यह कहती हैं कि पिता ही हमारे संरक्षक हैं। वे जिसके साथ हमारा विवाह करेंगे वही हमारा पति होगा[२]। स्वयं सीता की कनिष्ठा भगिनियों के विवाह ब्राह्म प्रणाली के अनुसार हुये थे। बौद्ध साहित्य में भी ब्राह्म-विवाह के ही अंकुर अधिक मिलते हैं। अनुसोचिय जातक[३] में माता-पिता ही अपनी कन्या के लिये वर ढूंढ़ लाने के हेतु कतिपय ब्राह्मणों को भेजते हैं। अन्य जातक में पिता वर को सम्मानपूर्वक अपने घर में बुलाता है और वर-वधू के शीश पर अभिषेक कर कन्या-दान कर देता है[४]। कभी-कभी पुत्र-पुत्री उत्पन्न होने के पूर्व ही दो दम्पतियां पारस्परिक विवाह-सम्बन्ध स्थापित करने का निश्चय कर लेते हैं[५]। दीर्घ निकाय में कन्या के पिता द्वारा विवाह-हेतु अपने घर में वर के आमन्त्रित करने का उल्लेख है[६]। जैन साहित्य भी इसी सामाजिक स्थिति की ओर विशेषरूप से इंगित करता है। नायाधम्मकहा में जिनदत्त के पुत्र और सागरदत्त की पुत्री के विवाह का उल्लेख है। यह विवाह दोनों के पिताओं द्वारा आयोजित हुआ था यद्यपि वयस्य वर ने तत्पश्चात् इस सम्बन्ध पर अपनी सहमति दे दी थी[७]। इस प्रकार यह प्रकट होता है कि आठ प्रकार के विवाहों में से ब्राह्म विवाह भिन्न-भिन्न काल में न्यूनाधिक रूप में प्रतिष्ठित रहा। इस प्रतिष्ठा में समाज की शान्तिप्रियता, कन्याओं में सदाचारिता एवं अनुशासनशीलता की आवश्यकता, उनके अधिकारों के क्रमिक ह्रास तथा समाज में बाल-विवाह के अधिकाधिक प्रचार ने अधिक योग दिया। परन्तु इस प्रणाली की प्रतिष्ठा के पीछे जनसाधारण की समाज को सुस्थिर

---

१. रामायण ७.१२

२. रामा० १.३२.२१-२ पिता हि प्रभुरस्माकं यस्य नौ दास्यति पिता स नो भर्ता भविष्यति।

३. जातक ३ पृ० ६३.

४. जातक ३ पृ० २८६.

५. जातक ४ पृ० ३१६.

६. दीर्घनिकाय १ पृ० ११.

७. नायाधम्मकहा १६.१६८.

सुनियमित एवं स्वनुशासित रहने की प्रबल चिन्ता ही सब से अधिक परिलक्षित होती है। विवाह केवल दो व्यक्तियों का व्यक्तिगत विषय न था। उसका निर्णय केवल उनकी असंयत मनोवृति अथवा मनोवेग पर नहीं छोड़ा जा सकता। वह एक सामाजिक उत्तरदायित्व था। अतः यह अधिक उपयुक्त समझा गया था कि उसके निर्णय में अधिक अनुभवी एवं अधिक विचारशील माता-पिता का नियन्त्रण अथवा कम से कम अनुमोदन रहे। समाज की यह विचार-धारा प्रसिद्ध विद्वान् हट्ले के इस कथन से प्रकट होती है कि यदि स्त्री-पुरुष को स्वतन्त्र-रूप से केवल अपने-अपने विचारानुचार विवाह करने की स्वच्छन्दता दे दी जाय तो विवाह का एकमात्र आदर्श भी नष्ट हो जायेगा। अब अधिक समय तक विवाह को एकमात्र व्यति-गत सम्बन्ध न समझना चाहिए। विवाह एक धार्मिक कर्तव्य है

वैदिक काल से ही हमारे समाज में एकपत्नीव्रत की प्रथा प्रतिष्ठित हो चुकी थी। ऋग्वेद में अधिकांश उदाहरण इसी कथन की पुष्टि करते हैं। उसमें उल्लिखित अधिकांश देवता अग्नि, वरुण, सोमादि एकपत्नीक हैं। अधिकांश स्थलों पर (ऋ० १. १२४. ७, ४. ३. २, १०. ७१. ४.) पुरुष की एक ही स्त्री का उल्लेख किया गया हैं। स्त्री-पुरुष की अविच्छेदता एवं सम्बद्धयुग्मता के सुखपूर्ण जीवन का चित्रण एकपत्नी-विवाह को ही परिलक्षित करता है (ऋ० १०. ८४. ४२-इहैव स्तं मां वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्। क्रीलन्तो पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे। ऋ० १० ८५. ४६-आपुर्म गत्नीः पतिलोकमा विश शं नो भव द्विपदेशं चतुष्पदे।) नवविवाहित वधू के लिए कामना की गई है कि वह अपने श्वशुर श्वसा, पतिभगिनियों तथा देवरों के ऊपर सम्राज्ञी हो। इस वर्णन से सपत्नी का पूर्ण अभाव प्रकट होता है। (ऋ० १०. ८५. ४६—सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधिदेवृषु)। प्रायः समस्त स्थानों पर यजमान एक पत्नी के साथ ही प्रदर्शित किया गया है। परन्तु समाज के उच्च एवं अभिजात वर्ग में बहुपत्नीक पुरुषों के अनेक उल्लेख मिलते हैं। ऋग्वेद में सपत्नी शब्द का प्रयोग अनेक स्थानों पर हुआ है[1]। एक स्थान पर चारो ओर से शत्रु द्वारा आक्रान्त व्यक्ति की तुलना अनेक इर्ष्यालु पत्नियों द्वारा संतापित मनुष्यों से की गई है[2]। दूसरे स्थान पर इन्द्र की भार्या शची का उल्लेख है जिसने अपनी समस्त पत्नियों का वध कर डाला था[3]। एक अन्य स्थान पर च्यवन ऋषी को बहुपत्नीक प्रदर्शित किया गया है[4]। इसी प्रकार कक्षीवन्त के भी रोमशा तथा घोषा नामक दो स्त्रियां

[1]. ऋ० ३. १. १०. ३. ६. ४, १०. १४५. १

[2]. ऋ० १. १०५. ८-सं मां तपन्ति अभितः सपत्नीरिव पर्शवः।

[3]. ऋ० १०. १५९. ५-६ असपत्ना सपत्नीघ्नी जयन्त्यभिभूवरी। आवृक्षमन्यासां वर्चो राधो अस्थेयसामिव। समजैषमिमा अहं सपत्नीरभिभूवरीः। यथाहमस्यवीरस्य विराजानि जनस्य च।

[4]. ऋ० १. ११६. १०.

थी[१]। अथर्ववेद में ऐसे मन्त्रों का उल्लेख किया गया है जिनकी सहायता से स्त्री अपने पति को अपनी सपत्नियों से विरक्त कर अपने में अनुरक्त कर सकती थी[२]। मैत्रायणी संहिता के कथनानुसार स्वयं मनु के १० पत्नियां थीं[३]। ऐतरेय ब्राह्मण का कथन है कि एक पुरुष के अनेक पत्नियां हो सकती हैं, परन्तु एक स्त्री के अनेक पति नहीं[४]। इसी ग्रंथ में हरिश्चन्द्र की १०० पत्नियों का उल्लेख किया गया है[५]। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार राज्याभिषेक के अवसर पर ४ पत्नियों की आवश्यकता होती है (१) महिषी (अभिषिक्त प्रियतमा), (२) वावाता (परित्यक्ता) (३) परिवृक्ता और (४) पालागली[६] (निम्नजातीया)। स्वयं प्रसिद्ध विद्वान् एवं दार्शनिक याज्ञवल्क्य के कात्यायनी तथा मैत्रेयी नामक दो स्त्रियां थीं[६]। वैदिक कालीन समाज के उच्च एवं अभिजात वर्ग में प्रचलित बहुविवाह-प्रथा का कारण उनकी बहुपुत्र-लालसा तथा समृद्धिशालिता ही थी। जनसाधारण में प्रायः एक-पत्नी-विवाह ही होते थे।

उपर्युक्त उद्धरणों में कुछ ऐसे भी हैं जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि बहुधा बहुपत्नीक मनुष्यों का जीवन सपत्नियों की चिर प्रसिद्ध पारस्परिक ईर्ष्या के कारण दुःखपूर्ण हो जाता था। कभी-कभी मनुष्य केवल अपनी रमणवृत्ति को सन्तुष्ट करने के हेतु ही एक पत्नी से विरक्त हो अन्य स्त्री के साथ विवाह कर लेता था। इस स्वेच्छाचारिता से सामाजिक स्थिरता को आघात पहुंचता था। अतः इन दोषों के विदूरीकरण के हेतु सर्व प्रथम हम सूत्र-साहित्य में एकपत्नीव्रत के सिद्धान्त की व्यवस्था पाते हैं। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में अकारण पत्नी-त्याग के दोषी व्यक्ति के लिये कठोर प्रायश्चित की व्यवस्था की गई है[७]। इसी ग्रन्थ में धर्म-प्रजा-सम्पन्न पत्नी के होते हुये द्वितीय विवाह का निषेध किया गया है[८]। हाँ, स्त्री के अप्रजा, स्त्रीप्रजा अथवा मृतप्रजा होने पर अवश्य व्यवस्थाकारों ने द्वितीय विवाह की अनुमति दी है। उसके लिये भी मनुष्य को क्रमशः १० वर्ष, १२ वर्ष और १५ वर्ष की प्रतीक्षा कर लेनी चाहिए। परन्तु अप्रियवादिनी स्त्री के सद्यः त्याग का विधान है[९]।

---

१. ऋ० १. १२६. ३, १०. ४०

२. अथर्व० ३. १८

३. मैत्रा० सं० १. ५. ८

४. ऐत ब्रा० १२. ११—तस्मादेको बह्वीर्जाया विन्दते। तस्मादेकस्य बह्व्यो जाया भवन्ति नैकस्यै बहवः सहपतयः।

५. ऐत० ब्रा० ३३. १

६. शत० ब्रा० १३. ४. १. ८—चतस्रो जाया उपक्लृप्ता भवन्ति। महिषी वावाता परिवृक्ता पालागली।

६. बृहदा० उप० ४. ५. १—२.

७. आप० ध० सू० १. १०. २८. १९-

८. आप० धसू० २. ५. ११ १२ धर्मप्रजासम्पन्ने दारे नान्यां कुर्वीत्।

९ बौधायन ध० सू०२, २.४.६-अप्रजां दशमे वर्षे स्त्री प्रजा द्वादशे त्यजेत्, मृतप्रजां पंचदशे सद्यस्त्वप्रियवादिनीम्।

पुत्रों की प्राप्ति के लिये यद्यपि कौटिल्य ने बहुविवाह का प्रतिपादन किया है तथापि एक अन्य स्थान पर उनका कथन है कि स्त्री के अप्रजा, स्त्रीप्रजा अथवा मृतप्रजा होने पर पर्याप्तकाल की प्रतीक्षा के पश्चात् ही मनुष्य को दूसरा विवाह करना चाहिये अन्यथा वह दण्डनीय है [१]। मनु ने भी द्वितीय विवाह की अनुमति दी है, परन्तु उसी स्थिति में जब कि प्रथम स्त्री मद्यपा, रुग्णा, वंचका, अपव्ययकारिणी तथा अप्रियवादिनी हो [२]। याज्ञवल्क्य ने भी इसी मत का प्रतिपादन किया है [३]।

महाकाव्यकाल में भी उच्च एवं अभिजात वर्ग में बहुविवाह-प्रथा प्रचलित थी। महाभारत के कथनानुसार श्री कृष्ण के १६००० पत्नियां थी [४]। यह संख्या अविश्वसनीय है, परन्तु इससे इतना अवश्य प्रकट होता है कि श्री कृष्ण के अनेक पत्नियां थीं। इसी प्रकार अर्जुन भी बहुपत्नीक थे। भीम ने द्रौपदी के अतिरिक्त हिडिम्बा से भी विवाह किया था। इसी प्रकार रामायण के दशरथ के तीन पत्नियां थीं। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि समाज के उच्च वर्ग पर व्यवस्थाकारों के बहुविवाह-निषेध का कोई विशेष प्रभाव न पड़ा था। यही नहीं, महाभारत में स्पष्टतया कहा गया है कि बहुविवाह करना कोई अपराध नहीं [५]। परन्तु यह कथन कदाचित् उच्चवर्गीय मनुष्यों की मनोवृत्ति को ही परिलक्षित करता है। जनसाधारण में प्रायः एक विवाह का ही प्रचलन था। उनकी विचारधारा का प्रतिनिधित्व करने वाले भी कुछ स्थल महाभारत में उपलब्ध होते हैं। अपनी धर्मविहित स्त्री का अकारण त्याग नितान्त निन्दनीय समझा जाता था [६]। इस पापकर्म से उद्धार का कोई भी उपाय नहीं हो सकता [७]। उच्च वर्ग में भी सर्वत्र लोग बहुपत्नीक न थे उसमें भी बहुसंख्यक व्यक्ति एक स्त्रीव्रत को धारण करना ही अपना कर्तव्य समझते थे। इस दृष्टिकोण से राम का उदाहरण उल्लेखनीय है [८]।

जैन तथा बौद्ध साहित्य से भी यही परिलक्षित होता है कि साधारण मनुष्य एकपत्नीक होते थे। उनमें बहुविवाह के उदाहरण अत्यल्प हैं [९]। परन्तु इसके

---

१. कौटिल्य ३.२.

२. मनु० ५.८०

३. याज्ञवल्क्य १. ८०

४. महा० मौसलपर्व ५.६- षोडशस्त्रीसहस्राणि वासुदेवपरिग्रहः।

५. महा० १४. ८०. १४-१५-नापराधो भवत्येष नराणां बहुभर्तृता।
तथा महा० १. १६. ३६-न चाप्यधर्मः कल्याण बहुपत्नीकृता नृणाम्।

६. महा १२. २७८. ३६-पाणिबन्धं स्वयं कृत्वा सहधर्ममुपेत्य च
यदा यास्यन्ति पुरुषाः स्त्रियो नार्हन्तियाप्यताम्

७. महा ० १२. ५८. १३-एवं हि त्यजतां भार्यां नराणां नास्ति निष्कृतिः।

८. रामा० ७. ६६. ७-न सीतायाः परा भार्यां वव्रे स रघुनन्दनः।

९. जातक ४ पृ० ६७-यहां एक ब्राह्मण दो स्त्रियों के साथ विवाह करते प्रदर्शित किया गया है।

विपरीत राजवंश में बहुविवाह-प्रणाली साधारणतया प्रतिष्ठित थी। बिम्बिसार के खेमा तथा छलना नाम के दो पत्नियाँ थीं [१]। उदयन ने तीन स्त्रियों के साथ विवाह किया था—सोमवती, वसुलदत्ता और मगन्दिमा [२]। इसी प्रकार राजा पसेनदि की पांच पत्नियों का उल्लेख प्राप्त होता है [३]—मल्लिका, वसभा, उब्बिसी सोमा तथा सकुला। अन्य राजाओं, विक्कमजस[४] तथा गाहावहइ महायस [५] का बहुपत्नीक होना जैन साहित्य से सिद्ध होता है। समाज के उच्च एवं अभिजात वर्ग में भी हम प्रायः सपत्ति (सपत्नी) का उल्लेख पाते हैं [६]। जातकों में इन सपत्नियों के ईर्ष्या-द्वेष का भी वर्णन मिलता है। एक जातक में एक नागस्त्री का कथन है कि सपत्नी का क्रोध भयावह होता है[७]। दूसरे जातक में सपत्नी-कलह (सपत्ति रोस दुक्खम्) को स्त्री के लिये महत्तम क्लेश बताया गया है [८]। एक अन्य स्थान पर (थेरी० २१७) अनेक सपत्नीयों के बीच में स्त्री के दुर्भाग्य पर खेद प्रकट किया गया है। थेरीगाथा (१६) में किसी गौतमी की सपत्नी का उल्लेख मिलता है। धम्मपद टीका (७-८) में तीन वणिको की क्रमशः दो, चार तथा आठ पत्नियों का वर्णन मिलता है। राजवंश की इस बहुविवाह-प्रणाली का विशेष कारण यह था कि वहां की स्त्री विशेषरूप से उपभोग्या समझी जाती थी। परन्तु वहां भी सुरुचि के समान अनेक राजा ऐसे थे जो एक स्त्रीव्रतधारी ही रहना चाहते थे [९]।

प्राचीनतम काल में संसार की विभिन्न जातियों में सती-प्रथा प्रचलित थी। यूनानी, स्लाव, नार्वेजियन, केल्ट, थ्रेशियन तथा चीनी स्त्रियां अपने पति की मृत्यु पर अपने जीवन का अन्त कर देना अपना कर्तव्य समझती थीं। इस प्रथा के पीछे दम्पत्ति की पारस्परिक प्रगाढ़ अनुरक्ति, अभिन्न साहचर्य की भावना, पति-विहीन स्त्री की असहायता तथा उसकी सतीत्व-रक्षा की सार्वजनिक चिन्ता ही मूल कारण थे। बहुत सम्भव है कि भारत के बाहर आर्य-जाति में भी इस प्रथा का प्रचलन रहा हो। परन्तु अवेस्ता तथा ऋग्वेद के आधार पर यह निश्चय-पूर्वक कहा जा सकता है कि भारतीय आर्यों में यह प्रथा प्रचलित न थी। प्रारम्भ में

---

१. महावग्ग ८. १. ४.
२. महावग्ग ८. १. १५.
३. मज्झिमनिकाय २. १२५.
४. उत्तराध्ययन टीका १८. २३६.
५. उवासगदसाओ ८. ६. १.
६. जातक ४ पृ० २२०
७. जातक ६ पृ० १६०—सपत्तिरोसो नाम भरियो।
८. जातक ४ पृ० ३१६,
९. जातक ४ पृ० ३१७.

कतिपय विद्वानों ने ऋग्वेद के एक अंश[1] के आधार पर सती प्रथा के अस्तित्व को सिद्ध करने की चेष्टा की थी। परन्तु उनका निष्कर्ष उस अंश के संदिग्ध पाठ अथवा अशुद्ध अर्थ पर आधारित था। पहले तो यही निश्चित नहीं है कि उस अंश में 'अग्ने' शब्द का प्रयोग किया गया है अथवा अग्रे का। यदि वह शब्द 'अग्ने' भी हो तो भी उससे सती प्रथा प्रमाणित नहीं होती। इसमें सधवा स्त्रियों का आगे बढ़कर दग्ध करने से पूर्व शव को प्रसाधित करने का उल्लेख है। प्रचलित प्रणाली के अनुसार विधवा अपने पति के शव के साथ केवल कुछ क्षणों के लिए लेटती है। परन्तु तत्पश्चात् उससे निम्नलिखित शब्दों में उठ आने के लिए कहा जाता है-नारी, उठो और जीवलोक में पुनः लौट आओ। तुम एक मृत पुरुष के पास लेटी हो। पाणिग्रहण करनेवाले पुरुष के साथ तुमने अपना पत्नीत्व सम्यक् रूप से व्यतीत किया है। इस प्रकार अधिक से अधिक यह अंश पूर्व ऋग्वैदिक काल में प्रचलित सती-प्रथा का ही स्मरण कराता है जब कि विधवा अपने पति के साथ जला दी जाती थी। राजा राधाकांत देव ने सती-प्रथा के प्रचलन को सिद्ध करने के हेतु नारायणीय उपनिषद् में उद्धृत तैत्तिरीय संहिता के दो श्लोकों[2] का उल्लेख किया है। परन्तु उन दोनों श्लोकों की प्रामाणिकता में संदेह है। इसी प्रकार का एक विवाद-ग्रस्त अंश अथर्ववेद में भी है[3]। परन्तु इससे भी तत्कालीन समाज में सती-प्रथा का प्रचलन सिद्ध नहीं होता। इस अंश में केवल विधवा स्त्री का अपने पति के शव के साथ चिता पर आरोहण-मात्र प्रदर्शित किया गया है। तत्पश्चात् उससे चिता से उतर जाने के लिये कहा जाता था और उसके सुखी जीवन के लिये प्रार्थना की जाती थी। अधिक से अधिक यह अंश भी यही सिद्ध करता है कि अथर्ववेद के पूर्व किसी समय आर्यों में सती प्रथा प्रचलित थी और उस प्राचीन परम्परा के निर्वाह के लिए यह उसका अवशिष्ट रूप था। तैत्तिरीय आरण्यक[4] में भी विधवा स्त्री का अपने पति के हाथों से धनुष आदि उसकी प्रिय वस्तुओं को लेकर गृह-प्रत्यागमन तथा उसके (विधवा स्त्री के) आगामी जीवन

---

1. ऋ० १०.१८.७—इमा नारीरविधवाः सपत्नीराजनेन सर्पिषा संविशन्तु।
अनश्रवो नमीवाः सुरत्ना आरोहन्तु जनयो योनिमग्ने।
ऋ. १०.१८.८. उदीर्ष्य नार्यभिजीव लोकं गतासुमेतमुपशेष एहि
हस्ताग्राभस्य दिधिषोस्तवैवं पत्युर्जनित्वमभिसंबभूथ।

2. अग्ने व्रताना व्रतपतिरसि पत्न्यानुगमव्रतं चरिन्यामि तच्छकेयं तन्ये राध्यताम् इह त्वा अग्ने नमसा विधेम सुवर्गस्य लोकस्य समेत्ये। जुषाणो अद्य हविषा जात वेदो विशानि त्वा सत्वतो नयमा पत्युरग्ने-प्रो० एच० एच० विल्सन्स वर्क्स भाग २ पृ० २९५-६

3. अथर्ववेद १८. २१-इयं नारी पतिलोकं वृणानां निपद्यते उपत्वा मर्त्य प्रेतम् धर्मम् पुराणमनुपालयन्ती तस्मै प्रजां द्रविणं चेह धत॥

4. तैत्ति० आर० ६.१-धनुर्हस्तादाददाना मृतस्य श्रिमेब्रह्मणे तेजसे वलाय अत्रैव त्वमिह वयं सुशेयवा विश्वाः स्पृधो भिजातीर्जयेम।

में सुख-समृद्धि की कामना का उल्लेख मिलता है। आपस्तम्ब गृहसूत्र[1] के अनुसार विधवा स्त्री को देवर, मृत पति का शिष्य अथवा उसका कोई विश्वस्त वृद्ध दास श्मशान से घर तक लाता था। समस्त सूत्र-साहित्य में जहां मनुष्य के जन्म से लेकर मरणपर्यन्त अनेकानेक संस्कारों का सविस्तार वर्णन किया गया है सती प्रथा का संकेत तक नहीं मिलता। मनु की विस्तृत समाज-व्यवस्था में भी उसका कोई उल्लेख नहीं है। इसी प्रकार समस्त जैन तथा बौद्ध साहित्य में भी सती-प्रथा के प्रचलन का एक भी साक्ष्य नहीं मिलता।

परन्तु ऐसा विदित होता है कि लगभग ३०० ई० पू० से सती-प्रथा की पुनः स्थापना का प्रयत्न प्रारम्भ हो गया था। यद्यपि मेगस्थनीज कौटिल्य अथवा अशोक के अभिलेखों में कहीं भी इस प्रथा के अस्तित्व के साक्ष्य नहीं मिलते तथापि स्ट्रैबो[2] ने ओनेसिक्रिटस की सूचना के आधार पर यह लिखा है कि सिकन्दर के सहगामी यूनानियों ने कठों के बीच इस प्रथा का प्रचलन देखा था। कदाचित् इस प्रथा का प्रारम्भ सिंध, पंजाब तथा राजपूताना की शस्त्रोपजीवी क्षत्रिय जातियों के बीच ही हुआ था। इस प्रथा के कतिपय साक्ष्य महाकाव्य-काल में उपलब्ध होते हैं। सर्वप्रमुख उदाहरण माद्री का है जो अपने पति पाण्डु के साथ सती हो गई थी[3]। दूसरे स्थान[4] पर देवकी, मद्रा, रोहिणी और मदिरा का अपने मृत पति वासुदेव के साथ भस्म होने का उल्लेख है। शान्तिपर्व[5] में एक कपोती का अपने पति कपोत के शव के साथ भस्म होने का वर्णन है। भस्मीभूत होने के पश्चात् वह अपने पति के साथ स्वर्ग की अधिकारिणी हुई। इस वर्णन से ज्ञात होता है कि सती-प्रथा का आधार भी धीरे धीरे धर्म हो चला था। रामायण में ब्राह्मणी वेदवती की माता का शरीर-दहन करने का उल्लेख है[6]। परन्तु अभी तक सती-प्रथा लोकमान्य न हुई थी। उपर्युक्त उद्धरण नियम के रूप में नहीं वरन् अपवाद के रूप में लिए जाने चाहिये। महाभारत तथा रामायण में अनेक अभिजात विधवा महिलाओं कुन्ती, सत्यवती, उत्तरा, कृपा, कौशिल्या सुमित्रा, कैकेयी आदि का पतिमृत्यु के पश्चात् जीवित रहना वर्णित है। सती प्रथा के जो कतिपय उदाहरण उपलब्ध होते हैं, वे भी प्रायः क्षत्रिय वर्ग के ही हैं। अन्य जातियों में अभी तक कदाचित् सती-प्रथा का प्रवेश भी न हुआ था। अतः सती-प्रथा की पूर्ण प्रतिष्ठा हमारे काल के पश्चात् ही सिद्ध होती है।

---

1. आप० गृह० सू० ४२.१८—तामुत्थापयेद्देवरः पतिस्थनीयोऽन्तेवासी जरद्दासो वा उदीर्ष्व नारि अभि जीवलोकम् इति।
2. स्ट्रैबो—१५.१.३०
3. आदि० ६५.६५—तत्रैनं चिताग्निस्थं माद्री समन्वारुरोह।
4. मौसलपर्व० ७.१८
5. शान्ति० १४८.१०—१२—पतिव्रता सम्प्रदीप्तं प्रविवेश हुताशनम्।
ततश्चित्रांग दधरभर्तारं सान्वपश्यत्
ततः स्वर्गम् गतः पक्षी भार्यया सह संगतः
6. रामा० ७.१७.३३—एवमुक्त्वा प्रविष्टा सा ज्वलितं जातवेदसं पपात।

मारे काल में विधवा स्त्री की सामाजिक स्थिति इतनी शोचनीय न थी जितनी वह कालान्तर में हो गई। प्राचीन व्यवस्थाकारों ने विधवा के लिये संयत एवं अनुशासनपूर्ण जीवन की व्यवस्था की थी[१]। अतः वह अपनी स्वेच्छानुसार आजीवन विधवा रह कर पुत्र-पौत्रादि के बीच में अपनी पत्यानुरक्ति को अक्षय रक्खे हुये साधना एवं सदाचार का जीवन व्यतीत कर सकती थी। ऋग्वेद में कतिपय विधवाओं का उल्लेख मिलता है[२]। परन्तु इस प्रकार के विरक्तिपूर्ण एवं अनुशासनपूर्ण जीवन की क्लिष्टता का वहन करने में अपने को अक्षम पाकर विधवा नियोग अथवा पुर्नविवाह् की प्रथा का आश्रय लेकर फिर से सधवा की भांति जीवन-यापन कर सकती थी।

नियोग-प्रथा के अन्तर्गत स्त्री अपने पति की मृत्यु के पश्चात्, उसके प्रव्रजित दीर्घकाल तक अनुपस्थित अथवा क्लीव होने पर अपने देवर अथवा किसी अन्य सम्बन्धी के साथ पत्नी के रूप में रह सकती थी और उसके द्वारा सन्तान उत्पन्न कर सकती थी। कदाचित् इस प्रथा का आधार आर्यों की उत्कट पुत्र-कामना तथा याज्ञिक एवं अन्य धार्मिक क्रियाओं और युद्ध-कार्यों में पुत्रों की आवश्यकता ही थी। ऋग्वेद्-कालमें ही यह प्रथा प्रतिष्ठित हो चुकी थी। एक स्थान पर पुत्रहीन विधवा का पुत्र-प्राप्ति के ध्येय से अपने देवर के साथ पत्नी के रूप में ही रहना सिद्ध होता है[३]। स्त्री के लिये कभी-कभी देवृ-कामा शब्द का प्रयोग किया गया है जिससे उसके साथ सम्भावित नियोग की प्रथा परिलक्षित होती है[४]। अन्य स्थानों पर पुरुकुत्सानी का अपने पति की अनुपस्थिति में तथा पुरंधि-वधृमती का अपने पति की क्लीवावस्था में पुत्रप्राप्ति का उल्लेख मिलता है[५]। बृहदारण्यक (६.४.११-१०) में जर (अस्थायी पति) का उल्लेख किया गया है। गौतम ने[६] भी देवर के साथ नियोग का प्रतिपादन किया है, परंतु इसकी अवधि दो पुत्रों की प्राप्तिपर्यन्त रक्खी है। उनके मतानुसार नियोग स्थापित करने के पूर्व गुरुजनों की अनुमति आवश्यक थी। देवर के अभाव में उन्होंने सपिण्ड, सगोत्र, सप्रवर तथा सजातीय पुरुष के साथ भी नियोग स्थापित करने की अनुमति

---

१. बौधा० ध० सू० २.२.६६-६८ संवत्सरं प्रेतपत्नी मधुमांसमद्यलवणानि वर्जयेदधः शयीत। षण्मासानिति मौद्गल्यः।
वसिष्ठ ध० सू० १७.५५-५६.
मनु० ५.१५७-१६०

२. ऋ० १०.४०.८.-० युवं ह कृशं युवमश्विना शयुं युवं विधन्तं विधवामुरुष्यथः।
ऋ० ४.१८.१२-कस्ते मातरं विधवाम चक्रच्छयुम्।

३. ऋ० १०.४.२.-को वां शयुत्रा विधवेव देवरमर्यम् न योषा कृणुते सधस्थ आ

४. ऋ० १०.८५.४४.

५. ऋ० ४.४२.८, ऋ १.११६.१३.

६. गौतम १८.४-८-अपतिरपत्यलिप्सुर्देवरात्। गुरुप्रसूता नर्तुमती यात्।
पिण्डसोत्रर्षि संबंधेभ्यो योनिगात्राद्वा। ना देवरादित्येके।
नातिद्वितीयम्।

दी है। इससे ज्ञात होता है कि याज्ञिक एवं धार्मिक क्रियाओं के उस युग में पुत्रों की कितनी आवश्यकता थी। पति के जीवित रहते हुए भी पत्नी पुत्र-प्राप्ति के हेतु अन्य पुरुष से नियोग स्थापित कर सकती थी। इस प्रकार के पुत्र को क्षेत्रज कहा गया है[१]। बौधायन धर्मसूत्र में भी इस नियोग-प्रथा का उल्लेख मिलता है। उससे ज्ञात होता है कि मृत पुरुष, अबीजी पुरुष अथवा रुग्ण पुरुष की स्त्री अन्य पुरुष के द्वारा क्षेत्रज पुत्र प्राप्त कर सकती है। परंतु ऐसे पुत्रों की संख्या दो से अधिक नहीं होना चाहिये[२]। वसिष्ठ[३] के मतानुसार उन्मत्त, अवश, रुग्ण तथा ज्यायसी स्त्री नियोग के लिये अनुपयुक्त है। यह नियोग युवावस्था प्रारम्भ होने के १६ वर्ष पश्चात् तक किया जा सकता है। कदाचित् कभी-कभी लोग साम्पत्तिक अधिकार करने के लालच से विधवा स्त्री के साथ नियोग स्थापित करने के लिये चेष्टा किया करते होंगे। इस अधर्म्य कार्य का अंत करने के हेतु ही व्यवस्थाकारों ने स्पष्टतया उल्लेख किया है कि नियोग लोभमूलक न होना चाहिये[४]। नियोग-प्रथा का प्रतिपादन अर्थशास्त्र में भी किया गया है। कौटिल्य का कथन है कि पुत्रहीन विधवा ब्राह्मणी अन्य सगोत्र अथवा मातृबन्धु पुरुष के द्वारा क्षेत्रज पुत्र की प्राप्ति कर सकती है। यही पुत्र उसकी सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होगा[५]। महाभारत में नियोग-प्रथा के अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं। एक स्थान[६] पर उस महाकाव्य का स्पष्ट कथन है कि पति के अभाव में नारी देवर के साथ पति-पत्नी सम्बन्ध स्थापित कर सकती है। सत्यवती की विधवा पुत्रवधुओं तथा महर्षि व्यास का नियोग सर्वविदित है[७]। महाभारत का कथन है कि परशुराम द्वारा हत क्षत्रियों की स्त्रियों ने ब्राह्मणों के साथ नियोग स्थापित करके पुत्र प्राप्त किये थे[८]। कुन्ती तथा माद्री ने नियोग प्रथा के द्वारा क्रमशः ३ और २ पुत्र प्राप्त किये थे[९]। कुन्ती के कथन से स्पष्ट होता है कि उस समय नियोग द्वारा

---

१. गौतम १८.११.

२. बौधा० ध० सू० २ २.१७, २.२.६८-७०.

३. वसिष्ठ ध० सू० १७.५६ ६५. न सोन्मादामवशां व्याधितां वा नियुंजयात्। ज्यायसीमपि। षोडशवर्षाणि।

४. वसिष्ठ धर्मसूत्र १७.५७-रिक्थलोभान्नास्ति नियोगः।

५. कौटिल्य ३६.३.६ (पृष्ठ १६३)- क्षेत्रे वा जनयेदस्य नियुक्तः क्षेत्रजं सुतम् मातृबंधुः सगोत्रो वा तस्मै तत्प्रदिशेद्धनम्।

६. महा० १३.१२.१६-नारी तु पत्यभावे वै देवरं कुरुते पतिम्।

७. महा० १.१०६

८. महा० १.१०६

९. महा० १.१२२-१२३.

तीन पुत्र तक प्राप्त करने की अनुमति थी [१]। यही बात कुन्ती की बहन श्रुतसेना के नियोग से प्रकट होती है [२]। परंतु कभी-कभी इस संख्या का अतिक्रमण भी कर दिया जाता था। नियोग-प्रथा के द्वारा राजा बलि ने १७ पुत्रों तथा राजा व्युषिताश्व ने ७ पुत्रों की प्राप्ति की थी। परंतु कदाचित् यह संख्यातिक्रमण क्षत्रिय वर्ग में ही अधिक होता था। इसी प्रकार मनुस्मृति [३] में भी एक स्थान पर नियोग-प्रथा का अनुमोदन किया गया है। यद्यपि मनु ने पूर्वगामी व्यवस्थाकारों की नियोग-प्रथा द्वारा दो पुत्र प्राप्त करने की अनुमति को उद्धृत किया है, परंतु स्वयं उनके मत से एक ही पुत्र की प्राप्ति श्लाघ्य है।

परन्तु सूत्र-काल से ही इस नियोग-प्रथा की वांछनीयता अथवा अवांछनीयता के विषय में मतभेद था। अनेक व्यवस्थाकार ऐसे थे जो इसे निन्दनीय समझते थे। आपस्तम्ब [४] का कथन है कि नियोग-प्रथा के द्वारा पुत्र प्राप्त करने वाली दम्पति नरकाधिकारिणी होती है क्योंकि सगोत्र नियोगी वास्तव में उस स्त्री के लिये पर-पुरुष के समान है। उनके [५] मतानुसार क्षेत्रज पुत्र नियोगी का ही पुत्र होगा। अतः वह स्त्री के वास्तविक पति के लिये कोई धार्मिक क्रिया करने का अधिकार नहीं हो सकता। इसी प्रकार का उल्लेख बौधायन-धर्मसूत्र में भी प्राप्त होता है [६]।

एक स्थान पर [७] मनु ने नियोग-प्रथा के द्वारा एक पुत्र प्राप्त करने की अनुमति अवश्य दी है, परन्तु वहाँ वे केवल प्रचलित प्रणाली का ही प्रकाशन करते हैं। सिद्धान्त की दृष्टि से स्वयं मनु इस नियोग-प्रथा के घोर विरोधी हैं [८]। उन्होंने इसे पशुधर्म कहा है तथा द्विजाति के लिये इसे अत्यन्त त्याज्य बताया है। उनके कथानुसार सर्वप्रथम राजा वैन ने इस प्रथा का व्यवहार किया था जिसके परिणामस्वरूप समाज में वर्णसंकरता उत्पन्न हुई। उस समय से साधुजन सदैव इस प्रथा की निन्दा करते आ रहे हैं। मनु के मतानुसार केवल एक अवस्था में ही नियोग धर्म्य है। यदि विवाह के पूर्व ही किसी कन्या का प्रस्तावित पति मर

---

१. महा० १.१२२ ६३-६४ पाण्डुस्तु पुनरेवैनां पुत्रलोभान्महायशाः
प्रादिशद्दर्शनीयार्थी कुन्ती त्वेनमथाब्रवीत्।
नातश्चतुर्थम् प्रसवमापत्स्वपि वदन्त्युत
अतः परंस्वैरिणी स्याद्बंधकी पंचमे भवेत्।

२. महा० १.१२६.

३. मनु० ६.५६.६१.

४. आप० धर्मसूत्र २.१०.२७.५.-७ अवशिष्टं हि परत्वं पाणेः। तद्व्यतिक्रमे खलु पुनरूभयोर्नरकः।

५. आप० ध० सू० २.६१३.८

६. बौधा ध० सू० २.२.३६-४१

७. मनु० ६.५६.६१.

८. मनु० ६.६४-६८-अथ द्विजैर्हि विद्वद्भिः पशुधर्मो विगर्हितः। ततः प्रभृति यो मोहात्प्रमीतपतिकां स्त्रियम् नियोजत्यपत्यार्थम् तं विगर्हन्ति साधवः।

जाय तोवह उसके भाई के साथ नियोग स्थापित कर सकती है। यह नियोग एक पुत्र की प्राप्ति तक ही धर्म्य रहता है [१]। परन्तु उपर्युक्त नियोगसमर्थक उद्धरणों के आधार पर यही निष्कर्ष निकलता है कि ईसा की प्रथम-द्वितीय शताब्दियों तक नियोग-प्रथा समाज में प्रचलित रही। आपस्तम्ब, बौधायन तथा मनु के विरोधात्मक आन्दोलन का दीर्घकाल तक प्रभाव न हुआ। कई शताब्दियों तक इन दो परस्पर-विरोधी विचार-धाराओं का सतत संघर्ष चलता रहा जिसके परिणामस्वरूप अंत में नियोग-विरोधी वर्ग की ही विजय हुई। ६०० ईस्वी के पश्चात् इस दीर्घकालीन प्रथा का ह्रास हो गया। यज्ञ-विरोधी होने के कारण बौद्ध तथा जैन व्यवस्था के अंतर्गत पुत्र-प्राप्ति इतनी आवश्यक न थी। अतः उसमें नियोग प्रथा के उदाहरण नगण्य हैं। आवश्यक चूर्णि [२] में उल्लेख है कि एक वणिक् स्त्री कयपुण्ण नामक सोते हुए किसी वणिक् को उठवा कर अपने घर ले आई। घर आकर उसने अपनी निस्संतान पुत्र-वधुओं से कहा कि यह मेरा देवर है। तत्पश्चात् वह वणिक् उस घर में १२ वर्ष तक रहा और उसने उन पुत्रवधुओं में से प्रत्येक से एक-एक पुत्र उत्पन्न किया। यह कथानक किसी सीमा तक विकृतरूप में नियोग का उदाहरण कहा जा सकता है।

हमारे वर्तमान समाज में स्त्रियों के पुनर्विवाह का प्रश्न अति विवादग्रस्त रहा है, परंतु प्राचीन काल में इसके प्रचलन के बहुसंख्यक साक्ष्य उपलब्ध होते हैं। यद्यपि ऋग्वैदिक काल में नियोग-प्रथा के अस्तित्व का प्रमाण उपलब्ध होता है [३] तथापि विधवा के स्थायी पुनर्विवाह के स्पष्ट एवं निर्विवाद प्रमाणों का अभाव है। परंतु अथर्ववेद में विवाह की प्रथा अधिक स्पष्टतया परिलक्षित होती है। इसमें एक स्थान पर पंचौदन के द्वारा पत्नी एवं उसके द्वितीय पति के बीच अपार्थक्य स्थापित करने की कल्पना की गई है [४]। उसी ग्रंथ में दूसरे स्थान पर [५] स्त्री के एकान्वेक वैश्य, क्षत्रिय तथा ब्राह्मण पतियों का उल्लेख किया गया है। इनमें अंतिम ब्राह्मण पति को सर्वश्रेष्ठ बताया गया है। तैत्तिरीय संहिता (३ २. ४ ४.) में दैधिषव्य शब्द का प्रयोग किया गया है। इसका अर्थ विधवा-पुत्र होता है। अतः निश्चित है कि तत्कालीन समाज में विधवा-विवाह प्रचलित होगा। धर्मशास्त्रों में पुनर्भू तथा पौनर्भव

---

१. मनु० ६.६६-७०.

२. आवश्यक चूर्णि ४६६-८.

३. ऋग्वेद १०, ४०. २, १०. १८.८

४. अथर्व० ६.५.२७-२६. या पूर्वम् पतिवित्वा अथान्यं विन्देत पतिम्
पंचौदन च तौ अजंददातौ न वियोजतः
समानलोको भवति पुनर्भुव अपरः पतिः
यो जं पंचौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति।

५. अर्थ० ५ १७.८-६–उत यत्पतयो दश स्त्रियां पूर्वे अब्राह्मणाः ब्रह्मा चेद्धस्तमग्रहीत्स एव पतिरेकधा। ब्राह्मण एव पतिर्न राजन्यः न वैश्यः।

शब्द अनेकानेक स्थानों पर प्रयुक्त किये गये हैं। बौधायन [1] ने पुनर्भू स्त्रियों को ७ कोटियों में विभक्त किया है :—(१) वाग्दत्ता (२) मनोदत्ता (३) वर के साथ अग्निपरिगता (४) सप्तमपदगता (५) भुक्ता (६) ग्रहीतगर्भा और (७) प्रसूता। ये किसी न किसी रूप में विवाहित स्त्रियों के ही विभाग हैं। बौधायन ने इनके साथ पुनर्विवाह करने का विरोध किया है। इनके मतानुसार क्लीव तथा बहिष्कृत पति का त्याग करदूसरे पुरुष के साथ विवाह करने वाली स्त्री का पुत्र पौनर्भव कहलाता है। इन उपर्युक्त कथनों सेस्पष्ट है कि बौधायन के काल में तथा उसके पूर्व स्त्रियों के पुनर्विवाह की प्रथा प्रचलित थी। वसिष्ठ धर्मसूत्र में प्रथम पति के पश्चात् द्वितीय पति को वरण करने वाली स्त्री को पुनर्भू तथा उससे उत्पन्न पुत्र को पौनर्भव कहा गया है [2]। याज्ञवल्क्य ने पुनर्भू को दो भागों में विभाजित किया है :—(१) अभुक्ता विवाहिता और (२) भुक्ता विवाहिता। उन्होंने पुनर्भू को पुनः संस्कृता के रूप में लिया है जिससे उसके पुनः विवाह-संस्कार का प्रमाण उपलब्ध होता है। इसी प्रकार मनुस्मृति में भी पुनर्भू शब्द अनेक बार उल्लिखित है [3]। केवल इस शब्द के आधार पर यह सिद्ध होता है कि प्राचीन काल में स्त्री के पुनर्विवाह की प्रथा प्रचलित थी। ऐसा ज्ञात होता है कि जिन कारणों से स्त्री का पुनर्विवाह प्रचलित था उनमें उसका वैधव्य प्रमुख था। परंतु इसके अतिरिक्त स्त्री पति के प्रव्रजित, क्लीव अथवा पतित होने पर भी पुनर्विवाह कर सकती थी।

ऐसा ज्ञात होता है कि ईसा की पहली-दूसरी शताब्दी तक समाज में स्त्रियों के पुनर्विवाह की प्रथा पर्याप्तरूप से प्रचलित रही। वसिष्ठ[4] एवं बौधायन[5] के धर्मसूत्रों में अभुक्त विधवा के पुनर्विवाह की अनुमति दी गई है। वसिष्ठ ने प्रोषितपतिका के लिए भी पुनर्विवाह का अनुमोदन किया है। उसे केवल ५ वर्ष तक पति-प्रत्यागमन की प्रतीक्षा करना चाहिए। तत्पश्चात् वह यदि चाहे तो अपने किसी उपयुक्त निकट सम्बन्धी के साथ पुनर्विवाह कर सकती है [6]। कौटिल्य ने तो केवल कुछ मास ही प्रतीक्षा करने की व्यवस्था की

---

१. स्मृतिचन्द्रिका में उद्धृत बौधायन, १ पृष्ठ ७५—वाग्दत्ता मनोदत्ता अग्निं परिगता सप्तं पदं नीता भुक्ता गृहीतगर्भा प्रसूता चेति सप्तविधा पुनर्भूर्भवति। अतस्तां गृहीत्वा न प्रजां धर्मं च विन्देत।

२. वसिष्ठ १७.१८–२०—या कौमारं भर्तारमुत्सृज्यान्यैः सह चरित्वा तस्यैव कुटुम्बमाश्रयति सा पुनर्भूर्भवति। या च क्लीवं पतितमुन्मत्तं वा भर्तारमुत्सृज्यान्यं पतिं विन्दते मृते वा सा पुनर्भूर्भवति।

३. मनु० ९.१७६.

४. वसिष्ठ १७.६६—पाणिग्राहे मृते बाला केवलं मन्त्रसंस्कृता
सा चेदक्षतयोनिः स्यात्पुनः संस्कारमर्हति।

५. बौधायन २.२.४.७

६. वसिष्ठ १७.६७—प्रोषितपत्नी पंचवर्षाण्युदीक्षेत। ऊर्ध्वं पंचभ्यो वर्षेभ्यो भर्तृसकाशं गच्छेत। यदि धर्मार्थाभ्यां प्रवास प्रत्युननुकामा स्यात् यथा प्रेते एवं वर्तितव्यं स्यात्। एवं ब्राह्मणी पंच प्रजाता अप्रजाता चत्वारि। अतः ऊर्ध्वं सपानोदक पिण्ड षिगोत्राणां धूर्वः धूर्वः गरीयान द तु खलु कुलीने विधमाने परगामिनी स्यात्।

है[१]। परन्तु पुनर्विवाह करने के लिए न्याय-विभाग की अनुमति आवश्यक थी। यद्यपि स्वयं मनु स्त्री के पुनर्विवाह के घोर विरोधी थे तथापि ऐसा जान पड़ता है कि इस प्रचलित प्रणाली की वे पूर्णरूपेण उपेक्षा न कर सके और एक स्थान पर उन्हें थोड़ी देर के लिए अपने सिद्धान्त की हत्या करके स्त्री के पुनर्विवाह-संस्कार की अनुमति देनी ही पड़ी[२]। यद्यपि एक स्थान पर दीर्घतमा ने स्त्री के पुनर्विवाह की निन्दा की है[३] तथापि ऐसा ज्ञात होता है कि महाकाव्य-काल में यह प्रथा पर्याप्त रूप से प्रचलित थी। महाभारत ने स्पष्टतया पुनर्विवाह को धर्म्य माना है[४]। कदाचित् वयस्था स्त्रियों के भी पुनर्विवाह होते थे। दमयन्ती के द्वितीय स्वयम्वर की घोषणा[५] से यही सिद्ध होता है। ऐरावत की पुत्र-वधू इरावती ने अर्जुन के साथ पुनर्विवाह किया था[६]। स्त्रियों के पुनर्विवाह का प्रचलन रामायण से भी परिलक्षित होता है। लक्ष्मण के प्रति कथित सीता के परुष वचन[७] कि राम की मृत्यु के पश्चात् तुम मुझे अपनी स्त्री बनाना चाहते हो, तत्कालीन समाज में विधवा-विवाह का अस्तित्व प्रकट करता है। वालि की मृत्यु पर तारा ने सुग्रीव के साथ विवाह कर लिया था[८]। कदाचित् समाज के निम्नवर्ग में इस प्रथा का और भी अधिक प्रसार था[९]।

स्त्री के पुनर्विवाह के अनेक उदाहरण बौद्ध साहित्य में भी उपलब्ध होते हैं। एक जातक में प्रभावती अपने कुरूप पति के साथ रहने में अनिच्छा प्रकट करती है तथा अन्य पुरुष के साथ विवाह करने का मत प्रकट करती है[१०]। दूसरे जातक में वेस्सन्तर अपनी पत्नी मद्दी को दूसरा पति ढूँढ़ लेने की सम्मति देता है[११]। एक अन्य जातक में एक न्यायाधीश एक स्त्री को अपने विरक्त पति का त्याग कर देने की सम्मति देता है[१२]। दूसरे स्थान पर विधवा-

---

१. जीवितार्थमापद्गता वा धर्मविवाहात्कुमारी परिगृहीता रमनाख्याय प्रोषितं श्रूयमाणं सप्ततीर्थान्याकांक्षेत संवत्सरं श्रूयमाणाख्याय। तथा अन्ततः परं धर्मस्थैर्विसृष्टा यथेष्टं विन्देत—कौटिल्य ३.४

२. मनु० ९.१७६

३. महा० आदि १०४–३५–३६–एक एव पतिर्नार्या यावज्जीवं परायणम्।
मृते जीवति वा तस्मिन्नपरं प्राप्नुयात्पतिम्।

४ महा० १३.५५.७–पुनर्भूरपि सा कन्या सपुत्रा हव्यकव्यदा।

५. महा० वनपर्व ७०–२४

६. महा० ६.९०.७–१०

७. रामा० ३.४५.५–७ इच्छसि त्वं विनश्यन्तं रामं लक्ष्मण मत्कृते।

८. रामा० ४.३४ ४३.

९. रामा० २.३०, ७–८ शैलूष इव मां राम परेभ्यो दातुमिच्छसि।

१०. जातक ५ पृ० २८८–अहं जीवती अ पति लाभिस्सामि।

११. जातक ६ पृ० ४९५–अं भत्तारं परिवेस।

१२. जातक ३ पृ० १०८

विवाह का उल्लेख किया गया है[१]। उच्चंग जातक में कथन है कि स्त्री सुगमतापूर्वक द्वितीय पति की प्राप्ति कर सकती है[२]। नन्द जातक में एक पति इस विचार से भयभीत है कि उसकी मृत्यु के पश्चात् उसकी पत्नी पुनर्विवाह कर लेगी और उस दशा में उसके पुत्र को कुछ भी सम्पत्ति प्राप्त न हो सकेगी। थेरीगाथा[३] में इसिदासी के अनेक विवाहों का उल्लेख है। इसी प्रकार धम्मपद काणा के पुनर्विवाह का वर्णन करता है[४]। मज्झिमनिकाय[५] में एक कुटुम्ब अपनी कुलवधू का परित्याग कर उसका पुनर्विवाह करना चाहता है।

परन्तु बौद्ध साहित्य से विदित होता है कि वैधव्य के आधार पर स्त्रियों में पुनर्विवाह श्लाघ्य न था। वैराग्य-प्रधान बौद्ध-विचारधारा विधवा-विवाह को वासनात्मक समझती थी। ब्राह्मण-धर्म के अनुसार सन्तानहीन विधवाओं को नियोग-प्रथा अथवा पुनर्विवाह के द्वारा पुत्र-प्राप्ति करने की अनुमति दी गई थी। इसका विशेष कारण यह था कि इस धर्म के अनुसार प्रेत की शान्ति के हेतु पुत्र द्वारा उदकदान इत्यादि परमावश्यक था। उसके अभाव में पितरों की निष्कृति सम्भव न थी। परन्तु बौद्धधर्म यज्ञ, तर्पण आदि में विश्वास न करता था। अतः पुत्रप्राप्ति के लिए ही उसने संतानहीन विधवा के विवाह का प्रतिपादन न किया था। बौद्ध साहित्य में विधवा-विवाह की अप्रियता का दूसरा कारण उसकी वैराग्य-प्रतिष्ठा थी। विधवायें संसार-त्याग कर अपनी मनःशान्ति के लिये भिक्षुणी-वृति ग्रहण कर सकतीं थीं। अतः अपनी सामाजिक स्थिति सुदृढ़ एवं संतोषजनक करने के हेतु पुनर्विवाह की आवश्यकता न थी। इन्हीं कारणों से हम बौद्ध साहित्य में विधवा-विवाह के उदाहरण अत्यल्प पाते हैं। अंगुतर-निकाय (३–२९२) में नकुल-माता का मृत्यु-शैय्या पर पड़े अपने पति से यह कथन कि मैं तुम्हारी मृत्यु के पश्चात् पुनर्विवाह न करूँगी, बौद्ध समाज की महिलाओं की मनोवृति का परिचायक है। यही मनोवृति जैन साहित्य में भी परिलक्षित होती है। लक्खणावती और धनसिरी ऐसी बाल-विधवायें पुनर्विवाह करने की अपेक्षा भिक्षुणीवृति ग्रहण करना अधिक अच्छा समझती थीं[६]। ओवाइय का उल्लेख है कि प्रोषितपतिका, मृतपतिका, पतित्यक्ता आदि स्त्रियाँ पुनर्विवाह न करके ब्रह्मचर्य का पालन करती थीं[७]।

उपर्युक्त पुनर्विवाह के साक्ष्यों में अनेक ऐसे हैं जिनमें सम्बन्ध-विच्छेद के उदाहरण भी समाविष्ट हैं। अथर्ववेद[८] का पूर्वकथित पुनर्विवाह कदाचित् पूर्व पति के जीवन-काल में ही

---

१. जातक १ पृ० २२५

२. जातक ३ पृ० ४—उत्सं गे देव में पुत्ते पथे धांवतिया पती।

३. थेरीगाथा ७२

४. धम्मपद २, ८२

५. मज्झिम निकाय, भाग २ पृ० १०६

६. महानिशीथ नि० २४, आवश्यक चूर्णि ५२६

७. ओवाइय ३८. १६७

८. अथर्व० ६.५.२७–२८

हुआ था। अतः इससे आभासित होता है कि स्त्री ने अपने पूर्व पति का परित्याग करने के पश्चात् ही अन्य पति का वरण किया होगा। वसिष्ठ [1] ने अपने पति के दीर्घ प्रव्रजन-काल के आधार पर सम्बन्ध-विच्छेद की अनुमति दी है! पुनर्भू की व्याख्या करते हुए उन्होंने जो कुछ लिखा है उससे प्रकट होता है कि प्रव्रजन के अतिरिक्त पति की क्लीवता, उसके उन्माद तथा पतन के आधार पर भी सम्बन्ध-विच्छेद हो सकता था [2]। इसी-पूर्व परम्परा के आधार पर कुछ अन्य अनुगामी व्यवस्थाकारों ने भी पति-पत्नी के सम्बन्ध-विच्छेद की अनुमति दी है[3]। कौटिल्य का मत है कि सम्बन्ध-विच्छेद आसुर, गान्धर्व, क्षात्र तथा पैशाच विवाहों में ही किया जा सकता है। यह सम्बन्ध-विच्छेद पारस्परिक द्वेष तथा विप्रकार के आधार पर हो सकता है [4]। अन्य स्थान पर कौटिल्य ने प्रोषितपतिका को भी यह अधिकार प्रदान किया है [5]। यद्यपि मनु सिद्धान्ततः सम्बन्ध-विच्छेद के विरोधी हैं तथापि विशेष स्थिति में (पति के उन्मत्त, पतित, क्लीव अथवा रोगी होने पर) उन्होंने इसे स्वीकृत भी किया है [6]। बौद्ध साहित्य के अन्तर्गत भी सम्बन्ध-विच्छेद के कुछ उदाहरण उपलब्ध होते हैं। इनका वर्णन पुनर्विवाह के सम्बन्ध में किया जा चुका है। बौद्ध साहित्य में पुरुषों द्वारा सम्बन्ध-विच्छेद अनेक कारणों से हो सकता था। विनय पिटक के अनुसार बन्धुल ने अपनी प्रथम स्त्री मल्लिका का त्याग उसके दीर्घ काल तक अप्रजावती होने के कारण किया था। उसी ग्रन्थ (४-१७६) में आज्ञोल्लंघन करने के अपराध में अपने पति द्वारा काणा के परित्याग का वर्णन है। इसिदासी का परित्याग उसकी अप्रियता के कारण हुआ था। (थेरीगाथा २२) कभी-कभी सम्बन्ध-विच्छेद स्त्री-पुरुष की व्यभिचारिता के आधार पर भी होता था। अंगुत्तर निकाय में (३६०) स्त्री-पुरुष दोनों के सम्बन्ध में इस पाप की घोर निन्दा की गई है। मिलिन्दपन्ह (४-८-२८) ने व्यभिचार के लिये अति कठोर दण्ड की व्यवस्था की है।

परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि पुनर्विवाह एवं सम्बन्ध-विच्छेद का विषय सूत्रकाल से

---

१. वसिष्ठ १७ १८-२०

२. वसिष्ठ १७. १८.-२०—या कौमारं भर्तारमुत्सृज्यान्यैः सह चरित्वा तस्यैव कुटुम्बमाश्रयति सा 'पुनर्भूर्भवति। या च क्लीवं पतितमुन्मत्तं वा भर्तारमुत्सृज्यान्यं पतिं विन्दते मृते वा सा पुनर्भूर्भवति ।

३. नारद १२. ९७. नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीवे च पतिते पतौ
पंचस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते ।

४. कौटिल्य ३. ३—अमोक्ष्या भर्तृकामस्य द्विषती भार्या। भार्यायाश्च भर्ता परस्परं द्वेषान्मोक्षः स्त्रीविप्रकाराद्वा पुरुषश्चेन्मोक्षमिच्छेद्यथा गृहीतमस्यै दद्यात् पुरुषविप्रकाराद्वा स्त्री चेन्मोक्षमिच्छेन्नास्य यथा गृहीतं दद्यात्। अमोक्षो धर्मविवाहानामिति

५. कौटिल्य ३.४.

६. मनु० ९. ७९—उन्मत्तं पतितं क्लीवमबीजं पापरोगिणम्
न त्यागोऽस्ति द्विषन्त्यांश्च न च दायापवर्तनम् ।

ही विवाद-ग्रस्त रहा है। अनेक व्यवस्थाकारों ने इन प्रथाओं का विरोध किया है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र[1] का उल्लेख है कि ऐसी स्त्री के साथ जिसका किसी अन्य पुरुष के साथ विवाह हो चुका हो, समागम करना पाप है। बौधायन ने पुनर्भू स्त्री के साथ विवाह का विरोध किया है।[2] कौटिल्य की व्यवस्था के अनुसार (३.३) धर्म्य-विवाह-प्रणाली (ब्राह्म, प्राजापत्य, आर्ष तथा दैव) द्वारा प्रदत्त कन्या के लिये पुनर्विवाह वर्जित है। मनु के अनुसार भी स्त्री का दूसरा विवाह पूर्णरूपेण निषिद्ध है[3]। उनका कथन है कि कन्या का विवाह केवल एक बार होता है[4]। पति-पत्नी का सम्बन्ध अविच्छेद्य है। यदि पति अपनी स्त्री का निष्क्रय अथवा त्याग कर दे तो भी वह अक्षुण्ण रहेगा[5]। पति की मृत्यु के पश्चात् स्त्री को दूसरे विवाह का विचार तक न करना चाहिये (मनु० ५.१५७ न तु नामापि गृहणीयात्पत्यो प्रेते परस्य वै)। महाकाव्यकाल में स्त्री की पुनर्विवाह-सम्बन्धी दोनों परस्पर-विरोधी-विचारधाराओं का संघर्ष स्पष्टतया परिलक्षित होता है। समाज का एक वर्ग पुनर्विवाह के पक्ष में था। इरावती तथा तारा के विधवा-विवाह इसी पक्ष की विचार-धारा का प्रतिनिधित्व करते हैं। परन्तु समाज का अन्य वर्ग स्त्री के पुनर्विवाह का घोर विरोधी था। दीर्घतमा का कथन इस सत्य को ही प्रकट करता है[6]। सावित्री का नारद से यह कथन कि कन्या का प्रदान केवल एक ही बार होता है,[7] दीर्घतमा के मत का अनुमोदन करता है। दुर्योधन के कथनानुसार तत्कालीन समाज का कम से कम एक वर्ग विधवा-विवाह को अप्रिय समझता था (क्षीणरत्नां च पृथवीं हतक्षत्रियपुंगवाम्। न ह्युत्साहाम्यहं भोक्तुं विधवामिव योषितम्॥ महा० ९.३१.४५)। रावण द्वारा छद्म-पूर्वक राम की मृत्यु प्रदर्शित होने पर भी सीता ने उसके साथ पुनर्विवाह करना अस्वीकृत कर दिया। राम के प्रति सीता का यह कथन कि वह शैलूष की भांति उसे अन्य पुरुष की स्त्री बनाना चाहते हैं, इस बात को प्रमाणित करता है कि समाज के उच्च एवं अभिजात वर्ग में सम्बन्ध- विच्छेद निन्दनीय समझा जाता था। यही सत्य बौद्ध साहित्य के कतिपय उदाहरणों से प्रकट होता है। अंगुतर निकाय में[8] एक स्त्री मृत्यु

---

१. आप० ध० सू० २.६.१३ ३.

२. बौधा० ध० सू० (स्मृति चं० में उद्धृत-१ पृष्ठ ७५)—अतस्तां गृहीत्वा न प्रजां धर्मम् च विन्देत।

३. मनु० ५.१६२—न द्वितीयश्च साध्वीनां क्वचिद्भर्तोपदिश्यते।

४. मनु० ९.४७ – सकृत्कन्या प्रदीयते।

५. मनु० ९.४६—न निष्क्रयविसर्गाभ्यां भर्तुर्भार्या विमुच्यते।

६. महा० १.१०४. ३४-३७—एक एव पतिर्नार्या यावज्जीवं परायणम्
मृते जीवति वा तस्मिन्नपरं प्राप्नुयात्पतिम्
अभिगम्य परं नारी पतिष्यति न संशयः।

७. महा० ३.२९४.२६.

८. अंगुत्तर-निकाय ३ पृष्ठ २९५—सिवा खो पन ते गहपति एवमस्स,नकुलमाता गहपतानी ममच्चयने अत्रं घंर गमिस्सति।

शैय्या पर पड़े हुए अपने पति को आश्वासन देती है कि मैं विधवा-विवाह न करूँगी तथा तुम्हारी मृत्यु के पश्चात् गृह-संचालन करूँगी। वैराग्यमूलक होने के कारण बौद्ध-साहित्य यद्यपि विवाह को एक धार्मिक संस्कार नहीं मानता तथापि उसमें स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध की पवित्रता को अत्यधिक महत्व दिया गया है। सुत्तनिपात (३९५) का निर्देश है कि कोई भी पुरुष पर-स्त्री के साथ समागम न करे। अंगुत्तर निकाय (३९०) में व्यभिचारिता को घोर पाप बताया गया है। धम्मपद (३०७) के अनुसार पर-स्त्री-गामी पुरुष कलंक, दण्ड तथा नरक का अधिकारी होता है। मिलिन्दपन्ह (४.८.२८) ने व्यभिचार के लिये अंग-भंग तथा मृत्युदण्ड तक की अनुमति दी है। इन समस्त वर्णनों से ज्ञात होता है कि स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध अत्यन्त पवित्र एवं सदाचारपूर्ण था। अतः उसमें अकारण सम्बन्ध-विच्छेद के लिये प्रायः स्थान न था। एक जातक में एक स्त्री अपने पति से कहती है कि यद्यपि मुझमें तुम्हारा प्रेम नहीं है तथापि मैं द्वितीय विवाह न करूँगी, क्योंकि यह हमारे कुलधर्म के विरुद्ध है[1]। दूसरे जातक में कथन है कि कन्या का विवाह दो वार नहीं हो सकता।[2] एक अन्य जातक में एकपत्नीव्रत का महत्व प्रदर्शित किया गया है[3]।

ऐसा प्रतीत होता है कि पुनर्विवाह एवं सम्बन्ध-विच्छेद के लिए कतिपय व्यवस्थाकारों की अनुमति होते हुये भी समाज का उच्च एवं अभिजात वर्ग साधारणतया उसका उपयोग नहीं करता था। पति-पत्नी के सम्बन्ध की घनिष्ठता एवं अविच्छेद्यता प्रतिकूल परिस्थिति में भी प्रायः अक्षुण्ण रहती थी। भारतीय साहित्य में पुनर्विवाह एवं सम्बन्ध-विच्छेद के उदाहरण अत्यल्पसंख्यक हैं। उपर्युक्त उदाहरणों से प्रतीत होता है कि ३०० ई० पू० से २०० ई० के बीच में पुनर्विवाह-विरोधी आन्दोलन पर्याप्त रूप से प्रबल हो गया था। बौद्ध-धर्म-जनित निवृत्तिमूलक विचारधारा ने लौकिक सुख के हेतु पुनः-पुनः विवाह करने की प्रथा को भारी आघात पहुंचाया था। उधर अशोक की बौद्ध नीति ने ब्राह्मण प्रतिक्रिया को जन्म दिया। इस प्रतिक्रिया के परिणाम-स्वरूप समाज को पुनः व्यवस्थित करने का सबल प्रयास किया गया। देश में शुंग, कण्व तथा सातवाहन ब्राह्मणों ने साम्राज्य-स्थापना की। उनकी छत्रच्छाया में ब्राह्मण-धर्म का पुनरुद्धार हुआ और उसके परिणाम-स्वरूप एक नई सामाजिक व्यवस्था आविर्भूत हुई। मनु तथा याज्ञवल्क्य की समाज-व्यवस्था इसी नई क्रान्ति का फल थी। उन्होंने विवाह-संस्कार की पवित्रता तथा पति-पत्नी के सम्बन्ध की पारस्परिक आत्मोत्सर्ग-भावना की रक्षा के लिए ही कदाचित् पुनर्विवाह

---

1. जातक ४ पृ० ३५—आरा दूरे नं इध कदाचि अत्थि, परम्परा नाम कुले इमस्मिन्तं
कुल्लवत्तं अनुवत्तमाना माहं कुले अन्तिमगन्धिनी अहुं
एतस्सा वादस्स जिगुच्छमाना अकामिका बद्धचरामि तुह्यम्।

2. जातक १ पृ० २५८—इदानि दिन्नदारिकं कथं पुन आनेस्सामा।

3. जातक ४ पृ० ५३—मयं च मरियं नातिकमामा।

तथा सम्बन्धविच्छेद का विरोध किया। उनका आन्दोलन शनैः शनैः प्रवल होता गया और अन्त में उनके सिद्धान्त समाज में सर्वसम्मत हो गये।

वैदिक काल से ही भारतवर्ष में एकपतिक-विवाह की व्यवस्था प्रतिष्ठित हो चुकी थी। कुछ विद्वानों ने वैदिक साहित्य के आधार पर तत्कालीन समाज में वहुपतिक-विवाह-प्रणाली के अस्तित्व को सिद्ध करने की चेष्टा की है, परन्तु उनके निष्कर्ष प्रायः नितान्त सन्दिग्ध एवं भ्रमपूर्ण हैं। वैदिक साहित्य में यदा-कदा स्त्री के पति के लिए वहुवचन का प्रयोग किया गया है। परन्तु इससे यह न समझना चाहिये कि उस स्त्री के अनेक पति थे। पति के लिए वहुवचन का प्रयोग केवल आदर अथवा सम्मान सूचक है[1]। माता के नाम पर रक्खे गये पुत्रों के नाम उनके पिता की अनिश्चितता को प्रमाणित नहीं करते, वरन् वे या तो उनकी माता की विद्वत्ता एवं सामाजिक महत्व को या उनके पिता की वहुपत्नीकता को ही प्रकट करते हैं[2]। ऋग्वेद[3] में सूर्या के अश्विनों के साथ विवाह का उल्लेख है। परन्तु उन्हें दो भिन्न-भिन्न पुरुष नहीं, वरन् देवताओं का एक अविच्छिन्न युग्म समझना चाहिये। इसी प्रकार रोदसी मरुतों की पत्नी वताई गई है[4]। रोदसी से विद्युत् तथा मरुतों से घनों का तात्पर्य है। यहां घनों की कल्पना एकवचन में नहीं हो सकी है। परन्तु वहुवचन में होने पर भी एकजातीय होने के कारण समष्टिरूप में उन्हें एक ही समझना चाहिये। ममता, माधवी, जटिला, गोतमी तथा वार्क्षी के कतिपय उदाहरण ऐतिहासिक घटनाओं की अपेक्षा कथानक ही अधिक प्रतीत होते हैं। कदाचित् वे ऋग्वैदिक काल से पूर्व के समाज में प्रचलित वहुपतिक विवाह-प्रणाली के स्मृति-चिह्न हैं। कहीं-कहीं तो इस प्रणाली के कल्पित उदाहरण केवल इसकी अवांछनीयता प्रदर्शित करने के हेतु ही लिखे गये हैं[5]। नारी के ४ पतियों (सोम, अग्नि, गन्धर्व तथा वास्तविक पति) की कल्पना का केवल एक सांस्कृतिक महत्त्व है। इसका उल्लेख पीछे किया जा चुका है। यह वहुपतिक विवाह-प्रणाली को सिद्ध नहीं करता।

प्राचीन साहित्य में अनेक ऐसे साक्ष्य मिलते हैं जिनसे एकपत्नीक-विवाह-प्रणाली की ही प्रथा प्रमाणित होती है। तैत्तिरीय संहिता का स्पष्ट कथन है कि एक स्त्री के एक

---

१. ऋ० १०. ८५. ३८—पुनः पतिभ्यो जायां दा अग्ने प्रजया सह।
अथर्व० १४. १. ६१— स्योनं पतिभ्यो वहतुं कृणु त्वम्।

२. वृह० उप० ६. ४. २०. गार्गीपुत्र।
छान्दोग्य उप० ४. ४. १. २. जाबाल।

३. ऋ० १, ११६. ५. आ वां पतित्वं सख्याय जग्मुषी योषा वृणीत जेन्या युवां पतिम्।

४. ऋ० १. १६७. ५. जोषद्यदीमसुर्या सचध्यै विषितस्तुका रोदसी नृमणाः।
आ सूर्येव विधतो रथं गात्त्वेषप्रतीका नभसो नेत्या।

५. महाभारत-वर्णित सुण्ड तथा उपसुण्ड की एक स्त्री के लिये कलह।

ही समय दो पति नहीं हो सकते[१]। इसी प्रकार ऐतरेय ब्राह्मण में स्त्री के 'अनेक सहपतियों का विरोध किया गया है[२]। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में सहपतित्व का उल्लेख किया गया है, परन्तु उस उल्लेख के द्वारा व्यवस्थाकार ने केवल उस अवैदिक प्रणाली के विरुद्ध अपनी असहमति ही प्रकट की है[३]। बृहस्पति के वर्णन से विदित होता है कि सहपतित्व की प्रणाली अनार्य देशों में ही प्रचलित थी[४]। हमारे साहित्य में इस प्रथा का एक निश्चित उदाहरण महाभारत में वर्णित द्रौपदी-विवाह में ही मिलता है। परन्तु धृष्टद्युम्न के विरोध से प्रकट होता है कि यह प्रणाली समाज में प्रचलित न थी। यह सर्वथा अश्रुत एवं लोक-वेद विरुद्ध थी[५]। इस धर्म-विरुद्ध प्रणाली के अनुसार विवाहित होने के कारण कर्ण द्रौपदी को एक स्थान पर बन्धकी कहता है[६]। कुन्ती अपनी आकस्मिक आज्ञा के इस दुष्परिणाम को देखकर स्वयं अत्यधिक खिन्न होती है[७]। इस विवाह के समर्थन में जितने भी तर्क दिये गये हैं वे नितान्त तथ्यहीन एवं उपहासास्पद हैं[८]। उनसे इस कुप्रथा की असमर्थता ही प्रमाणित होती है। कदाचित् अपने पारस्परिक प्रगाढ़ अनुराग एवं अभिन्नता को सुदृढ़ रखने के लिये ही पांचों पाण्डवों ने यह अधर्म्य कार्य किया था। द्रुपद ने भी उस युद्ध-काल में शूरकर्मा पाण्डवों के साथ घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित करने के लिये ही उनके निन्दनीय प्रस्ताव को अन्त में स्वीकृत कर लिया था।

इस एक सहपतिक विवाह के अतिरिक्त हमारे सम्पूर्ण साहित्य में इस प्रकार का कोई भी अन्य उदाहरण उपलब्ध नहीं होता। बौद्ध तथा जैन साहित्य भी सर्वत्र एकपतिक विवाह का वर्णन करते हैं। कुणाल जातक में कन्हा तथा पंच पाण्डवों के विवाह का जो वर्णन है वह महाभारत का ही कथानक है। यहां कन्हा (कृष्णा) का तात्पर्य द्रौपदी से है। इसी प्रकार जैन साहित्य में वर्णित दावइ (द्रौपदी) तथा पंच पाण्डवों का विवाह भी वही है।

स्त्री-समाज के एक वर्ग में वेश्या-वृत्ति प्रत्येक काल एवं देश में पाई गई है। भारतवर्ष

---

१. तैत्ति० ६. ६. ४. ३. यस्मान्नैकाद्वौ पती विन्दते।

२. ऐतरेय ब्रा० १२. ११. नैकस्यै बहवः सहपतयः।

३. आप० ध० सू० २. १०. २७. २-४.।

४. बृहस्पति (स्मृति चं० १. १०. में उद्धृत) कुले कन्या प्रदानं च देशेष्वन्येषु दृश्यते।

५. महा० १.१९५. २७-२८-एकस्य बह्व्यो विहिता महिष्यः कुरुनन्दन।
नैकस्या बहवः पुंसः श्रूयन्ते पतयः क्वचित्।

६. महा० सभा० ६८. ३५

७. महा० १. २०३. २-कुटीगता सा त्वनवेक्ष्य पुत्रान् प्रोवाच भुङ्क्तेति समेत्यसर्वे
पश्चाच्च कुन्ती प्रसमीक्ष्य कृष्णां कष्टं मया भाषितमित्युवाच।

८. महा० १. १२०. २६, १. २१३. तन्त्रवार्तिक पृ० २०९

में इसके अस्तित्व के प्रमाण वैदिक काल में भी उपलब्ध होते हैं। ऋग्वैदिक काल में कन्याओं के विवाह वयस्क होने पर होते थे। कभी-कभी वे उपयुक्त वर के अभाव में दीर्घ काल तक अविवाहित रहती थीं। पुनः उन्हें अत्यधिक स्वतन्त्रता प्राप्त थी। उस समय पर्दा-प्रथा अथवा किसी अन्य प्रकार के स्त्री-पुरुष-पार्थक्य का प्रचलन न था। वे स्वतन्त्रता से पुरुषों के साथ मिलती-जुलती तथा विविध कार्य-कलाप करती थीं। ऐसी दशा में यह स्वाभाविक ही था कि उनमें से कुछ निकृष्ट पुरुषों के दुष्प्रभाव में आकर विपथ हो जाती थीं। यह सम्भावना संरक्षक-हीन स्त्रियों के विषय में और भी अधिक बढ़ जाती थी। ऋग्वेद[1] में ऐसी संरक्षक-हीन विपथ स्त्रियों के अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं। अनेक स्थानों[2] पर पुरुषों (जार) के साथ स्त्रियों के गुप्त प्रेम का उल्लेख मिलता है। ऐसी स्त्रियां कभी-कभी अपनी अवैध सन्तानों का बहिःक्षेप करती हुई भी प्रदर्शित की गई हैं[3]। इन विपथ स्त्रियों में विवाहित स्त्रियां भी सम्मलित हैं[4]। इन उपयुक्त दुराचारिणी स्त्रियों में अनेक स्वैरिणी होंगी तथा आधुनिक वेश्याओं से किसी रूप में भी कम गर्हित न होंगी। एक स्थान पर साधारणी स्त्री के साथ अनेकानेक पुरुषों के सम्बन्ध की कल्पना की गई है[5]। साधारणी को आधुनिक भाषा में वेश्या ही कहेंगे। उर्वशी का चित्रण एक वेश्या के ही रूप में किया गया गया है—ऋ० १०.६५.। वेश्याओं का उल्लेख अनेक अनुगामी व्यवस्थाकारों ने भी किया है। गौतम[6] का कथन है कि वेश्यावृत्तिरता ब्राह्मणी के वध कर डालने पर किसी प्रायश्चित्त की आवश्यकता नहीं। मनु ने प्रवंचनात्मक वेश्याओं को दण्डित करने के हेतु राजा को अनुमति दी है[7]। दूसरे स्थान पर उन्होंने ब्राह्मणों के लिये वेश्या-प्रदत्त भोजन निषिद्ध बताया है[8]। अर्थशास्त्र की केन्द्रीयकरण-नीति से वेश्यायें तक न छूटी थीं। उनके ऊपर नियन्त्रण रखने, उनका शुल्क निर्धारित करने, उनसे राजकर लेने तथा उनके झगड़े निर्णय करने के हेतु राज्य की ओर से एक विशेष अध्यक्ष की नियुक्ति की व्यवस्था की गई थी। महाभारत में भी वेश्याओं का अनेक वार उल्लेख किया गया है। युद्ध के लिये प्रस्थानोन्मुख पाण्डव सेनाओं के साथ वेश्यायें भी थीं[9]। शान्ति-वार्ता के लिये आये हुये श्री कृष्ण का स्वागत वेश्याओं ने किया था[10]। गर्भवती गान्धारी की सेवा-सुश्रूषा के हेतु

1. ऋ० १.१२४.७, ४.५.५, ८.३५.५.
2. ऋ० ६.६६.४, १.११७.१८, १.१३४.३.
3. ऋ० २.२६.१
4. ऋ० ६.३१.५, ६.३८.४, ६.६६, २२
5. ऋ० १ १६७.४—परा शुभ्रा अयासो यव्या साधारण्येव मरुतो मिमिक्षुः।
6. गौतम २२.२७
7. मनु० ६.२५६
8. मनु० ४.२१६.
9. महा० उद्योग १५१.५८
10. महा० उद्योग ८६.१५.

एक वेश्या की नियुक्ति की गई थी [1]। इन उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि बहुसंख्यक वेश्याओं का सांस्कृतिक स्तर उच्च था। वात्स्यायन का कथन है कि वेश्या को अनेकानेक कलाओं में शिक्षा दी जाती थी और प्रशिक्षण के द्वारा उसका मानसिक, शारीरिक एवं सांस्कृतिक विकास किया जाता था।

बौद्ध साहित्य में अनेक स्थानों पर गणिकाओं का वर्णन मिलता है। वहां उन्हें गामणियों वण्णदासी, कुम्भदासी, वैसी, नगरसोभनी आदि नामों से पुकारा गया है। एक जातक [2] में सामा नाम की वाराणसी-निवासिनी एक प्रसिद्ध गणिका का वर्णन है। स्वयं अपनी सेवा के लिए उसके समीप ५०० दासियां थीं। इसी प्रकार काली [3], सुलसा [4] आदि अनेक सुविख्यात गणिकाओं के वर्णन जातकों में उपलब्ध होते हैं। अन्य बौद्ध ग्रन्थों में भी इनके उल्लेख कम नहीं। सालवती तथा अम्बपाली का उल्लेख महावग्ग में किया गया है [5]। थेरीगाथा में विमला तथा सरमा नामक गणिकाओं के नाम सुरक्षित हैं [6]। ये अपनी धनाढ्यता के लिये उतनी ही प्रसिद्ध थीं जितनी की अपने व्यक्तित्व के गुणों के लिये। बौद्ध साहित्य में अनेक ऐसी गणिकाओं का उल्लेख मिलता है जिनका बौद्धिक, शारीरक एवं सांस्कृतिक विकास अभिजात कुलकन्याओं एवं उच्चवर्गीय महिलाओं की अपेक्षा कम न था। इनमें से अनेक लोकगम्य न होकर केवल किसी एक विशेष पुरुष से सम्बन्ध रखती थीं [8]। यही अवस्था जैन साहित्य में भी परिलक्षित होती है। उदाहरणार्थ, पाडलिपुत्त की गणिका कौसा स्थूलभद्र से प्रेम करती थी। इस व्यक्ति के सन्यास ग्रहण कर लेने के पश्चात् कौसा ने फिर किसी भी व्यक्ति के साथ सम्बन्ध स्थापित न किया। जब स्थूलभद्र भिक्षु के रूप में पुनः कौसा से मिले तो उसने उनका प्रवचन सुना और जैन श्राविका हो गई [9]। इसी प्रकार उज्जेणी की एक अन्य गणिका देवदत्ता एकमात्र मूलदेव से प्रेम करती थी [10]। कतिपय गणिकायें अपनी सुसंस्कृति एवं कला-दक्षता के लियेसुविख्यात थीं। नायाधम्मकहा के अनुसार चम्पा की एक गणिका ६४ कलाओं में प्रवीण थी। अपनी वाक्शक्ति, प्रवीणता एवं धनाढ्यता के कारण वह सहस्त्रों गणि-

---

१. महा० १ ११५·३६

२. जातक ३ पृ० ५६–६३.

३. जातक ४ पृ० २४८

४. जातक ३ पृ० ४३५

५. महावग्ग ६, ३०

६. थेरीगाथा ३४

७. मिलिन्द० ४-१-४८

८. जातक ३ पृ० ५६, जातक ३ पृ० ४३५, जातक २ पृ०३८०

९. उत्तराध्ययन टीका २.२६.

१० ,, ,, ३. ५६-६५.

काओं की अध्यक्षा नियुक्त की गई थी[१]। बृहत्कल्प भाष्य के अनुसार एक गणिका अपनी चित्रकला के लिये दूर-दूर तक प्रख्यात थी। फिर भी अपने नीचकर्म के कारण गणिकायें निकृष्ट समझी जाती थीं[२]। समाज में गणिकाघर उस समय भी इतना ही कलंकित था जितना कि आज कल[३]।

स्त्री-समाज का एक महत्वपूर्ण विषय है पर्दा-प्रथा। इसकी वांछनीयता एवं अवांछनीयता के ऊपर दीर्घकाल तक मतभेद रहा है। परन्तु अब हमारे समाज में प्रायः इसका लोप हो चला है। यदि हम अपने वैदिक साहित्य का अवलोकन करें तो इसी निष्कर्ष पर पहुचेंगे कि तत्कालीन समाज में इसका अस्तित्व न था। ऋग्वेद में एक स्थान पर उपस्थित वृन्द से नव-विवाहिता वधू को देखने के लिये कहा गया है[४]। दूसरे स्थान पर यह शुभ-कामना की गई है कि वधू सभाओं में आत्म-विश्वास के साथ बोल सके[५]। ऋग्वेद के एक अंश[६] का अशुद्ध अर्थ निकाल कर कतिपय विद्वानों ने वैदिक काल में पर्दा-प्रथा का उल्लेख किया है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि गुहा चरन्ती से स्त्री के पार्थक्य का बोध होता है, परन्तु दूसरे ही क्षण उसे सभावती कहा गया है, जिससे उसके सार्वजनिक कार्यों का बोध होता है। ऐसी दशा में पर्दा-प्रथा का अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता। सम्पूर्ण पंक्ति का अर्थ यही है कि स्त्री कभी तो अपने गृह में पृथक् रूप से रहती है और कभी सार्वजनिक समाजों में जाती है। अथर्ववेद भी एक स्थान पर अलंकृता नारी के सभा में जाने का उल्लेख करता है[७]। ऐतरेय ब्राह्मण का कथन है कि पुत्रवधू अपने श्वसुर के समक्ष लज्जा-भाव अनुभव करती है। अतः वह अपने को छिपाती हुई दूर हो जाती है[८]। परन्तु इससे पर्दा-प्रथा नहीं वरन् अपने गुरुजनों के प्रति भारतीय नारी की सहज संकोच-भावना ही प्रकट होती है। सूत्र-साहित्य में जहां अनेकानेक सामाजिक विधि-निषेधों एवं रीति-रिवाजों का वर्णन मिलता है वहां पर्दा प्रथा का संकेत तक नहीं प्राप्त होता है। आश्वलायन गृहसूत्र[९] का उल्लेख है कि विवाह के पश्चात् वधू के साथ अपने ग्राम को लौटते समय पुरुष को 'सुमंगलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत।

---

१. उत्तराध्ययन टीका

२. जातक ६ पृ० २९८.

३. जातक ४ पृ० २४६.

४. ऋ० १० ८५. ३३ सुमंगलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत।

५. ऋ० १०. ८५ २६-वशिनी त्वं विदथमावदासि।

६. ऋ० १,१६७.३—मिम्यक्ष येषु सुधिता घृताची हिरण्यनिर्णिगुपरा न
ऋषि गुहा चरन्ती मनुषो न योषा सभावती विदथ्येव सं वाक्

७. अथर्व० २- ३६-१-जुष्टा नरेषु समनेषु वल्गुः।

८. ऐत० ब्रा०१२.११—तद्यथैवादःस्नुषा श्वशुराल्लज्जमाना निलीयमानैत्येमेव सा सेना
मज्जमाना निलीयमानैति।

९. आश्व० गृहसूत्र १.८ ७

सौभाग्यमस्यै दत्त्वायाथास्तं विपरेतन, ऋग्वैदिक पंक्ति का उच्चारण करते हुए दर्शकगण की ओर देखना चाहिए। इससे स्पष्ट होता है कि नवविवाहिता स्त्री किसी प्रकार के मुखावरण का प्रयोग न करती थी। ऋग्वेद की यह प्रसिद्ध पंक्ति आपस्तम्ब गृहसूत्र[1], काठक गृहसूत्र[2] और हिरण्यकेशि-गृहसूत्र[3] में भी उपलब्ध होती है। पाणिनि ने राज-महिषियों के सम्बन्ध में असूर्यम्पश्या शब्द की व्युत्पत्ति समझाई है। परन्तु इससे पर्दा-प्रथा का प्रचलन सिद्ध नहीं होता। इससे अभिजात एवं उच्चवर्ग की स्त्रियों का शरीर-मार्दव तथा वैभवशालित्व ही अधिक प्रकट होता है। निरुक्त[4] के अनुसार स्त्रियां अपने सम्पति-अधिकारों को निर्णीत कराने के हेतु न्यायालयों में जाती थीं। इस समय कहीं पर भी उनके मुखावरण-प्रयोग का संकेत नहीं मिलता। कुछ विद्वानों की धारणा है कि महाकाव्य-काल में पर्दा-प्रथा प्रतिष्ठित हो चुकी थी। इस कथन के समर्थन में दोनों महाकाव्यों के कतिपय अंश उद्धृत किये जाते हैं। महाभारत में एक स्थान पर कौरव-सभा में हुए अपने अपमान के प्रसंग में द्रौपदी का कथन है कि पूर्वकाल में विवाहित स्त्रियां सार्वजनिक सभाओं में नहीं लाई जाती थीं, परन्तु कौरवों ने इस चिर-प्रतिष्ठित प्रथा का उल्लंघन किया है[5]। दूसरे स्थान पर महायुद्ध के पश्चात् धृतराष्ट्र के वनगमन पर कहा गया है कि जिन स्त्रियों को सूर्य और चन्द्रमा ने भी नहीं देखा था वे राजमार्ग पर चल रही हैं[6]। इसी प्रकार रामवनगमन के अवसर पर रामायण का कथन है कि जिस सीता को आकाश के प्राणी भी नहीं देख पाते थे उसी को आज राजमार्ग पर चलने वाले सर्व-साधारण देख रहे हैं[7]। उसी महाकाव्य का पुनः कथन है कि व्यसन, संकट, युद्ध स्वयंवर, यज्ञ तथा विवाह के अवसर पर स्त्रियाँ मुखावरण-हीन होकर बाहर आ सकती हैं[8]। इन उपर्युक्त उद्धरणों से तत्कालीन समाज में पर्दा-प्रथा का प्रचलन सिद्ध होता है। परन्तु यदि हम दोनों महाकाव्यों के अन्य साक्ष्यों का अवलोकन करें तो हमें इस

---

1. आप० गृहसूत्र ६,११
2. काठक गृहसूत्र २५.४६
3. हिरण्य गृ० सू० १ .१६ .४.
4. निरुक्त ३. ५.
5. महा० सभा० ६६ .६—धर्म्यं स्त्रियं सभां पूर्वं न नयन्तीति नः श्रुतम्
   स नष्टः कौरवेषु पूर्वो धर्मः सनातनः ।
6. महा० १५. १६. १३—या नापश्यच्चंद्रमा नैव सूर्यो रामाः कश्चिताः स तस्मिन्नरेन्द्रे
   महावनं गच्छति कौरवेन्द्रे शोकेनार्ता राजमार्गम् प्रपेदुः ॥
7. रामा० २. ३३. ८—
   या न शक्या पुरा द्रष्टुं भूतैराकाशगैरपि
   तामद्य सीतां पश्यन्ति राजमार्गगता जनाः ।
8. रामा० अयोध्या० ११६, २८—व्यसनेषु न कृच्छ्रेषु न युद्धेषु स्वयंवरे
   न क्रतौ न विवाहे वा दर्शनं दूष्यते स्त्रियः ॥

प्रथा के विरोध में भी अनेक उद्धरण प्राप्त हो जायेंगे। महाभारत में कहीं पर भी कुन्ती, गान्धारी, द्रौपदी, कौशल्या, सुमित्रा, कैकेयी आदि महिलाओं को मुखावरणयुक्त नहीं पाया जाता। महाभारत में एक स्थान पर उतंक अपनी गुरु-पत्नी को देने के लिये राजा पौष्य की भार्या के कुण्डल माँगने के हेतु सीधे अन्तःपुर में प्रवेश करता है। इससे प्रकट होता है कि अन्तःपुर में किसी प्रकार का पर्दा न था। चित्रकूट में राम से मिलने के लिये जाती हुई तीनों माताओं ने भी किसी प्रकार के मुखावरण का प्रयोग नहीं किया था।

अतः हमारा निष्कर्ष यही है कि महाकाव्य-काल में साधारणतया पर्दा-प्रथा का प्रचलन न था। हां, राजवंशों में अपनी अभिजातता एवं प्रतिष्ठा के संवर्धनार्थ कदाचित् महिलाओं को अधिकाधिक लोक-पृथक् रखने की प्रणाली का प्रारम्भ हो गया था। समाज का एक अभिजात वर्ग इसे राज-सत्कार की दृष्टि से देखने लगा था[१]। परन्तु यह भावना अभी तक लोकप्रिय अथवा सर्वसम्मत न हुई थी। राजवंशों में भी यह अभी तक सम्यक् रूप से प्रतिष्ठित न हो सकी थी। स्वयं राम का कथन है कि गृह, वस्त्र, प्रकार तथा पार्थक्य व्यर्थ हैं। स्त्री का चरित्र ही उसका आवरण है[२]। यह सब नवोन्मेष-पर्दा-प्रथा की निरर्थकता को प्रकट करते हुए इसके प्रसार को हतोत्साहित करता है।

इसी प्रकार का निष्कर्ष बौद्ध साहित्य से भी उपलब्ध होता है। वहां भी राजवंशों की महिलाओं में पृथक्-भावना का सूत्रपात हो गया था। जातकों में प्रायः राजवंशीया स्त्रियों के ही आवरण-प्रच्छन्न यानों में जाने का उल्लेख मिलता है[३]। पृथक अवरोधनों में रहने के कारण उन्हें ओरोधा के नाम से पुकारा जाता था[४]। परन्तु राजवंशों में भी अभी तक यह महिला-पार्थक्य-भाव दृढ़ीभूत न हुआ था। अनेक स्थानों पर हमें ऐसे रानियों से साक्षात्कार होता है जो स्वतन्त्ररूप से मन्त्रियों एवं पदाधिकारियों से वार्ता करती हैं[५]। जनसाधारण में तो पर्दा-प्रथा का अस्तित्व ही नहीं मिलता। सार्वजनिक स्थानों एवं समारोहों में महिलायें स्वतन्त्रतापूर्वक आती-जातीं हुई प्रदर्शित की गई हैं[६]।

जैन-साहित्य में भी यही अवस्था दृष्टिगत होती है। कहीं-कहीं पर जवणियां का उल्लेख अवश्य हुआ है, परन्तु बहुधा वह राजवंशीय अथवा उच्चवंशीय एवं अभिजात

---

१. रामा० ६. ११४. २७.

२. रामा० ६. ११४-२७-

न गृहाणि न वस्त्राणि न प्राकारस्तिरस्क्रिया
नेदृषा राज-सत्कारा वृत्तमावरण स्त्रियः।

३. जातक ५ पृ० ४३६, जातक ६ पृ० ३१, ३३, १६७, ४६८.

४. जातक ६ पृ० १५.

५. जातक ६ पृ० २६३, ३००

६. जातक ६ पृ० ३२८, जातक २ पृ० २६६, जातक ४ पृ० ४६०, ११४

वर्गीय महिलाओं के ही सम्बन्ध में हुआ है। उदाहरणार्थ, तिसला पर्दे के पीछे बैठी हुई स्वप्न के महत्व को सुनती है [१]। साधारणतया महिलायें निस्संकोच रूप से स्वतन्त्रतापूर्वक सार्वजनिक उत्सवों एवं समारोहों में सम्मिलित होती थीं। स्वयं राजा कूणिय की रानियां किसी प्रकार के पर्दा अथवा अवगुण्ठन के विना ही महावीर के पास आती हुई प्रदर्शित की गई हैं [२]। कुछ स्त्रियां तो पुरुषवेष में अस्त्र-शस्त्र ग्रहण किये हुए भी मिलती हैं [३]।

सम्पूर्ण साहित्य में स्त्री को दो नितान्त-परस्पर विरोधी दृष्टि-कोणों से देखा गया है। ऋग्वेद के एक अंश के अनुसार स्त्री में सख्यभाव का पूर्ण अभाव है और उसका हृदय वृक के समान क्रूर होता है [४]। दूसरे स्थान पर इसके मन-मस्तिष्क को नियन्त्रण के परे वताया गया है [५]। मैत्रायणीय संहिता में स्त्री को मिथ्या-स्वरूप कहा गया है [६]। तैत्तिरीय संहिता में वह नितान्त निर्वला के रूप में उल्लिखित है [७]। शतपथ ब्राह्मण के कथनानुसार स्त्री, शूद्र, कुत्ता और कौवा मिथ्या, पाप तथा अन्धकार के प्रतीक हैं [८]। उसी ग्रन्थ में एक अन्य स्थान पर स्त्री को पुरुषाधीन कहा गया है [९]। इसी का अनुमोदन बौधायन धर्मसूत्र में किया गया है [१०]। गौतम का कथन है कि स्त्री धार्मिक क्रियाओं के लिये स्वतन्त्र नहीं है [११]। वसिष्ठ भी स्त्री को पुरुष-निर्भरा वताते हैं [१२]। इसी प्रकार मनु का कथन है कि स्त्री स्वतन्त्रताधिकारिणी नहीं है। वाल्यावस्था में पिता, यौवनावस्था में पति और वृद्धावस्था में पुत्र उसकी रक्षा करते हैं [१३]। महाभारत में भी स्त्री की स्वतन्त्रता का विरोध किया गया है [१४]। दूसरे

---

१. कल्पसूत्र ४. ६३.

२. औवाइय ३२. १४४.

३. विवागसुय ३. २३.

४. ऋ० १०. ९५. १५—न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति सालावृकाणां हृदयान्येता

५. ऋ० ८. ३३. १७—इन्द्रश्चिद्ध तदब्रवीत स्त्रियां अशास्यं मनः।

६. मैत्रायणीय सं० १. १०. ११—अनृत स्त्री अनृतं वैषा करोति या पत्युः क्रीता सती अथान्यैश्चरति।

७. तैतिरीय सं० ६. ५. ८. २—तस्मात्स्त्रियो निरिन्द्रिया अदायादीरपि पापात्पुंस उपस्तितर वदन्ति।

८. एस० बी० ई० भाग ४४ पृ० ४४६.

९. शतपथ ब्रा० १३. २. २. ४

१०. बौधा० धर्मसूत्र २. २. ५०-५२

११. गौतम १८. १. अस्वतन्त्रा धर्मे स्त्री

१२. वसिष्ठ ५. १—अस्वतन्त्रा स्त्री पुरुषप्रधाना।

१३. मनु० ९. २-३—पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने रक्षति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति।

१४. महा० अनु० २० १४.—न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति।

स्थान पर उसे एक साथ ही क्षुरधारा, विष, सर्प तथा वह्नि कहा गया है तथा उसे सबसे अधिक पापी बताया गया है[1]। उसी महाकाव्य में अगस्त्य की धारणा है कि स्त्री विद्युच्चांचल्य, शस्त्रतैक्ष्ण्य तथा गरुड़-वेग का सम्मिश्रण है[2]। उसके जीवन का लक्ष्य एकमात्र संभोग ही होता है[3]। इसकी पूर्ति के हेतु वह किसी भी व्यक्ति से सम्बन्ध स्थापित कर सकती हैं[4]। इसी प्रकार की स्त्रीनिन्दा रामायण में भी प्राप्त होती है। उसमें स्त्री को धर्महीन, चपल, तीक्ष्ण तथा भेदकर के रूप में प्रदर्शित किया गया है[5]।

बौद्ध साहित्य भी स्त्री के प्रति कुछ कम अनुदार नहीं है। स्वयं महात्मा बुद्ध को उसमें अत्यधिक अविश्वास था। यह कथन महावग्ग सुत्त (७) में तथागत तथा आनन्द के निम्नलिखित वार्तालाप से सिद्ध हो जाता है :—

आनन्द:—भगवन् हम लोग स्त्रियों के प्रति कैसा व्यवहार करें ?

तथागत:—आनन्द, उन्हें मत देखो।

आनन्द:—देखने पर क्या करें ?

तथागत:—आनन्द, उनसे वार्तालाप न करो।

आनन्द:—परन्तु यदि वे हमारे साथ वार्ता करें, भगवन् तो ?

तथागत:—आनन्द, सम्यक् रूप से जाग्रत रहो।

विग्गसुक्त (३३) में स्त्री को पुरुष की सम्पत्ति के रूप में प्रदर्शित किया गया है। यही मत चुल्लवग्ग सुत्त (१८,२१) का है। स्त्री का भाव समझना दुष्कर है। उसकी अस्थिरता जल में मछली के समान है[6]। उसमें सत्य सुदुर्लभ है[7]। उसका मन वानरों की भाँति, वृक्षच्छाया की भांति और चक्र की भांति चंचल है[8]। उसकी सम्भोग, अलंकरण तथा सन्तान

---

१. महा० अनु० ३८. १२. तथा २९—न स्त्रीभ्यः किंचिदन्यं पापीयस्त रमस्ति वै
क्षुरधारा विषं सर्पो वह्निरित्येकतः स्त्रियः

२. महा० ३. १३. ६—शतह्रदानां लोलत्वं शस्त्राणां तीक्ष्णतां तथा
गरुडानलयोः शैघ्र्यम नुगच्छन्ति योषितः

३. महा० ४. ३९ ७८ असंभोगो जरा स्त्रीणाम्।

४. महा० १३. ७३. १७—नासां कश्चिदगम्योऽस्ति नासां वयसि संस्थितिः
विरूपं वा सरूपं वा पुमान्येव भुंजते।

५. रामा० अरण्य० ४५. २९ —३०— विमुक्तधर्माश्चपलास्तीक्ष्णा भेदकराः स्त्रियः।

६. जातक ५ पृ० ४६— थीनं भावो दुराजो मच्छस्सेवोदके गतन्।

७. जातक पृ १० २९५— संच्च तेसं सुदुल्लमम्।

८. जातक ५ पृ० ४४५

की इच्छा अनन्त है [1]। वह किसी भी व्यक्ति के साथ व्यभिचार कर सकती है [2]। वह कभी भी एक व्यक्ति में अनुरक्त नहीं रह सकती [3]। वह मनुष्य के धार्मिक उत्थान में मल-स्वरूप है [4]। जातकों के कथानकों में अनेक स्थानों पर स्त्रियों का अत्यन्त कुत्सित रूप में चित्रण किया है। एक जातक में एक स्त्री अपने पति की अनुपस्थिति में अनेक पुरुषों के साथ संबन्ध स्थापित करती हुई प्रदर्शित की गई है [5]। एक कन्या जन्म से ही पुरुषों से पृथक् रक्खी गई। विवाह के पश्चात् भी वह पति के अतिरिक्त किसी पुरुष के सम्पर्क में नहीं आने पाई। उसे सब संरक्षकों द्वारा परिवृत्त एक उच्च प्रासाद में रक्खा। फिर भी उसने सबको धोखा दे कर एक पुरुष को स्त्री के वेश में अपने महल में प्रविष्ट कर लिया तथा उसके साथ समागम किया [6]। इससे स्त्री की सहज प्रवंचनात्मक मनोवृत्ति सिद्ध करने की चेष्टा की गई है। एक अन्य जातक में [7] एक दम्पत्ति की यात्रा का वर्णन है। मार्ग में स्त्री अत्यधिक श्रमित हो जाती है। अतः उसका पति उसे अपने कन्धों पर लाद कर यात्रा करता है। मार्ग में स्त्री पिपासार्त हो जाती है। परन्तु अभाग्यवश उस स्थान पर कहीं भी पानी नहीं था। अपनी पत्नी की विकलता को देखकर पुरुष अपनी जांघ को काट कर रक्त द्वारा उसकी पिपासा को शान्त करता है। परन्तु अपने पति के प्रगाढ़ प्रेम की उपेक्षा करती हुई वही स्त्री कुछ काल पश्चात् पर-पुरुष का वरण कर लेती है और इस प्रकार कृतघ्नता का घृणित दृष्टान्त बन जाती है। मिलिन्दपन्हो में स्वयं महात्मा बुद्ध का कथन है कि अवसर तथा एकान्त पाने पर स्त्री किसी भी पुरुष के साथ विपथ हो सकती है, चाहे वह अंगहीन क्यों न हो [8]। उसी ग्रन्थ में स्त्री को अति अस्थिर एवं नीच कहा गया है [9]।

जैन साहित्य में भी स्त्री के विरोध में अनेक कथन उपलब्ध होते हैं। मनुस्मृति के समान व्यवहार भाष्य का कथन है कि स्त्री किसी भी अवस्था में स्वतन्त्रता के योग्य नहीं— उसे बाल्यावस्था में अपने पिता के नियन्त्रण में, विवाहितावस्था में अपने पति के नियन्त्रण में और वैधव्यावस्था में अपने पुत्र के नियन्त्रण में रहना चाहिये [10]। स्त्रियां हृदय से क्रूर

---

१. जातक ३ पृ० ३४२– मेथुनधम्मेन अलंकारेण विजायनेन ..

२. जातक ५ पृ० ४४०

३. जातक १ पृ० २६३.

४. जातक १ पृ० १२८– इत्थियो नाम पब्बजितस्स मलम्।

५. जातक ४ पृ० २४५.

६. जातक १ पृ० २८६

७. जातक २ पृ० ११५

८. मिलिन्द० ४. ४. ४२.

९. ,, ४. १. ८.

१०. व्यवहार भाष्य ६, २३३.

तथा शरीर, वाणी और दृष्टि से आकर्षक होती हैं। वे स्वर्णजटित कटार के समान होती हैं[१]। जिस नगर में स्त्रियां शक्तिशालिनी होती हैं वह निश्चितरूप से संकट-ग्रस्त हो जाता है[२]। उत्तराध्ययन के कथनानुसार स्त्रियां अस्थिर-चित्त होती हैं। वे पुरुषों को प्रलोभित करने के पश्चात् उनके साथ दासों के समान व्यवहार करती हैं[३]। जैन साहित्य में स्त्रियों की पथ-भ्रष्टता एवं विश्वासघातिता के अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं। दसवेयालिय चूर्णि में एक गृहपति की स्त्री का उल्लेख है जो एक अन्य नवयुवक से अपवित्र संबन्ध स्थापित करती है[४]। उत्तराध्ययन टीका में राजा अगड़दत्त की स्त्री मयणमंजरी का उल्लेख है जो अन्य पुरुष के साथ प्रेम करती है और अपने पति की हत्या करने का प्रयास करती है[५]।

धार्मिक क्षेत्र में भी पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की स्थिति हेय थी। अस्थिरबुद्धि के कारण जैन व्यवस्थाकारों ने स्त्रियों के लिये महापरिज्ञा, अरुणापपात और दृष्टिवाद नामक धर्म-ग्रन्थों का अध्ययन करने का निषेध किया है[६]। कल्पसूत्र के अनुसार शतवर्षीया भिक्षुणी के लिये अचिरात् दीक्षित भिक्षु भी वन्दनीय है। स्त्री स्वयं कभी भी मोक्षाधिकारिणी नहीं हो सकती। मोक्ष-प्राप्ति के हेतु उसे पुरुष का जन्म लेना आवश्यक है। भिक्षुणी की हीनता इसी बात से सिद्ध होती है कि जहां पुरुषों में १०८ सिद्ध और २३ तीर्थंकर हुए हैं वहां स्त्रियों में केवल २० सिद्धों और १ तीर्थंकर का उल्लेख पाया जाता है। उत्तराध्ययन में स्वयं महावीर स्वामी का कथन है कि भिक्षु के लिये स्त्री २२ बाधाओं में से एक है। वह राक्षसी के समान है। उसका चरित्र बड़ा ही संदिग्ध होता है। वह मनस्तः एक व्यक्ति में अनुरक्त रहती है, शब्दतः दूसरे में तथा व्यवहारतः तीसरे में। अतः भिक्षु के लिये वह सर्वथा त्याज्य है। प्रमुख तीर्थंकर ऋषभदेव ने जहां पुरुषों के लिये ७२ कलाओं की व्यवस्था की है वहां स्त्रियों के लिये केवल ६४ की। इस सम्बन्ध में उन्होंने स्पष्टतया कह दिया है कि स्त्री को केवल गृह-कार्यों की शिक्षा देनी चाहिये। उसे साहित्यिक एवं व्यावसायिक शिक्षा का अधिकार नहीं है।

प्रथम दृष्टि में ही साहित्य के उपर्युक्त स्त्रीनिन्दात्मक उद्धरण एकपक्षीय एवं अतिरंजित प्रतीत होते हैं। इनमें बहुधा स्त्री-समाज के पथ-भ्रष्ट वर्ग का ही चित्रण मिलता है। अधिक से अधिक ये उद्धरण तथा कथानक स्त्री के विलासिनी-रूप का ही वर्णन करते हैं।

---

१. हिन्दू टेल्स
२. व्यवहार भाष्य १०. १३०.
३. उत्तराध्यन ८. १७–१८.
४. दसवेयालिय चूर्णि पृ० ८६-८१
५. उत्तराध्ययन टीका ४ पृ० ८४-९३
६. व्यवहार भाष्य ५. १३६, बृहद्कल्प भाष्य पीठिका १४६,

इनमें उसके पुत्रीरूप की शुभ्रता, मातृरूप की स्निग्धता तथा भार्यारूप की सहकारिता एवं उपयोगिता की उपेक्षा की गई है। जैनधर्म तथा बौद्धधर्म के विरक्ति-प्रधान आन्दोलन ने स्त्री को प्रायः रमणी के रूप में ही देखा है और उसे निवृत्ति-मार्ग के लिये बाधक समझा है। गृहस्थ-जीवन से मनुष्यों को विरत करने के हेतु भी स्त्री को इस कुत्सित-रूप में प्रदर्शित किया गया है[1]। वराहमिहिर ने इन निन्दकों को दुर्जन कहा है तथा इनकी घोर भर्त्सना की है[2]। पुनः समाज-सुधारक एवं व्यवस्थाकार न्यूनाधिक मात्रा में निन्दनीय वस्तु को सप्रयास अतिरंजित करके उसकी विगर्हिता को ही प्रमाणित करना चाहते हैं। उनके इस अतिरंजन में उस वस्तु के वास्तविक रूप की अपेक्षा लेखक की सुधारात्मक प्रवृति ही अधिक परिलक्षित होती है।[3]

कुछ भी हो, यदि हम साहित्य का सम्यक् रूप से अध्ययन करें तो हमें स्त्री का दूसरा रूप भी मिलेगा। यह समाज के कतिपय भग्नांश, प्रताड़ित अथवा प्रवंचित मनुष्यों की धारणा का नहीं, वरन् जन-साधारण की सामान्य धारणा का प्रतिनिधित्व करता है। इस रूप से ही स्त्री की वास्तविकता प्रकट होती है। प्राचीन भारत में पुत्री यथेष्ट रूप में वांछनीय थी। उसका जन्म सदैव असन्तोषकर न था। समाज का शिष्टवर्ग पुत्रियों को पुत्रों के समान ही स्नेह-भाजन समझता था। कन्यायें शुभात्मक समझी जाती थीं। उनमें लक्ष्मी का वास माना जाता था। इन बातों का उल्लेख पीछे किया जा चुका है। यह तो रही कन्या की प्रतिष्ठा की बात।

विवाहित होने पर नारी भार्या-रूप में भी अत्यधिक महत्त्व पाती थी। ऋग्वेद में उसे स्वयं गृह कहा गया है[4]। तैत्तिरीय संहिता में पत्नी को पुरुष का अर्धभाग बताया गया है[5]। इसी प्रकार का कथन शतपथ ब्राह्मण में भी उपलब्ध होता है। पत्नी के बिना पुरुष पूर्ण नहीं हो सकता[6]। इसी कथन का अनुमोदन ऐतरेय आरण्यक में भी हुआ है[7]। अपने पति

---

१. बृहत्संहिता ७४. ५.–येप्यंगनानां प्रवदन्ति दोषान् वैराग्यमार्गेण गुणान्विहाय।
ते दुर्जना मे मनसो वितर्कः सद्भाववाक्यानि न तानि तेषाम्॥

२. बृहत्संहिता ७६. १७–अहो धार्ष्ट्यमसाधूनां निन्दतामनघाः स्त्रियः।
मुष्णतामिवचोराणां तिष्ठ चोरति जल्पताम्।

३. जैमिनी २. ४. २१ पर शबर पूर्व ६४०– नहि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रयुज्यते। किं तर्हि। निन्दितादितरत्प्रशंसितुम्। तत्र न निन्दितस्य प्रतिषेधो गम्यते किं त्वितरस्य विधिः।

४. ऋ० ३. ५३. ४– जायेदस्तं मघवन्सेदु योनिः।

५. तैत्ति० सं० ६. १. ८. ५– अर्धो वा एष आत्मनो यत्पत्नी।

६. शत० ब्रा० ५. २. १. १०–अर्धो ह वा एष आत्मनो यज्जाया तस्माद्यावज्जायां न विन्दते नैव तावत्प्रजायते। असर्वो हि तस्मात्भवति। अथ यदैव जायां विन्दते य प्रजायते तर्हि हि सर्वो भवति।

७. ऐत० आर० १. २. ४. तस्मात्पुरुषो जायां हित्वाकृत्स्नतरमिवात्मानं मन्यते।

के घर में यह सम्राज्ञी समझी जाती थी[1]। विपथ अथवा विपन्न नारियों के प्रति भी प्राचीन समाज विशेष उदार था। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार स्वापराध स्वीकार कर लेने वाली पत्नी पुनः धार्मिक क्रियाओं में सम्मिलित की जा सकती है[2]। प्रायः यही मत वसिष्ठ का भी है[3]। अपनी धर्मपत्नी का अकारण त्याग करने वाले मनुष्य के लिये आपस्तम्ब ने कठोर दण्ड का विधान बनाया है[4]। महाभारत के मतानुसार निरपराध भार्या का त्याग करने वाले पुरुष के लिये कहीं भी त्राण नहीं है[5]। इस महाकाव्य में गृहिणी को ही गृह कहा गया है[6]। वह मनुष्य का अर्धभाग तथा उसका श्रेष्ठतम सखा है[7]। रामायण में भी उसे पुरुष का अनन्यरूप कहा गया है[8]। मनु के लिये भार्या नितान्त सम्मान्य है[9]।

बौद्ध एवं जैन साहित्य में भी भार्या की श्लाघा की गई है। वह पुरुष की परम सखा है[10]। एक स्थान पर पतिव्रता सम्बुला का वर्णन है जिसने कुष्ठरोग से पीड़ित अपने पति की अनन्य मन से सेवा की थी[11]। पुत्र के द्वारा अपने पति का वध सुन कर कौशलदेवी ने शोकार्त होकर प्राण-त्याग कर दिया[12]। कक्कटा जातक में एक भार्या ने अनुनय-विनय के द्वारा डाकुओं से अपने पति की जीवन-रक्षा की[13]। सुजाता, अमरादेवी, रूजा उदुम्बरा, उदयमदा आदि महिलायें तत्कालीन समाज में पत्नी के उच्च आदर्श को

---

1. अथर्व० १४. १. ४३–यथा सिन्धुर्नदीनां साम्राज्यं सुषुवे वृषा।
एवं त्वं सम्रा दयेधिपत्य रस्तं परेत्य च ॥

2. शत० ब्रा० २. ५. २. २०–प्रतिप्रस्थाता पत्नीमुदनेष्यन् पृच्छति केन चरसीति निरुक्तं वैनः कनीयो भवति सह्यं भवति।

3. वसिष्ठ २८. २. ३ स्वयं विप्रतिपन्ना वा आदि वा विप्रवासिता बलात्कारोपभुक्ता वा चौरहस्तगतापि वा न त्याज्या दुषिता नारी नास्यास्त्यागो विधीयते।

4. आप० १. ६. १८–दारव्यतिक्रमी खराजिनं बहिर्लोम परिधायदारव्यतिक्रमिणे भिक्षामिति सप्तागाराणि चरेत्। साः वृत्तिः षण्मासान्।

5. महा० १३. ५८. १३–एवं भार्यास्त्यजतां नराणां नास्ति निष्कृतिः।

6. महा० शान्ति० १४४. ६–न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते।

7. महा० १. ७४. ४०–अर्धभार्या मनुष्यस्य भार्याश्रेष्ठतमा सखा।

8. रामा० ४. २४. ३४–अनन्यरूपा पुरुषस्य दारा।

9. मनु० (यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते) ॥

10. संयुक्त निकाय, भाग २ पृ० ३७– भरिया परमा सखा।

11. जातक ५ पृ० ८८-९८

12. जातक २३६.

13. जातक २६७

परिलक्षित करती हैं। स्त्री की गणना चक्रवर्ती के १४ रत्नों में की गई है[1]। आपद्काल में सर्वप्रथम स्त्री ही रक्षणीय है।[2] जैन साहित्य में लब्धप्रतिष्ठ एवं कर्तव्यपरायण स्त्रियों के अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं। मल्लि अपनी साधना एवं विद्वत्ता के कारण तीर्थंकर हो गई थी[3]। सुभद्रा का नामोल्लेख एक पवित्र एवं पतिव्रता भार्या के रूप में हुआ है[4]। राजीमती नामक एक अन्य भार्या ने अपने पति के साथ ही साथ परिव्राजक-जीवन ग्रहण किया था और तपश्चर्या करते समय बड़ी दृढ़ता के साथ वासनोन्मुख रहनेमि नामक अपने देवर से अपनी रक्षा की थी[5]। जयन्ती नामक एक राजवंशीया ने संसार-त्याग कर भिक्षुणी-जीवन अंगीकार किया था और भिक्षुणी के रूप में अत्यन्त सम्मान्य थी[6]। अज्ज चन्दणा महावीर स्वामी की सर्वप्रथम स्त्री शिष्या थी। उसके प्रोत्साहन, निरीक्षण एवं पथ-प्रदर्शन के परिणामस्वरूप बहुसंख्यक भिक्षुणियों को मोक्ष-लाभ हुआ था[7]। जैन साहित्य के साक्ष्यानुसार अनेक महिलायें धर्म-प्रचारक, धर्मोपदेशक एवं शिक्षक भी हो गई थीं[8]।

माता के रूप में स्त्री की सम्मान्यता प्रायः प्रत्येक व्यक्ति ने स्वीकार की है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार शिशु के हेतु माता गुरु का कार्य सम्पादित करती है। तैत्तिरीय उपनिषद् में माता देवता के समान बताई गई है। माता को सर्वमान्य प्रतिष्ठा के कारण ही वैदिककालीन अनेक ऋषियों के नाम माता के नाम से सम्बद्ध थे। इनमें महिदस, ऐतरेय जातुकर्ण्य कात्यायनीपुत्र और कृष्ण देवकीपुत्र विशेष उल्लेखनीय हैं। गोतम के मतानुसार माता, पिता और आचार्य से भी उच्चतर होती है[9]। आपस्तम्ब और बौधायन के धर्मसूत्रों का निर्देश है कि समाज-बहिष्कृत माता भी अपने पुत्र के लिये त्याज्य नहीं हो सकती[10]। वसिष्ठ का उल्लेख है कि शिशु-शिक्षा के दृष्टिकोण से स्त्री पुरुष की अपेक्षा शतशः अधिक

---

1. जम्बुदीवपन्नति ३. ६७, दीर्घनिकाय २. १७२-७
2. बृहत्कल्प भाष्य ४. ४३४८
3. नायाधम्मकहा ८.
4. दसवेयालिय चूर्णि १. ४९.
5. दसवेयालिय चूर्णि २. ७. ११
6. कल्पसूत्र ५. १३५
7. भगवतीसूत्र १२. २.
8. अन्तगडदसाओ ५. ७ ८, नायाधम्मकहा २. १-१० पृ० २२०-३०
9. गौतम २. ५१.
10. आप १. १०. २८-९- माता पुत्रत्वस्य भूयांसि कर्माण्यारभते तस्यां शुश्रूषा नित्या पतितायामपि। बौधा. २. २. ४८-पतितामपितु मातरं बिभृयादनभिभाषमाणः।

के घर में यह सम्राज्ञी समझी जाती थी[१]। विपथ अथवा विपन्न नारियों के प्रति भी प्राचीन समाज विशेष उदार था। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार स्वापराध स्वीकार कर लेने वाली पत्नी पुनः धार्मिक क्रियाओं में सम्मिलित की जा सकती है[२]। प्रायः यही मत वसिष्ठ का भी है[३]। अपनी धर्मपत्नी का अकारण त्याग करने वाले मनुष्य के लिये आपस्तम्ब ने कठोर दण्ड का विधान बनाया है[४]। महाभारत के मतानुसार निरपराध भार्या का त्याग करने वाले पुरुष के लिये कहीं भी त्राण नहीं है[५]। इस महाकाव्य में गृहिणी को ही गृह कहा गया है[६]। वह मनुष्य का अर्धभाग तथा उसका श्रेष्ठतम सखा है[७]। रामायण में भी उसे पुरुष का अनन्यरूप कहा गया है[८]। मनु के लिये भार्या नितान्त सम्मान्य है[९]।

बौद्ध एवं जैन साहित्य में भी भार्या की श्लाघा की गई है। वह पुरुष की परम सखा है[१०]। एक स्थान पर पतिव्रता सबुला का वर्णन है जिसने कुष्ठरोग से पीड़ित अपने पति की अनन्य मन से सेवा की थी[११]। पुत्र के द्वारा अपने पति का वध सुन कर कौशलदेवी ने शोकार्त होकर प्राण-त्याग कर दिया[१२]। कक्कटा जातक में एक भार्या ने अनुनय-विनय के द्वारा डाकुओं से अपने पति की जीवन-रक्षा की[१३]। सुजाता, अमरादेवी, रूजा उदुम्बरा, उदयमदा आदि महिलायें तत्कालीन समाज में पत्नी के उच्च आदर्श को

---

१. अथर्व० १४. १. ४३—यथा सिन्धुर्नदीनां साम्राज्यं सुषुवे वृषा।
एवं त्वं सम्राज्ञ्येधि पत्युरस्तं परेत्य च॥

२. शत० ब्रा० २. ५. २. २०—प्रतिप्रस्थाता पत्नीमुदनेष्यन् पृच्छति केन चरसीति निरुक्तं वैनः कनीयो भवति सत्यं भवति।

३. वसिष्ठ २८. २. ३ स्वयं विप्रतिपन्ना वा आदि वा विप्रवासिता बलात्कारोपभुक्ता वा चौरहस्तगतापि वा न त्याज्या दुषिता नारी नास्यास्त्यागो विधीयते।

४. आप० १. ६. १८—दारव्यतिक्रमी खराजिनं बहिर्लोम परिधायदारव्यतिक्रमिणे भिक्षामिति सप्तागाराणि चरेत्। साः वृत्तिः षण्मासान्।

५. महा० १३. ५८. १३—एवं भार्यास्त्यजतां नराणां नास्ति निष्कृतिः।

६. महा० शान्ति० १४४. ६—न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते।

७. महा० १. ७४. ४०—अर्धंभार्या मनुष्यस्य भार्याश्रेष्ठतमा सखा।

८. रामा० ४. २४. ३४—अनन्यरूपा पुरुषस्य दारा।

९. मनु० (यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते)॥

१०. संयुक्त निकाय, भाग २ पृ० ३७— भरिया परमा सखा।

११. जातक ५ पृ० ८८-९८

१२. जातक २३६.

१३. जातक २६७

परिलक्षित करती हैं। स्त्री की गणना चक्रवर्ती के १४ रत्नों में की गई है[1]। आपद्काल में सर्वप्रथम स्त्री ही रक्षणीय है।[2] जैन साहित्य में लब्धप्रतिष्ठ एवं कर्तव्यपरायण स्त्रियों के अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं। मल्लि अपनी साधना एवं विद्वत्ता के कारण तीर्थंकर हो गई थी[3]। सुभद्रा का नामोल्लेख एक पवित्र एवं पतिव्रता भार्या के रूप में हुआ है[4]। राजीमती नामक एक अन्य भार्या ने अपने पति के साथ ही साथ परिव्राजक-जीवन ग्रहण किया था और तपश्चर्या करते समय बड़ी दृढ़ता के साथ वासनोन्मुख रहनेमि नामक अपने देवर से अपनी रक्षा की थी[5]। जयन्ती नामक एक राजवंशीया ने संसार-त्याग कर भिक्षुणी-जीवन अंगीकार किया था और भिक्षुणी के रूप में अत्यन्त सम्मान्य थी[6]। अज्ज चन्दणा महावीर स्वामी की सर्वप्रथम स्त्री शिष्या थी। उसके प्रोत्साहन, निरीक्षण एवं पथ-प्रदर्शन के परिणामस्वरूप बहुसंख्यक भिक्षुणियों को मोक्ष-लाभ हुआ था[7]। जैन साहित्य के साक्ष्यानुसार अनेक महिलायें धर्म-प्रचारक, धर्मोपदेशक एवं शिक्षक भी हो गई थीं[8]।

माता के रूप में स्त्री की सम्मान्यता प्रायः प्रत्येक व्यक्ति ने स्वीकार की है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार शिशु के हेतु माता गुरु का कार्य सम्पादित करती है। तैत्तिरीय उपनिषद् में माता देवता के समान बताई गई है। माता की सर्वमान्य प्रतिष्ठा के कारण ही वैदिककालीन अनेक ऋषियों के नाम माता के नाम से सम्बद्ध थे। इनमें महिदस, ऐतरेय जातुकर्ण्य कात्यायनीपुत्र और कृष्ण देवकीपुत्र विशेष उल्लेखनीय हैं। गौतम के मतानुसार माता, पिता और आचार्य से भी उच्चतर होती है[9]। आपस्तम्ब और बौधायन के धर्मसूत्रों का निर्देश है कि समाज-बहिष्कृत माता भी अपने पुत्र के लिये त्याज्य नहीं हो सकती[10]। वसिष्ठ का उल्लेख है कि शिशु-शिक्षा के दृष्टिकोण से स्त्री पुरुष की अपेक्षा शतशः अधिक

---

1. जम्बुदीवपन्नति ३. ६७, दीर्घनिकाय २. १७२-७
2. बृहत्कल्प भाष्य ४. ४३४८
3. नायाधम्मकहा ८.
4. दसवेयालिय चूर्णि १. ४२.
5. दसवेयालिय चूर्णि २. ७. ११
6. कल्पसूत्र ५. १३५
7. भगवतीसूत्र १२. २.
8. अन्तगडदसाओ ५. ७ ८, नायाधम्मकहा २. १-१० पृ० २२०-३०
9. गौतम २. ५१.
10. आप १. १०. २८-६- माता पुत्रत्वस्य भूयांसि कर्माण्यारभते तस्यां शुश्रूषा नित्या पतितायामपि। बौधा. २. २. ४८-पतितामपितु मातरं बिभृयादनभिभाषमाणः।

महत्वपूर्ण है[1]। इसी व्यवस्थाकार के मतानुसार पतित होने पर पिता परित्यक्त किया जा सकता है, परन्तु माता नहीं[2]। महाभारत में भी माता को परम गुरू कहा गया है[3]। माता को असन्तुष्ट करने वाले व्यक्ति का कहीं त्राण नहीं। वह भूमि से भी गुरुतरा है[4]।

बौद्ध एवं जैन साहित्य में भी माता का स्थान बहुत ऊँचा है। एक स्थान पर उसे देवता कहा गया है[5]। वृद्धावस्था में माता का निरीक्षण एवं परिपोषण पुत्र का परम कर्तव्य है[6]। माता के दुःख-निवारण के हेतु पुत्र को अपने प्राणों की भी चिन्ता न करनी चाहिये[7]। एक स्थान पर जातक का कथन है कि मातृहीन व्यक्ति को पितृहीन भी समझना चाहिये[8]। जैन साहित्य में राजा पूसनन्दि का उल्लेख है जो अत्यन्त मातृभक्त था और जो अपनी माता को स्नान एवं भोजन कराने के पश्चात् ही स्नान और भोजन करता था। यह दृष्टान्त तत्कालीन समाज में माता की पुत्रवन्द्यता को प्रदर्शित करता है।

प्राचीन भारतीय व्यवस्था में भी स्त्री को विशेष महत्त्व दिया गया है। शतपथ ब्राह्मण का कथन है कि स्त्री, बालक तथा ब्राह्मण की हत्या करने वालों को मृत्यु-दण्ड मिलना चाहिये[9]। महाभारत में भी स्त्री को अवध्य बताया गया है[10]। उसी महाकाव्य का दूसरे स्थान पर कथन है कि स्त्रियां, गौओं तथा ब्राह्मणों के विरुद्ध शस्त्र-प्रयोग अधर्म्य है[11]। रामायण के कतिपय उदाहरणों से भी स्त्री की अवध्यता सिद्ध होती है। राम ने ताड़का-वध बड़ो ही अनिच्छा-पूर्वक किया था[12]। अनेक बार विचार करने पर भी रावण ने सीता का वध इसोलिए नहीं किया कि वह स्त्री थी[13]। बौद्ध साहित्य में भी स्त्री-हत्या के उदाहरण

---

१. वसिष्ठ १३. ४८.
२. वसिष्ठ १३.—४७—पतितः पिता परित्याज्यो माता तु पुत्रे न पतति ।
३. महा० १. १९६, १६—गुरूणां चैव सर्वेषां माता परमको गुरुः ।
४. महा १. ३७. ४– न तु मात्राभिशप्तानामभिमोक्षः क्व च विद्यते ।
५. महा० ४. ३१३. ६०—माता गुरुतरा भूमेः...।
६. जातक ६ पृ० ३६४—पुत्रदेवता नाम माता पितरो ।
७. जातक ३ पृ० १३७.
८. जातक ६ पृ०५८७.
९. जातक ६ पृ० ५५३
१०. शतपथ ब्रा० ११.४.३.२–स्त्री वेषा यच्छ्रीर्न वे स्त्रियंध्नन्ति ।
११. गौतम २३.१४
१२. मनु० ८.३७१.
१३. मनु० ६.२३२.

अत्यल्प हैं जिनसे साधारणतया उनकी अवध्यता ही प्रमाणित होती है। हाँ, व्यभिचार के अपराध में उन्हें अवश्य मृत्यु-दण्ड दिया जा सकता था [1]।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन समाज में नारी का विशेष महत्त्व था। वह स्वयं लक्ष्मी है। सत्कार्य होने से वह विभूतिदायिनी बन जाती है[2]। जिस कुल में उसे दुःख मिलता है वह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है और इसके विपरीत जिस कुल में वह दुःखरहित होती हैं उस कुल का संवर्धन होता है[3]। रामायण में भी यही धारणा परिलक्षित होती है[4]। मनु ने भी भारतीय विचार-धारा का अनुकरण करते हुए एक स्थान पर स्पष्टतया लिखा है कि जहां नारी की पूजा होती है वहां देवता वास करते हैं[5]। जिस कुटुम्ब में स्त्री को दुःख मिलता है वह शीघ्र विनष्ट हो जाता है [6]। कामसूत्र ने उसकी उपमा पुष्प से दी है[7]।

---

१. महा० १.१५८.३२–अवध्या स्त्री इत्याहुर्धर्मज्ञाःधर्मःनिश्चये।

२. महा० सभा० ४१–१३ स्त्रिगोषुनशस्त्राणि पातयेद् ब्राह्मणेषु च ।

३. रामा० १. २७. ३–न ह्येनामुत्सहे हन्तुं स्त्री स्वभावेन रक्षिताम् ।

४. रामा० ६· ६३·६०

५. जातक ५ पृ० ४४४, जातक २ पृ० ३०६

६. महा० १३.८१.१५ श्री एता स्त्रियो नाम सत्कार्या भूतिमिच्छता ।
लालितानुगृहीता च श्री स्त्रीर्भवति भारत ।

७. मनु० ३.५७–शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्वाशु तत्कुलम् ।
न शोचन्ति तु यत्रैव वर्द्धते तद्धि सर्वदा ।

८. रामा० ६. ११४.६५–प्रवादः सत्य एवायं त्वां प्रति प्रायशोनृप
पतिव्रतासां नाकस्मांतपतन्त्यश्रूणि भूतले ।

९. तत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवतः–मनु ३.५.६

१०. मनु० ३.५७.

११. कामसूत्र ३.२ कुसुमसधर्माणो हि योषितः ।

महत्वपूर्ण है[1]। इसी व्यवस्थाकार के मतानुसार पतित होने पर पिता परित्यक्त किया जा सकता है, परन्तु माता नहीं[2]। महाभारत में भी माता को परम गुरू कहा गया है[3]। माता को असन्तुष्ट करने वाले व्यक्ति का कहीं त्राण नहीं। वह भूमि से भी गुरुतरा है[4]।

बौद्ध एवं जैन साहित्य में भी माता का स्थान बहुत ऊँचा है। एक स्थान पर उसे देवता कहा गया है[5]। वृद्धावस्था में माता का निरीक्षण एवं परिपोषण पुत्र का परम कर्तव्य है[6]। माता के दुःख-निवारण के हेतु पुत्र को अपने प्राणों की भी चिन्ता न करनी चाहिये[7]। एक स्थान पर जातक का कथन है कि मातृहीन व्यक्ति को पितृहीन भी समझना चाहिये[8]। जैन साहित्य में राजा पूसनन्दि का उल्लेख है जो अत्यन्त मातृभक्त था और जो अपनी माता को स्नान एवं भोजन कराने के पश्चात् ही स्नान और भोजन करता था। यह दृष्टान्त तत्कालीन समाज में माता की पुत्रवन्द्यता को प्रदर्शित करता है।

प्राचीन भारतीय व्यवस्था में भी स्त्री को विशेष महत्त्व दिया गया है। शतपथ ब्राह्मण का कथन है कि स्त्री, बालक तथा ब्राह्मण की हत्या करने वालों को मृत्यु-दण्ड मिलना चाहिये[9]। महाभारत में भी स्त्री को अवध्य बताया गया है[10]। उसी महाकाव्य का दूसरे स्थान पर कथन है कि स्त्रियां, गौओं तथा ब्राह्मणों के विरुद्ध शस्त्र-प्रयोग अधर्म्य है[11]। रामायण के कतिपय उदाहरणों से भी स्त्रीकी अवध्यता सिद्ध होती है। राम ने ताड़का-वध बड़ी ही अनिच्छा-पूर्वक किया था[12]। अनेक बार विचार करने पर भी रावण ने सीता का वध इसीलिए नहीं किया कि वह स्त्री थी[13]। बौद्ध साहित्य में भी स्त्री-हत्या के उदाहरण

---

1. वसिष्ठ १३. ४८.
2. वसिष्ठ १३.—४७—पतितः पिता परित्याज्यो माता तु पुत्रे न पतति।
3. महा० १. १६६. १६—गुरूणां चैव सर्वेषां माता परमको गुरुः।
4. महा १. ३७. ४– न तु मात्राभिशप्तानाममिमोक्षः क्व च विद्यते।
5. महा० ४. ३१३. ६०—माता गुरुतरा भूमेः...।
6. जातक ६ पृ० २६४—पुत्रदेवता नाम माता पितरो।
7. जातक ३ पृ० १३७.
8. जातक ६ पृ०५८७.
9. जातक ६ पृ० ५५३
10. शतपथ ब्रा० ११.४.३.२–स्त्री वेषा यच्छ्रीर्न वै स्त्रियंघ्नन्ति।
11. गौतम २३.१४
12. मनु० ८.३७१.
13. मनु० ६.२३२.

अत्यल्प हैं जिनसे साधारणतया उनकी अवध्यता ही प्रमाणित होती है। हाँ, व्यभिचार के अपराध में उन्हें अवश्य मृत्यु-दण्ड दिया जा सकता था[१]।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन समाज में नारी का विशेष महत्त्व था। वह स्वयं लक्ष्मी है। सत्कार्य होने से वह विभूतिदायिनी बन जाती है[२]। जिस कुल में उसे दुःख मिलता है वह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है और इसके विपरीत जिस कुल में वह दुःखरहित होती हैं उस कुल का संवर्धन होता है[३]। रामायण में भी यही धारणा परिलक्षित होती है[४]। मनु ने भी भारतीय विचार-धारा का अनुकरण करते हुए एक स्थान पर स्पष्टतया लिखा है कि जहां नारी की पूजा होती है वहां देवता वास करते हैं[९]। जिस कुटुम्ब में स्त्री को दुःख मिलता है वह शीघ्र विनष्ट हो जाता है[१०]। कामसूत्र ने उसकी उपमा पुष्प से दी है[११]।

---

१. महा० १.१५८.३२–अवध्या स्त्री इत्याहुर्धर्मज्ञाःधर्मःनिश्चये।

२. महा० सभा० ४१–१३ स्त्रीगोषुनशस्त्राणि पातयेद् ब्राह्मणेषु च।

३. रामा० १. २७. ३–न ह्ये नामुत्सहे हन्तुं स्त्री स्वभावेन रक्षिताम्।

४. रामा० ६. ६३.६०

५. जातक ५ पृ० ४४४, जातक २ पृ० ३०६

६. महा० १३.८१.१५ श्री एता स्त्रियो नाम सत्कार्या भूतिमिच्छता।
लालितानुगृहीता च श्री स्त्रीर्भवति भारत।

७. मनु० ३.५७–शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्वाशु तत्कुलम्।
न शोचन्ति तु यत्रैव वर्द्धते तद्धि सर्वदा।

८. रामा० ६. ११४.६५–प्रवादः सत्य एवायं त्वां प्रति प्रायशोनृप
पतिव्रतासां नाकस्मांतपतन्त्यश्रूणि भूतले।

९. तत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवतः–मनु ३.५.६

१०. मनु० ३.५७.

११. कामसूत्र ३.२ कुसुमसधर्माणो हि योषितः।

अध्याय ४

धार्मिक संगठन

भारतीय धर्म का रूप

भारतवर्ष अति प्राचीन काल से ही धर्म-प्रधान देश रहा है। यहाँ धर्म की इतनी व्यापक एवं विशद व्याख्या की गई थी कि भारतीय जीवन का प्रत्येक क्षेत्र इसके क्रोड में समाविष्ट हो गया था। जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त भारतीय जीवन के समस्त क्रिया-कलाप धर्म की विस्तीर्ण छाया में ही सम्पन्न होते थे। इस देश के निवासियों ने धर्म को कोई पृथक् संस्था कभी भी नहीं माना। धर्म भारतीय जीवन के प्रत्येक स्फुरण में इतना घुलमिल गया था कि दोनों के बीच कोई विभाजन सम्भव ही न था। भारतीय दृष्टि में धर्म जीवन का आदर्श था और जीवन धर्म का व्यवहार। अतएव कतिपय विदेशी धर्मों की भांति भारतीय धर्म को कतिपय मतों अथवा सिद्धान्तों का समुदाय-मात्र न समझना चाहिये जिसका सामयिक पाठ भारतीय की धार्मिक भावना को सन्तुष्ट कर सकता। जीवन से विच्छिन्न न होने के कारण भारतीय धर्म को अपनी रक्षा के लिय न चर्च की आवश्यकता थी और न राजाश्रय की। भारतीय अन्तश्चेतना में वह चिर-शाश्वत् और स्वतः संरक्षित था।

ब्राह्मण धार्मिक संगठन

जिस प्रकार बौद्धों की धार्मिक व्यवस्था का केन्द्र-बिन्दु संघ-व्यवस्था थी उसी प्रकार ब्राह्मण के धार्मिक संगठन का केन्द्र-बिन्दु वर्णाश्रम-व्यवस्था थी। वर्ण-व्यवस्था के द्वारा ब्राह्मण ने समाज में कार्य-विभाजन किया और आश्रम-व्यवस्था के द्वारा पद्धति-निरूपण। आश्रम-व्यवस्था मनुष्य के जीवन का पूरा समय-चक्र थी। इसके द्वारा समाज के प्रति मनुष्य के कर्त्तव्यों एवं उनके कालों का विवेचन किया गया था। इस योजना के पीछे ब्राह्मणों की लोक-संग्रह की भावना एवं राष्ट्र के सांस्कृतिक उत्थान की उद्दाम चिन्ता कार्य कर रही थी। इसके अन्तर्गत ब्राह्मणों ने समष्टि के उन्नयन के लिये व्यक्ति की समस्त शक्तियों का उचित अवसर पर अधिकाधिक उपयोग करने का प्रयास किया था। हम चतुर्वर्णों पर पहले ही विचार कर चुके हैं। यहाँ आश्रम-व्यवस्था के विकास एवं रूप-रेखा का विवेचन करना आवश्यक है।

आश्रम शब्द की व्युत्पत्ति 'श्रम' धातु से हुई है। अतः आश्रम शब्द का अर्थ ऐसी अवस्था से है जिसमें मनुष्य श्रम करे। वैदिक साहित्य में इस शब्द का प्रयोग नहीं मिलता। परन्तु ऐसा विदित होता है कि उस समय भी आश्रम का व्यवस्था के रूप में नहीं परन्तु व्यवहार-रूप में बीजारोपण हो चुका था। वैदिक साहित्य में ब्रह्मचारी[1], गृहपति[2] और

---

१. ऋग्वेद १०. १०६. ५

२. ऋ २. १. २. त्वाग्ने होत्र...ब्रह्मा चासि गृहपतिश्च नो दमे।

वैखानस[1] (वानप्रस्थ) का उल्लेख अनेक स्थानों पर मिलता है। अन्य स्थानों पर यति और मुनि का भी वर्णन मिलता है, परन्तु इनके वर्णनों पर विचार करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि यति और मुनि शब्दों का प्रयोग अनार्य व्यक्तियों के लिये किया गया है। उदाहरण के लिये, तैत्तिरीय संहिता का उल्लेख है कि इन्द्र ने यतियों को सालावृकों के समक्ष फेंक दिया और उन्होंने उन्हें उत्तरवेदि के दक्षिण में कवलित कर डाला[2]।

अथर्ववेद में भी इन्द्र द्वारा यतियों के वध का उल्लेख है[3]। इन उदाहरणों से विदित होता है कि यतियों तथा आर्य-देवता इन्द्र में शत्रुता थी। इस शत्रुता का कारण कदाचित् यतियों की अनार्यता रही होगी। ऐसा आभास मिलता है कि सन्यास-मार्ग आर्यों को रुचिकर न था। वे प्रवृत्तिमार्गी थे और मरणपर्यन्त सांसारिक जीवन-यापन के पक्ष में थे। ऋग्वेद में कहीं पर भी निवृत्तिमार्ग और सन्यास का प्रतिपादन नहीं मिलता। परन्तु अनार्यों में कदाचित् यह श्रमण-विचार-धारा प्रतिष्ठित थी। पूर्वोल्लिखित यति इसी विचार-धारा के परिपोषक थे। इस विचार-धारा के प्रभाव के अन्तर्गत ही कदाचित् आर्यों ने सन्यास-आश्रम का प्रतिपादन किया। यद्यपि ऋग्वेद में यह आश्रम उल्लिखित नहीं है तथापि कई स्थलों पर मुनियों का वर्णन है। इन्हें वातरशना कहा गया है[4] जिनसे इनके सन्यस्त जीवन की रूप-रेखा पर हलका-सा प्रकाश पड़ता है। ये पूर्व-वर्णित यतियों की भांति अनार्य अतएव आर्य-शत्रु न थे। एक स्थान पर इन्द्र मुनियों का सखा बताया गया है[5] और दूसरे स्थान पर मुनि देवताओं का मित्र[6]। परन्तु इतना स्वीकार करना पड़ेगा कि आश्रम-व्यवस्था के पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हो जाने पर भी ब्राह्मणों में सन्यास-आश्रम इतना सम्मान्य कभी भी न हो सका जितना गृहस्थ-आश्रम। इसके विरुद्ध बौद्धों एवं जैनियों में गृहपति की अपेक्षा भिक्षु कहीं अधिक आदरणीय था। बात यह थी कि इन नवीन धर्मों का उदय भारतवर्ष के पूर्वी प्रदेश में हुआ था जहाँ ई० पू० छठी शताब्दी तक भी सम्यक् रूप से आर्य-संस्कृति की पूर्ण स्थापना न हो सकी थी। इस प्रदेश में कदाचित् अनार्य-संस्कृति के अवशेष जीवित थे और इनमें प्रमुख थी श्रमण-विचार-धारा। इसने नवीन धर्मों की रूप-रेखा को प्रभावित किया और उसमें परिव्राजक-प्रतिष्ठा स्थापित की।

---

१. ताण्ड्य महाब्राह्मण १४. ४. ७.

२. तै० सं० ६. २. ७. ५. इन्द्रोयतीन् सालावृकेभ्यःप्रायच्छत्...

३. अथर्व० २. ५. ३.

४. ऋ० १०. १३६. २– मुनियो वातरशना पिशंगा वसते मला।

५. ऋ० ८. १७. १४–इन्द्रो मुनीनां सखा।

६. ऋ० १०. १३६. ४ ।

उपनिषद्-काल तक कदाचित् प्रथम तीन आश्रमों का संगठन हो चुका था। श्वेताश्वतरोपनिषद् (जो काफी बाद का है) में ब्रह्मज्ञानी श्वेताश्वतर का उल्लेख है। इसने ऐसे व्यक्तियों को ज्ञान-दान किया था जो आश्रम-धर्म की सीमाओं का अतिक्रमण कर ऊपर उठ चुके थे[1]। यहाँ पर 'अत्याश्रमिभ्यः' का उल्लेख है। इससे आश्रम-व्यवस्था की प्रतिष्ठा का संकेत मिलता है। इस निष्कर्ष की पुष्टि अन्य उपनिषदों के उल्लेखों से भी होती है। छान्दोग्य उपनिषद् में एक स्थान पर चतुराश्रमों का वर्णन है[2]। इसमें आचार्य कुलवासी ब्रह्मचारी से प्रथम आश्रम का, यज्ञ, अध्ययन और दान से द्वितीय आश्रम का, तप से तृतीय आश्रम का और ब्रह्मसंस्था से कदाचित् चतुर्थ आश्रम का बोध होता है। परन्तु आश्रम-धर्म का सुव्यवस्थित विकास सूत्र-काल में ही हुआ। जैन और बौद्ध धर्मों के विरोधी प्रचार के परिणामस्वरूप शिथिलीभूत ब्राह्मण-व्यवस्था को पुनः दृढ़ करने के लिये ही वर्णाश्रम-धर्म का पुनः संगठन किया गया था।

प्रत्येक व्यवस्थाकार ने आश्रमों की संख्या चार बताई है[3]। साधारणतया मनुष्य की आयु १०० वर्ष की मानी गई[4] है। इन्हीं १०० वर्षों के जीवन में मनुष्य की अन्तर्निहित शारीरिक एवं मानसिक शक्तियों का पूर्ण विकास करते हुए तथा उसके योग्यतानुसार राष्ट्रीय एवं व्यक्तिगत जीवन के विविध क्षेत्रों में उन शक्तियों का अधिकाधिक उपयोग करने के हेतु ब्राह्मण व्यवस्थाकारों ने इस १०० वर्ष के काल को ४ समान भागों में बाट दिया[5] है। इस प्रकार प्रत्येक आश्रम का काल साधारणतया लगभग २५ वर्ष का होता था। परन्तु इन आश्रमों के क्रम अथवा अवधि के लिये सर्वसम्मत अपरिवर्तनीय नियम न थे। तैत्तिरीय उपनिषद् में आजीवन गृहस्थ-आश्रम के आदेश का संकेत मिलता है[6]। वसिष्ठ एवं याज्ञवल्क्य की व्यवस्था के अनुसार मनुष्य ब्रह्मचर्य के पश्चात् भी परिव्राजक-धर्म ग्रहण कर सकता है[7]। छान्दोग्य उपनिषद् में आजीवन ब्रह्मचर्य का उपदेश मिलता है[8]। भिन्न-भिन्न व्यवस्थाकारों ने उपनयन-संस्कार के हेतु भिन्न-भिन्न वर्णों के लिए उपयुक्त आयु भिन्न-

---

१. श्वेताश्वतरोप०—६. २१.।

२. छान्दोग्य उप० २. २३. १ त्रयोधर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एवं द्वितीयो ब्रह्मचर्याचार्यकुलवासी तृतीयो ऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसदयन्सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति।

३. आप० धर्मसूत्र २. ६. २१. १ गौतम ३. २, वसिष्ठ ध० सू० ७. १.-२. महा० १२ २४२. १५, १६ मनु० ४. १. ५, १६८, ६. १-२, ६. ३३

४. वाज० ४. सं० २., महा० १३. १०४. १—शतायुरुक्तः पुरुषः

५. महा० १२. २४२. १५. १६-आयुषस्तुचतुर्भागं ब्रह्मचारी...महा० १२. २४२. २८- चतुर्थे चायषो गते।

६. तैत्ति० उप० १. ११. १.

७. वसिष्ठ ७. ३. याज्ञ० ३. ५६

८. छान्दोग्य २. २३. १.

भिन्न बतलाई है। आश्वलायन के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य का उपनयन-संस्कार क्रमशः ८,११ और १२ की आयु में होना चाहिये[१]। मनु ने एक स्थान पर इस संस्कार के लिये तीनों वर्णों की उपयुक्त आयु क्रमशः ५,६ और ८ वर्ष बतलाई है। अधिकांश व्यवस्थाकारों ने अध्ययन-काय की अवधि १२ वर्ष की बताई है[२]। अतः उपनयन-संस्कार की आयु भिन्न-भिन्न होने के कारण ब्रह्मचर्यावस्था भी भिन्न-भिन्न हो गई। वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करने की अवस्था का उल्लेख न करके केवल यही कहा है कि जिस समय मनुष्य के बाल श्वेत होने लगें और पौत्रों की प्राप्ति हो जाय उस समय उसे वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करना चाहिये[३]। इस प्रकार के आदेश में दस-पाँच वर्ष के अन्तर की सम्भावना अनिवार्य है। इसी प्रकार बौधायन ने भी सन्यास-प्रवेश की आयु निश्चित रूप से ७५ वर्ष की न बता कर ७० वर्ष के ऊपर बताई है[४]। अतः हमारा निष्कर्ष यही है कि २५-२५ वर्ष के चार खण्ड स्थूल रूप से किये गये हैं। इनमें १०-५ वर्षों का अन्तर भिन्न-भिन्न व्यवस्थाकारों के अनुसार सदैव होता है। पुनः शूद्र के लिये एक-मात्र गृहस्थ-आश्रम की ही व्यवस्था थी[५]।

यह काल जीवन के हेतु तैयारी का काल था, अनुशासनकाल था, अध्ययन-काल था। इसमें मनुष्य अपनी सारी शक्ति का संचय करते हुये संसार के आमोद-प्रमोद से विमुख होकर श्रम और साधना का जीवन व्यतीत करता था। गौतम, बौधायन

ब्रह्मचर्य आश्रम

वसिष्ठ और मनु आदि सभी ने आश्रम-व्यवस्था में क्रमानुसार ब्रह्मचर्य आश्रम का सर्वप्रथम उल्लेख किया है।[६] परन्तु आपस्तम्ब धर्म-सूत्र में ब्रह्मचर्य-आश्रम का उल्लेख गृहस्थ-आश्रम के पश्चात् हुआ है। इसका कारण यह है कि व्यवस्थाकार ने यहाँ पर क्रम के स्थान पर महत्त्व के दृष्टिकोण से आश्रमों का उल्लेख किया है।

ऋग्वेद में ब्रह्मचारी का उल्लेख उपलब्ध होता है।[७] तैत्तिरीय संहिता का कथन है कि प्रत्येक ब्राह्मण के तीन ऋण होते हैं, ब्रह्मचर्य के रूप में कवियों के प्रति, यज्ञ के रूप में देवताओं के प्रति और सन्तान के रूप में पितरों के प्रति। पुत्रवान्, यज्ञवान् और ब्रह्मचारी

---

१. आश्वलायन गृह्य० १.१९ १.-६

२. आश्वलायन गृह्य० १.१२.३-४, पार० गृ० २.५. बौधा० गृ० २.१-५.

३. मनु० ६.२

४. बौधा० धर्मसूत्र २.१०.५. सतत्या ऊर्ध्वं सन्यासमुपदिशन्ति।

५. अनुशासन १६५.१०- शूद्रोऽहंनाऽधिकारो मे चातुराश्रम्यसेवने।

६. गौतम ३.२. बौधा० ध० सू० ६२.६.१७ वसिष्ठ धर्मसूत्र०-१-२मनु० ६.८७

७. ऋ० ६.१०१.५

के रूप में वह इन तीनों ऋणों से मुक्त हो जाता है[1]। इस कथन से धर्म के आधार ब्रह्मचर्य आश्रम की अनिवार्यता प्रदर्शित होती है।

ऐतरेयब्राह्मण के साक्ष्य से विदित होता है कि उस प्राचीन काल में भी घर छोड़कर ब्रह्मचारी के आचार्य-गृह में निवास करते हुये अध्ययन करने की प्रथा प्रतिष्ठित हो चुकी थी[2]। शतपथ ब्राह्मण में ब्रह्मचारियों द्वारा आचार्य, उसके गृह एवं पशु-धन के रक्षा-कार्य का वर्णन है।[3] उद्दालक आरुणि अपने पुत्र श्वेतकेतु को ब्रह्मचर्य धारण कर गुरु-गृह में जाकर विद्याध्ययन करने का आदेश देता है (छान्दो० ६. १,१-२)। गुरु-गृह में रहने के कारण ही ब्रह्मचारी को तैत्तिरीय उपनिषद् अन्तेवासी के नाम से पुकारता है।[4] गोपथ ब्राह्मण से ब्रह्मचारि-नियमों के ऊपर भी प्रकाश पड़ता है। इस ग्रन्थ के अनुसार चारों वेदों का अध्ययन-काल ४८ वर्ष और एक वेद का १२ वर्ष था तथा समिध-संग्रह एवं भिक्षा-वृत्ति प्रत्येक ब्रह्मचारी के लिये अनिवार्य थी। ब्रह्मचारी के लिये खाट पर सोना, गाना, नाचना इतस्ततः निष्प्रयोजन घूमना,थूकना आदि वर्जित था[5]। इसीप्रकार के कतिपय नियम अथर्ववेद में भी उपलब्ध होते हैं। इस वेद का कथन है कि ब्रह्मचारी अपनी मेखला, समिध एवं श्रम-शीलता से संसार को तपोमय कर देता है। वह कृष्णाजिन पहनता है तथा दाढ़ी रखता है[6]। इस प्रकार विदित होता है कि उपनिषद्-काल तक ब्रह्मचर्य-आश्रम के प्रमुख तन्तुओं की कल्पना हो चुकी थी। सूत्र-काल ने इन्हीं तन्तुओं को संग्रहीत कर विशाल आकार को जन्म दिया। यही नहीं, उपनिषद्-काल तक विद्याध्ययन के पूर्व उपनयन-संस्कार भी वीजरूप में प्रतिष्ठित हो चुका था। छान्दोग्य उपनिषद् में एक स्थान पर वर्णन है कि अश्वपति केकय ने प्राचीनशाल, औपमन्यव आदि विद्यार्थियों को उपनयन-संस्कार किये बिना ही शिक्षा देना प्रारम्भ किया।[7] दूसरे स्थान पर विद्यार्थी सत्यकाम जावाल से प्रसन्न होकर गौतम हारिद्रुमत अध्यापन के लिये प्रस्तुत हो जाता है और उससे कहता है 'वत्स, समिध ले आओ, मैं तुम्हारा संस्कार करूँगा'।[8] परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि यह संस्कार अति सरल एवं लघु था। सूत्र-काल में अन्य संस्कारों के समान इसे भी विशालकाय वना डाला गया।

सूत्रकाल में ब्रह्मचर्याश्रम एवं उससे सम्बद्ध विधि-निषेधों की सुव्यवस्थित प्रतिष्ठा की गई। ब्रह्मचर्यावस्था उपनयन-संस्कार के पश्चात् प्रारम्भ होती थी। 'उपनयन का अर्थ है

---

1. तैत्ति० सं० ६.१.१.५ जायमानो ह वे ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणेवा जायते, ब्रह्मचेर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्य एष वा अनृणोंयः पत्रो यज्वाश्सवारिवासी।

2. ऐ० ब्रा० २२. ६.—नाभानेदिष्ठ वे मानव ब्रह्मचर्यम् वसन्तं भ्रातरो निरसृजन।

3. शत० ब्रा० ३.६२.१५

4. तैत्ति० उप० १. ११.

5. गोपथ २. ५:७.

6. अथर्वे ११.८.१. ६

7. छान्दोग्य ४.४.५५. ११. ७

(आचार्य के) समीप (उप) ले आना (नयन) अथवा वह संस्कार जिसके द्वारा (बटु को आचार्य के) समीप ले जाया जाय[1]। जैसा कि ऊपर कहा गया है, शूद्र संस्कारहीन था। अतः उसे ब्रह्मचर्याश्रम का अधिकार न था। ब्राह्मणों की भाँति क्षत्रिय तथा वैश्य को भी उपनयन-संस्कार एवं वेदाध्ययन का अधिकार था[2]। परन्तु उत्तरोत्तर उन्होंने इस अधिकार का प्रयोग करना कम कर दिया और अन्त में यह ब्राह्मण का ही विशेषाधिकार समझा जाने लगा। परन्तु स्त्रियों की दशा इसके प्रतिकूल थी। प्रारम्भ में उन्हें पुरुषों की भाँति उपनयन-संस्कार एवं विद्याध्ययन का अधिकार प्राप्त था। गोभिल गृह्यसूत्र में विवाह के समय नववधू को यज्ञोपवीत धारण किये हुये प्रदर्शित किया गया है[3]। आश्वलायन गृह्यसूत्र में स्त्रियों के लिये भी समावर्तन-संस्कार की व्यवस्था की गई है[4]। इससे ज्ञात होता है कि वे ब्रह्मचारिणी के रूप में वेदाध्ययन करती थीं। हारीत ने ब्रह्मवादिनी स्त्रियों के लिये पुरुषों के समान विधिवत् उपनयन-संस्कार की कल्पना की है और सद्योवधू स्त्रियों के लिये विवाह के समय[5]। परन्तु धीरे-धीरे महिला-समाज की दशा हीन होती गई और मनु के समय तक आते-आते उनका उपनयन-संस्कार एवं वेदाध्ययन-संस्कार प्रायः अतीत की कहानी बन गया था। मनुस्मृति में एक स्थान पर उल्लेख है कि विवाह को छोड़कर स्त्रियों के समस्त संस्कार मन्त्रहीन होने चाहिये। उनके लिये पति-सेवा ही गुरु-सेवा है और गृह-कार्य यज्ञ कर्म[6]। मध्यकालीन ग्रन्थ संस्कार-प्रकाश में कुमारियों के लिये मौञ्जीबन्धन, वेदाध्ययन और सावित्री वाचन पुराकल्प की प्रथायें बताई गई हैं[7]। इससे स्पष्ट हो जाता है कि प्रारम्भ में मनु के पूर्व तक ब्रह्मचर्याश्रम स्त्रियों के लिये भी सम्मत था। परन्तु तत्पश्चात् उनका अध्ययन माता-पिता की संरक्षता में घर पर ही होने लगा और उनके लिये अजिनचीरजटाधारण वर्जित घोषित किया गया[8]।

---

1. संस्कारप्रकाश—पृ० ६३४ उपसमीपे आचार्यादीनांबटोनयनं प्रापणमुपनयनम्
समीपे आचार्यादीनां नीयते बटुर्येन तदुपनयमिति वा।
2. बौधायन गृह्यसूत्र—२. ८ १. १२
3. गोभिल गृह्यसूत्र—२. १. १६
4. आश्व० गृ० सू०—३ ८ ११–
5. स्मृतिचन्द्रिक—१ पृष्ठ २४ पर उद्धृत हारीत।
6. मनु २. ६५–
7. संस्कार प्रकाश—पृ० ४०२–३, बौधायनगृह्यसूत्र २. ८. १–१२
8. संस्कारप्रकाश—पृ० ४०२–३. पिता पितृव्यो भ्राता वा नैनामध्यापयेत्परः।
वर्जयेदजिनं चीरं जटाधारणमेव च॥

ब्रह्मचारी के हेतु जाति-भेद के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के उत्तरीय तथा वास की कल्पना की गई थी। आश्वलायन, बौधायन तथा वसिष्ठ के मतानुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य जाति के ब्रह्मचारी का उत्तरीय क्रमशः अजिन, रोख तथा गोचर्म अथवा अजाचर्म का होना चाहिये[1]। इसी प्रकार के नियम वास के विषय में भी हैं[2]। महाभारत के अनुसार ब्रह्मचारी के वस्त्र मृगाजिन, क्षौम अथवा काषायरक्त कार्पासिक होने चाहिये[3]। इस प्रकार के वस्त्रों के साथ-साथ उसे मेखला भी धारण करना चाहिये। गौतम, आश्वलायन, बौधायन तथा मनु के अनुसार ब्राह्मण को मेखला मुंज की, क्षत्रिय की मूर्वा की और वैश्य की शाणी की होना चाहिये[4]। महाभारत में मुंज मेखला का उल्लेख है[5]। इसी प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य ब्रह्मचारी के लिये क्रमशः पलाश, उदुम्बर और विल्व के दण्ड की व्यवस्था की गई है[6]। कभी-कभी दण्ड के लिये अश्वत्थ, पीलु, न्यग्रोध, वदर आदि लकड़ियों के नाम भी आते हैं[7]। उपनयन-संस्कार से ब्रह्मचारी यज्ञोपवीत धारण करने लगता है। मनु के आदेशानुसार यह उपवीत सूत का होना चाहिये और इसमें ३ धागे रहने चाहिये[8]। आपस्तम्ब का मत है कि मनुष्य को आचार्य, गुरुजन, अतिथि के सेवा-कार्य के समय और होम, जप, भोजन तथा वेदाध्ययन के समय यज्ञोपवीत अवश्य धारण करना चाहिये[9]। बौधायन तथा वसिष्ठ की व्यवस्था के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को सदैव यज्ञोपवीत धारण किये रहना चाहिये[10]। यही कथन उद्योगपर्व में एक स्थान पर उपलब्ध होता है[11]। इसका कारण यह है

---

१. आश्वलायन गृह्यसू० १.१९.८, बौधा. गृ. २.५.१६, वसिष्ठ–ध. सू. ११.६१–६३

२. आ.ध. १.२.३९–४१–वासः शाणीक्षौमाऽजिनानि। काषायं चैके वस्त्रमुपादिशन्ति। मान्जिष्ठ राजन्यस्य। हारिद्रं वैश्यस्य। वसिष्ठ ११.६४–६७ शुक्लमहतं वासो ब्राह्मणस्य। मांजिष्ठं क्षत्रियस्य हारिद्रं कौशेयं वा वैश्यस्य। सर्वेषां वा तानतवं रक्तम्।

३. महा० १४.४२.४–५–क्षौमं कार्पासिकं चापि मृगाजिनमथापिच सर्वकाषायरक्तं वा।

४. गौतम १.१५, आश्व गृह्य० १.१९.११, बौधा० गृ० .२५.१३.

५. महा० १४.४.६६–मेखला च भवेन्मुंजी।

६. आश्व० गृ० .१.१९.१३.१.२०.१,

७. गौतम १.२२–२३, आप.गृ० ११.१५–१६

८. मनु.२.४४

९. आप.ध.सू.१.५.१५.१.

१०. उद्योग ४०.२५.

११. बौधा.गृ०.सू० २.५.७–८ में उद्धृत-यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात्। आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं वलमस्तु तेजः॥

कि वटु के साधनामय एवं अनुशासनशील जीवन के प्रतीक तथा एक उच्च आदर्श की स्थापना के उद्घोष के रूप में यह यज्ञोपवीत अत्यन्त पवित्र समझा जाने लगा था[1]।

ब्रह्मचर्याश्रम में प्रविष्ट होने पर व्यक्ति को अनेकानेक विधिनिषेधों का पालन करना पड़ता है। प्रत्येक ब्रह्मचारी को प्रातः-सायं भैक्ष्य एवं याज्ञिक कार्य करना चाहिये। भिक्षा-वृत्ति में प्राप्त समस्त पदार्थ आचार्य को समर्पित कर देना चाहिये। शेष दिन भर उसे बैठना नहीं चाहिये। गुरु का आदेश मिलने पर ही वह भिक्षा में प्राप्त अन्न का उपयोग कर सकता था। आश्वलायन गृह्यसूत्र एवं काठक गृह्य-सूत्र में ब्रह्मचारि को आचमन, गुरुशुश्रूषा, वाक्संयम, समिधादान आदि का आदेश दिया गया है[2]। मनु ने समिधादान, भिक्षा-वृत्ति, शैय्यात्याग गुरुशुश्रूषा, नित्य स्नान, देवर्षि-पितृतर्पण को ब्रह्मचारि-नियमों में सम्मिलित किया गया है[3]। इसी प्रकार के नियमों का प्रतिपादन गौतम, गोभिल और बौधायन ने भी किया है[4]।

ब्रह्मचर्याश्रम में भिक्षावृत्ति एक महत्वपूर्ण कर्म था। इस सम्बन्ध में भिक्षु एवं दाता दोनों के लिये अनेक नियमों की कल्पना की गई थी। भिक्षान्न अत्यन्त पवित्र समझा जाता था[5]। भिक्षावृत्ति प्रत्येक ब्रह्मचारी के लिये अनिवार्य थी। मनु की व्यवस्था के अनुसार लगातार एक सप्ताह तक भिक्षावृत्ति से विरत रहने पर ब्रह्मचारी व्रतच्युत हो जाता था और इसके लिये उसे प्रायश्चित करना आवश्यक हो जाता था[6]। व्यवस्थाकारों का कदाचित् विश्वास था कि भिक्षावृत्ति से ब्रह्मचारी में विनम्रता एवं अभाण्डता की भावना परिपुष्ट होगी। पुनः प्राचीन भारत की शिक्षा-संस्थाओं का संचालन जनता के उदार दान पर ही निर्भर था। ये ब्रह्मचारी संसार-सुख से विरत होकर राष्ट्रीय कल्याण के हेतु ही साधना का अति कठोर जीवन व्यतीत करते हुए अपनी शारीरिक एवं मानसिक शक्तियों का विकास करते थे। अतः गृहस्थों का भी यह कर्त्तव्य था कि लोक-कल्याण के हेतु वे इन ब्रह्मचारियों की आवश्यकताओं की पूर्ति करें। इसी राष्ट्रीय आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए व्यवस्थाकारों ने भिक्षा-दान को एक धार्मिक कार्य बना दिया था। आपस्तम्ब का कथन है कि यदि महिलायें, भिक्षार्थी ब्रह्मचारी को निराश करें तो उनका संचित पुण्य या तो ब्रह्मचारी में हस्तांतरित हो जाता है या नष्ट हो जाता है[7]। इसी प्रकार गौतम ने

---

[1]. आश्व० गृ० १.२२.१०-१६, गोभिलगृह्य ३.२.४६.४७

[2]. आश्व. गृ० १.२२.२. काठक गृ० ४१.१७.
महा १४.४६.२-७ गुरुणा समनुज्ञातो भुंजीतान्नमकुत्सयन्।

[3]. मनु. २.१०८.१७६.

[4]. गौतम.२.१०८.१७६.

[5]. बौधायन धर्म.१.५.५६.मनु २.१८९

[6]. मनु २.१८७.

[7]. आप.ध.सू.११.३ २६.

व्यवस्था की थी कि दैनिक यज्ञ एवं बलि के पश्चात् गृहस्थ को भिक्षादान करना चाहिये [1]। मनु ने भी ब्रह्मचारियों तथा परिव्राजकों को भिक्षा देने का आदेश दिया है [2]।

जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, अधिकांश व्यक्तियों का ब्रह्मचर्याश्रम अथवा अध्ययन-काल १२ वर्ष तक रहता था। तत्पश्चात् वे गुरुदक्षिणा दे कर गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होते थे। परन्तु इसके विरुद्ध कुछ ऐसे भी ब्रह्मचारी होते थे जो आजीवन गुरुगृह में रहते हुए तथा गुरु की सेवा-शुश्रूषा करते हुए वेदाध्ययन करते रहते थे। सर्वप्रथम छान्दोग्य उपनिषद् में ऐसे ब्रह्मचारियों का उल्लेख मिलता है[3]। इन्हें नैष्ठिक कहते हैं[4]। ऐसे ब्रह्मचारियों को आजीवन समिधादान भैक्ष्य एवं वेदाध्ययन करना पड़ता था।[5] आपस्तम्ब धर्मसूत्र एवं मनुस्मृति में भी इसी प्रकार की कल्पना की गई[6]।

ब्रह्मचर्याश्रम की अवधि स्नान अथवा समावर्तन संस्कार के साथ समाप्त होती है। पारस्कर गृह्यसूत्र की व्यवस्था है कि वेदाध्ययन करने के पश्चात् आचार्य की आज्ञा से ब्रह्मचारी को स्नान करना चाहिये[7]। आश्वलायन गृह्यसूत्र में भी गुरुदक्षिणा एवं स्नान का उल्लेख है[8]। स्नान करने के पश्चात् ब्रह्मचारी स्नातक के नाम से प्रसिद्ध होता है। शतपथ ब्राह्मण तथा गोपथ ब्राह्मण में स्नातक का नामोल्लेख मिलता है। वहाँ इस शब्द का प्रयोग ब्रह्मचारी से पृथक् किया गया है[9]। वास्तव में स्नातकावस्था ब्रह्मचर्यावस्था तथा गृहस्थावस्था के बीच का मध्यान्तर है। विद्याध्ययन करने के पश्चात् कभी-कभी मनुष्य के विवाहित होने में कुछ काल लगता था। उस बीच की अविवाहित अवस्था को ही स्नातकावस्था के

---

१ गौतम.५.१६

२ मनु ३.९५.

३ छान्दोग्य उप.व.२३.१–त्रयोधर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एवं द्वितीयो ब्रह्मचर्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुले वसादयन् सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति।

४. मिता.। याज्ञ.। आत्मानं निष्ठां उत्क्रान्तिकालं नयतीति नैष्ठिकः।

५. स्मृतिचन्द्रिका १ पृ० ६२ में उद्धृत वृहस्पति।

६. आप.ध.सू.१.१.४.२९,मनु २.२४३,२४४,२४७,–९

७. पारस्कर गृह्यसूत्र २.–६.वेदं समाप्य स्नायाद् ब्रह्मचर्यंवाष्टाचात्वरिशक द्वादशकेप्येके गुरुणानुज्ञातः।

८. आश्व गृ.३.६.४.– विद्यान्ते गुरुमर्थेन निमन्त्र्य कृत्वानुज्ञातस्य वा स्नानम्।

९. शतपथ.ब्रा.१२.१.१.१०, गोपथ ब्रा.। पूर्वार्ध ४.६.।

नाम से पुकारते हैं[१]। इस अवस्था के विधि-निषेध ब्रह्मचर्यावस्था के विधि-निषेधों से बहुत-कुछ भिन्न हैं। भैक्ष्य ब्रह्मचारी का प्रधान कर्तव्य था। परन्तु शतपथ ब्राह्मण का कथन है कि स्नान के पश्चात् मनुष्य को भिक्षा-वृत्ति का अनुसरण नहीं करना चाहिए। स्नातक-धर्म ब्रह्मचर्य-धर्म की अपेक्षा गृहस्थ-धर्म के अधिक निकट है। स्नातक तथा गृहस्थ के लिये गौतम ने अनेक समान नियमों का प्रतिपादन किया है[२]। स्नातक को अकारण दाढ़ी तथा नखों का वर्धन न करना चाहिये[३]। यथासम्भव उसे गन्दे और पुराने वस्त्रों का सर्वथा त्याग करना चाहिये। उसके वस्त्र श्वेत तथा पवित्र होने चाहिये[४]।

इनके अतिरिक्त व्यवस्थाकारों ने उसके आचार-विचार के सम्बन्ध में अनेकानेक विधि-निषेध बनाये हैं। मनु का कथन है कि उसे पापियों, चाण्डालों, अस्पृश्यों, मूर्खों तथा दम्भी व्यक्तियों के सम्पर्क में न रहना चाहिये[५]। उसे अपने बन्धु-बान्धवों, पुरोहितों एवं आश्रितों के साथ कलह न करनी चाहिए[६]। उसके लिये रात्रि-स्नान, नग्नस्नान, वर्षा-काल में दौड़ना, वृक्षों पर चढ़ना, नदी में तैरना आदि वर्जित है[७]। इन नियमों के अतिरिक्त स्नातक के पंचमहायज्ञों, उपाकर्म, उत्सर्जन, आचमन, अनध्याय आदि के सम्बन्ध में भी नियम बनाये गये[८]।

ऐसा प्रतीत होता है कि उपनिषद्-काल समावर्तन-संस्कार से परिचित था। अनेक स्थलों पर विद्याध्ययन के पश्चात् गुरुगृह से समावर्तन करते हुए ब्रह्मचारियों का उल्लेख है[९]। आश्वलायन एवं बौधायन में स्नान के स्थान पर समावर्तन-संस्कार का ही उल्लेख है। मनु की व्यवस्था है कि अध्ययन-कार्य की समाप्ति के पश्चात् ब्रह्मचारी को स्नान करना

---

१. बौ. गृ० परिभाषा १.१५.१०—आजायासंगमात्स्नातका भवत्यन्त ऊर्ध्वं गृहस्थाः
शत. ब्रा० ११.३.३.७—न ह वै स्नात्वा भिक्षेत्

२. गौतम० ६.१–२

३. „ ८.८. मनु ५.३५

४. आप. ध सू. १.११.३०, १०–१३, मनु ४.३४.३५

५. मनु. ४.१६

६. शान्ति पर्व २४४. १४–१६

७. आश्व गृ०. ३.६. ६–७

८. आप. ध. सू. १. ११ ३०. ६, गौतम ६. मनु ४.१.३.

९. छान्दोग्य उप. ८.१५.१—आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्य कुटुम्बे। छान्दोग्य ४. १०. १—स ह स्मान्यानन्तेवासिनः समावर्तयंस्त ह स्मैव न समावर्तयति।

चाहिए और तत्पश्चात् समावर्तन[१]। इससे स्पष्ट हो जाता है कि स्नानकर्म समावर्तन का ही एक अङ्ग था। इसी आशय को बौधायन गृह्यसूत्र में यह कह कर प्रकट किया गया है कि 'वेदमधीत्य स्नास्यन्'। ये शब्द समावर्तनसंस्कार के सम्बन्ध में कहे गये हैं[२]।

गृहस्थाश्रम

समावर्तन-संस्कार से ब्रह्मचर्याश्रम का अन्त हो जाता है और ब्रह्मचारी विवाह कर गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होता है[३]। ब्राह्मण-व्यवस्था में समस्त आश्रमों में गृहस्थाश्रम सर्वप्रधान है। आपस्तम्ब ने आश्रमों का उल्लेख करते हुए सर्वप्रथम इसी आश्रम का नामांकन किया है[४]। गौतम[५] का स्पष्ट कथन है कि वास्तव में आश्रम एक ही है और वह है गृहस्थाश्रम। अन्य आश्रम इससे हीन हैं। इस कथन की पुष्टि बौधायन धर्मसूत्र से भी होती है[६]। रामायण ने गृहस्थाश्रम को ही सर्वप्रमुख माना है[७]। महाभारत में तो एक स्थान पर कथन है कि गृहस्थाश्रम का गुरुत्व तीनों आश्रमों के सम्मिलित गुरुत्व के बराबर है[८]। मनु ने भी गृहस्थाश्रम को ही प्राधान्य दिया है[९]। इस प्रधानता के अनेक कारण थे। प्रथम, ब्राह्मण-धर्म प्रारम्भ से ही प्रवृत्ति-प्रधान था। अतः निवृत्तिमूलक वानप्रस्थाश्रम और सन्यासाश्रम कभी भी उसमें लोकप्रिय न हो सके। यद्यपि चतुराश्रम-व्यवस्था में इन आश्रमों के ग्रहण करने की योजना थी, परन्तु इसमें सन्देह है कि किसी भी समय प्रवृत्तिमार्गी जनता ने बहुसंख्या में गृहस्थाश्रम के अतिरिक्त अन्य आश्रमों को भी अंगीकार किया हो। ब्रह्मचर्याश्रम का महत्व उसी सीमा तक था जहाँ तक कि वह मनुष्य को गृहस्थाश्रम की आवश्यकताओं एवं उसके उत्तरदायित्व के लिये योग्य बनाता था[१०]। द्वितीय, ब्राह्मण-धर्म में पुत्र-प्राप्ति अत्यन्त

---

१. मनु० ३. ४.

२. बौधा० गृ० २. ६. १.

३. मनु. ३. ४.

४. आप. ध. सू. २. ९. २१. १—चत्वार आश्रमा गार्हस्थ्यमाचार्यकुलंमौनं वानप्रस्थ्यमिति।

५. गौतम. ३. १. ३५—ऐकाश्रम्यं त्वाचार्या प्रत्यक्षविधानाद्गार्हस्थ्यस्य।

६. बौधा. ध. सू. २. ६. २९. ऐकाश्रम्यं त्वाचार्या प्रजननत्वादितरेषाम्।

७. अयोध्या. १०६. २२.

८. शान्ति. १२. १२.

९. मनु. ३. ७७.-८०. ६. ८९.-९०

१०. दीर्घं कालं ब्रह्मचर्यं... एतानि लोकगुप्त्यर्थं कलेरादौ महात्मभिः निवर्तितानि कर्माणि व्यवथापूर्वकं बुद्धैः—आदिपुराण

आवश्यक समझी जाती थी[1]। पितरों की सन्तुष्टि के लिये तर्पणादि की आवश्यकता थी[2] और ये पुत्र के बिना नहीं हो सकते थे। पुत्र-प्राप्ति एकमात्र गृहस्थाश्रम से ही सम्भव थी। अतः ब्राह्मण-व्यवस्था में सबसे अधिक महत्व इसी आश्रम को दिया गया है[3]। तृतीय, गृहस्थों के द्वारा ही अन्य आश्रमियों का पालन-पोषण होता था। जीवन-निर्वाह एवं सुरक्षा के लिये वे गृहस्थों पर ही निर्भर थे। ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ एवं सन्यासी— सभी गृहस्थों पर आश्रित थे। गृहस्थों के अभाव में अन्य आश्रमियों का अस्तित्व असम्भव था। इसी विशेषता को लक्ष्य करते हुये मनु ने लिखा है कि जिस प्रकार समस्त प्राणी जीवन के लिये वायु पर निर्भर हैं उसी प्रकार अन्य आश्रमों के मनुष्य गृहस्थ पर। अन्नदान तथा ज्ञानदान के द्वारा गृहस्थ अन्य तीनों कोटि के आश्रमियों का वहन करता है। अतः गृही ही सर्वोत्तम है[4]। यही भाव वसिष्ठ और विष्णु ने भी प्रकट किया है[5]।

गृहस्थाश्रम की प्राधान्य-प्रतिष्ठा का अन्तिम कारण था ब्राह्मण-धर्म का श्रमण-धर्म से विरोध। श्रमण-धर्म नितान्त निवृत्तिमार्गी था। उसकी व्यवस्था में गृहपति का स्थान नितान्त गौण था। समस्त संगठन भिक्षु अथवा परिव्राजक को ही दृष्टिकोण में रख कर किया गया है। कर्न का कथन कि बौद्ध धर्म प्रमुखतया भिक्षु-संस्था थी और उसमें जनसाधारण सहायक-मात्र थे, नितान्त सत्य है। बौद्ध साहित्य में स्थान-स्थान पर सांसारिकता का त्याग कर परिव्राजक-जीवन के हेतु प्रोत्साहन दिया गया है। महावग्ग में तो महात्मा बुद्ध यहाँ तक उपदेश देते हैं कि दो भिक्षुओं को भी एक साथ एक दिशा में न जाना चाहिये[5]। सुत्तनिपात में उस भिक्षु की प्रशंसा की गई है जो संसार-त्याग कर वृक्ष, श्मशान अथवा पर्वत-कन्दरा का आश्रय लेता है[6]। बौद्ध गृहस्थ-जीवन को

---

1. ऐत. ब्रा. ३३. ११-पुत्रं ब्रह्माण इच्छध्वं स वै लोको वदावदः, ऋ. ५.४.१० तैत्ति. सं० १. ४. ४६. १
2. तैत्ति. सं० ६. ३. १०. ५
3. बौधा. ध. सू. २. ६. ३६. ४२–४३-ऐकाश्रम्यं त्वाचार्या अप्रजननत्वादितरेषाम्। प्रजाभिरग्ने अमृतत्वमश्याम् जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवा जायते ब्रह्मचर्येणर्षिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्य इति गौतम–३ ब्रह्मचारी गृहस्थो भिक्षु वैखानस इति तेषां गृहस्थो योनिरप्रजननत्वादितरेषाम्।
4. मनु. ३. १०. ७७–८०–यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्व जन्तवः,
तथा गृहस्थ माश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः।
यस्मात् त्रयोप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहं,
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमी गृही ॥
5. महावग्ग १. ११.-मा एकेन द्वे अगमित्थ।
6. सुत्तनिपात पृ० ६५८–भिक्खुनो विजिगुच्छतो भजतो रितं आसनं रुक्खमूलं सुसनं वा पब्बतनं गुहासु वा।

मनुष्य के आध्यात्मिक जीवन, अतः उसके सर्वोच्च आदर्श, की प्राप्ति में बाधक समझते थे[१]। धम्मपद उसी को यथार्थ ब्राह्मण समझता है जो पूर्ण-रूपेण निवृत्तिमार्गी हो[२]। ब्राह्मण व्यवस्थाकार गृहस्थाश्रम को समाज-व्यवस्था का केन्द्र-बिन्दु समझते थे। अतः उन्हें निवृतिमार्गी बौद्धों का यह संसार-त्याग का प्रचार अपने धर्म, संस्कृति एवं सभ्यता के लिए घातक प्रतीत हुआ। पुनः, बौद्ध एवं जैन धर्म से प्रभावित होकर अनेकानेक महिलाओं ने भी गृह-त्याग कर भिक्षुणी का जीवन अंगीकार कर लिया था। इससे ब्राह्मण व्यवस्थाकार और भी क्षुब्ध थे। अत उन्होंने सूत्र-साहित्य के रूप में अपनी व्यवस्था का पुनः संगठन किया और वानप्रस्थ एवं सन्यास के आश्रमों की अपेक्षा गृहस्थाश्रम को ही सबसे अधिक महत्वपूर्ण घोषित किया। इस आश्रम के विधि-निषेधों का पालन करने से ही मनुष्य को स्वर्ग प्राप्ति हो सकती है[३]। महाभारत में कपिल ने इस मत का खण्डन किया है कि गृहस्थाश्रम के द्वारा मोक्ष अप्राप्य है[४]। उसे अन्य मार्गों के अवलम्बन की आवश्यकता नहीं है। श्रमण-विचार धारा और ब्राह्मण-विचार-धारा का यह शाश्वतिक विरोध पंतजलि के महाभाष्य से भी प्रतिध्वनित होता है[५]। इसके पूर्व कौटिल्य ने इस प्रकार के भिक्षुवाद को हतोत्साहित करने के हेतु अनेकानेक नियम बनाये थे।

संस्कार

ब्राह्मण-व्यवस्था में संस्कारों का विशेष महत्व है। इसके अनुसार जन्म से मरणपर्यन्त मनुष्य का जीवन संस्कार-विहित है। प्रारम्भ में संस्कार शब्द का प्रयोग किसी भी यज्ञसम्बन्धी शुद्धिकारक कार्य के अर्थ में होता था। इसी भाव से जैमिनि ने यजी के केश-मुण्डन, नखकर्तन आदि कार्यों को संस्कार कहा है[६]। परन्तु धर्मसूत्रों[७] तक आते-आते इस शब्द का प्रयोग उस विशिष्ट अर्थ में होने लगा जिसे आज भी हम ग्रहण करते हैं। यद्यपि संस्कारों में शुद्धीकरण की भावना सदैव रही[८]

---

१. सामान्नफल सुत्त. ५. ४१-सबाधो धरावसो रजोपथो अब्भोकासं पब्बज्जा न इदं सुकंर अंगार अज्झावसता एकन्तपरिपुन्न एकन्तपरिसुद्धं संखलिखित्त ब्रह्मचरियं चरितुं।

२. धम्मपाद ४०४ असंसत्थं गहत्थेहि अनागारेहि चोभयं, अनोकसारिं अपिच्छ तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं।

३ वसिष्ठ ८—नित्योदकी नित्ययज्ञोपवीती, नित्यस्वाध्यायी पतितान्नवर्जी,
ऋतौ गच्छन् विधिवच्च जुह्वन्, क च्यव्यते ब्राह्मणो ब्रह्मलोकात्।

४. शान्ति. २७०. १०–११

५. महाभाष्य—येषाञ्चविरोधः शाश्वतिकः।

६. जैमिनि ८. ३.

७. गौतम ८.८, आप० १. १. १. ६, वसिष्ठ ४. १,

८. मनु० २. २७–२८.

तथापि उनकी उपयोगिता धार्मिक अनुष्ठानों के रूप में ही अधिक विकसित हुई। यदि हम समस्त संस्कारों की रूप-रेखा का सविस्तार अध्ययन करें तो इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि वे मनुष्य के जीवन की विविध शारीरिक, मानसिक, चारित्रिक, मनोवैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक अवस्थाओं के द्योतक हैं। यह कथन विभिन्न संस्कारों के वर्णन के साथ स्पष्ट हो जावेगा।

विभिन्न व्यवस्थाकारों ने संस्कारों की संख्या भिन्न-भिन्न दी है। गौतम ने इनकी संख्या ४० बताई है[१]। परन्तु अन्य व्यवस्थाकारों की संख्या इससे कम है। मनु के अनुसार ये संस्कार द्विजाति के लिये व्यवस्थित थे। शूद्रों को इनका अधिकार न था[२]। इसी प्रकार वसिष्ठ धर्मसूत्र एवं विष्णु धर्मसूत्र के अनुसार शूद्र को धार्मिक कार्यों एवं व्रतों का अधिकार न था[३]। लघुविष्णु का स्पष्ट कथन है कि शूद्र संस्कार-वर्जित है[४]। परन्तु अन्य अनेक व्यवस्थाकारों का मत इनसे कुछ भिन्न है। अपरार्क का मत है कि यद्यपि शूद्र स्वयं व्यक्तिगत रूप से व्रतों का अधिकारी नहीं है तथापि वह उन्हें किसी ब्राह्मण के द्वारा सम्पादित करा सकता है[५]। मिताक्षरा की व्यवस्था है कि शूद्र होममंत्रहीन व्रत कर सकता है[६]। वेद-व्यास ने भी शूद्रों को १० मन्त्रहीन संस्कार करने की अनुमति दी है[७]। इसी प्रकार हरदत्त का कथन है कि शूद्र मन्त्रहीन निषेक, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन और चौल नामक संस्कार कर सकता है[८]। समस्त साक्ष्यों का अध्ययन करने से यही प्रतीत होता है कि शूद्र वर्ग पूर्णरूप से संस्कारहीन न था। उनके भी कतिपय संस्कार होते थे, परन्तु उनमें मन्त्र-पाठ न होता था। उदाहरणार्थ, मनु का यह कथन कि शूद्र का नामकरण उसके उद्यम से सम्बन्धित होना चाहिये,[९] यही प्रदर्शित करता है कि शूद्रों का नामकरण-संस्कार होता था।

---

१. गौतम ८. १५–२४-गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण अन्नप्राशन, चौल, उपनयन, चतुर्व्रत, समावर्तन, विवाह, पंचमहायज्ञ, सप्तपाकयज्ञ, सप्तहविर्यज्ञ और सप्त सोमयज्ञ।

२. मनु १०. १२६.

३. वसिष्ठ ध० सू० १८. १४, विष्णु ध० सू० १७. ४८–५२.

४. लघुविष्णु १. १५.

५. मनु० ४. ८०. पर अपरार्क

६. याज्ञ० ३. २६२. पर मिताक्षरा।

७. वेदव्यास १. १७-गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चौल, कर्णवेध और विवाह।

८. गौतम १०५१ पर हरदत्त।

९. मनु ४. ८२

परन्तु समस्त संस्कार प्रत्येक व्यक्ति के लिए अनिवार्य न थे। जाबालोपनिषद् का उल्लेख है कि कोई भी मनुष्य इच्छा एवं क्षमता के अनुसार ब्रह्मचर्याश्रम के पश्चात् सीधे सन्यासी हो सकता था [१]। इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि स्नान और विवाह के संस्कार अनिवार्य न थे। परन्तु द्विजाति के हेतु समस्त संस्कार अनिवार्य प्रतीत होते हैं [२]। पुरुषों की भांति स्त्रियों के भी ये विविध संस्कार होते थे, परन्तु दोनों में कुछ भेद था। जातकर्म से लेकर चूड़ाकर्म तक के समस्त संस्कार कन्याओं के लिए मन्त्रहीन होते थे, [३] परन्तु विवाह-संस्कार उनका भी समन्त्र होता था [४]।

संस्कारों के महत्व को प्रदर्शित करने के हेतु यहां पर प्रमुख संस्कारों का संक्षिप्त वर्णन कर देना परमावश्यक प्रतीत होता है।

गर्भाधान

बौधायन, गौतम और याज्ञवल्क्य ने इस संस्कार को गर्भाधान के नाम से सम्बोधित किया है [५]। परन्तु मनुस्मृति और विष्णु धर्मसूत्र में इसके लिये निषेध तथा शांखायन और आपस्तंब गृहसूत्रों में चतुर्थीकर्म के शब्दों का प्रयोग किया गया है [६]। इस संस्कार के सम्बन्ध में दम्पत्ति के अनेक धार्मिक एवं याज्ञिक क्रियाओं के पश्चात् सम्भोग की व्यवस्था है [७]। गर्भाधान के हेतु मनु और याज्ञवल्क्य ने पत्नी के मासिक धर्म प्रारम्भ होने के पश्चात् १६ दिवस उपयुक्त बताये हैं [८]। परन्तु यह संस्कार पूर्णिमा, अमावस्या, अष्टमी और चतुर्दशी को नहीं सम्पादित होना चाहिये। आपस्तम्ब गृह्यसूत्र में मासिक धर्म के पश्चात् चौथी और सोलहवीं रात्रियों के बीच कोई भी सम-संख्या (even number), वाली रात्रि अधिक उपयुक्त है। गर्भाधान संस्कार के सम्बन्ध में ये समस्त विधि-निषेध सांकेतिक (Symbolical), गूढ़, (mystic), धार्मिक, स्वास्थ्य-सम्बन्धी (Hygienic) अथवा ज्योतिःसम्बन्धी थे।

---

[१] जाबालोपनिषद् ४.

[२] स्मृतिच० १.१३-१४

[३] आश्व गृ० १.१५.१२, १.१६.६, ६.१७.१८, मनु० २.६६

[४] मनु० २.६७, याज्ञ १.१३.

[५] बौधा. गृह्य० ४.६.१, गौतम ८.१४, याज्ञ० १ ११

[६] मनु० २.१६, याज्ञ. १ १०-११, शांखा गृ० १.१८-१६, आप० गृ० ८१.०-१६ पार० गृ० १.११, आप० गृ० ८. १०-११.

[७] बृहदारण्यक उप० ६. ४. १३, १६-२२, पार गृ० १. ११, आप० गृ०८.१०-११, गोभिल २. ५. इत्यादि।

[८] मनु ३.४६, याज्ञ० १. ६७.

[९] मनु ४. १२८, याज्ञ० १.७६

पुंसवन

इस संस्कार का आधार मनोवैज्ञानिक है। इसके सम्पादन का ध्येय पुत्र-प्राप्ति है। पारस्कर गृहसूत्र के अनुसार यह संस्कार गर्भावस्था के द्वितीय अथवा तृतीय मास में होना चाहिये[१]। आश्वलायन, शांखायन तथा गोभिल तृतीय मास को अधिक उपयुक्त बताते हैं। काठक गृहसूत्र आठवें मास को उपयुक्त समझता है।

सीमन्तोन्नयन

यह संस्कार सीमन्त[2] अथवा सीमन्तकरण[3] के नाम से भी उल्लिखित है। भिन्न-भिन्न व्यवस्थाकारों ने इस संस्कार का सम्पादन-काल भिन्न-भिन्न दिया है जो गर्भावस्था के तीसरे मास से लेकर आठवें मास के बीच में रक्खा गया है[4]। जहाँ तक इस संस्कार की धार्मिक क्रियाओं का सम्बन्ध है उनका उल्लेख आश्वलायन, शांखायन, आपस्तम्ब, हिरण्यकेशिन्, बौधायन, गोभिल आदि की व्यवस्थाओं में उपलब्ध होता है।[५] संस्कारप्रकाश में उल्लेख है कि इस संस्कार का प्रमुख ध्येय गर्भ को भूत-प्रेतों से संरक्षित करना है[६]। परन्तु इस अवसर पर जो धार्मिक क्रियायें होती थीं उनमें पत्नी के मनोरंजन की अन्तर्निहित भावना भी परिलक्षित होती है। उसका सीमन्तोन्नयन, अन्नपान, मालाग्रहण एवं संगीत-वाद्यादि यही तथ्य इंगित करते हैं। परन्तु प्रश्न यह है कि यह संस्कार स्त्री का संस्कार था अथवा गर्भ का। आपस्तम्ब, बौधायन, पाराशर आदि का मत है कि यह संस्कार स्त्री का है। अतः इसका सम्पादन प्रथम गर्भाधान के अवसर पर ही होना चाहिये। परन्तु इसके विरुद्ध कुछ अन्य व्यवस्थाकारों का मत है कि यह गर्भ का संस्कार है। अतः प्रति गर्भाधान के अवसर पर इसकी पुनरावृत्ति होनी चाहिए[७]।

---

१. पार० गृह० १. १४

२. याज्ञ० १. ११, वेदव्यास १. १८

३. गोभिल २.७१, मानव गृ० १.१२.२, काठक गृह० ३१. १

४. गोभिल २.७.२. शांखा० गृह० १.२२.१, हिरण्य गृह० २. १. याज्ञ १. ११, वेदव्यास १. १८. आदि

५. आश्व० १.१४. १–६, शांखा० १.२२, आप० १४.१–८, हिरण्य २. १, बौधा० १.१०

६. संस्कार-प्रकाश पृ० १७२–३

७. स्मृतिचन्द्रिका १. १७–तथा विष्णु। सीमन्तोन्नयनं कर्म तत् स्त्रीसंस्कार इष्यते। केचिद्गर्भस्य संस्कारो गर्भे गर्भे प्रयुञ्जते।

जातकर्म

इस संस्कार के भी सम्पादन-काल के विषय पर व्यवस्थाकारों में मतभेद है। आश्वलायन का मत है कि शिशु की उत्पत्ति के पश्चात् तुरन्त ही, जब कि उसे माता के अतिरिक्त और किसी ने भी न देखा हो, यह संस्कार होना चाहिये[1]। गोभिल और खादिर का कथन है कि नार कटने तथा प्रथम स्तन्यपान करने के पूर्व यह संस्कार करना चाहिये[2]। आश्वलायन गृहसूत्र के अनुसार इस अवसर पर पिता अन्य मनुष्यों के समक्ष पुत्र का स्पर्श करता है और मन्त्रोच्चार के साथ उसे स्वर्ण-मिश्रित घृत एवं मधु खिलाता है। इसके पश्चात् वह शिशु के कानों में मेधाजनन पढ़ता है और अनेक प्रकार से मन्त्रों में उसके लिये शुभ-कामना करता है, इत्यादि[3]।

नामकरण

इस संस्कार के अनुसार शिशु का नाम रक्खा जाता था। शिशु के शारीरिक विकास की सूचना देता हुआ यह संस्कार पारिवारिक उल्लास का अवसर भी था। परन्तु अनेक संस्कारों की भांति इसके भी सम्पादन-कार्य में मतभेद है। बौधायन गृहसूत्र के अनुसार यह संस्कार जन्म के पश्चात् दसवें अथवा बारहवें दिन होना चाहिये[4]। गोभिल का मत है कि जन्म के दस रात्रि अथवा सौ रात्रि अथवा एक वर्ष पश्चात् यह किसी भी समय सम्पादित किया जा सकता है[5]। याज्ञवल्क्य इसे जन्म के पश्चात् ग्यारवहें दिन सम्पादित करने का आदेश देते हैं[6]। गृहसूत्रों में नाम-निर्धारण पर भी नियम हैं। बौधायन एवं मानव गृहसूत्रों के अनुसार प्रत्येक नाम ऋषि, देवता, पूर्व-पुरुष अथवा नक्षत्र के नाम से सम्बन्धित होना चाहिये[7]। यही नहीं, नाम में कितने अक्षर होने चाहिये, इनकी संख्या सम (even) होनी चाहिये अथवा विषम (odd), नाम के अन्त में विसर्ग आवश्यक है अथवा नहीं, इन छोटे-छोटे विषयों पर भी व्यवस्थाकारों ने विस्तृत विवेचना की है[8]। परन्तु इन गृह-सूत्रों की अपेक्षा मनु के नाम-निर्धारण की प्रणाली कहीं अधिक सुगम और सरल है[9]।

---

१. आश्व० १. १५. २.
२. गोभिल २. ७. १ ७, खादिर २. २. ३२.
३. आश्व गृ० १. १५. १-४.
४. बौधा० गृ० २. १. २३.
५. गोभिल २. ८. ८.
६. याज्ञ० १. १२.
७. बौधा० गृ० २. १. २८-२६, मानवगृह १. १८
८. बौधा० गृ० २. १. २५; आप० गृ० १५. ८. ६, आश्व० गृ० १. १५. ४-१० इत्यादि।
९. मनु० २. ३१-३२.

उनके अनुसार चतुर्वर्णों के व्यक्तियों के नाम क्रमशः शुभ, शौर्य, समृद्धि और हीनता के द्योतक होने चाहिये। उनके नाम के अन्त में क्रमशः शर्मा, रक्षा, पुष्टि और प्रेष्य के उपपद होने चाहिए। बालिकाओं के नाम पर भी व्यवस्थाकारों ने विस्तृत विचार किया है। आपस्तम्ब की व्यवस्था के अनुसार नक्षत्रों, वृक्षों एवं सरिताओं से सम्बन्धित नाम स्त्रियों के लिए अशुभ होते हैं[1]। मनु की व्यवस्था यहाँ भी सरल है। उनका मत है कि स्त्रियों के नाम उच्चारण के दृष्टिकोण से सरल, कर्णप्रिय, शुभ एवं आशीर्वाद-व्यंजक होने चाहिये[2]। जहां तक नामकरण-संस्कार की धार्मिक क्रियाओं का सम्बन्ध है, वे आपस्तम्ब, आश्वलायन वौधायन, गोभिल, मानव आदि प्रायः सभी गृहसूत्रों में वर्णित हैं[3]।

निष्क्रमण यह संस्कार भी पारिवारिक उल्लास का अवसर प्रदान करता था। शिशु सर्वप्रथम घर के बाहर खुले वातावरण में निकाला जाता था। अतः यह संस्कार उसके जीवन के विकास की सूचना देता था। इस विषय पर व्यवस्थाकारों में मतभेद है कि निष्क्रमण के अवसर पर शिशु सूर्य-दर्शन करता था अथवा चन्द्र-दर्शन। पारस्कर एवं मानव गृह-सूत्रों में सूर्य-दर्शन का वर्णन है। परन्तु गोभिल चन्द्र-दर्शन की व्यवस्था करते हैं[4]। इस संस्कार का वर्णन वौधायन, गोभिल, खादिर, काठक एवं मानव आदि के गृहसूत्रों में मिलता है[5]। इनके अनुसार इस संस्कार का सम्पादन-काल जन्म के पश्चात् चौथा मास है।

अन्नप्राशन इस संस्कार में सर्वप्रथम शिशु पक्वान्न खाता है। अतः यह भी शिशु के परिवार के हेतु उल्लास का अवसर प्रदान करता है। यद्यपि इस संस्कार के सम्पादन-काल में थोड़ा मतभेद है[6] तथापि अधिकांश व्यवस्थाकारों ने इसका काल जन्म के पश्चात् छठा मास रक्खा है। आपस्तम्ब के कथनानुसार इस अवसर पर ब्राह्मणों को प्रीतिभोज कराया जाता है। तत्पश्चात् वे शिशु को आशीर्वाद देते हैं और तब

---

[1] आप० गृ० ३. १३.

[2] मनु० २. ३३.

[3] आप० १५. १-११, अश्व १. १५. ४-१०, वौधा० २. १. २३-२३, ३१. गोभिल २. ८. ८.-१८, मानव १. १८. १.

[4]. गोभिल गृ० १.५. १०-१२.

[5]. वौधा० गृ० २.२, गोभिल २ ८. १-७, खादिर २.३.१-५, काठक ३-७३८, मानव १.१०. १-६

[6]. मानव गृहसूत्र के अनुसार पांचवा या छठा, शांखायन गृहसूत्र के अनुसार छः मास अथवा एक वर्ष के पश्चात् तथा काठक गृहसूत्र के अनुसार छः मास अथवा दांत निकलने के पश्चात्।

मन्त्रध्वनि के बीच शिशु पक्व अन्न ग्रहण करता है [१]। इसी प्रकार अन्य व्यवस्थाकारों ने भी इस संस्कार का वर्णन किया है [२]।

चौल

यह संस्कार चौल के नाम से भी प्रख्यात है [३]। भारद्वाज गृह्यसूत्र एवं मनुस्मृति से ऐसा प्रतीत होता है कि यह संस्कार वैदिककाल में ही किसी न किसी रूप में प्रचलित हो चुका था [४]। अधिकांश व्यवस्थाकारों के मतानुसार यह संस्कार तीन वर्ष की आयु में संपादित होना चाहिए [५]। इस अवसर पर बालक के शीश के बाल मुड़वा दिये जाते हैं और उस पर एकमात्र शिखा शेष रहती है। बौधायन का कथन है कि शिखाओं की संख्या एक, तीन अथवा पाँच होनी चाहिये [६]। परन्तु आश्वलायन, पारस्कर, आपस्तम्ब, गोभिल आदि व्यवस्थाकार इसमें अन्वय-परम्परा को ही प्रमाण मानते हैं। यह संस्कार बालक और बालिकाओं दोनों में उभयनिष्ठ था। अन्तर एकमात्र यही था कि बालिकाओं का चौल-संस्कार मन्त्रहीन होता था [७]।

उपनयन

समस्त संस्कारों में उपनयन संस्कार अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यह मनुष्य को अपने सांस्कृतिक विकास के हेतु सन्नद्ध करता है। इसी के पश्चात् वह आचार्य के व्यक्तिगत सम्पर्क में आकर विविधविद्याओं का अध्ययन करता है और व्यावहारिक रूप से अपने व्यक्तित्व के सर्वांगों के उन्नयन का दीर्घ प्रयास प्रारम्भ करता है। उपनयन शब्द का अर्थ है (आचार्य अथवा ब्रह्मचर्य के) सन्निकट लाना [८]। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में यह शब्द उपनयन-कार्य का द्योतक था, परन्तु कालान्तर में अनुष्ठानों एवं धार्मिक क्रियाओं की वृद्धि के कारण यह एक अनुष्ठानात्मक संस्कार बन गया [९]।

---

[१] आप० २.१४.११-१४.

[२]. आश्व १.१६.१-६, शांखायन १.२७, पार० १.१६, काठक ३६.१-२ आदि।

[३]. पाणिनी ५.१.६७. पतंजलि।

[४] भारद्वाज गृ० १.२८ तथा मनु २.३५

[५] आश्व १.१७.१-१८, बौधा० २.४, गोभिल २.६.१-१६, पारस्कर २.१, मनु० २.३५.

[६]. बौधा० २.४

[७]. आश्व १.१७.१८, मनु० २.६६, याज्ञ० १.१३.

[८]. हिरण्य गृ० १.५२.

[९]. संस्कारप्रकाश गृ०३३-तत्रोपनयनशब्दः कर्मनामधेयम्।.....तच्छ यौगिकमुद्भिद्न्यायात्। योगश्च भावव्युपाया करणाव्युत्पत्या वेत्याह मारुचिः। स यथा। उपसमीपे आचार्यादीनां बटोर्नयन प्रापणरुपनयनम्। समीपे आचार्यादीनां नीयते बटुर्येन तदुपनयनीमति वा।.....
तत्र च भावव्युत्पत्तिरेव साधीयसीति गम्यते। शौतार्थविधिसंभवात्। तथा जैमिनि ६.१.३५—संस्कारस्य तदर्थत्वात् विद्यायां पुरुषश्रुतिः।

इस उपनयन के सम्पादन-काल के विषय पर विद्वानों में मतभेद है। आपस्तम्ब एवं बौधायन के मतानुसार आध्यात्मिक उत्कर्ष, दीर्घजीवन, प्रतिभा, प्रचुर धान्य, शारीरिक शक्ति और पशु-धन के आकांक्षी मनुष्यों को उपनयन-संस्कार क्रमशः ७, ८, ९, १०, ११ और १२ वर्ष की आयु में करना चाहिये[1]। मनु ने भी विविध आकांक्षाओं के आधार पर इस संस्कार का काल निर्धारण किया है। उनका कथन है कि आध्यात्मिक उत्कर्ष, सैनिकशक्ति एवं स्मृति के आकांक्षी ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य पिताओं को अपने पुत्रों का यज्ञोपवीत क्रमशः ५, ६ और ८ वर्ष की अवस्था में करना चाहिए[2]। अन्य व्यवस्थाकारों की अपेक्षा मनु ने अल्पायु में ही द्विजातियों के उपनयन की कल्पना की है। उनके पूर्वगामी व्यवस्थाकार आश्वलायन ने तीनों वर्णों के लिये क्रमशः ८, ११ और १२ वर्ष की आयु को अधिक उपयुक्त समझा है।[3] यही नहीं, उनका यह भी कथन है कि इनका उपनयन-संस्कार क्रमशः १६, २२ और २४ वर्ष की अवस्था तक हो सकता है[4]। काठक गृह्यसूत्र के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य में यह संस्कार क्रमशः ७, ९ और ११ वर्ष की अवस्था में सम्पादित होना चाहिये[5]। अत्र प्रश्न यह उठता है कि यह काल-निर्धारण गर्भाधान की तिथि से हो अथवा जन्म की। इस विषय में अधिकांश व्यवस्थाकार काल-अंकन गर्भाधान की तिथि से ही करते हैं[6]।

सामाजिक इतिहास के दृष्टिकोण से उपनयन-संस्कार-सम्बन्धी अन्य आवश्यक विषयों पर हमने अन्य स्थानों पर विचार किया है, क्योंकि उनका विशेष सम्बन्ध वर्ण-व्यवस्था, धार्मिक संगठन एवं शिक्षा-संगठन से है। यही बात सर्वप्रधान संस्कार—विवाह—के विषय में भी हुई है। इसके आवश्यक अंगों पर विचार इस ग्रन्थ के भिन्न-भिन्न भागों में हुआ है।

इन संस्कारों के द्वारा व्यवस्थाकारों ने भारतीय जीवन की विभिन्न अवस्थाओं के शारीरिक, मानसिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक आदि महत्त्वों को प्रदर्शित किया है। इनके कारण उसके जीवन एवं धार्मिक कार्य-कलाप में एक राष्ट्रीय व्यवस्था एवं एकता आ गई थी। ये संस्कार वास्तव में भारतीय जीवन के बन्धन-सूत्र हैं, उसकी प्रणाली हैं और हैं उसकी सामाजिक क्रियाओं की आधार-पीठिका।

---

१. आप० ध० सू० १.११.१२, बौधा गृ० २.५.
२. मनु० २. ३७
३. आश्वलायन गृ० १. १९. १–६
४. वही.
५. काठक गृ० ४१. १–३
६. आप० गृ० १०. २, बौधा० गृ० २. ५. २, गोभिलगृ० २. १०. १, गौतम १. १. ६–८ ८७ याज्ञ० १ १४, महाभाष्य ३ पृ० ५७ आदि।

पंच महायज्ञ

ब्रह्मचारी की भांति गृहस्थ के जीवन-यापन के हेतु अनेक विधि-निषेध बनाये गये थे। ये ब्राह्म-मुहूर्त में उठने, शौच-कर्म, दन्त-धावन, स्नान, सन्ध्या, तर्पण, होम आदि के सम्बन्ध में हैं। परन्तु गृहस्थ-धर्म में जो विशेष उल्लेखनीय कर्म है वह पंचमहायज्ञों का है। ये यज्ञ अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित थे और इनका उल्लेख वैदिक साहित्य में भी मिलता है। तैत्तिरीय आरण्यक[१] में इनके नाम तथा इनकी सरल परिभाषायें उल्लिखित हैं। प्रथम देवयज्ञ है। इसमें अग्नि में समिधादान होता है। द्वितीय पितृयज्ञ है। इसमें पितरों को स्वधा दी जाती है। तृतीय यज्ञ भूतयज्ञ में प्राणिमात्र को वलि दी जाती है। चतुर्थ में ब्राह्मणों के लिये अन्नदान है। इसे मनुष्ययज्ञ कहते हैं। अन्तिम एवं पंचम यज्ञ ब्रह्मयज्ञ है। इसमें स्वाध्याय होता है। प्रायः प्रत्येक व्यवस्थाकार ने इन यज्ञों का उल्लेख किया है[२]। इन यज्ञों के क्रमिक विकास में चिरकाल लगा होगा। ऋग्वेद में सर्वप्रथम देवयज्ञ और पितृयज्ञ का उल्लेख मिलता है[3]। इन दोनों यज्ञों में भी कदाचित् अधिक महत्व पितृयज्ञ को ही दिया जाता होगा। इस आशय की व्यवस्था महाभारत में उपलब्ध होती है[४]। पितृ-ऋण एवं देव-ऋण के पश्चात् आर्यों ने ऋषि-ऋण की भी मान्यता स्थापित की। ये ऋषि प्रायः वेदों में पारंगत ब्राह्मण होते थे। समाज में अध्ययन-अध्यापन एवं यजन-याजन का गुरु भार इन्ही के कन्धों पर आश्रित था। धीरे-धीरे समाज में इनकी मान्यता की प्रतिष्ठा वढ़ी और ये पितृ एवं देव के समकक्ष रक्खे जाने लगे। इनके कार्य को प्रोत्साहन देने के हेतु कदाचित् ब्रह्म-यज्ञ को जन्म दिया गया। पंचमहायज्ञों में यही तीन यज्ञ प्रधान हैं। इसी से महाभारत में एक स्थान पर केवल इन्हीं तीनों का उल्लेख मिलता है[५]। संस्कृति एवं सभ्यता के विस्तार के

---

१. तैत्ति० आरण्यक २.१०.—पंच वा एते महायज्ञाः सतति प्रतायन्ते सतति संतिष्ठन्ते देवयज्ञः पितृयज्ञो भूतयज्ञो मनुष्ययज्ञो ब्रह्मयज्ञ इति। यदग्नौ जुहोत्यपि समिधं तद्देवयज्ञः संतिष्ठते। यत् पितृभ्यः स्वधा करोत्यप्यपस्तत्पितृयज्ञः संतिष्ठते। यद्भूतेभ्यो वलिं हरति तद् भूतयज्ञः संतिष्ठते। यत्स्वाध्यायमधीयीतैकामप्यृचं यजुः साम वा तद् ब्रह्मयज्ञः संतिष्ठते।

२. गौतम ५.८.८.१७. बौधायन ध० सूत्र २.६.१–८ आप० ध०सू० १.४.१२.१३-१५, १.४.१३ १, महा० १२.१४६, ६–७, मनु० २.२८,३.७३.–७४–

3. ऋ० ७.६.२२.६.—हव्यानि वोचति देवेभ्यश्च पितृभ्यः

४. महा० १२ ३३६.५६—देवकार्यादपि मुने पितृकार्यम् विशियष्ते महा० १३.८७.५ पितृन् पूज्यादितः पश्चात् देवतास्तपर्यन्ति वै।

५. महा० १ १५.६-देवाश्च तर्पयामास यज्ञैर्विविध दक्षिणैः
ऋषीश्च ब्रह्मचर्येण सन्तत्या च पिता महान्।

साथ-साथ आर्यों का दृष्टिकोण भी अधिक विशाल एवं उदार हो गया। उसने पहले अपने अतिथियों और फिर समस्त प्राणिमात्र के प्रति भी अपनी उदारता का प्रदर्शन किया। इसी उदार भावना ने ब्राह्मण-व्यवस्था में चौथे और पांचवे यज्ञों—मनुष्ययज्ञ अथवा अतिथियज्ञ तथा भूतयज्ञ अथवा वैश्यदेव यज्ञ-को जन्म दिया। महायज्ञों का यह विकास शतपथ ब्राह्मण के काल तक हो चुका था, क्योंकि सर्वप्रथम इनका नामोल्लेख इसी ग्रन्थ में उपलब्ध होता है [1]। परन्तु इनके विविधांगों का संवर्धन सूत्र-काल में ही हुआ।

प्रारम्भ में तो इन महायज्ञों का मूल कारण आर्यों की श्रद्धा, भक्ति तथा उदारता थी जो पितरों, देवों और ब्राह्मणों तक ही सीमित न रह कर समस्त समाज एवं प्राणिमात्र तक विस्तीर्ण हो गई थी। कालान्तर में व्यवस्थाकारों ने इनकी उत्पत्ति को एक अन्य रूप में समझाने का प्रयास किया। इसके अनुसार मनुष्य अपनी जीवन-चर्या में ज्ञात-अज्ञात रूप में जीवहिंसा करता रहता है। इस पाप के प्रायश्चित्त के ध्येय से ही इन पाँच महायज्ञों की कल्पना की गई[2]। जो कुछ भी हो, इतना निश्चित है कि इन महायज्ञों ने गृहस्थ के जीवन को परिष्कृत करने में योग दिया। इन्होंने उसके हृदय में पितरों की पुण्य स्मृति को अक्षुण्ण रखते हुए एक ओर उनके प्रति कृतज्ञता-भावना का नैत्यिक प्रदर्शन करवाया तथा दूसरी ओर उनके धार्मिक एवं सांस्कृतिक कार्यों को नित्य अग्रसर करने का स्मरण दिलाया। इन्हीं के द्वारा एक ओर मनुष्य ने अपने देवताओं के प्रति सम्मान प्रकट करना प्रारम्भ किया और दूसरी ओर समाज के गुरुतम कार्य-अध्ययन-अध्यापन-को प्रोत्साहन दिया। जहां मनुष्ययज्ञ ने उसके हृदय में मनुष्यमात्र के प्रति उदारता, बन्धुता एवं सहयोगिता की भावना जागृत की वहां समस्त प्राणिमात्र के प्रति भी उसके उत्तरदायित्व को जागरूक किया। इस प्रकार इन महायज्ञों से मनुष्य के मन और मस्तिष्क का परिमार्जन होता था उसकी अन्तर्निहित शक्तियों का उन्नयन होता था। इसी से गौतम तथा मनु ने इन महायज्ञों को संस्कार के नाम से पुकारा है[3]। आपस्तम्ब धर्मसूत्र १. ४. १३. १. पर टीका करते हुए हरदत्त ने लिखा है कि अनुष्ठान-काल के दृष्टिकोण से महायज्ञों का क्रम ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, पितृयज्ञ और मनुष्ययज्ञ के रूप में है[4]। अतः वर्णन में इसी क्रम का अनुसरण अभीष्ट है।

---

1. शतपथ ब्रा॰ ११.५.६.१ पंचैव महायज्ञाः। तान्येव महासत्राणि भूतयज्ञो देवयज्ञो ब्रह्मयज्ञ इति।

2. मनु॰ ३.६८-७१ विष्णु ध॰ सू॰ ५९.१९–२०.

3. गौतम ८. १४-२४. मनु॰ २. २८

4. न चायमुपदेशक्रमोऽनुष्ठान उपयुज्यते। अनुष्ठानं तु ब्रह्मयज्ञो भूतयज्ञः पितृयज्ञो मनुष्ययज्ञ इति।

सर्वप्रथम इस यज्ञ का उल्लेख शतपथ ब्राह्मण में हुआ है[१]। वैदिक साहित्य को शुद्ध एवं अक्षत रखने के लिये इस यज्ञ में प्रत्येक गृहस्थ के लिये उसके वाचन का आदेश दिया गया था। इस साहित्य में चतुर्वेद, वेदांग, विद्या इतिहास-पुराण, गाथा और नाराशंसी विशेष उल्लेखनीय हैं। इस यज्ञ से सन्तुष्ट हो कर देवता मनुष्य को आयु, वीर्य, सुरक्षा, समृद्धि, प्रतिभा, कान्ति तथा आध्यात्मिक अभ्युन्नति प्रदान करते हैं[२]। तैत्तिरीय आरण्यक, आपस्तम्ब धर्मसूत्र, आश्वलायन गृह्यसूत्र, शांख्यायन गृह्यसूत्र आदि में इस यज्ञ का वर्णन है[३]। प्रत्येक में किसी एकान्त स्थान में स्वाध्याय करने की व्यवस्था की गई है।

ब्रह्मयज्ञ

शतपथ ब्राह्मण के अनुसार यह यज्ञ अग्नि में काष्ठ-दान द्वारा सम्पन्न होता है[४]। इसी प्रकार का वर्णन तैत्तिरीय आरण्यक में भी है[५]। आपस्तम्ब, बौधायन तथा गौतमादि सूत्रकारों ने भी स्वाहा शब्द के साथ अग्नि में समिधा-दान को देवयज्ञ कहा है[६]। भिन्न-भिन्न सूत्रकारों ने भिन्न-भिन्न आराध्य देवताओं का उल्लेख किया है। इनमें अग्नि, प्रजापति, इन्द्र, सोम, धन्वन्तरि, पृथ्वी, विश्वदेवस् प्रमुख हैं[७]। सूत्रकाल तक मूर्तिपूजा प्रतिष्ठित हो चुकी थी। यह देवपूजा देवयज्ञ के समान ही समादृत हुई।

देवयज्ञ

शतपथ ब्राह्मण तथा तैत्तिरीय आरण्यक में प्राणिमात्र के लिये बलिदान भूतयज्ञ कहा गया है[८]। इस यज्ञ के द्वारा व्यवस्थाकारों ने समाज के समक्ष सार्वभौम एकता का उच्च आदर्श स्थापित किया है। मनुष्य का मनुष्य के प्रति ही नहीं वरन समस्त जड़ एवं चेतन जगत् के निम्नातिनिम्न अंश के प्रति कर्तव्य है। इसी भावना से प्रेरित होकर व्यवस्थाकारों ने समस्त प्राणिमात्र को बलि देने की योजना बनाई थी। एकमात्र अपने लिये पाचन-कार्य अथवा एकाकी भोजन-कार्य गर्हित

भूतयज्ञ

---

१. शतपथ ब्रा० ११. ५. ६. ३-८.

२. शतपथ ब्रा० ११. ५. ६. ४-७. तैत्तिरीय आरण्यक २. १०-१३.

३. आप० ध० सू० १. ३. ११. १६. आश्व० गृह्यसू० ३. ४. ६. सांख्यान गृ० सू० १.४

४. शतपथ ब्रा० ११. ५. ६. ७.-अहरहः स्वाहा कुर्यादाकाष्ठात्तथैतं देवयज्ञ समाप्नोति।

५. तैत्ति० आर० २. १०-यदग्नौ जुहोत्यपि समिधं तद्देवयज्ञः संतिष्ठते।

६. आ० ध०सू० १. ४. १२. १३. -देवेभ्य स्वाहाकार आकाष्ठात्।
बौधा० ध० सू० २. ६. ४. गौतम ५. ८-९

७. तैत्ति० आर० २. १०. यदग्नौ जुहोत्यपि समिधं तद्देवयज्ञः संतिष्ठते।

८. शतपथ ब्रा० ११. ५. ६. १-अहरहः भूतेभ्यो बलिं हरेत्। तथैतं भूतयज्ञं समाप्नोति

तर्पण द्वारा, बलिहरण द्वारा और श्राद्ध द्वारा। इसी प्रकार का कथन गोभिलस्मृति में भी उपलब्ध होता है[१]।

तैत्तिरीय आरण्यक के कथनानुसार ब्राह्मणों का अन्नदान करना ही मनुष्ययज्ञ है[२]। परन्तु समस्त साहित्य के विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि यह दान प्रत्येक अतिथि के लिए होता था। यही कारण है कि इस यज्ञ को अतिथि यज्ञ के नाम से भी पुकारते

मनुष्ययज्ञ-यज्ञ

हैं। प्राचीन भारतवर्ष में आतिथ्य का विशेष महत्व था। ऐतरेय ब्राह्मण का कथन है कि सन्ध्याकाल किसी भी अतिथि को निराश नहीं करना चाहिए[३]। तैत्तिरीय उपनिषद् में शिष्य को उपदेश दिया गया है कि उसे किसी भी अतिथि को लौटाना न चाहिए[४]। 'अतिथिदेवो भव' प्राचीन भारत का सामान्य धर्म था[५]। बौधायन ने चाण्डाल-अतिथि तक के स्वागत की व्यवस्था की है[६]। आपस्तम्ब का भी यही मत है[७]। दूसरे स्थान पर उनका कथन है कि अतिथि-सत्कार के द्वारा मनुष्य को स्वर्ग-प्राप्ति होती है[८] गौतम का कथन है कि यदि क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र भी अतिथि के रूप में ब्राह्मण के गृह में उपस्थित हो तो ब्राह्मण को उसके प्रति उदारता दिखाना चाहिए और भोजन देना चाहिए[९]। पाराशर का मत है कि गृहस्थ को अपने विरोधी अथवा मूर्ख अतिथि को भी भोजन-दान करना चाहिए[१०]। बौधायन ने दूसरे स्थान पर कहा है कि दूसरों को भोजन-दान किए बिना स्वयं भोजन करना अनुचित है[११]।

महाभारत में भी कथन है कि गृहागत अतिथि का स्वागत करना चाहिए, चाहे वह शत्रु ही क्यों न हो[१२]। उसकी चक्षु, मन एवं वाक् के द्वारा व्यक्तिगत रूप से सेवा करना

---

१. गोभिलस्मृति-.२.२८.-श्राद्धो वा पितृयज्ञःस्यात् पित्र्योबलिरथापि वा

२. तैत्ति आर० २.१०.-यद् ब्राह्मणेभ्योऽन्नं ददाति तन्मनुष्ययज्ञः संतिष्ठते।

३. ऐतरेय ब्रा० २५.५-तस्मादाहुर्न सायमतिथिरपरुध्य इति।

४. तैत्ति० उप० ३.१०.१.

५. तैत्ति० उप० १.११.२.

६. बौधा० गृह० २.६.२१.

७. आप० ध० २.४.६.५. आप० ध० सू० २.३.६.६ तस्य पूजायां शान्तिःस्वर्गश्च।

८. गौतम ५. ३६-४२

९. पाराशर १.४०.

१०. बौधा० ध० सू०२.३.६८ ल, २१-२२.

११. शान्ति० १४६.५.

चाहिए [१] । अतिथि के निराश हो कर लौट जाने से मनुष्य का समस्त कुटुम्ब नष्ट हो जाता है [२] । अतिथि-आमन्त्रण करने के पश्चात् भोजन करने वाला व्यक्ति विघसाशिन् तथा भृत्यों एवं आश्रितों को भोजन कराने के पश्चात् भोजन करने वाला व्यक्ति अमृताशिन् कहलाता था [३] । अतिथियों, भृत्यों तथा आश्रितों को भोजन के हेतु सदैव निमन्त्रित करने वाला व्यक्ति मृत्यु के भय से भी मुक्त हो जाता है [४] । इस प्रकार प्राचीन भारतीय परम्परा के अन्तर्गत सम्भ्रान्त अतिथियों के साथ-साथ निम्नस्तरीय व्यक्तियों के साथ भी अति उदारता एवं सहृदयता का व्यवहार किया जाता था ।

गृहस्थ के धार्मिक कृत्यों में तर्पण का विशेष महत्व है । यह महत्त्व अति प्राचीन काल से ही भारतीय समाज में प्रतिष्ठित हो चुका था । तैत्तिरीय संहिता में इसका उल्लेख है ।

तर्पण

प्रत्येक धार्मिक व्यवस्था में इसका वर्णन हुआ है । गोभिल-स्मृति का कथन है कि विप्र-प्रदत्त तर्पण शव के लिए अभ्युदयकर है । अतः ब्राह्मण को सदैव तर्पण करना चाहिए [५] । न करने से वह पाप का भागी होता है [६] । मनु के कथनानुसार तर्पण देवों, ऋषियों एवं पितरों को दिया जाना चाहिए [७] । आश्वलायन की व्यवस्था में तर्पण के लिए ३१ देवताओं का नामोल्लेख है [८] । तर्पण के लिए उल्लिखित ऋषियों के नामों में ३ नाम महिला-ऋषियों के भी हैं-गार्गी, वड़वा और सुलभा । पितृतर्पण में मनुष्य के बहुसंख्यक मृतक सम्बन्धी आते हैं। भिन्न-भिन्न सूत्रों में तर्पण के लिए

---

१. अनुशासन ७.६.-चक्षुर्दद्यान्मनो दद्याद् वाचं दद्याच्च सूनृताम् ।
अनुव्रजेदुपासीत स यज्ञः पञ्चदक्षिणः ॥

२. महा० ५.११५.८-११-अभिगम्य हताशोहि निवृत्तो दहते कुलं ।
विनष्टि पुत्रांश्च पौत्रांश्च........

३. महा ३.२.६०, १२.२२१.१३.

४. महा ३.१८४. २०.

५. तैत्ति.सं० ५.४.४.१.-अश्मन्नूर्जमिति परिषिञ्चति मार्जयत्येवैनमथो तर्पयत्येव स एन
तृप्तोऽक्षुध्यन्नशोचन्नमुष्मिल्लोक उपतिष्ठेते ।

६. गोभिलस्मृति २.२२.-२३.-तथा भूतानि सर्वाणि स्थावराणि चराणि च ।
विप्रादुदकमिच्छन्ति सर्वाभ्युदय वृद्धि सः ।
तस्मात्सदैवतत्कर्तव्यमकुर्वन्महतैनसा ।
युज्यते ब्राह्मणः कुर्वन्विश्वमेतद्बिभर्ति हि ।

७. मनु २. १७६

८ आश्व०गृह्यसूत्र ३.४.१.-५

उल्लिखित देवों, ऋषियों और पितरों के नाम, संख्या तथा क्रम भिन्न-भिन्न हैं [1]। तर्पणों को दो प्रकार से किया जाता है—[2]

(१) स्नान करने के पश्चात् आर्द्रवस्त्र धारण किये हुये जल में खड़े हुए और (२) स्नान करने के पश्चात् जल से निकल कर सूखे वस्त्र धारण कर पृथ्वी पर। कुछ व्यवस्थाकारों के मतानुसार तर्पण दिन में केवल एक बार सन्ध्या के पश्चात् करना चाहिये, परन्तु इनके विरुद्ध कुछ ऐसे भी हैं जिन्होंने दिन में दो बार तर्पण करने की सम्मति दी है—एक बार स्नान करने के पश्चात् ठीक सन्ध्या करने के पूर्व और दूसरी बार स्वाध्याय करने के समय [3]।

रामायण तथा महाभारत के अनेकानेक उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि तर्पण समाज में व्यवस्था के रूप में ही नहीं वरन् व्यवहार-रूप में भी प्रतिष्ठित था। राम प्रतिदिन तर्पण करते हुये प्रदर्शित किये गये हैं [4]। सीता-राम के उदाहरण से प्रतीत होता है कि पतियों के साथ स्त्रियां भी तर्पण-कार्य करती थीं [5]। महाभारत में पाण्डव तर्पण करते हुए प्रदर्शित किये गये हैं [6]। पुण्य स्थानों में तर्पण-कार्य उत्तम समझा जाता था [7]।

सन्ध्या

रात्रि और दिन के सन्धिकाल को सन्ध्या कहते हैं [8]। साधारणतया सन्ध्यायें दो होती हैं—उषाकाल और सांयकाल में। परन्तु कुछ व्यवस्थाकार मध्याह्न में एक तीसरी सन्ध्या मानते हैं [9]। इन सन्धिकालों में जिस धार्मिक आह्निक क्रिया की व्यवस्था की गई उसे सन्ध्यावन्दन अथवा सन्ध्योपासन कहते हैं। संक्षेप में वह 'सन्ध्या' के नाम से भी विख्यात हुई [10]। प्रायः प्रत्येक व्यवस्थाकार दो

---

1. बौधा० ध०सू० २.५.१८४. शांख्यायन गृ०सू० ४. ६. भारद्वाज गृ० सू० ३१-११ आदि
2. मनु० २. १७६. विष्णु ध० सू० ६४. २३—२४
3. आह्निक प्रकाश, पृ० १६१.
4. रामा० ७. ३७. ५३ कृतोदकः शुचिर्भूत्वा काले हुताहुताशनः।
5. रामा० ३. १६. ४१ ४२
6. महा० १७.१.११—भ्रातृभिःसह धर्मात्मा कृत्वोदकमतन्द्रितः।
7. महा० ६.५४.१३.
8. मनु० २.१११ पर मेधातिथि-न सर्वं तमः क्षीणं नापि परिपूर्णः प्रकाशः एषा सन्ध्या।
9. अत्रि० अपरार्क द्वारा उद्धृत पृ० ४६।
10. याज्ञ० १.२५. पर मिताक्षरा—अहोरात्रयोः संधौ या क्रियाविधीयते सा सन्ध्या।

सन्ध्याओं को स्वीकार करता है। अतः उसके अनुसार मनुष्य को प्रतिदिन दो सन्ध्योपासन भी करना चाहिये[१]। परन्तु अत्रि तीन सन्ध्याओं को मानते हैं[२]। प्रातःकालीन सन्ध्या को गायत्री, मध्याह्निक को सावित्री और सायंकालीन को सरस्वती के नाम से पुकारा गया है।

प्रारम्भ में सन्ध्या-क्रिया अत्यन्त सरल थी। इसमें केवल सूर्य का अर्घ्य होता था और गायत्री का पाठ[3]। आश्वलायन, शांख्यायन तथा मानव गृह्यसूत्रों में भी इसका यही सरल रूप है[४]। परन्तु कालान्तर में जैसे-जैसे ब्राह्मण धर्म अधिकाधिक अनुष्ठानमूलक होता गया वैसे ही वैसे सन्ध्या-क्रिया में भी अधिक उपांग जोड़ दिये गये। अब सन्ध्या के साथ-साथ आचमन, मार्जन, जप और उपस्थान भी सम्बद्ध हो गये और इनमें से प्रत्येक के ऊपर व्यवस्थाकारों ने विविध नियम बनाये।

सन्ध्या का प्रधान अंग है गायत्री-जप जो प्रकाश के रूप में असीम-शक्ति का वन्दना-मन्त्र है। सन्ध्या-क्रिया किसी भी एकान्त एवं पवित्र स्थान पर की जा सकती है[५]। प्रातःकालीन सन्ध्या पूर्व की ओर मुख कर खड़े होकर और सायंकालीन सन्ध्या पश्चिम की ओर मुख कर बैठ कर करनी चाहिये।[६]

महाभारत एवं मनुस्मृति में सन्ध्या का महत्व बताते हुये कहा गया है कि प्राचीन ऋषियों ने इसी के द्वारा दीर्घायु, प्रज्ञा, यश, कीर्ति एवं आध्यात्मिक उत्कर्ष प्राप्त किया था[७]।

अग्निहोत्र

इस वैदिक क्रिया की प्रतिष्ठा अत्यन्त प्राचीन है। अग्निहोत्र का उल्लेख ऋग्वेद में भी उपलब्ध होता है[८]। तैत्तिरीय ब्राह्मण में अग्नि में होम-क्रिया को अग्निहोत्र के नाम से पुकारा गया है[९]। शतपथ ब्राह्मण में

---

१. आप० ध० सू० १. २. ३०. ८, गौतम २. १७, आश्व० गृ० सू० ३. ७. मनु० २. १०१

२. अत्रि० अपरार्क द्वारा उद्धृत पृ० ४६। सन्ध्यात्रयं तु कर्तव्यं द्विजनात्मविदा सदा, उभे सन्ध्ये च कर्तव्ये ब्राह्मणैश्च गृहेष्वपि।

३. तैत्ति० आरण्यक।

४. आश्व० गृ० सू० ३. ७. ३.–६, शांख्यायन गृ० सू० २. ६. १–३, मानव गृ० सू० १. २. १–५

५. आप० ध० सू० १. ११. ३०. ८. गौतम २ १६, शांख्यायन गृ० २ ६. १.

६ आश्व० गृ० ३ ७४. ६. शांख्यायन गृ० २. ६. १. मनु० २. १०२.

७. महा० अनुशासन १०४. १८. मनु० ४. ६४.

८. ऋ० ८ १९. ५–६- यः समिधा य आहुती यो वेदेन ददाश मर्तो अग्नये। यो नमसा स्वध्वरः। तस्येदर्वन्तो रंहयन्त आशवस्तस्य द्युम्नितमं यशः। नतमंहो देवकृतं कुतश्चन न मर्त्यकृत नशत्।

९. तैत्ति० ब्रा० २. १. २.

अग्निहोत्र को एक सत्र कहा गया है, जो वृद्धावस्था अथवा मृत्यु-पर्यन्त चलता रहता है[१]। अग्नियाँ तीन होती हैं—आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि। आपस्तम्ब के मतानुसार गृहस्थ के लिये गार्हपत्य ही सब से अधिक महत्वपूर्ण है। उसे इसी का स्थायीरूप से होत्र करना चाहिए[२]। परन्तु कात्यायन के मतानुसार तीनों अग्नियाँ सामान रूप से महत्वपूर्ण हैं[३]। प्रत्येक व्यवस्थाकार ने गृहस्थ के दैनिक कार्यों में अग्निहोत्र का भी नामोल्लेख किया है। आपस्तम्ब का कथन है कि विवाह के पश्चात् मनुष्य के लिए जिन आहिनक क्रियाओं की व्यवस्था की गई है उनमें अग्निहोत्र, अतिथि-सत्कार एवं तथाविध अन्य उचित कार्य हैं[४]। आश्वलायन की व्यवस्था के अनुसार पाणिग्रहण के पश्चात् गृहस्थ को स्वयं अथवा पत्नी, पुत्र, पुत्री अथवा अन्तर्वासी के द्वारा गार्हपत्य अग्नि की रक्षा करना चाहिये[५]। आपस्तम्ब गृह्य-सूत्र में हविष्य के रूप में तण्डुल और यव का उल्लेख है[६]। गोभिल-स्मृति में यव, व्रीहि, माषक, कोद्रव, गौर, दधि, पय, यवागू और जल का उल्लेख मिलता है[७]। महाभारत एवं मनुस्मृति के मतानुसार यह हविष्य अग्नि में डालने से सूर्य को प्राप्त होती है। सन्तुष्ट होकर सूर्य वर्षादान करता है जिससे संसार में अन्न की उत्पत्ति होती है[८]। साधारणतया प्रत्येक गृहस्थ को व्यक्तिगत रूप से प्रातः और सायंकाल दो बार अग्निहोत्र करना चाहिये। परन्तु आपस्तम्ब और आश्वलायन का मत है कि यदि यह सम्भव न हो तो कम से कम पर्व-दिवसों पर गृहस्थ को स्वयं व्यक्तिगत रूप से अग्निहोत्र करना चाहिये। परन्तु अन्य दिवसों पर वह पुरोहित, पुत्र अथवा शिष्य के द्वारा भी अग्निहोत्र करा सकता है[९]।

रामायण तथा महाभारत के अनेकानेक उदाहरणों से विदित होता है कि समाज में सन्ध्या और अग्निहोत्र का व्यावहारिक रूप से प्रचलन था। विश्वामित्र के निरीक्षण

---

१. शतपथ ब्रा० १२. ४. १. १.

२. आप० ६. २. १३.

३. कात्या० ४. १३. १.

४. आप० ध० सू० १. ४. १. १.

५. आश्व० गृ० सू० १. ६. १-२-पाणिग्रहणादि गृह्यं परिचरेत्स्वयं पत्न्यपि वा पुत्रः कुमार्यन्तेवासी वा। नित्यमनुगृहीतं स्यात्।

६. आप० गृ० सू० ८. १६.-सायं प्रातरत ऊर्ध्वम् हस्तेनैते आहुती तण्डुलैर्यवैर्वा जुहुयात्।

७. गोभिलस्मृति १. १३१. ३. ११४.

८. शान्ति० २६४. ११. मनु० ३. ७६

९. आप० ध० सू० ६.१५.१४-१६, आश्व० २.४.२-४

में राम सन्ध्या एवं अग्निहोत्र करते हुए प्रदर्शित किये गये हैं[१]। विश्वामित्र के आश्रम में प्रत्येक ऋषि इन क्रियाओं को करता था[२]। श्रवण सन्ध्या एवं अग्निहोत्र करने में सचेष्ट रहता था[३]। सीता और कौशल्या के उदाहरणों से प्रतीत होता है कि स्त्रियां भी इन क्रियाओं की ओर निरपेक्ष न थीं[४]। इसी प्रकार ऋषियों से परिवृत महाराज युधिष्ठिर महाभारत में सन्ध्या और अग्निहोत्र करते हुए मिलते हैं[५]। केकय की यह गर्वोक्ति थी कि मेरे राज्य में एक भी मनुष्य ऐसा नहीं है जो इन धार्मिक क्रियाओं को न करता हो[६]। इन क्रियाओं का इतना महत्व था कि ये युद्ध-काल में चलती रहती थीं[७]। उनसे विमुख हो जाने से ब्राह्मण का तो जात्यपकर्ष हो जाता था[८]।

श्रौतयज्ञ

यज्ञ की सारभूत धारणा के धूमिल चिह्न इन्डो-योरोपीय-काल में प्राप्त होते हैं। यह तो निश्चित है कि इन्डो-ईरानी काल में यज्ञ की प्रथा का विकास हो चुका था। वैदिक अग्निहोम और पारसीकों के होम में आश्चर्यजनक साम्य है।

अथर्वन्, आहुति, उक्थ, बर्हिस, यज्ञ, सोम, स्तोम, होतृ आदि वैदिक भाषा के यज्ञ-सम्बन्धी शब्द प्राचीन पारसीक धार्मिक ग्रन्थों में भी प्राप्त होते हैं। ईसा से पूर्व की शताब्दियों में यज्ञ का अत्यधिक प्रचार था। बौद्ध धर्म के प्रचार के पश्चात् भी राजा इन वैदिक यज्ञों को करते थे जिसका प्रमाण अभिलेखों तथा साहित्यिक परम्पराओं से प्राप्त होता है। हरिवंश, मालविकाग्निमित्र (अंक ५) तथा अयोध्या के शुंग-अभिलेख से ज्ञात होता है कि सेनापति पुष्यमित्र ने अश्वमेध अथवा राजसूय यज्ञ किया था। हाथीगुम्फा अभिलेख में नृपति खारवेल द्वारा राजसूय यज्ञ करने का उल्लेख है। कुमारगुप्त को 'चिरोत्सन्नाश्वमेधाहर्तुः' कहा गया है। त्रैकूटक सम्राट् धरसेन का वर्णन अश्वमेधकर्ता के रूप में किया गया है।

---

१. रामा० १ २६.३१-३२, २.४६.१३.

२. रामा० १.३१.२०-२१

३. रामा० २.६४.३३

४. रामा० २.४७.१६, २. ३०.३३

५. महा० ३ २६.५ ३. २६३.२८

६. महा० १२.७७८

७. महा० ६. १६. ३६

८. महा० १३.१०४. १६-२०

बहुत सम्भव है कि अग्निपूजा प्रथमतः व्यक्तिगत अथवा साम्प्रदायिक प्रथा रही हो। नैत्यिक अग्निहोत्र व्यक्तिगत कर्म था, किन्तु दर्शपूर्णमास के समान साधारण दृष्टि में भी ४ पुरोहितों की आवश्यकता पड़ती थी। इसलिये ये यज्ञ अवश्य ही अल्प अथवा बहुल मात्रा में सम्पूर्ण सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि अधिकांश ब्राह्मण निर्धन हुआ करते थे और दैनिक अग्निहोत्र, जिसमें दो गौ, सहस्रों उपलियां एवं समिध की आवश्यकता थी, करने में असमर्थ थे। अतः प्रारम्भ में अग्निहोत्र भी यदा-कदा होता था। सोमयज्ञ तो नृपति अथवा सामन्त ही करने में समर्थ थे। प्रायशः राजा लोग ब्राह्मणों को इसलिये दान देते थे जिससे वे बलि, चरु तथा अग्निहोत्र करने में समर्थ हो सकें। बुद्धराज के सरस्वती दानपत्र में बलि, चरु तथा अग्निहोत्र के हेतु एवं दामोदरपुर दानपत्र में अग्निहोत्र और दैनिक पञ्चमहायज्ञ-सम्पादन के हेतु दान दिया गया।

उसी प्राचीनतम काल में जब कि ऋग्वेद की ऋचाओं का निर्माण हो रहा था, यज्ञ-व्यवस्था के मुख्य-मुख्य अंग विकसित हो चुके थे। अग्नित्रय के अस्तित्व का ज्ञान ऋग्वेद से होता है। ऋग्वेद १.१५.१२. में गार्हपत्य-अग्नि का स्पष्ट वर्णन है। ऋग्वेद ३.२८.५. में सवनत्रय का वर्णन है। सोमयज्ञों में अपेक्षित षोडश पुरोहितों का वर्णन ऋग्वेद १.१६२. ६५. में आता है। पुरोहित शब्द ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर व्यवहृत हुआ है (ऋ० ६. ११. ४४. १०. और १२३. ४८. ६. ६६. २०)। ऋग्वेद ३. ८ तो यूप (वह स्तम्भ जिसमें पशु बांधा जाता था) की प्रशंसा से भरा हुआ है। यह समझा जाता था कि जिस पशु की बलि दी जाती थी वह स्वर्ग जाता था (नवा उ एतान्म्रियसे न रिष्यसि देवाँ इदोपि पथिभिः सुगेभिः। हरी ते युन्जा पृषती अभूतामुपास्थाद्वाजी धुरि रासभस्य। ऋ० १. १६२. २१)।

यदि अन्यथा उपदेश न दिया जाय तो सामान्यतः यज्ञकर्त्ता को उत्तर की ओर मुख कर के बैठना चाहिए। कुशतृणादि याज्ञिक उपकरणों का पृष्ठ भाग पूर्वाभिमुख होना चाहिए। यज्ञोपवीत उपनीती रूप धारण किए रहना चाहिए। जहां पर 'ददाति' का प्रयोग हो वहां समझना चाहिये कि यजमान के लिये कहा गया गया है। कात्यायन श्रौतसूत्र (१. १०. १२) बतलाता है कि सूत्रों अथवा अन्वारम्भण में जहां पर 'वाचयति' आता है वहां तथा नाम इत्यादि में [उदाहरणार्थ जब यह कहा जाय कि अमुक वस्तु एक व्यक्ति के समान ऊंची चाहिए तो यज्ञ-कर्ता की ऊंचाई अभीष्ट है] यज्ञकर्ता से तात्पर्य समझना चाहिए। प्रायश्चित्त आदि बातों में जहां 'जुहोति' और 'जपति' का प्रयोग हो वहां ब्राह्मण पुरोहित को कार्य करना चाहिए। किसी ऋचा के प्रथम पाद के संकेत पर पूरी ऋचा कहनी चाहिए।

गौतम श्रौतसूत्र ने सप्त हविर्यज्ञों और सप्त सोमसंस्थाओं का उल्लेख किया है। अग्न्याधेय सात हविर्यज्ञों में से प्रथम है। यह एक इष्टि है जिसको सपत्नीक यजमान ४

अग्न्याधेय[1] पुरोहितों की सहायता से करता है। अग्न्याधेय में २ दिवस अपेक्षित हैं। अग्न्याधेय का अर्थ है समय-विशेष पर पुरुषविशेष के द्वारा कतिपय मन्त्रों के साथ गार्हपत्य (अग्नि) की उत्पत्ति के लिए प्रज्वलित कोयले की स्थापना। इसकी पूर्णाहुति के पश्चात् वह व्यक्ति जो इस कर्म-काण्ड को सम्पूर्ण करता है आहिताग्नि की पदवी प्राप्त कर लेता है।

दर्शपूर्णमास दर्शपूर्णमास इष्टि अन्य सभी इष्टियों की प्रकृति है। अत यद्यपि कालक्रम से अग्न्याध्येय प्रथम आता है, तथापि श्रौतसूत्रों ने प्रथमतः दर्शपूर्णमास का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है[2]। आपस्तम्ब के अनुसार जिस व्यक्ति ने अग्नित्रय की स्थापना कर ली है उसे उस समय तक जब तक कि वह सन्यासी न हो जाय अथवा इतना वृद्ध न हो जाय कि वह कर्मकाण्ड करने में असमर्थ हो जाय, दर्शपूर्णमास करना पड़ता है। दर्श का अर्थ अमावस्या तथा पूर्णमास का अर्थ है पूर्णमासी। अतः दर्शपूर्णमास से तात्पर्य है वे कर्म जो अमावस्या और पूर्णमासी को सम्पादित किए जायँ। इष्टि उस यज्ञ को कहते हैं जिसमें यज्ञ का करने वाला चार पुरोहितों को नियुक्त करता है। जिसने अग्न्याध्येय कर लिया है, उसे उसके पश्चात् आनेवाली पूर्णमासी के दिन दर्शपूर्णमास आरम्भ करना चाहिए।

पिण्डपितृयज्ञ इस कर्म में भक्त-(भात) पिण्ड पितरों को अर्पित किए जाते हैं। जैमिनि[3] के अनुसार यह कर्म दर्श-यज्ञ का अंग नहीं है प्रत्युत् यह स्वयं एक स्वतन्त्र कर्म है। कात्यायन[4] के अनुसार यह दर्श का अंग है। इसको अमावस्या के दिन सम्पादित किया जाता है।

चातुर्मास्य[5] आश्वलायन श्रौतसूत्र के अनुसार इष्ट्ययन पद से चातुर्मास्य, तुरायण, दाक्षायण और अन्य इष्टियों का बोध होता है। चातुर्मास्य कुछ के अनुसार ३ और कुछ के अनुसार ४ हैं :—(१) वैश्वदेव (२) वरुण प्रघास (३) साकमेध और (४) शुनासीरीय। इनमें से प्रत्येक चातुर्मास्य का पर्वण कहा जाता है। प्रत्येक चार मासों के उपरान्त पूर्णमासी को किया जाता है। वसन्त, वर्षा एवं हेमन्त के आगमन के तीनों क्रमशः सूचक हैं।

---

1. आश्व० २.१६ आप० ५. १.२२, कात्या० ४. ७-१०, बोधा० २. ६-२१
2. आश्व० १. १-४-१. १३. १०, आ० १-४, बोधा १. कात्यायान २-८. ५.
3. जैमिनि ४.१६-२१,
4. कात्यायन ४.१.३०
5. आश्व० २.१५.-२०, आप०८, बाधा० ५,

वैश्वदेव[1] आश्वलायन के अनुसार फाल्गुन मास की पूर्णमासी के एक दिन पूर्व व्यक्ति अग्नि (वैश्वानर) की पूजा करता है। कात्यायन की टीका के अनुसार पूर्णमासी के दूसरे दिवस व्यक्ति वैश्वदेव-इष्टि करता है और तत्पश्चात् फाल्गुन मास का चातुर्मास्य प्रारम्भ होता है। चातुर्मास्य के सभी पर्वणों पर विशेष नियमों का पालन करना पड़ता है। केशमुण्डन, भूमिशयन, मधुमांस-लवण-निषेध तथा भार्या-प्रसंग एवं शरीर-प्रसाधन का त्याग आवश्यक है। चातुर्मास्यों को आजीवन अथवा केवल एक वर्ष तक किया जा सकता है। उनके करने का फल स्वर्ग की प्राप्ति है।

वरुणप्रघास[2] शतपथब्राह्मण इस शब्द की काल्पनिक व्युत्पत्ति देता है कि यव वरुण से सम्बन्धित है और इस कार्य में यव ग्रहण किया जाता है। अतः इसका नाम वरुण-प्रघास पड़ा। आषाढ़ की पूर्णमासी को यह किया जाता है। तृणाच्छादित स्थान इसके लिये वाञ्छनीय है।

साकमेध[3] बौधायन, आपस्तम्ब और कात्यायन सूत्रों में इसका सविस्तार वर्णन है। इसका शाब्दिक अर्थ है 'साथ ही अथवा उसी समय प्रज्वलित करना'। कार्तिक की पूर्णमासी को यह आरम्भ होता है। इसमें दो दिन लगते हैं।

शुनासीरीय[4] इसमें विशेषरूप से द्वादश मृन्भाण्ड-खण्डों पर वायु और आदित्य अथवा इन्द्र को, विशेष खाद्य-पेय अर्पित किया जाता है। इसमें उत्तरवेदी नहीं होती और अग्नि भी संघट्टन विद्वान् से उत्पन्न की जाती है। इसकी दक्षिणा द्वादश वृषभ वाला हल है। योरोपीय इस नाम में हल का संकेत पाते हैं।

आग्रयण[5] यह एक इष्टि है जिसके विना किए हुए कोई आहिताग्न (वह व्यक्ति जिसने अग्न्याधेय की पूर्णाहुति कर ली है नवीन तण्डुल एवं यव का प्रयोग नहीं कर सकता था। तण्डुल-कृषि के साथ आग्रयण इष्टि शरद् में की जाती थी।

काम्येष्टि[6] अभीष्ट वस्तुओं की प्राप्ति के हेतु अनेक इष्टियों का विधान श्रौत-सूत्रों में है जिनमें आयुष्काम्येष्टि, स्वस्त्यायनी, पुत्रकाम्येष्टि, लोकेष्टि, महावैराजी अथवा मित्रविन्दा (समृद्धि, प्रदेश, मित्र और दीर्घ जीवन की अभिलाषा), कारीरीष्टि (जो वर्षा की कामना करे) प्रमुख हैं।

---

[1] कात्या० ५. १. २१. ४. आश्व० २. १५. २, बौधा० ५. १

[2] आश्व० २. १७, बौधा० ५. ५–६. कात्यायन ५.३.५, आप० ८.५.६

[3] आश्व० २.१८–१९, आप० ८. ९–१९, बौधा ५, १०–१७, कात्या० ५. ६–१०

[4] आश्व० २. २०, आप० ८. २०, कात्या० ५. ११,

[5] आप० ६. २९. २, आश्व० २. ९, कात्या० ४. ६ बौधा० ३.१२

[6] आश्व० २ १०.–१४; २ १३. १–१३. आप० १९. १८–२७, १९. २५. १६.

सुविधा के लिये यज्ञों को ३ शाखाओं में विभक्त कर दिया गया है—इष्टि, पशु तथा सोम। गौतम के अनुसार सोम-यज्ञ सात प्रकार के होते हैं:—

अग्निष्टोम [1]

अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशिन, वाजपेय, अतिरात्र तथा अप्तोर्याम। अग्निष्टोम सभी सोमयज्ञों का प्रकृति रूप है। अग्निष्टोम, ऐकाहिक (एक दिवस का) है और यह ज्योतिष्टोम का अनिवार्य अंग है। सोमयज्ञ उन यज्ञों में विभक्त है जो एक दिवस में पूर्ण होते हैं और उन्हें एकाह कहा जाता है, उनमें विभक्त है जो एक और द्वादश दिवसों में किये जाते हैं और उन्हें अहीन कहा जाता है, उनमें विभक्त है जो द्वादश दिवसों से भी अधिक समय लेते हैं, और उन्हें सत्र कहा जाता है। द्वादशाह दोनों हैं, सत्र भी और अहीन भी। जैमिनि के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य—तीनों के लिए अग्निष्टोम उसी प्रकार अनिवार्य है जिस प्रकार उपनयन। 'अग्निष्टोम' इस नाम से यह इसलिये विख्यात है कि इसमें अग्नि की प्रशंसा की गई है अथवा अन्तिम स्तोत अग्नि को सम्बोधित किया गया है। दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य तथा पशुयज्ञों के पश्चात् इसे आरम्भ करना चाहिए। कुछ के अनुसार आन्याध्यान के पश्चात् और दर्शपूर्णमास के पूर्व प्रारम्भ किया जा सकता है।

अन्य सोमयज्ञ

आपस्तम्ब तथा शतपथ के अनुसार उक्थ्य, षोडशिन, अतिरात्र, और अप्तोर्याम, अग्निष्टोम के ही परिवर्तित रूप हैं।

उक्थ्य [2]

आपस्तम्ब १६.१.२ के अनुसार उक्थ्य, षोडशिन, अतिरात्र और अप्तोर्याम क्रमशः उन्हीं के द्वारा सम्पादित किए जाते हैं जो पशु, शक्ति, संतति और पशु, सभी पदार्थों के अभिलाषी होते है उक्थ्य में अन्य पशुओं के अतिरिक्त इन्द्र और अग्नि के हेतु एक अजा की वलि दी जाती है।

षोडशिन [3] इसमें इन्द्र के लिए स्वतन्त्र रूप से एक मृग की बलि दी जाती है।

अतिरात्र [4] यह सोमयज्ञ ऋग्वेद में भी आता है। इसे अतिरात्र कहते हैं क्योंकि यह एक दिवस में नहीं समाप्त होता।

अप्तोर्याम [5] यह यज्ञ वहुत कुछ अतिरात्र के समान है। आश्वलायन के अनुसार जिस व्यक्ति के पशु न जिएँ उसे इसको करना चाहिये।

---

१. आश्व० ४.६, आप० १०-१३,१४. ८-१२, कात्या० ७-११, बौधा० ६. १०.

२. आश्वा० ६. १: १-३. आप० १४. १,

३. आश्व० ६. ३. ३, आप० १४. २. ३.

४. आश्व० ६. ४-५ आप० १४. ३. ८.

५. आश्व० ६. ११. १, आप० १४. ४ १२-१६.

वाजपेय[1] यद्यपि यह अग्निष्टोम का एक अंग और षोडशिन् की प्रक्रिया का अनुगमन करता है तथापि इसके कतिपय अपने लक्षण हैं जिनके आधार पर इसे एक स्वतन्त्र यज्ञ माना जा सकता है। इसमें संख्या १७ का अत्यधिक महत्व है। आधिपत्य और समृद्धि का अभिलाषी इसको करता है। शरद् में यह यज्ञ किया जाता है। (शरदि वाजपेयेन स्वराज्यकामो यजते—शबर द्वारा उद्धृत)। केवल ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय ही इसका अधिकारी है।

राजसूय[2] यह पूर्ण रूप से सोमयज्ञ नहीं है। इसमें २ वर्ष से भी अधिक समय अपेक्षित है। केवल क्षत्रिय इसका अधिकारी है। (राजा राजसूयेन...- लाट्यायनश्रौतसूत्र ९.१.१)। कुछ के अनुसार वाजपेय किए हुए को ही इसको करना चाहिए और कुछ के अनुसार वाजपेय के पश्चात् ही इसे करना चाहिये। शतपथ ब्राह्मण में यह कहा गया है कि राजसूय करने से कोई राजा होता है और वाजपेय से सम्राट्। (शबर द्वारा इस शब्द की व्युत्पत्ति–राजा तत्र सूयते तस्माद्राजसूयः। राज्ञो वा यज्ञः जसूयः)। महाभारत में युधिष्ठिर द्वारा किए गये राजसूय यज्ञ का वर्णन है, किन्तु वह भी अस्पष्ट है।

सौत्रामणी[3] सप्त हविर्यज्ञों में इसका भी एक स्थान है। यह सोम यज्ञ नहीं है वरन् यह है पशु-यज्ञ और इष्टि का सम्मिश्रण। इसका मुख्य लक्षण है सुरा का अर्पण करना। वर्तमान काल में सुरा के स्थान पर दुग्ध अर्पित किया जाता है। आपस्तम्ब के अनुसार इसके २ भेद हैं (१) कौकिली तथा (२) चरक सौत्रामणी। कौकिली एक स्वतन्त्र कर्म है जब कि साधारण अथवा चरक सौत्रामणी राजसूय के एक मास पश्चात् किया जाता है।

अश्वमेध[4] यह अत्यन्त प्राचीन यज्ञों में से एक है। ऋग्वेद की कतिपय ऋचाओं से ज्ञात होता है कि उनके संकलन के बहुत पूर्व ही इस यज्ञ का प्रभूत प्रचलन हो गया था। ऐसा विश्वास किया जाता था कि जिस अश्व की बलि दी जाती है वह स्वर्ग को प्राप्त होता है। शतपथ और तैत्तिरीय ब्राह्मणों में अनेक राजाओं का उल्लेख है जिन्होंने अश्वमेध किया था। तैत्तिरीय ब्राह्मण अश्वमेध का समीकरण राज्य के साथ करता

---

1. आश्व० ९.९, आप० १८, कात्या० १४.१-५.
2. आश्व० ९.३-४, आप० १८.८-२२, बौधा० १२, कात्या० १५.१-९
3. आश्व० ३..९, आप० १९.१-१०, शांखायन १५.१५.
4. आप० २०.१.-२३, आश्व० १०.६.-१०, बौधा० १५, कात्या० २०

(२) प्रवृत्ताशिन्—जो विना किसी पात्र की सहायता से एकमात्र हाथों से भोजन करते हैं।

(३) मुखेनादायिन्—जो विना हाथों की सहायता से एकमात्र मुख से भोजन करते हैं।

(४) तोयाहार--जो एक मात्र जल पर निर्भर रहते हैं।

(५) वायुभक्षक--जो एकमात्र वायु-भक्षण करते हैं।

रामायण तथा महाभारत में भी वानप्रस्थ की अनेकानेक कोटियां उपलब्ध होती हैं। इनमें निम्नलिखित विशेष उल्लेखनीय हैं—

(१) वैखानस

(२) वालखिल्य

(३) पत्राहार--केवल पत्तों पर निर्वाह करने वाले

(४) सलिलाहार--केवल जल पर निर्वाह करने वाले

(५) फेनप--केवल फेन पर निर्वाह करने वाले

(६) क्षीरप—केवल दुग्ध पर निर्वाह करने वाले

(७) धूमप—केवल धूम्र पर निर्वाह करने वाले

(८) मरीचिप—केवल सूर्य-किरणों पर निर्वाह करने वाले

(९) गात्रशैय्या--पृथ्वी पर सोने वाले आदि

इन विविध विभागों से स्पष्ट हो जाता है कि वानप्रस्थ-आश्रम भली-भांति प्रतिष्ठित हो चुका था और उसकी नियम-विशिष्टता तथा कायाक्लेशशीलता के होते हुये भी वहुसंख्या में मनुष्य उसे अंगीकार करते थे। महाभारत में धृतराष्ट्र, विदुर, ययाति, कुन्ती, गान्धारी, सत्यवती आदि तथा रामायण में शरभङ्ग, सुतीक्ष्ण आदि के उदाहरण इस कथन की पुष्टि करते हैं। पुरुषों के समान स्त्रियाँ भी इस आश्रम में प्रविष्ट होती थीं। परन्तु शूद्रों के लिये प्रवेश वर्जित था। मनु ने केवल द्विजों को ही वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश की आज्ञा दी है[1]।

पहले ही कहा जा चुका है कि शूद्रों के हेतु एकमात्र गृहस्थाश्रम ही सम्मत था। परन्तु यदा-कदा अपवाद के रूप में गृहस्थाश्रम धर्म को सम्यक् रूप से पालन करने के पश्चात् शूद्र राजाज्ञा से वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश प्राप्त कर सकता था[2]। विदुर के साथ तो राजाज्ञा का भी वन्धन न था। परन्तु उनका उदाहरण भी अपवाद-स्वरूप ही है।

---

1. मनु० ६. १.
2. महा० १२.६३.१२.–१३.

उदाहरणों के आधार पर कहा जा सकता है कि इस आश्रम में प्रवेश करने वाले व्यक्तियों में ब्राह्मण और क्षत्रिय ही अधिक थे। व्यास, वसिष्ठ और अत्रि ब्राह्मण थे। इनके अतिरिक्त महाकाव्यों में उल्लिखित बहुसंख्यक आश्रमों में रहने वाले वानप्रस्थी भी अधिकांश ब्राह्मण थे। परन्तु क्षत्रियों में भी इस आश्रम-प्रवेश की प्रतिष्ठा थी। एक स्थान पर स्वयं व्यास का कथन है कि जीवन के अन्तिम भाग में वनवास प्रत्येक राजर्षि की परम्परा है [१]। दूसरे स्थान पर धृतराष्ट्र ने घोषित किया है कि हमारे वंश की यह परम्परा रही है कि पुत्रों को उत्तरदायित्व सौंप कर हम वन का आश्रय लेते हैं [२]।

वैश्यों में कदाचित् वानप्रस्थाश्रम अधिक प्रचलित न था। वैश्य वानप्रस्थ में एकमात्र उदाहरण श्रवणकुमार के पिता का ही है। कदाचित् धन-धान्य के उत्पादन में व्यस्त रहने के कारण उनमें सांसारिकता की प्रवृत्ति इस सीमा तक बढ़ गई थी कि वे वानप्रस्थ के यातनामय जीवन को अङ्गीकार करने में असमर्थ थे।

वानप्रस्थ आश्रम को ग्रहण करने पर शनैः शनैः मनुष्य को गृह-निवास का त्याग करना पड़ता है और वृक्ष के नीचे रहना पड़ता है [३]। तत्पश्चात् उसका तपस्यामय जीवन प्रारम्भ होता है। वह मृग-चर्म, वृक्ष-त्वचा अथवा जीर्ण-शीर्ण वस्त्रों का ही प्रयोग करता है। नख-केश-कर्तन उसके लिये वर्जित है [४]। पञ्चाग्नि-व्रत रख कर, वर्षा में सदैव भीगते हुए तथा शीतकाल में भीगे वस्त्र पहन कर वह कठोर तपस्या करता है [५]। दिन भर उसे बैठे रहने घूमते रहने अथवा योगाभ्यास करने का आदेश था। शैय्या पर सोना उसके लिए वर्जित था [६]। जहाँ तक भोजन का प्रश्न है, वह वानप्रस्थ के अनेकानेक विभागों से ही स्पष्ट हो जाता था। मधु-मांस उसके लिए अभक्ष्य हैं, [७]। परन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है हिंसक पशुओं के द्वारा आहत पशुओं का मांस वह खा सकता था। उसके लिये वेद, उपनिषद् आदि ग्रन्थों के अध्ययन एवं मनन की व्यवस्था की गई है [८]। उसके लिये कन्द-मूल फल आदि की सहायता से पंचमहायज्ञ करना आवश्यक था [९]। वानप्रस्थाश्रम में अपने साथ

---

१. महा० १५.४.५.

२. महा० १२.३१.३८

३. आप० ध० सू०२.६.२१ २०, मनु० ६.२५.८. मनु ६.१४

४. गौतम० ३-३४, मनु० ६.६., महा० ३.२००.६६-६७

५. याज्ञ० -२५२. मनु० ६.२३-२४

६. याज्ञ० .२५१, मनु० ६.२२.२६ महा० १२८-१६२..१-३

७. मनु० ६.१४.

८. आप० ध० सू० २. ६. २२ ६.मनु० ६.८.२६.-३०

९. गौतम० ३.२६.-३०., मनु० ६ ५, ७.

अपनी पत्नी को ले जाने अथवा न ले जाने का विषय मनुष्य की इच्छा पर छोड़ दिया गया है[1]। महाभारत के उदाहरणों से भी यही निष्कर्ष निकलता है। धृतराष्ट्र और पाण्डु सपत्नीक वानप्रस्थाश्रम में प्रविष्ट हुए थे, परन्तु इसके विरुद्ध विदुर और संजय अकेले।

ऋग्वेद में उल्लिखित यतियों और मुनियों का वर्णन किया जा चुका है कदाचित् यही परकालीन सन्यासियों के आश्रम की आधारपीठिका थे छान्दोग्य उपनिषद् में तीन आश्रमों का स्पष्ट उल्लेख है। इस उल्लेख के पश्चात् उपनिषत्कार का कथन है कि अमृतत्व 'ब्रह्मस्थ' को ही प्राप्त होता है[2] बहुत सम्भव है कि इस ब्रह्मस्थ के द्वारा लेखक ने चतुर्थ आश्रमों का संकेत किया हो परन्तु आश्रमों की संख्या तीन इस बात की सूचना देती है कि सन्यास का यह चतुर्थ आश्रम प्रथम तीन आश्रमों की भाँति या तो विकसित न हुआ था या लोकप्रिय न था। सन्यासाश्रम का सर्वप्रथम उल्लेख बृहदारण्यक उपनिषद् में मिलता है। उसमें एक स्थान पर याज्ञवल्क्य अपनी स्त्री मैत्रेयी से कहते हैं कि मैं गृहस्थाश्रम को त्याग कर प्रव्रज्या अंगीकार करने जा रहा हूँ[3]। मुण्डक उपनिषद् में तो सन्यास का भी उल्लेख हुआ है[4]। इस काल तक चतुराश्रमों का विकास हो चुका था और सन्यासाश्रम के हेतु अकामता आवश्यक समझी जाने लगी थी। परन्तु इस साक्ष्य का महत्वपूर्ण अंश यह है कि चतुर्थाश्रम में प्रवेश सीधे ब्रह्मचर्याश्रम अथवा गृहस्थाश्रम के पश्चात् भी हो सकता था। इसके लिये प्रथम तीन आश्रमों से हो कर गुजरना अनिवार्य न था[5]। पाणिनि ने पाराशर्य और कर्मन्द के द्वारा निर्मित भिक्षु-सूत्र का उल्लेख किया है। इससे प्रतीत होता है कि पाणिनि के बहुत पहले चतुर्थाश्रम के परिव्राजक संगठित हो चुके थे[6]। यह आश्रम एवं इसमें स्थित मनुष्य कई नामों से सम्बोधित होते थे। इसमें मौन, परिव्राज, पारिव्राजक, भिक्षु, यति और सन्यासी विशेष उल्लेखनीय हैं[7]। धर्मसूत्रों में तो अन्य आश्रमों की भाँति इस आश्रम का सविस्तार वर्णन मिलता है।

सन्यास

---

१. मनु० ६.३.

२. छान्दोग्य २ २३.१-त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तया एव द्वितीयो ब्रह्मचर्याकुलवासी तृतीयोत्यन्तमात्माचार्यकुलेवसादयन्सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्मसंस्थोमृतत्वमेति।

३. बृहदा० उप० ४.५.२.

४. मुण्डक० ३.२.६.

५. जाबालो० ४—ब्रह्मचर्यं परिसमाप्य गृहीभवेद् गृहीभूत्वा वनीभवेद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत्।
यदि वेतरथा ब्रह्मचर्या देवप्रव्रजेद् गृहाद्वा वनाद्वा।
यदहरेव विजरेत्तदहरेव प्रव्रजेत्।

६. पाणिनि०६.३-११०-१—पाराशर्यशिलालिभ्यो भिक्षुनटसूत्रयोः। कर्मन्दकृशाश्वादिनिः।

७. आप० ध० सू० २. ६, २१, १. २. ६, २१. ७, गौतम० ३, २, वसिष्ठ० ७.१-२, ११, १४ मनु० ६. ८७., ६६, ६. ३४ आदि।

जिस प्रकार महाभारत ने वानप्रस्थ की अनेक कोटियों का उल्लेख किया है उसी प्रकार सन्यास की भी। अनुशासन पर्व का कथन है कि सन्यासी चार प्रकार के होते हैं। १—कुटीचक, २—बहूदक, ३—हंस और ४—परमहंस [1]।

परमहंस

इनमें परमहंस सर्वोच्च होते हैं। वैखानस-सूत्र [2] के वर्णन से इनके आचार-विचार पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। वे निस्पृह एवं अकाम होते हैं, उनकी जीविका का प्रमुख साधन भिक्षाचरण होता है। परन्तु भिक्षा-ग्रहण करते हुए वे वर्ण-भेद अथवा लाभालाभ का ध्यान नहीं रखते। वृक्षमूल, शून्यागार, श्मशान, देवगृह, तृणकूट, वल्मीक, सरितातट अथवा गुहा उनके निवास-स्थान हैं। इनमें भी वे स्थायी रूप से नहीं रहते, क्योंकि उनके लिये चिर-भ्रमण की व्यवस्था की गई है। इनमें से कुछ वस्त्र पहनते थे, परन्तु कुछ दिगम्बर भी रहते थे। शुक्ल-ध्यानपरायण होने के कारण ये धर्म-अधर्म, सत्य-असत्य, शुद्धि-अशुद्धि आदि के द्वन्द्वों से मुक्त हो जाते थे। वे निर्मम, समदर्शी तथा सर्वात्मा होते थे। विमुक्त होने के कारण उनकी दृष्टि में लोष्ट और काञ्चन का मूल्य एक होता था। उनके आचार-विचार को देख कर बाह्यतः ऐसा प्रतीत होता था कि वे पागल हों। परन्तु यथार्थ में ऐसा न था।

हंस

ये परमहंस से निम्न परन्तु अन्य दो प्रथम कोटियों से उच्चतर होते हैं। साधारणतया ये भी वृक्षमूल, सरिता तट अथवा कन्दरा में निवास करते हैं, परन्तु भिक्षाचरण के हेतु ग्राम अथवा नगर में प्रविष्ट होते हैं। ग्राम में वे एक रात्रि और नगर में पंचरात्रि से अधिक नहीं रह सकते हैं। भिक्षान्न, गोमूत्र अथवा गोमय ही उनका भक्ष्य है। दीर्घकालीन उपवास तथा नित्यचान्द्रायण व्रत के द्वारा वे कठिन साधना करते रहते हैं[3]।

---

[1]. अनुशासन १४१. ८६—चतुर्विधा. भिक्षवस्ते कुटीचकबहूदकौ।
हंसः परमहंसश्च यो यः पश्चात्स उत्तमः।

[2]. वैखानस-सूत्र ८ ९-परमहंसा नाम वृक्षैकमूले शून्यागारे श्मशाने वा वासिनः साम्बरा वा दिगम्बरा वा। न तेषां धर्माधर्मौ सत्यानृते शुद्धयशुद्धयादिद्वैतम् सर्वसमाः सर्वात्मानः समलोष्टकांचना सर्ववर्णेषु भैक्षाचरणं कुर्वन्ति। जाबालोप० ६—तत्र परमहंसा नाम विमुक्ता भैक्षमाचरन् लाभालाभयोः समो भूत्वा शून्यागारदेवगृहतृणकूटवल्मीकवृक्षमूल-स्थण्डिलेषु तेष्वनिकेतवास्यप्रयत्नो निर्ममः शुक्लध्यानपरायणे अशुभकर्मनिर्मूलनपरः संन्यासेन देहत्यागं करोति स परमहंसो नाम।

[3]. वैखानससूत्र ८. ९. हंसा नाम ग्रामे चैकरात्रं नगरे पञ्चरात्रं वसन्तस्तदुपरि न वसन्तो गोमूत्र गोमयाहारिणो वा मासोपवासिनो वा नित्यचान्द्रायणव्रतिनो नित्यमुत्थानमेव प्रार्थयन्ते। स्मृति मुक्ताफल-वर्णाश्रम पृ० १८४.

हंसकोटि से निम्नतर कोटि है बहूदकों की। इनकी भी जीविका का साधन भिक्षान्न है। परन्तु भिक्षा-प्राप्ति के हेतु ये ब्रह्मर्षि अथवा साधु व्यक्ति के द्वार पर ही जा सकते हैं। अतः स्पष्ट है कि परमहंसों की भाँति ये प्रत्येक वर्ण एवं चरित्र के व्यक्ति की भिक्षा ग्रहण न कर सकते थे। इनके लिये लवण, मांस और पर्युषितान्न वर्जित था। ये एक अथवा दो के स्थान पर तीन दण्डों को धारण करते थे। इनके दूसरे हाथ में कमण्डल रहता था और इनके वस्त्र काषाय होते थे[1]।

बहूदक

सन्यासियों में निम्नतम स्थान कुटीचक का था। ये गौतम, भारद्वाज, याज्ञवल्क्य, हारीत आदि ऋषियों के आश्रमों में रहते थे। कदाचित् अनुभवी एवं आत्मज्ञानी ऋषियों के संरक्षण में रहकर ही ये यौगिक एवं तापसिक क्रियाओं का अभ्यास करते थे। अन्य सन्यासियों की भांति इनका भी लक्ष्य मोक्ष था और इसकी प्राप्ति के हेतु ये भी साधनामय जीवन व्यतीत करते थे। वैखानस-सूत्र के अनुसार अष्ठग्रास ही इनका आहार होता था[2]।

कुटीचक

प्रायः प्रत्येक व्यवस्थाकार ने अन्य आश्रमों की भांति वानप्रस्थ आश्रम के भी विविध विधि-निषेधों की व्यवस्था की है। इनके अनुसार वानप्रस्थाश्रम की अवधि समाप्त होने के पश्चात् मनुष्य 'संग्रस्कार इष्टि' करता है और दक्षिणा के रूप में अपनी सम्पूर्ण सम्पति पुरोहितों एवं ब्राह्मणों में बांट कर चतुर्थ आश्रम में प्रवेश करता है[3]। मनु और याज्ञवल्क्य ने इस इष्टि को प्रजापत्येष्टि के नाम से पुकारा है[4]। सन्यास ग्रहण करने पर मनुष्य को अपना घर-बार, स्त्री-पुत्र सभी का त्याग करना पड़ता है[5] और विरक्त होकर ब्रह्मचर्य का पालन करना पड़ता है[6]। उसके लिये नग्न रहने, जीर्ण-शीर्ण परित्यक्त वस्त्र अथवा काषाय-वस्त्र धारण करने की व्यवस्था की गई है[7]। कुछ सन्यासी एकदण्डी होते हैं और कुछ

---

१. वैखानससूत्र ८.९. बहूदकास्त्रिदंडकमण्डलकाषायधातुवस्त्रग्रहणवेषधारिणो ब्रह्मर्षिगृहेषु चान्येषु साधवृत्तेषु मांसलवणपर्युषितान्नं वर्जयन्तः सप्तागारेषु भैक्षं कृत्वा मोक्षमेव प्रार्थयन्ते।

२. वैखानससूत्र ८.९. तत्र कुटीचका गौतमभारद्वाजयाज्ञवल्क्यहारीतप्रभृतीनामाश्रमष्वष्टौ ग्रासांश्चरन्तो योगमार्गतत्वज्ञा मोक्षमेव प्रार्थयन्ते।

३. महाभारत १२. २४४. २३. -२४.

४. मनु० ६.३८. याज्ञ० ३.५६

५. मनु० ६.४१.४३-४४.

६. गौतम० ३.११. मनु० ६.४१.

७. आप ध० सू० २.९.२१.-११-१२, बौधायन ध० सू० २. ६. २४, गौतम ३. १७-१८. वशिष्ठ १०.६. ११

त्रिदण्डी[१]। मनु के आदेशानुसार सन्यासी को नख केश एवं श्मश्रु का कर्तन करवा डालना चाहिये[२]। उसके जीवन-निर्वाह का प्रमुख आधार भिक्षाचरण है[३]। इस विषय में मतभेद है कि सन्यासी को भिक्षा ग्रहण करते समय भिक्षा देने वाले व्यक्ति के वर्ण और चरित्र का ध्यान रखना चाहिये अथवा नहीं। बौधायन ने अन्य व्यवस्थाकारों के मत का उल्लेख किया है जिसके अनुसार सन्यासी किसी भी वर्ण के व्यक्ति से भिक्षा ग्रहण कर सकता है, परन्तु भोजन केवल द्विजाति से ही ग्रहण करना चाहिए[४]। परन्तु स्वयं बौधायन की व्यवस्था के अनुसार वह शालीन और यायावर कोटि के ब्राह्मण-गृहस्थों से ही भिक्षा ले सकता है[५]। वसिष्ठ के कथनानुसार सन्यासी एक मात्र ब्राह्मणों से ही भिक्षा ग्रहण कर सकता है[६]। ऐसा प्रतीत होता है कि भिन्न-भिन्न कालों, स्थानों एवं परिस्थितियों के अनुसार इस विषय पर भिक्षाचरण के नियम भिन्न-भिन्न रहे। कदाचित् परमहंस और हंस कोटि के ब्रह्मज्ञानी सन्यासियों के लिये वर्णभेद गौण विषय था। वे किसी भी व्यक्ति से भिक्षा ग्रहण कर सकते थे[७]। परन्तु साधारण कोटि के सन्यासियों को विशेषतया ब्राह्मणों से और साधारणतया द्विजातियों से ही भिक्षा प्राप्त करने का आदेश था। प्रत्येक दशा में सन्यासी को अल्पाहारी चाहिए[८]। भिक्षाटन के हेतु उसे दिन भर में केवल एक ही बार ग्राम-प्रवेश करना चाहिये[९]। भिक्षा भी उसे केवल ५, ७ अथवा १० द्वारों से लेनी चाहिये। सन्यासी[१०] के लिये सत्यानुसरण, निर्द्वन्द्वता, क्षमाशीलता, क्रोधहीनता, अहिंसा आदि गुणों का अनुगमन करने की शिक्षा दी गई है[११]।

जाबालोपनिषद् के उल्लेख से ऐसा प्रतीत होता है कि वर्ण, सन्यास-आश्रम ग्रहण

१. बौधा० ध० सू० २. १०. ५३, मनु० ६.५२. याज्ञ० ३. ५८.

२. मनु० ६.५२

३. आप० ध० सू० १.६.२१.१०. आदि पर्व ६१. २२, मनु० ६.३८

४. बौधा० ध० सू० २.१०.३६.

५. ,, ,, ,, २. १०. ५८-५८

६. वसिष्ठ १०. २४.

७. वैखानस सूत्र ८.६, जाबालोप० ६.

८. बौधा० ध० सू० २. १०. ६८, आप० ध० सू० २. ४. ६. १३, मनु० ६. ५७.

९. गौतम ३. १३. २०, मनु० ६. ४३. ५५.

१०. बौधा० ध० सू० २. १०. ५७-५८, आदिपर्व ११६. १२, वसिष्ठ ध० सू० १०.७

११. गौतम ३. २३, मनु० ६. ४०, ४७-४८

करने के मार्ग में बाधक नहीं और संसार से वैराग्य होने पर किसी भी वर्ण का मनुष्य इस आश्रम में प्रविष्ट हो सकता है[१]। महाभारत में भी एक स्थान पर उल्लेख है कि आश्रम-धर्म समस्त मनुष्यों के लिये आयोजित किया गया है[२]। आनन्द-गिरि ने सुरेश्वर के वार्तिक पर टीका करते हुए महाभारत के उद्धरणों की सहायता से यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि क्षत्रियों को भी सन्यासाश्रम अंगीकार करने की अनुमति थी[3]। विदुर के उदाहरण को समक्ष रख कर टीकाकार नीलकण्ठ ने मत दिया है कि शूद्र भी सन्यास ग्रहण कर सकते थे[४]। याज्ञवल्क्य का मत है कि सन्यास समस्त द्विजातियों के लिये है[५]। विष्णु धर्मसूत्र ने शूद्र सन्यासियों को देवयज्ञ और पितृयज्ञ के अवसर पर भोजन कराने वाले व्यक्तियों को सौ पर्ण अर्थ-दण्ड देने की व्यवस्था की है[६]। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि तत्कालीन समाज में शूद्र सन्यासी विद्यमान थे।

परन्तु समस्त साक्ष्यों के देखने से स्पष्ट हो जाता है कि इस आश्रम में प्रायः ब्राह्मण ही प्रविष्ट होते थे। अब्राह्मण सन्यासियों के जो यत्र-तत्र उदाहरण मिले हैं, वे अपवाद स्वरूप हैं। जहाँ तक शूद्रों का प्रश्न है, उनके लिये गृहस्थाश्रम की ही व्यवस्था की गई थी। अन्य आश्रम उनके लिये वर्जित था। महाभारत का आदेश है कि शूद्र भिक्षु नहीं हो सकता। रामायण में राम द्वारा शूद्र तपस्वी के वध का उल्लेख है। विष्णुधर्म सूत्र का उल्लेख पहले किया जा चुका है जिसमें शूद्र सन्यासी को अवहेलना की दृष्टि से देखा गया है। अत्रि ने शूद्र के ६ पातकों में एक पातक प्रव्रज्या भी बताया है। इससे ज्ञात होता है कि यह आश्रम उनके लिये निषिद्ध था[७]। जहां कहीं भी व्यवस्थाकारों ने सन्यासाश्रम का वर्णन किया है वहां प्रायः सदैव ब्राह्मण-सन्यासियों के हेतु ही विधि-निषेधों का आयोजन किया है।

---

१. जाबालोप० ४—पुनरव्रती वा व्रती वा स्नातको वाऽस्नातको वा यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्।

२. महा० शान्ति० ६२. ११-१२.

३. आदि पर्व ११६. ६-६, १२-२५.

४. आश्रमवासिक २६. ३२-३३, नीलकण्ठ-शूद्रयोनौ जातानामपि यतिधर्मोऽस्तीति दर्शितम्।

५. याज्ञ० ३. ३२.

६. शान्तिपर्व ६३. १६-२१.

७. विष्णु ध० सू० ५. ११५.

८. अत्रि० १३६—७, महाशान्ति ६३. ११-१४.

महाभारत में अनेक स्थानों पर ब्राह्मण और सन्यासी पर्यायवाची शब्दों के रूप में एक-दूसरे के लिये प्रयुक्त हुए हैं[१]। इसी महाकाव्य में एक स्थान पर सन्यासाश्रम के गुणों का आरोप ब्राह्मण में किया है[२]। महाभारत में कहीं पर भी किसी क्षत्रिय अथवा वैश्य सन्यासी का वर्णन नहीं मिलता। इसी प्रकार मनुस्मृति में भी सन्यासाश्रम ब्राह्मणों के लिये ही आयोजित हुआ है। मनु ने समस्त व्यवस्था करने के पश्चात् अन्त में लिखा है कि मैंने चतुराश्रमों की व्यवस्था ब्राह्मणों के हेतु बताई है[३]। लघु विष्णु का स्पष्ट कथन है कि सन्यासाश्रम एक मात्र ब्राह्मणों के लिये ही है और शेष तीन आश्रम द्विजातियों के लिये[४]। बृहदारण्यक उपनिषद् पर भाष्य लिखते हुए शंकराचार्य ने भी इसी मत का प्रतिपादन किया है[५]।

स्त्रियों के सन्यासाश्रम-प्रवेश के अधिकार पर भी मतभेद है। मिताक्षरा का उल्लेख है कि कतिपय आचार्यों ने स्त्रियों को भी सन्यासाश्रम ग्रहण करने की आज्ञा दे रक्खी है[६]। रामायण तथा महाभारत में कतिपय स्त्री-सन्यासिनियों का उल्लेख मिलता है। इनमें शबरी, मेधावी और सुलभा विशेष उल्लेखनीय हैं। पतंजलि ने अपने महाभाष्य में भी शंकरा नामक एक परिव्राजिका का उल्लेख किया है परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि स्त्रियों में किसी भी समय सन्यासाश्रम लोकप्रिय न था। परकालीन व्यवस्थाकारों ने तो इसके विरुद्ध स्पष्टतया अपना-अपना मत दिया है। यम का कथन है कि वेदों तथा धर्मशास्त्रों में कहीं पर भी स्त्रियों के लिये प्रव्रज्या का आदेश नहीं है[७]। अत्रि सन्यास-प्रवेश स्त्रियों के लिये एक पाप कर्म समझते हैं[८]।

---

१. महा० १२.२४५, ६-२५.

२. महा० १२. २३. ८.

३. मनु० ६. ६७.

४. लघुविष्णु ५. १२.

५. बृहदारण्यक उपनिषद् ३ ५. १. पर भाष्य।

६. मिता० याज्ञ० ३. ५८.

७. स्मृतिचन्द्रिका व्यवहार पृ० २१४ में उद्धृत यम।

८. अत्रि० १३६-१३७.

बौद्ध-धार्मिक-संगठन

बौद्धधर्म नितान्त निवृति-प्रधान था। वह गृहस्थ जीवन को निर्वाण प्राप्ति के मार्ग में बाधक समझता था और इसी से उसने इसका त्याग कर परिव्राजक-जीवन का प्रतिपादन किया था। बौद्धविचारकों के लिए वैवाहिक जीवन बाधायुक्त एवं रागयुक्त था[1]। ऐसे वातावरण में उच्चतर जीवन की सम्भावना नहीं हो सकती। गृहस्थ-जीवन प्रज्वलित आँवा के समान है। अतः बुद्धिमान् व्यक्ति के लिए वह सर्वथा त्याज्य है[2]। मनुष्य के वास्तविक बन्धन लौह, काष्ठ अथवा रज्जु के नहीं हैं वरन् वे सांसारिक जीवन के बहुमूल्य रत्न, आभूषण, एवं स्त्री और सन्तान हैं। शान्ति-प्राप्ति के हेतु मनुष्य को इन्हीं का त्याग करना है[3]। जो व्यक्ति धन-धान्य, बन्धु-बान्धव, आशा-अभिलाषा आदि का त्याग कर निस्पृह जीवन यापन करता है वही मोक्ष का अधिकारी होता है[4]। इसी प्रकार के निवृत्तिमूलक अनेकानेक कथन बौद्ध साहित्य में उपलब्ध होते हैं। इसी निवृत्ति का प्रधान कारण संसार एवं जीवन की असारता है। यहां प्रत्येक वस्तु नश्वर है। उद्भव और अन्त ही संसार का एकमात्र नियम है। जो वस्तु उत्पन्न हुई है वह नष्ट अवश्य होगी। यह संसार नितान्त निराशामय है। अतः किसी मनुष्य को भी गृहस्थाश्रम स्वीकार न करना चाहिए। मनुष्य सोचता है कि यह वस्तु हमारी है और वह वस्तु हमारी है, परन्तु मृत्यु के समय ये समस्त वस्तुएँ यहीं छूट जाती हैं। अतः बुद्धिमान् को सांसारिकता में न पड़ना चाहिए। प्रव्रज्या एवं विराग के द्वारा मनुष्य जीवन-मरण के बन्धन से मुक्त हो जाता है[6]। यह जीवन ओस के बिन्दु के समान क्षणभंगुर है[7]। राहुग्रसित चन्द्रमा की भांति कालान्तर में प्रत्येक मनुष्य कान्तिहीन हो जाता है[8]। व्यक्ति आजीवन धन-धान्य संग्रह करता रहता है, परन्तु मृत्यु के समय उसके समस्त इष्ट पदार्थ इस संसार में ही छूट जाते हैं और उसे

---

१. तेविज्ज सुत्त ४७, सामञ्ञफल सुत्त ५, ४१.
२. धम्मिक सुत्त २१.
३. बन्धनागार जातक २, १३६.
४. जातक ४ पृ० ३०३-गा० ७१।
५. जातक १ पृ० ३९२-जा० ६४ जातक ३ पृ० ६८-गा० ११४
६. गर्व सुत्त १-१०
७. युवंजय जातक ४,११६
८. गन्धार जातक ३,३६४,

एकाकी प्रस्थान करना पड़ता है[१]। पुन; सांसारिक जीवन छल-छद्‌ममय है[२]। एक जातक में एक विद्यार्थी अपने अध्यापक से प्रश्न करता है कि संसार में सफलता प्राप्ति के हेतु किस वस्तु की आवश्यकता है। उसे उत्तर मिलता है :—प्रवंचना दुराचार। अतः वह इसी निष्कर्ष पर पहुँचता है कि इस प्रकार के सफल जीवन से तो परिव्राजक-जीवन उत्तम है[३]।

इस प्रकार की पृष्ठभूमि में बौद्धसंगठन के अन्तर्गत परिव्राजक-जीवन ग्रहण करने के हेतु वर्ण-भेद, आश्रम-भेद, लिंग-भेद अथवा योग्यता-भेद का कोई विचार न था। निवृति-मूलक विचारधारा ने मनुष्य के समक्ष उसका लक्ष्य उपस्थित किया और उसकी प्राप्ति का साधन। बीच के प्रश्न उसके लिये गौण थे। परम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति के मार्ग में संसार बाधक है। अतः वह सत्वर त्याज्य है। इस त्याग में चाहे मनुष्य को अपने सामाजिक एवं कौटुम्बिक उत्तरदायित्वों का हनन ही क्यों न करना पड़े, व्यक्ति के उद्धार के लिये चाहे समष्टि की बलि ही क्यों न देना पड़े। जहां ब्राह्मण-धर्म समष्टिवादी होने के कारण समाजोन्नयन में व्यक्ति-उत्कर्ष देखता है वहीं बौद्ध-धर्म व्यक्ति-वादी होने के कारण व्यक्ति-उत्कर्ष में समाज को बाधक समझता है और उसके त्याग में व्यक्ति का कल्याण ढूँढता है।

पहले ही कहा जा चुका है कि बौद्धों को ब्राह्मणों की वर्ण-व्यवस्था अमान्य थी। मोक्ष-प्राप्ति के हेतु प्रत्येक वर्ण का व्यक्ति समान रूप से अधिकारी है। उसके प्रयास में वर्ण-भेद बाधा नहीं है। खत्तिय, बम्हन, वैस्स, सुद्द, चण्डाल और पुक्कुस सभी दयालु हो सकते हैं और निर्वाण प्राप्त कर सकते हैं[४]। जन्म से नहीं वरन् कर्म से ही मनुष्य ब्राह्मण अथवा चाण्डाल होता है[५]। परिव्राजक-जीवन व्यतीत करने वाले व्यक्तियों में बौद्ध-साहित्य सभी वर्णों के उदाहरण देता है[६]। मधुरा सुत्त में मथुरानरेश अवन्तिपुत्र का स्पष्ट कथन है कि मैं श्रमण शूद्र का उसी प्रकार आदर करूँगा जिस प्रकार क्षत्रिय श्रमण का, क्योंकि श्रमण-वृति अंगीकार करने पर शूद्र, शूद्र नहीं रहता[७]।" इसी प्रकार सामन्न फलसुत्त का कथन है

---

१. जातक ४.७
२. जातक २ पृ० २३३-गा०१६६.
३. जातक
४. जातक ४पृ०२०३—गा० ७२.
५. वसल सुत्त २७.
६. जातक ४.७. जातक ५.२१२, जातक २.४२२, जातक ५.१७७, जातक ३.३६४ जातक ४.११०, जातक २.३१६, जातक ३.३०० जातक १.२४५ जातक ४.३९२.
७. मधुरा सुत्त—या हिस्समो कच्चान पुब्बे सुद्दो ति समञ्ञा सास्स अन्तरहिता समनो त्वेव संख गच्छतीति।

कि प्रव्रज्या ग्रहण करने पर दास राजा तक के लिये भी आदरणीय हो जाता है[1]। जातकों में प्रत्यक्ष रूप से एक कुम्भकार और एक चाण्डाल के प्रव्रज्या ग्रहण करने का उल्लेख है[2]। चुल्लवग्ग में अरिथ (अरिष्ट) नामक चाण्डाल भिक्षु का नामोल्लेख है। इसे स्वयं महात्मा बुद्ध से दीक्षा मिली थी। अन्य निम्नवर्गीय महत्वपूर्ण व्यक्ति उपालि था। यह नापित था। परन्तु अपनी योग्यता के कारण महात्मा बुद्ध का अग्र श्रावक हो गया था।

वर्ण की भाँति बौद्ध संगठन में चतुराश्रमों के लिये भी कोई स्थान न था। गृहस्थाश्रम तो बौद्धों के लिये यथासम्भव त्याज्य था। बौद्ध धर्म विशेषतया परिव्राजकों अथवा भिक्षुकों का धर्म था। परन्तु सामूहिक ब्रह्मचर्य का नियम कार्य रूप में परिणत न किया जा सकता था। यदि महात्मा बुद्ध एकमात्र गृहत्यागी आजीवन ब्रह्मचारियों को ही अपने धर्म में दीक्षित करते तो कदाचित् उनका धर्म कभी भी बहुसंख्यक अनुयायियों को आकृष्ट न कर पाता और व्यापक सहयोग के अभाव में उनका धर्म-तन्तु परिवर्धित होने के पूर्व ही मुरझा जाता। धर्म को पल्लवित करने के हेतु यह आवश्यक था कि उसे बहुसंख्यक गृहस्थों का भी सक्रिय सहयोग प्राप्त होता। इस सहयोग-प्राप्ति का केवल एक ही उपाय था और वह यह कि बौद्ध-धर्म को गृहस्थों के अनुकूल व्यावहारिक रूप देकर उसका द्वार सब के लिये खोल दिया जाता। परिस्थितिजन्य आवश्यकता का अनुभव करते हुए महात्मा बुद्ध ने यही किया। उन्होंने गृहस्थ बौद्धों को आजीवन ब्रह्मचर्य एवं गृहत्याग के नियमों से मुक्त कर दिया और उनके बौद्ध जीवन के लिये एक अन्य नियमावली बनाई। गृहस्थ बौद्धों को 'उपासक' की लघुसंज्ञा दी गई[3]। यद्यपि गृहस्थों को बौद्ध संगठन में पृष्ठद्वार से प्रवेश मिल गया तथापि उनका स्थान सदैव गौण रहा। बौद्ध संगठन का केन्द्रविन्दु तो भिक्षु, श्रावक, अथवा परिव्राजक था। उपासक उसका एकमात्र सहायक था। इस प्रकार महात्मा बुद्ध ने एक ओर तो दार्शनिकता के दृष्टिकोण से गृहस्थाश्रम को कुत्सित एवं त्याज्य बताया और दूसरी ओर व्यावहारिकता के दृष्टिकोण से उसे अपने संगठन की आधार-पीठिका बनाया और फलस्वरूप परोक्षरूप से परगामी ब्राह्मण व्यवस्थाकारों द्वारा स्थापित गृहस्थाश्रम की प्रधानता महत्ता, एवं अनिवार्यता को स्वीकार किया[4]।

---

1. सामन्न कल सुत्त ३५,३६.

2. जातक ३.३८१ जातक ४ ३६२

3. कुल्लवग १. ३२. १.

4. गौतम ३— ब्रह्मचारी गृहस्थी भिक्षुर्वैखानस इति।
तेषां गृहस्थो योनिरप्रजननत्वादितरेषाम्।

यह रहा बौद्ध-संगठन एवं गृहस्थाश्रम का द्विविध सम्बन्ध। ब्राह्मण व्यवस्थाकारों के शेष तीनों आश्रमों के अनेकानेक विधि-निषेधों को न्यूनाधिक मात्रा में अंगीकार कर महात्मा बुद्ध ने जिस प्रकार के परिव्राजक-जीवन की कल्पना की वह अनेक अंगों में मौलिक न होकर व्यावहारिक ही अधिक था। महात्मा बुद्ध द्वारा कल्पित इस जीवन में ब्राह्मणों के ब्रह्मचर्याश्रम, वानप्रस्थाश्रम एवं सन्यासाश्रम की अनेक धारायें आकर पुंजीभूत हो गई थीं। इन पर हम आगे विचार करेंगे। सिद्धान्तरूप में आश्रम-व्यवस्था को अस्वीकार कर महात्मा बुद्ध ने प्रव्रज्या ग्रहण करने वाले व्यक्तियों पर से आयु, काल, परिस्थिति एवं योग्यता के अंकुश हटा दिये। अब किसी भी वर्ग, आयु, अथवा परिस्थिति का व्यक्ति किसी भी समय गृह-त्याग कर परिव्राजक बन सकता था। परिणामतः बौद्ध साहित्य में अनेकानेक ऐसे उदाहरण उपलब्ध होते हैं जिनमें मनुष्यों ने अपने सामाजिक एवं कौटुम्बिक उत्तरदायित्व की अवहेलना कर व्यक्तिगत कल्याण के हेतु अकाल संसार-त्याग किया था। चुल्लसुत्तसोमजातक में सुतसोम अपने पुत्र-पुत्रियों की अल्पावस्था का विचार किये बिना ही गृह-त्याग कर देता है[१]। युवंजय जातक में संसार-त्याग के लिये उद्यत राजकुमार के समक्ष उसके माता-पिता की सम्मति एवं अनुनय-विनय व्यर्थ हो जाती हैं और वह तरुणावस्था में ही परिव्राजक बन जाता है[२]। बन्धनागार जातक में एक गहपति अपनी सुपुप्त गर्भिणी स्त्री एवं शिशु का त्याग कर प्रव्रज्या ग्रहण करता है।[३] अपने आश्रितों के भरण-पोषण का प्रबन्ध किए बिना ही गृह-त्याग करने वाले इन व्यक्तियों ने समाज-व्यवस्था के लिये एक गम्भीर विषय उत्पन्न कर दिया था। कालान्तर में ऐसे ही व्यक्तियों के विरुद्ध कौटिल्य ने राजकीय दण्ड की व्यवस्था बनाई थी[४]। इस नवीन निवृत्तिमूलक श्रमण-विचार-धारा ने अपरिपक्वबुद्धि नवयुवकों के ऊपर विशेषतया आकर्षण-पूर्ण प्रभाव डाला। महावग्ग के साक्ष्यानुसार मगध की जनता महात्मा बुद्ध के धर्म-प्रसार के परिणाम-स्वरूप अपने बहुसंख्यक नवयुवकों के प्रव्रज्या ग्रहण करने के कारण व्यग्र हो

मनु० ३.१०.७७–८०--यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः
यस्मात् त्रयोप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन,चान्वहं
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमी गृही।

१. चुल्ल सुत्तसोम जातक ५.१७७.

२. युवंजय जातक ४.११९.

३. जातक २. पृ० १३९–४१.

४. कौटिल्य २.१.

उठी थी[१]। इनमें से अनेकानेक नवयुवक ऐसे भी होंगे जिन्होंने एकमात्र क्षणिक भावना के प्रभाव में आकर ही संसार-त्याग कर दिया होगा और तत्पश्चात् अपने को कठोर परिव्राजक-जीवन के लिये अनुपयुक्त पाया होगा। पुनः प्रव्रज्या का द्वार सबके लिये अबाध रूप से खुला था। कोई भी व्यक्ति किसी भी समय इसमें प्रवेश कर सकता था। अतः बहुधा अवांछनीय मनुष्य भी अन्यान्य कारणों से इसे ग्रहण कर लेते थे। महावग्ग में अज्ञान एवं अनधीत भिक्षुओं का उल्लेख है जो न उपोसथ जानते थे और न पातिमोक्ख[२]। बौद्ध साहित्य में ऐसे ब्राह्मण एवं श्रमणों के उल्लेख भी मिलते हैं जो श्रद्धालु जनता के भिक्षादान पर सुगमतापूर्वक जीवन-यापन करते हुए छलछद्‌ममय कार्यों में संलग्न थे और स्वार्थसाधन ही उनका एकमात्र ध्येय था[३]। इसी प्रकार मिलिन्दपन्हो में ऐसे परिव्राजकों का उल्लेख है जो राजा के अत्याचारों से पीड़ित होकर, डाकुओं से भयभीत होकर, ऋण न चुका सकने के कारण अथवा जीविकोपार्जन के हेतु प्रव्रज्या ग्रहण करते थे[४]। ये कथन अवांछित रूप से संघ प्रविष्ट कतिपय बौद्ध परिव्राजकों के लिये भी सार्थक हो सकते हैं। चुल्लवग्ग में कलहप्रिय एवं अपभाषी भिक्षुओं का उल्लेख है जो संघ के अधिवेशन में निरर्थक अवैधानिक विवाद किया करते थे। इन समस्त कुत्सित सम्भावनाओं से अवगत होते ही महात्मा बुद्ध ने संघ-प्रवेश पर अनेक महत्वपूर्ण प्रतिबन्ध लगा दिये। १५ वर्ष से कम अवस्था का कोई भी युवक बौद्ध परिव्राजक न हो सकता था[५]। गृहत्याग के लिये माता-पिता की अनुमति आवश्यक बना दी गई[६]। चोरी, हत्या और ऋण के अपराधियों के लिये संघ-प्रवेश वर्जित कर दिया गया[७]। महावग्ग के कथनानुसार राजा बिम्बसार ने आज्ञा प्रसारित की थी कि बौद्ध-भिक्षुओं का कोई भी व्यक्ति हानि न करने पाये[८]। राजकीय संरक्षण में पनपने वाले बौद्ध संघ में यदि आत्मरक्षा के हेतु हत्यारे, चोर, ऋणी इत्यादि प्रविष्ट हो गये हों तो कोई आश्चर्य नहीं। इसी प्रकार क्लीब, दास, अथवा रोगी भी प्रव्रज्या ग्रहण न कर सकता था[९]।

---

१. महावग्ग १. २४.

२. महावग्ग २. १७, २१. २, ३, ४

३. डायलाग्ज आफ दि बुद्ध १. १५.

४. मिलिन्दपन्हो पृ० ३२

५. महावग्ग १-५०.

६. महावग्ग १-५४

७. महावग्ग १-४१, ४२, ४४, ४६, ६४, ६५, ६६

८. महावग्ग १-४१

९. महावग्ग १. ६१, ७६

ब्राह्मण साहित्य की भाँति बौद्ध साहित्य में भी नारी के दो परस्पर विरोधी रूप प्रदर्शित किये गये हैं। एक ओर वह नितान्त कुप्रकृति है। वह किसी एक पुरुष में अनुरक्त नहीं रह सकती[1]। वह पापस्वरूपा है[2]। अवसर मिलने पर वह अवश्य दुराचार करेगी[3]। मैथुन, अलंकरण और प्रजनन के लिये उसकी तृष्णा असीम है[4]। उसका मस्तिष्क छाया अथवा चक्र की भाँति अस्थिर है[5]। मछली की गति के समान उसकी गति अनिश्चित है[6]। अतः वह धार्मिक जीवन के लिये नितान्त बाधक है[7]। आनन्द के इस प्रश्न पर कि श्रमण को स्त्री के सम्मुख किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिये, महात्मा बुद्ध ने उत्तर दिया था कि जहां तक सम्भव हो, उसकी ओर न देखो, परन्तु यदि देखना अनिवार्य हो जाय तो उससे सम्भाषण न करो; यदि सम्भाषण भी अनिवार्य हो जाय तो भली-भाँति जागरूक रहो[8]। जातकों में अनेकानेक कथायें देखी हैं जिनसे स्त्री के विश्वासघात, कामवासना और कुलकलंक प्रदर्शित होते हैं[9]।

दूसरी ओर बौद्धों ने नारी को नितान्त शुभ वर्णों से अंकित किया है। महात्मा बुद्ध के मतानुसार नारी में कोई भी कुरूपता नहीं है और उसे पुरुष की सम्पत्तिमात्र न समझना चाहिए[10]। भार्या के रूप में वह पुरुष की परम सखा है[11] वह पुरुष की जननी है। अतः वह कभी भी घृणा की पात्री नहीं हो सकती[12]। जातकों के कथानक मद्दी, सम्बुला, सुजाता, रूपा आदि पतिव्रता एवं सच्चरित्रा स्त्रियों के उदाहरणों से भरे पड़े हैं।

अतः स्पष्ट है कि जहां कहीं नारी की कटु आलोचना की गई है वह कामिनी के रूप

---

१. जातक १ पृ० ३०३
२. जातक १ पृ० २८८—गा० ६०
३. जातक १ पृ० ३०९
४. जातक ३ पृ० ३४२
५. जातक ५ पृ० ४४६—गा० ३२६
६. जातक ५ पृ० ९४—गा० २६५
७. जातक १ पृ० ३३८
८. महापरिनिब्बान सु० ३३
९. जातक २ पृ० ३२५—८, जातक १ पृ० ४९९-५००; जातक १ पृ० ४९३-४, जातक ५ पृ० ४४०—गा० ३०८, जातक २ पृ० ३२३ इत्यादि।
१०. जातक २ पृ० ३२५—८, जातक २ पृ० ४९९-५००; जातक १ पृ० ४९३-४, जातक ५ पृ० ४४०—गा० ३०८, जातक २ पृ० ३२३ इत्यादि।
११. दीघनिकाय ४.
१२. संयुत्त निकाय—जातक ३ पृ० ३७.

में ही की गई है। महात्मा बुद्ध ने भी इसी रूप में नारी के संघ-प्रवेश का विरोध किया था। यद्यपि उन्होंने अपने परम शिष्य आनन्द के अनुनय-विनय एवं तर्क-वितर्क से प्रभावित होकर स्त्रियों को संघ-प्रवेश की आज्ञा दे दी तथापि उन्हें यह भय लगा रहा कि भिक्षुक भिक्षुणियों का सम्पर्क कहीं संघ में भ्रष्टाचार न उत्पन्न कर दे। इसी से उन्होंने स्त्रियों को संघ-प्रवेश की आज्ञा ८ शर्तों पर दी[1] :–(१) उन्हें अपने कर्तव्यों को भलीभांति समझना चाहिए। (२) प्रति अर्द्धमास उन्हें एक भिक्षा लानी चाहिए। (३) भिक्षु-विहीन स्थान पर उन्हें 'वस्स' काल न व्यतीत करना चाहिए। (४) उन्हें भिक्षुओं से पृथक् रहना चाहिए जिससे वे उन्हें न देख सकें और न सुन सकें। (५) वे भिक्षुओं को विपथ न करें। (६) वे क्रोध, अपशब्दता एवं पाप से मुक्त रहें। (७) प्रति अर्द्धमास वे किसी भिक्षु के समक्ष अपने पापों को स्वतः स्वीकार कर लें और (८) चाहे वे शतायु ही क्यों न हों, उन्हें प्रत्येक भिक्षु के प्रति--अचिरात् दीक्षित भिक्षु के प्रति भी—आदर करना चाहिए, उसके आगमन पर खड़ा हो जाना चाहिए और प्रणाम करना चाहिए।

इतने पर भी महात्मा बुद्ध का अन्तिम कथन यही था कि स्त्रियों के संघ-प्रवेश से संघ की आयु क्षीण हो गई है और अब वह १००० वर्षों के स्थान पर ५०० वर्षों तक ही चलेगा[2]। इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि महात्मा बुद्ध मानवी चरित्र की दुर्बलताओं से भलीभांति परिचित थे और संघ में स्त्री-प्रवेश-निषेध के द्वारा उनके उद्दीपन की सम्भावना को निर्मूल करना चाहते थे। परन्तु यह कथन असत्य है कि वे स्वभावतः स्त्री-द्रोही थे और उसे नितान्त हेय समझते थे। स्त्री-विरोधी उनके कथन स्त्री पर कामिनी-रूप में ही उपयुक्त होते हैं। उनका ध्येय समस्त स्त्री-समाज की प्राकृतिक अयोग्यता का प्रतिपादन करना न था। दीर्घनिकाय में उनका कथन[3] कि नारी में कोई क्षुद्रता नहीं है, नारी के उज्ज्वलांश की ओर संकेत करता है। बौद्ध इतिहास की अमर नारियाँ--खेमा, उप्पलवन्ना, पताचारा, भद्दा, किसा, गोतमी, धम्मदिन्ना और विसाखा महात्मा बुद्ध के इस विश्वास की सत्यता के साक्ष्य हैं। बौद्ध संघ के परिवर्धन में बौद्ध नारियों का विशेष योग रहा है। उदाहरणार्थ, विसाखा श्रावस्ती की एक धनी महिला थी। वह महात्मा बुद्ध तथा उनके अनुयायियों के श्रावस्ती आगमन पर उनकी विधिवत् सेवा-शुश्रुषा करती थी तथा उन्हें वस्त्रान्न-दान करती थी। अन्त में उसने एक स्थायी निधि के द्वारा बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणियों के हेतु खाद्य सामग्री,

---

[1]. जातक ५ पृ० २६८-गा० ११६-२०

टिबेटन लीजेण्ड्स-६१-६२,

[2]. विनय-पिटक चुल्ल वग्ग

[3]. दीघनिकाय ४,

वस्त्र, तथा औषधि आदि का स्थायी प्रबन्ध कर दिया[1]। दूसरी उल्लेखनीय उपासिका सुप्पिय थी जिसने अपनी जांघ के मांस को काट कर एक रुग्ण भिक्षु की सेवा की थी[2]। इन उपासिकाओं के अतिरिक्त अनेक भिक्षुणियाँ ऐसी थीं जिन्होंने अपनी साधना के द्वारा 'अर्हत्-पद' प्राप्त कर लिया था। थेरीगाथा में इनके जो गीत संग्रहीत हैं वे इनकी मानसिक शान्ति एवं बौद्धिक विकास के द्योतक हैं।

बौद्धों के संगठन का केन्द्र-विन्दु संघ था। इसी के अन्तर्गत बौद्ध जीवन संगठित हुआ था और बौद्ध धर्म प्रसारित। तथागत ने जिस बौद्ध जीवन एवं बौद्ध-धर्म को अंकुरित किया था वह संघ के निरन्तर प्रयास से ही पल्लवित, पुष्पित एव फलित हुआ था। अन्य संस्थाओं की भाँति संघ का इतिहास भी एककालीन न होकर क्रमिक है। वह उत्थान-पतन के अनेक सम-विषम मार्गों से होकर विकसित हुआ था। जनतन्त्रात्मक वातावरण में पालित होने के कारण महात्मा बुद्ध के व्यक्तित्व पर जनतन्त्रवाद का जो प्रचुर प्रभाव पड़ा था, वह उनके द्वारा स्थापित संघ के आधारभूत सिद्धान्तों से भी परिलक्षित होता है। बौद्ध संघ एक धार्मिक गणतन्त्र था। उसमें न कोई उच्च था न निम्न, न किसी को अल्पाधिकार थे और न विशेषाधिकार। संघ में प्रभुत्व अथवा विशेषाधिकार की आकांक्षा करने वाला व्यक्ति मूर्ख समझा जाता था[3]। महात्मा बुद्ध ने न तो अपना उत्तराधिकारी मनोनीत किया था और न अपने उपदेशों को लेखबद्ध कराया था। उनके विचार में धर्म सब की समान सम्पत्ति थी। उसकी व्याख्या एवं रक्षा, उसका उज्जीवन एवं उन्नयन संघ का सामूहिक उत्तरदायित्व था। महात्मा बुद्ध ने अपने अन्तिम काल में इसी आशय के विचार प्रकट किये थे—"आनन्द! यह सम्भव है कि तुम लोगों में से कतिपय यह विचार कर रहे हों कि भगवान् के प्रवचन नष्ट हो जायेंगे और हम नेतृत्वहीन हो जायेंगे। परन्तु ऐसा नहीं है। जिस धर्म एवं विनय का उपदेश मैंने दिया एवं प्रचार किया है, वही मेरी मृत्यु के पश्चात् तुम्हारे पथप्रदर्शक हों[4]।" यही भाव वस्सकार और आनन्द की वार्ता से स्पष्ट होता है। वस्सकार ने आनन्द से प्रश्न किया कि क्या महात्मा बुद्ध ने अपना कोई उत्तराधिकारी मनोनीत किया है? आनन्द का नकारात्मक उत्तर सुन कर वस्सकार को आश्चर्य

---

१. महावग्ग ८.१४.-१५.

२. महावग्ग ६. २२.

३. धम्मपद ७३—असत भावन् इच्छेय्य पुरेक्खारन् च भिक्खुसु ।
आवासेसु च इस्सर्यम् पूजा परकुलेपु च ॥

४. महापरिनिब्बान सुत्त ६-१- सियाखो पन आनन्द तुम्हाकं एवं अस्स: अतीत सत्थुकं पावचनं न अत्थि नो सत्था ति। न खो पन एतं आनन्द एवं दत्थब्बं यो वा आनन्द मया धम्मो च विनयो च देसितो पन्नत्तो सो वो मं अच्चयेन सत्था।

हुआ और उसने अपनी शंका प्रकट की कि नेतृत्व के अभाव में संघ की एकता कैसे स्थिर रहेगी। इस पर आनन्द ने प्रत्युतर दिया कि ऐ ब्राह्मण, हमें नेतृत्व की आवश्यकता नहीं है। धर्म ही हमारा नेता है।[1]

यद्यपि महात्मा बुद्ध की मृत्यु के पश्चात् उनका कोई उत्तराधिकारी (सत्था) न हुआ तथापि संघ के पथ-प्रदर्शन का कार्य उनके अनेकानेक शिष्यों में से कतिपय योग्यतम शिष्यों के हाथ में आया। ये शिष्य कालान्तर में स्थविर अथवा महास्थविर के नाम से प्रख्यात हुए। परन्तु ये आयु, अनुभव एवं विद्या के दृष्टिकोण से ही प्रधान थे, अन्यथा बौद्ध संघ में इनका कोई विशेष पद न था।

प्रारम्भिक अवस्था में लिखित व्यवस्था न होने के कारण बौद्ध-धर्म की रूपरेखा चार आधारों पर अवलम्बित थी :—

(१) भगवतो सम्मुखा सुतम्—स्वयं भगवान् बुद्ध के मुख से सुने हुए उपदेश।
(२) किसी स्थानीय संघ द्वारा ग्रहीत व्यवस्था।
(३) कतिपय महास्थविरों द्वारा निर्णीत व्यवस्था।
(४) किसी धर्मपण्डित द्वारा घोषित व्यवस्था अथवा व्याख्या।

महापरिनिव्वान सुत्तन्त में ये आधार महापदेस के नाम से सम्बोधित हुए हैं[2]। परन्तु शनैः-शनैः बौद्धभिक्षुकों को इन महापदेसों की त्रुटियां स्पष्ट होने लगीं। प्रथम महापदेस तो महात्मा बुद्ध की मृत्यु के साथ ही नष्ट हो गया। द्वितीय बौद्ध धर्म के विशाल प्रसार के साथ अव्यवहार्य हो गया। बौद्धों ने भिन्न-भिन्न आवासों पर अपने विभिन्न संघों की स्थापना की। इनमें से प्रत्येक एक लघु संस्था के समान था। यदि बौद्ध इन्हें व्यवस्था-प्रतिपादन का व्यक्तिगत अधिकार देते तो भिन्न-भिन्न संघ अपनी आवश्यकताओं, सुविधाओं एवं मति के अनुसार पृथक्-पृथक् नियम बनाते। उस दशा में बौद्ध- संसार में धार्मिक विच्छृंलता का ही सृजन होता। अतः यह द्वितीय महापदेस भी कालान्तर में अनुपयुक्त समझा गया। महास्थविरों की संगीति प्रादेशिक-व्यवस्था का ही निर्माण कर सकती थी। बौद्ध धर्म के सार्वदेशिक हो जाने पर इस संगीति का अधिवेशन असम्भव सा हो गया था। अतः यह तृतीय महापदेस भी दुष्कर हो गया। चतुर्थ महापदेस समस्त भिक्षुकों की समानाधिकार-भावना एवं संघ की गणतन्त्रात्मक प्रणाली के विरुद्ध था। अतः यह सदैव निर्बाध रूप से कार्यान्वित न हो सकता था। इन त्रुटियों को दूर करने के हेतु ही बौद्धों ने अपने 'धम्म' और 'विनय' को निश्चित रूप से स्थिर कर लिखित रूप देने की आवश्यकता समझी।

---

१. गोपक–मोग्गल्लान-सुत्तन्त (मज्झिम निकाय)

२. महापरिनिव्वान सुत्तन्त ४.७.

अन्यधर्मीय परिव्राजकों की भांति प्रारम्भ में बौद्ध धर्म ने अपने भिक्षुकों के लिए निरन्तर भ्रमणशीलता एवं एकाकिता का आदेश दिया था। खग्गविसासुत्त का कथन है कि भिक्षु को सदैव एकाकी भ्रमण करना चाहिए[1]। महावग्ग में स्वयं महात्मा बुद्ध का आदेश है कि दो भिक्षुओं को साथ-साथ एक ही दिशा में न जाना चाहिए[2]। धम्मपद में अनेकानेक स्थल ऐसे हैं जिनमें इसी प्रकार एकाकिता एवं भ्रमणशीलता का प्रतिपादन किया गया है[3]। परन्तु बौद्ध धर्म के संगठन के साथ-साथ भिक्षुओं के सामूहिक निवास का प्रचलन भी बढ़ने लगा। इस प्रचलन का प्रारम्भ वर्षाकालीन भ्रमण-निरोध से हुआ था। प्रायः समस्त परिव्राजक-समाज वर्षाकाल में परिभ्रमण स्थगित कर देता था। प्रारम्भ में यह नियम कदाचित् घोर वर्षा-जनित मार्गदुरूहता के कारण बनाया गया था। परन्तु कालान्तर में यह एक धार्मिक अनिवार्यता बन गया। गोतम, बौधायन आदि ब्राह्मण-व्यवस्थाकारों ने वर्षा-ऋतु में परिव्राजक के हेतु ध्रुवशीलता (स्थिरवास) का आदेश दिया है[4]। इसी प्रकार का आदेश बौद्ध व्यवस्था में भी था। महापरिनिब्बान सुत्तन्त में महात्मा बुद्ध का कथन है कि वर्षाकाल में प्रत्येक भिक्षु को ऐसे स्थान पर स्थिर-निवास करना चाहिए जहां उसके मित्र, परिचित एव घनिष्ठ व्यक्ति रहते हों[5]। इसी प्रकार चुल्लवग्ग में उल्लेख है कि केवल वर्षा-काल में ही भिक्षु आवास में 'सेनासन' प्राप्त करने का अधिकारी है[6]। वर्षाकाल में जिन निवास-स्थानों में बौद्ध भिक्षु जाकर रहते थे, वे आवास कहलाये। बौद्ध-भिक्षुओं की संख्या-वृद्धि के साथ साथ देश में आवासों की भी संख्या-वृद्धि हुई। राजाओं, श्रद्धालु धनिकों एवं उपासकों ने दान-स्वरूप देश में स्थान-स्थान पर भिक्षुओं के निवासार्थ आवास बनवाये। इन्हीं में बौद्ध जीवन संगठित हुआ। ये आवास छोटे छोटे अनेक संघों के रूप में विकसित हुए जिनके भिक्षु स्वतन्त्र रूप से अपने धर्म एवं जीवन की रूप-रेखा निर्धारित करते थे। बौद्ध साहित्य में वेसालिक विज्जिपुत्तक भिक्षुओं, सावित्थय संघ आदि का उल्लेख है[7]। बहुधा यह रूप-रेखा एक दूसरे के न्यूनाधिक मात्रा में पृथक् अथवा भिन्न होती थी। यही कारण है कि बौद्धों ने भिक्षुओं को दो कोटि में विभक्त किया है :--

---

[1]. खग्गविसासुत्त एको चरे खग्गविसाकप्पो सुत्तनिपात।
[2]. महावग्ग १, ११. मां एकेन दे अगमित्थ।
[3]. धम्मपाद संख्या ३०५, ३३०, ३६५ इत्यादि।
[4]. गौतम ३.१३ बौधा० २.६.११.२०
[5]. महापरिनिब्बान सुत्तन्त २.२२
[6]. चुल्लवग्ग ६.११.३.
[7]. महावग्ग ३.१३.१, चुल्लवग्ग १२.१

(१) समानवासक और (२) नानावासक। प्रथम कोटि में वे समस्त भिक्षु आते थे जो किसी एक विशिष्ट आवास में सम्मिलित रूप से रहते थे। द्वितीय कोटि में वे भिक्षु रक्खे गये थे जो अन्यान्य आवासों में रहते थे। इस प्रकार चातुर्दिस संघ के अन्तर्गत बहु-संख्यक स्थानीय संघ बन गये। यही स्थानीय संघ कदाचित् बौद्ध धर्म के अन्तर्गत अनेक मत-मतान्तरों के जन्मदाता हुए।

इस प्रकार आवास-स्थापना ने बौद्ध भिक्षुओं को दो श्रेणियों में विभक्त कर दिया। प्रथम श्रेणी के भिक्षु निरन्तर भ्रमणशीलता एवं एकाकिता में आस्था रखते थे। इनके लिये बौद्ध साहित्य में परिव्राजक शब्द का प्रयोग किया गया है। द्वितीय श्रेणी के भिक्षु आवास में संगठित थे। इनको भिक्षु की विशेष संज्ञा दी गई। इस प्रकार नामकरण के द्वारा भी इन श्रेणियों का विभेद स्पष्ट हो जाता है[1]। इस द्वितीय श्रेणी का उदय कदाचित् बौद्ध भिक्षुओं को दृढ़तर संगठन-सूत्र में बांधने की आवश्यकता से हुआ था। मिलिन्दपन्हो का कथन है कि विहार में स्थित होने के कारण संघ सुलभ-दर्शन हो जाता है और निकेतनहीन होने के कारण दुर्दर्शन[2]। इस कथन का तात्पर्य यही है कि विहारों अथवा आवासों ने बौद्धों के संगठन-केन्द्र का कार्य किया। ये बौद्ध-धर्म के कार्यालय एवं बौद्ध-संस्कृति के क्षेत्र बन गये।

पूर्वलिखित अपवादों के अतिरिक्त साधारणतया कोई भी व्यक्ति संघ-प्रवेश कर सकता था। बौद्ध साहित्य में संघ-प्रवेश का उपसम्पदा के नाम से पुकारा गया है। यह ब्राह्मण-व्यवस्था के ब्रह्मचर्याश्रम-प्रवेश सूचक उपनयन-संस्कार के समान था। प्रारम्भ में स्वयं महात्मा बुद्ध इस संस्कार का संपादन करते थे। परन्तु कालान्तर में जब संघ दीर्घकाय हो गया और संघ प्रवेशार्थियों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ने लगी तो महात्मा बुद्ध ने यह कार्य पूर्व संस्कृत भिक्षुओं को हस्तान्तरित कर दिया[3]। अब संघ का कोई भी दीक्षित भिक्षु नवागन्तुक का उपसम्पदा संस्कार सम्पादित कर सकता था। उपसम्पदा-संस्कार सरल एवं साधारण था। इस अवसर पर संघ-प्रवेशार्थी को दाढ़ी और बाल मुड़वाने पड़ते थे। तत्पश्चात् गेरुआ वस्त्र धारण कर वह अपने आचार्य भिक्षु को प्रणाम करता था और बुद्ध-धर्म एवं संघ में अपना शरणागमन घोषित करता था[4]। आचार्य "एहि भिक्खू स्वाक्खातो धम्मो चरथ ब्रह्मचरियं सम्मा दुक्खस्स अन्तकिरियाया" इति कह कर

---

[1]. पाचित्तिय ४१—यो पन भिक्खु।

[2]. मिलिन्द प्र० २१२—विहारे विज्जमाने...सुलभ—दस्सनं दस्सनकामानं अनिकेते दुद्दस्सना भविस्सन्तीति।

[3]. महावग्ग १—१२—१३.

[4]. महावग्ग १—१२—१३

उसका संघ में स्वागत करता था [१]। संघ-प्रविष्ट होने पर भिक्षु को उपाध्याय अथवा आचार्य के निरीक्षण में कुछ काल तक अपने नवीन जीवन के यम-नियमों का अध्ययन करना पड़ता है। यह काल ब्राह्मणों के ब्रह्मचर्याश्रम के समान है। बौद्ध साहित्य में इसे 'निस्सय' के नाम से पुकारा गया है। इसकी अवधि भिक्षु की व्यक्तिगत योग्यता के ऊपर निर्भर है। अविज्ञ अथवा अशिक्षित भिक्षु के लिए आजीवन और योग्य भिक्षुक के लिए केवल पंचवर्षीय निस्सय का विधान था [२]। परन्तु सामान्यतया इसकी अवधि दस वर्ष की रक्खी गई थी। आचार्य निरीक्षण में अधिक से अधिक दो शिष्य रख सकता था [३]। शिष्य को अपना आचार्य स्वयं चुनने का अधिकार था [४]। शिष्य के लिए आचार्य नितान्त आदरणीय था। उसके लिए वह पिता सम था। उसके प्रति दुर्व्यवहार करने अथवा आज्ञोल्लंघन करने के अपराध में वह संघ से बहिष्कृत किया जा सकता था [५]। परन्तु नितान्त जनतन्त्रात्मक संगठन होने के कारण बौद्ध-धर्म में आचार्य के प्रति अन्ध-भक्ति के लिए कोई स्थान नहीं। वैशाली संगीति ने वाद-विवाद के पश्चात् यही मत निर्धारित किया था कि आचार्य भी सदैव निर्विवादरूप से अनुगमनीय नहीं। आज्ञा-पालन में विवेक और औचित्य भी अपेक्षित है [६]।

भिक्षुओं का जीवन आवासों में संगठित था। ये आवास भिक्षु-उपनिवेश थे। प्रत्येक आवास में अनेक विहार होते थे जो किसी विशाल आराम के भीतर निर्मित होते थे। अन्य पशुओं से रक्षा के हेतु तथा उपनिवेश को एक पृथक् इकाई देने के लक्ष्य से आराम चारों ओर लकड़ी अथवा पत्थर की चहारदीवारी से घिरा होता था [७]। प्रत्येक विहार में भिक्षुओं के निवास के लिए अनेक 'परिवेनस्' (कक्ष) होते थे। विहार के भीतर उपस्थित सामग्री भिक्षु-जीवन की सरलता एवं आवश्यकता की सूचना देती थी। प्रत्येक कक्ष में भिक्षु के उपकरणों में वस्त्र, भिक्षा-पात्र, दण्ड, दन्त-काष्ठिका, शयन के हेतु एक चारपाई, बैठने के लिए एक पीठ तथा बिछाने के लिए एक दरी अथवा चटाई ही प्रमुख थी [८]। कक्ष को शुद्ध रखने, खिड़कियों को खोलने और बन्द करने, फ़र्श को साफ़ करने, रात्रि के समय

---

१. महावग्ग १–२५

२. „ १–५३–४

३. „ १–५५

४. „ १–२५–७

५. „ १–६०

६. चुल्लवग्ग ११–१–१०

७. महावग्ग ६–२३–१ चुल्लवग्ग ५–१७–१

८. महावग्ग १–२५,१५–१६, चुल्लवग्ग ६–२–३

उस पर दरी बिछाने, प्रातःकाल उसे उठा कर रखने के विविध नैत्यिक कार्य स्वयं भिक्षु के उत्तरदायित्व थे। परन्तु आचार्य के लिये ये कार्य प्रायः शिष्य ही किया करते थे[1]।

आवास के सामूहिक उपयोग के लिये आराम के भीतर एक उदपान (कुआं), जन्ताघरसाला (स्नानागार), उपत्थान कप्पिय-कुटी (भाण्डागार), कोत्थक (संग्रहालय), अग्गिसाला (पाकशाला) आदि निर्मित होते थे[2]। इन समस्त उपकरणों की सूची से स्पष्ट हो जाता है कि बौद्ध जीवन चिर-पर्यटनशील, व्यक्तिगत एवं एकाकी न रह कर शनैः शनै स्थिर-निवासशील, समष्टिगत एवं आवासिक होता गया था। जनतन्त्रात्मक प्रणाली की भावना को लिये-दिये एवं सहनिवासिता तथा सहकारिता की आवश्यकता से उत्पन्न यह समस्त सामग्री किसी एक भिक्षु की न रह कर सामूहिक रूप से सम्पूर्ण संघ की सम्पत्ति समझी जाती थी। चुल्लवग्ग की स्पष्ट व्यवस्था है कि आराम, विहार, शयन, पीठिका, उपधान, पात्र, लता, वेणु, मुंज, काष्ठसामग्री, मृण्भाण्ड इत्यादि संघ की सामूहिक सम्पति हैं[3]। महापरिनिब्बान सुत्तन्त का भी इसी आशय का कथन है कि जब तक भिक्षुसंघ के आदेशानुसार प्राप्त समस्त वस्तुओं का आपस में निष्पक्षतापूर्वक विभाजन एवं सामूहिक उपभोग करेंगे तब तक उनकी अवनति न होगी, वरन् उत्थान ही होगा[4]। भिक्षु की समस्त सामग्री यहां तक कि उसके वस्त्र एवं भिक्षा-पात्र भी, संघ की सम्मिलित सम्पत्ति समझी जाती थी और उसकी मृत्यु के पश्चात् या तो वह संघ के सार्वजनिक उपयोग के हेतु रख दी जाती थी या भिक्षुओं में विभाजित कर दी जाती थी[5]।

इस सामूहिक जीवन को सम्यक् रूप से संचालित करने के हेतु आवास में अनेक पदाधिकारियों की नियुक्ति की जाती थी[6]। समय-समय पर उपासक एवं श्रद्धालु मनुष्य संघ को वस्त्र-दान करते थे। इसे ग्रहण करने का कार्य चीवर-पतिग्गाहपक नामक पदाधिकारी द्वारा सम्पादित होता था। इसी प्रकार संघ को अर्थ-दान मिलता था। इसे ग्रहण करने तथा इससे भिक्षुओं की आवश्यक वस्तुओं के क्रय करने का कार्य कप्पिय-कारक करता था। खाद्यान्न संचय करने के हेतु एक भाण्डागारिक होता था। भिक्षुओं में अन्न, फल, भिक्षापात्र एवं अल्प-सामग्री को विभाजित करने के हेतु क्रमशः संघभत्त, फलभाजक, पत्तगाहापक तथा अप्पगन्तक विस्सज्जक नामक पदाधिकारी नियुक्त किये जाते थे। समय-समय

---

१. महावग्ग १.२५.१५,१८. चुल्लवग्ग ६.२.२.
२. चुल्लवग्ग ६.४.१०.,महावग्ग ३.५.६.
३. चुल्लवग्ग ६.१५.२.
४. महापरिनिब्बान सुत्तन्त १.११–
५. महावग्ग ८.२७.५.
६. चुल्लवग्ग ६.२१.१.२, ३.६.५.२

पर आवास में नवीन कक्षों, भवनों, प्राचीरों आदि का निर्माण होता था। यह निर्माण-कार्य नव-कम्मिक निरीक्षण में होता था। सामान्यतया सम्पूर्ण आराम की देख-रेख आरामिक-पुसक नामक कर्मचारी का उत्तरदायित्व था।

जिस प्रकार भिक्षु की शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के हेतु बौद्धों ने उपयुक्त व्यवस्था विकसित की थी उसी प्रकार उन्होंने उसके धार्मिक जीवन को व्यवस्थित करने के हेतु भी आचरण एवं अनुशासन-सम्बन्धी अनेकानेक विधि-निषेध बनाये थे। महावग्ग में इनका सविस्तार उल्लेख है। भिक्षु के धारण करने के लिए तीन वस्त्रों (तिचीवर) की व्यवस्था की गई थी--अन्तरवसिक, उत्तरसंग और संघाटि। इन तीनों वस्त्रों का रंग काषाय होता था। प्रारम्भ में ये वस्त्र लोकत्यक्त अथवा श्मशान-प्राप्त वस्त्रों से निर्मित किये जाते थे, परन्तु कालान्तर में भिक्षु इन्हें भिक्षा के रूप में ग्रहण कर सकता था। संघ की रूई, सूत एवं बिना सिले हुये वस्त्र भी दान के रूप में प्राप्त होते थे [1]। वह इनकी सहायता से नवीन वस्त्र बनवाता था और भिक्षुओं में आवश्यकतानुसार उनका वितरण करता था। वस्त्र वितरण-समारोह कंथिन को कहते थे। [2] भिक्षुओं के अन्य उपकरणों में भिक्षा-पात्र (पत्ता), दण्ड (कट्टरदड), सूची, वासि बन्धन और परिस्सवन थे [3]। उनके लिये दिगम्बर रहना अथवा घास अथवा वृक्ष की त्वचा के वस्त्र धारण करना निषिद्ध था [4]। कदाचित् यह निषेध बौद्ध भिक्षुओं का क्रमशः जैन भिक्षुओं और ब्राह्मण परिव्राजकों से विभेद स्थापित करने की दृष्टि से बनाया गया था। ग्रीष्मऋतु के अतिरिक्त अन्य ऋतुओं में भिक्षुओं के लिए एकमात्र आधिमासिक स्नान का आदेश था। दिन भर वे भिक्षाचरण करते थे और रात्रिकाल अपने आवास में व्यतीत करते थे। भिक्षान्न में पक्व एवं अपक्व दोनों प्रकार के अन्न ग्राह्य थे। अपक्वान्न को पकाकर खाने की भी अनुमति थी। रुग्णावस्था में मांस-भोजन करने की भी आज्ञा दे दी गई थी [5]। रात्रिकाल में आवासिक भिक्षुओं का अध्ययन अध्यापन, वाद-विवाद एवं मनन-कार्य होता था। भिक्षु धर्म-पाठ करते थे, सुतन्तिक सुतन्त विवेचन करते थे, विनियधर विनय पर तथा धम्मकथिक धम्म पर विचारों का आदान-प्रदान करते थे [6]। वर्ष के ८--९ मास भिक्षु देश का पर्यटन करते थे और अपना

---

1. महावग्ग ७. १. ६.
2. ,, ७
3. जातक ३ पृ० ३७७, जातक ४ पृ० ३४२, जातक ५ पृ० १८०, जातक ६ पृ० ५२
4. महावग्ग ८. २८. १--३.
5. महावग्ग ६. १०.-१२
6. ,, ४. १५.४.

धर्म प्रचार। परन्तु वर्षाकाल में वे सब अपने-अपने आवासों में आ जाते थे। उनका आवास-निवास आषाढ़ अथवा श्रावण की पूर्णिमा से लेकर कार्तिक-पूर्णिमा तक रहता था[१]। इस कथन का अनुमोदक ह्वेनसांग से भी होता है[२]।

संघ-प्रवेश के पश्चात् भिक्षु पूर्णरूप से संघ के नियन्त्रण एवं अनुशासन में आ जाता था। वह अपने समस्त कार्यों के लिये संघ के प्रति उत्तरदायी था। भिक्षु-समुदाय में व्यवस्था बनाये रखने के लिये बौद्धों ने सुविशाल दण्ड-विधान का विकास किया था जिसके अन्तर्गत पश्चात्ताप से ले कर संघ-बहिष्कार तक के दण्ड उल्लिखित हैं। बौद्ध साहित्य में इस दण्ड-विधान का क्रमिक विकास परिलक्षित होता है। प्रारम्भ में बौद्ध धर्म एकमात्र मत के रूप में था। संघ के रूप में उसका विकास परकालीन है। समान धर्म के आधार पर बौद्ध एक दूसरे से सम्बद्ध थे। धम्म ने उनके बीच आन्तरिक एकता स्थापित कर दी थी जो प्रत्येक मत की अनिवार्य विशेषता है। परन्तु संघीकरण के हेतु बाह्य एकता, आचार-विचार, यम-नियम, विशिष्ट क्रियायें, समारोहादि की आवश्यकता थी। इसकी पूर्ति प्रारम्भ में पातिमोक्ख से हुई। अपनी प्रारम्भिक अवस्था में पातिमोक्ख भिक्षुओं के अनुशासन के हेतु कतिपय विधि-निषेधों का संग्रह था[३]। महापदान सुत्त में विपस्सि बन्धुमती के भिक्षुओं से कहता है कि 'तुम सब घूम-घूम कर धर्म-प्रचार करो, परन्तु प्रत्येक छठे वर्ष पातिमोक्ख-पाठ के हेतु बन्धुमती में एकत्रित हो जाया करो।' इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि परिभ्रमण करने के पश्चात् एक निर्धारित समय पर समस्त भिक्षु किसी विशिष्ट स्थान पर एकत्रित होते थे और पातिमोक्ख-पाठ के द्वारा धम्म में अपनी आस्था घोषित करते थे। बौद्धों में बाह्य एकता स्थापित करने का यह प्रथम प्रयास था। द्वितीय प्रयास प्रथम बौद्ध संगीति ने किया। चुल्लवग्ग में इस संगीति को विनय-संगीति कहा गया है[४]। इस नामकरण से संगीति के अधिवेशन का ध्येय स्पष्ट हो जाता है। कदाचित् बौद्धों में संगठन एवं अनुशासन स्थापित करने के हेतु कतिपय यम-नियमों का विधान-विनय-निर्धारित करने के लिये ही यह अधिवेशन हुआ

---

१. महावग्ग ३.२

२ रिकार्ड्स २.-४६२.

३. महापदान सुत्त ३.२८– खन्ती परमं तपो तितिक्खा
निब्बानं परमं वदन्ति बुद्धा
न हि पब्बजितोपरूपघाति
समनो होतिपरंविहेथयन्तो
सब्बपापस्स अकरनं कुसलस्स उपसम्दा
सचित-परियोदपनं एतं बुद्धान सासनम्।

४. चुल्लवग्ग ११.१.१६.

था। दूसरे शब्दों में इस संगीति ने सर्वसम्मत पातिमोक्ख की व्यवस्था की। जैसा कि ऊपर कहा गया है। प्रारम्भ में यह पातिमोक्ख सरल विधि-निषेध-संग्रह का पाठ-मात्र था। सुत-विभंग में इसका इसी रूप में उल्लेख किया गया है। परन्तु कालान्तर में यह एक धार्मिक समारोह बन गया और इसका सम्बन्ध उपोसथ के साथ स्थापित किया गया। महावग्ग के अनुसार बौद्ध कतिपय पवित्र दिवसों पर सामूहिक रूप से एकत्रित होकर धर्म-चर्चा करते थे। इसी को उपोसथ कहते थे।[1] यह संस्कृत का उपवसथ है जिसकी व्यवस्था ब्राह्मण धर्म में भी की गई है[2]। बौद्धों ने इस उपोसथ के अवसर पर ही पातिमोक्ख-पाठ एवं स्वापराध-स्वीकार-कर्म करना प्रारम्भ किया। अन्य धर्मों की भांति बौद्ध धर्म में भी मानसिक प्रायश्चित एवं खेद-प्रदर्शन का विशेष महत्व है। चुल्लवग्ग का कथन है कि स्वीकार-कर्म के द्वारा लहुक आपत्ति (लघु अपराध) का अपराधी भिक्षु पाप-विमुक्त हो जाता है[3]। इसी प्रकार का कथन महावग्ग में भी उपलब्ध होता है[4]। इस प्रकार उपोसथ के अवसर पर पातिमोक्ख का उपयोग धर्म-चर्चा, धर्म-आस्था-घोषणा एवं स्वापराध-स्वीकार-कर्म के रूप में किया गया। विकास के अन्तिम चरण में पातिमोक्ख का सम्बन्ध 'परिसुद्धि' से स्थापित किया गया। महावग्ग की योजना के अनुसार उपोसथ के पूर्व परिशुद्धि आवश्यक थी[5]। चुल्लवग्ग में उल्लेख है कि महात्मा बुद्ध ने अपरिशुद्ध समुदाय में पातिमोक्ख-पाठ करने में आपत्ति की थी[6]। इस कथन से पातिमोक्ख का परिवर्तित रूप प्रकट होता है। परन्तु कालान्तर में अपराधी की उपस्थिति में पातिमोक्ख-पाठ का निषेध हो गया। इससे ज्ञात होता है कि भिक्षु इसकी प्रारम्भिक उपयोगिता को भूल गये और उन्होंने इसका प्रयोग एक धार्मिक समारोह-मात्र के रूप में करना आरम्भ कर दिया।

पातिमोक्ख के रूप में स्वापराध-स्वीकार-कर्म के अतिरिक्त बौद्धों ने अनुशासन-सम्बंधी अन्य दण्डों की भी योजना बनाई थी। पातिमोक्ख में १३ संघादिसेस धम्मा का उल्लेख है। इसमें अनुशासनहीनता के हेतु दण्ड-विधान है। इससे स्पष्ट होता है कि प्रारम्भ में संघ भिक्षु जीवन के अनुशासन-सम्बन्धी नियमों की ही व्यवस्था करता था। परन्तु कालान्तर में जब भिक्षु स्थिर-निवासी हो कर संगठित रूप से आवास में सामूहिक जीवन व्यतीत करने लगे तब संघ को अपने विधान में अधिक विस्तार करने की आवश्यकता हुई। परिणामतः उसने

---

१. महावग्ग. २.१—अनुजानामि भिक्खवे चातुद्दसे पन्नरसे अट्ठमिया पक्खस्स सन्निपतित्वा धम्मं भासितुन इति।

२. शतपथब्राह्मण १.१.१.७.

३. चुल्लवग्ग ४.१४.३०.-३१

४. महावग्ग २.३.३ आपत्ति आविकातब्बा आविकता हिस्स फासु होति।

५. महावग्ग २. २७

६. चुल्लवग्ग ६. १. १.

एक अनुशासन-सम्बन्धी विधान के निर्माण के साथ-साथ भिक्षु के जीवन से सम्बन्ध रखने वाले प्रत्येक विषय पर अनेकानेक नियम बनाये। अब भिक्षु पूर्ण रूप से अपने समस्त विचारों एवं कार्यों के हेतु संघ के प्रति उत्तरदायी हो गया।

संघ-विधान के अन्तर्गत गम्भीर अपराधों में परिवास और मानन्तके दण्डों की व्यवस्था थी[1]। मानन्त में संघ-बहिष्कार एक निश्चित काल के लिये होता था और परिवास में अनिश्चित काल के लिये। तत्काल अपराध स्वीकार कर लेने पर केवल मानन्त के दण्ड-विधान की योजना थी अन्यथा परिवास की। पुनः पुनः अपराध करने पर भिक्षु का निस्सय-कम्म होता था। इसके द्वारा वह अनिश्चित काल के लिये किसी अन्य भिक्षु के निरीक्षण में रख दिया जाता था। यदि कोई व्यक्ति संघ का सदस्य होते हुए भी उसके विरुद्ध विद्रोह करता था अथवा विरोधी मतों का प्रचार करता था तो संघ पकासनिय-कम्म के द्वारा उसका बहिष्कार कर देता था और उसके कर्मों एवं कथनों के उत्तरदायित्व से अपने को मुक्त घोषित कर देता था। अन्य अनुल्लिखित अपराधों के हेतु भिक्षु के सामाजिक बहिष्कार तक की व्यवस्था थी। यह दण्ड ब्रह्मदण्ड के नाम से प्रख्यात था[2]। संघ अपने सदस्य-भिक्षुओं के सम्पूर्ण-जीवन, आचार-विचार एवं चरित्र पर दृष्टि रखता था। किसी भी भिक्षु के प्रति किसी को भी शंका अथवा आपत्ति होने पर कोई भी व्यक्ति उसके विरुद्ध प्रस्ताव उपस्थित करके उसकी आलोचना कर सकता था। यह कार्य अनुवादाधिकरन कहलाता था। अभियोग चलते समय यदि भिक्षु उद्दण्डता का प्रदर्शन करे तो 'तस्स-पापियय-सिका कम्म' के द्वारा संघ उसके विरुद्ध अन्यतर कार्यवाही कर सकता था। परन्तु यदि भिक्षु किसी भी अभियोग के अवसर पर अपने को निर्दोष समझे तो सतिविनय के रूप में वह संघ से अपनी निर्दोषिता सिद्ध करने के हेतु अवसर-प्राप्ति की प्रार्थना कर सकता था। विक्षिप्त अथवा स्मृतिविहीन भिक्षु यदि कोई अपराध करे तो उस पर अमुल्हविनय नामक एक विशेष योजना के अन्तर्गत विचार होता था।

अनुशासन, न्याय एवं दण्ड-सम्बन्धी विधान के साथ ही साथ बौद्धों को अपने आवास के आन्तरिक कार्य-संचालन के हेतु भी अनेकानेक नियमों का निर्माण करना पड़ा था। इनमें सर्वप्रधान कर्मचारी-नियुक्ति है। आवास के भिन्न-भिन्न कर्मों को सम्पादित करने के हेतु पूर्वलिखित जिन कर्मचारियों का उल्लेख किया गया है, उनकी नियुक्ति करना संघ का प्रधान उत्तरदायित्व था। यह नियुक्ति नत्ति (प्रस्ताव) के द्वारा होती थी। प्रस्तावकर्ता की नत्ति पर संघ के प्रत्येक व्यक्ति को विवाद करने का अधिकार था। सम्पूर्ण बौद्ध-संगठन धनिकों एवं श्रद्धालु उपासकों तथा जनसाधारण की उदारता और दानशीलता के ऊपर आधारित था।

---

1. चुल्लवग्ग १. ३.

2. महापरिनिब्बान सुत्तन्त ६. ४.

संसार-त्यागी भिक्षुओं की आवश्यकता-पूर्ति जनता के दान से ही होती थी। भिक्षा-दान अथवा भोजन-दान पुण्यकर समझा जाता था[१]। बौद्ध-साहित्य में दान के अनेकानेक उदाहरण मिलते हैं। चुल्लवग्ग में संघ के लिए गृहस्थों के भिक्षा-दान का उल्लेख है[२]। वही ग्रन्थ वैशाली के भिक्षुओं के उपभोग के हेतु गृहस्थों के मिष्टान्न-प्रदान का वर्णन करता है[३]। एक स्थान पर एक राजकीय पदाधिकारी संघ के लिये एक दिन का भोजन-दान करता है[४]। महावग्ग में संघ के लिये विम्बिसार के वेलुवन-दान का उल्लेख है[५]। इसी प्रकार अम्बपाली नामक वेश्या ने भी संघ को आराम-दान किया था[६]। अन्य स्थान पर गृहस्थों के वस्त्र-दान का वर्णन है[७]। इस प्रकार के दान ब्राह्मणों एवं श्रमणों दोनों को दिये जाते थे। जैन सूत्रों का कथन है कि पुण्य-दिवसों पर वे गृहस्थों द्वारा आमन्त्रित होते थे और उन्हें भोजन कराया जाता था[८]। अशोक के अभिलेखों एवं 'सामन्न-फल-सुत्त'[९] में ब्राह्मणों और श्रमणों के प्रति समान रूप से दान का उल्लेख है। अनेक स्थानों तथा अवसरों पर दान व्यक्तिगत भिक्षु के प्रति न होकर सामूहिक रूप से सम्पूर्ण संघ के प्रति होते थे। यदि कोई व्यक्ति किसी व्यक्ति-विशेष को ही दान करना चाहता था तो वह भी संघ के द्वारा ही होता था[१०]। पाचित्तिय के नियमानुसार संघ-प्रदत्त किसी वस्तु का व्यक्तिगत उपभोग न हो सकता था। वह संघ के सामूहिक प्रयोजन के हेतु होती थी[११]। इसका परिणाम यह हुआ कि बौद्धों को प्रत्येक आवास में भिन्न-भिन्न प्रकार के वस्तुओं के संकलन, संग्रह, निरीक्षण एवं वितरणादि की व्यवस्था करनी पड़ी। यह संग्रह आवास की कप्पिय-कुटी में होता था। इसका प्रबन्ध 'कप्पियकारक' नामक पदाधिकारी के द्वारा होता था।[१२] भिक्षुओं में वस्त्र-वितरण एक विशेष समारोह के

---

१. महावग्ग १. २. १. ७. जैन सूत्र, भाग २ पृ० ३६.
२. चुल्लवग्ग ४. ४. ६.
३. चुल्लवग्ग ५. १४. १.
४. चुल्लवग्ग ६. १०. १.
५. महावग्ग १.२१.
६. " ५ ३०.
७. " ८.१.३५,८.३२.१
८. " जैन सूत्र, भाग १ पृ० ६२.
९. सामन्न-फल-सुत्त १४ समन-ब्राह्मनेसु उद्धग्गिकं दक्खिनं पतिट्ठपेन्ति सोवग्गिकं सुखविपकं सग्गसंवत्तनिकं।
१०. महावग्ग ६.१६.१—अय्यस्स उपनन्दस्स दस्सेत्वा संघस्स दातब्बनिति।
११. पाचित्तिय ८२—जो पन भिक्खु जानं संघिकं लाभं परिनतं पुग्गलस्स परिनामेयम् पाचित्तियम्।
१२. महावग्ग ६.१७.८.

अवसर पर होता था जिसे कंथिन कहते थे। वस्त्रों के अतिरिक्त अन्य सामग्रियों—खाद्य, पेय, फल, घृत, सूचिका, मेखलादि के वितरण के हेतु भी संघ को अनेकानेक पदाधिकारी नियुक्त करने पड़ते थे।

संघ की कार्य-प्रणाली नितान्त जनतन्त्रात्मक थी। उसका प्रत्येक सदस्य संघीय कार्यों में समानाधिकार के आधार पर भाग लेता था। प्रत्येक संघकम्म के सम्पादनार्थ यह आवश्यक होता था कि सम्पूर्ण संघ उपस्थित रहे अन्यथा वह अवैधानिक समझा जाता था[1]। यदि कोई सदस्य उपस्थित होने में असमर्थ हो तो वह दूसरे व्यक्ति के द्वारा विचाराधीन विषय पर अपना मतप्रकाशन करवा सकता था[2]। विचार के हेतु विषय किसी सदस्य के द्वारा प्रस्ताव के रूप में संघ के सदस्यों के समक्ष उपस्थित किया जाता था। इस प्रस्ताव को नत्ति कहते थे। यह प्रस्ताव सभा के समक्ष घोषित किया जाता था। यह घोषणा बौद्ध शब्दावलि में अनुस्सावन अथवा कम्मवाचा के नाम से सम्बोधित होती थी[3]। इसके पश्चात् उपस्थित सदस्य उस विषय पर विचार करते थे। सदस्यों का मौन स्वीकृति अथवा अनुमोदन का सूचक था। परन्तु कभी-कभी विषय-विशेष पर मतभेद हो जाता था। ऐसे विषय को अधिकरण कहते थे। कभी-कभी महत्त्वपूर्ण विषयों पर मत-विभाजन के हेतु भिन्न-भिन्न रंगों की शलाका का प्रयोग होता था। इन शलाकाओं के वितरण-संग्रह-कर्त्ता को 'सलाकगाहापक' कहते थे। प्रधानतः मतदान दो प्रकार से होता था—गुप्त और प्रत्यक्ष। प्रथम प्रकार को 'गुल्हक' और द्वितीय प्रकार को 'विवतक' कहते थे। विषय की गम्भीरता को देख कर कभी-कभी संघ उसके निर्णय का कार्य दूसरे आवास अथवा अपने ही आवास के कतिपय सदस्यों की एक उपसमिति उब्बाहिका के सिपुर्द कर देता था। इस उपसमिति की नियुक्ति नत्ति द्वारा होती थी। यह एक अध्यक्ष के निरीक्षण में कार्य करती थी। यदि यह उपसमिति भी विवादग्रस्त विषय पर अपना कोई निश्चित निर्णय न कर सके तो वह उस विषय को पुनः विचारार्थ सम्पूर्ण संघ के पास वापस भेज देती थी जहाँ मत-विभाजन के द्वारा उसका निर्णय होता था[4]।

पहले उल्लेख किया जा चुका है कि संघ अपने किसी भी सदस्य को अपराध सिद्ध होने पर दण्डित कर सकता था। उसके दण्ड-विधान में समाज-बहिष्कार तक सम्मिलित था। स्पष्ट है कि यह दण्ड-विधान तभी कार्यान्वित हो सकता था जब राज्य उसका अनु-

---

१. महापरिनिब्बान सुतन्त १.६.

२. महावग्ग २.२३-२५

३. ,, ६.३.२

४. चुल्लवग्ग १२.२.८.

मोदन करे। वास्तव में था भी ऐसा ही। समस्त साक्ष्यों के अवलोकन से यही निष्कर्ष निकलता है कि राज्य अपनी बनाई हुई व्यवस्था के अतिरिक्त कतिपय अन्य प्रकार की व्यवस्थाओं को भी सम्मानित करता था। इनमें देश, ग्राम, जाति, कुल, पूग, श्रेणी, गण और संघादि के परम्परागत विधि-निषेध आते थे जिन्हें समय के नाम से पुकारा जाता था[1]। कौटिल्य का आदेश है कि समय व्यतिक्रम के अपराधी को राजा दण्डित कर सकता है। मनुस्मृति में भी राजा के लिये संघ-व्यवस्था मान्य है[2]। याज्ञवल्क्य के मतानुसार कुल, जाति, श्रेणी और गण के विधि-निषेधों का उल्लंघनकर्ता राजदण्ड का भागी होता है। अतः स्पष्ट हो जाता है कि हमारे काल में संघादि संस्थाओं को स्वायत्त शासन प्राप्त था। वे स्वकार्य-संचालन के हेतु अपने आन्तरिक विषयों में स्वतन्त्र ही न थीं वरन् स्वयं राज्य उनकी घोषित व्यवस्था को स्वीकार करता था और उसका पालन करवाता था।

जैन धार्मिक-संगठन

जैन परम्परा[3] के अनुसार आदिकाल में भारतवर्ष नितान्त असभ्य था। यहाँ के निवासी अग्नि-प्रयोग एवं भवन-निर्माण-कला से पूर्णरूपेण अनभिज्ञ थे। उनका समाज व्यवस्थाहीन था और उसमें विवाह-प्रथा का भी उदय नहीं हुआ था। वे नितान्त बर्बर थे और अपने शवों को यत्र-तत्र पृथ्वी पर ही छोड़ देते थे जहां वे या तो कालातिपात से विलुप्त हो जाते थे या पशु-पक्षी उन्हें खा डालते थे। ऐसी असभ्य अवस्था में लेखन-शैली, पाकविद्या, वास्तुकला, स्थापत्य, चित्रकला आदि ललित कलाओं के उदय की आशा दुराशामात्र है। परन्तु धीरे-धीरे स्थिति बदली। देश में उसभ (ऋषभ) नामक एक व्यक्ति का जन्म हुआ। उसके प्रयत्नों के परिणाम स्वरूप भारतवर्ष में सभ्यता का संचार हुआ। यही व्यक्ति जैनों का सर्वप्रथम जिन और तीर्थंकर था। परन्तु इस तीर्थंकर एवं इसके अनुगामी अन्य २१ तीर्थंकरों के विषय में हमारा ऐतिहासिक ज्ञान प्रायः कुछ भी नहीं है।

सर्वप्रथम हम जिस जैन तीर्थंकर के विषय में कुछ निश्चितरूप से कह सकते हैं वे हैं पार्श्वनाथ। इनका तथा इनके सम्प्रदाय का उल्लेख जैन ग्रन्थों में हुआ है। आवश्यक चूर्णि महावीर के समकालीन पार्श्व-सम्प्रदाय के अनेक परिव्राजकों का उल्लेख करता है। ये पासावच्चिज्ज के नाम से सम्बोधित होते थे। मुनिचन्द, गांगेय, कालासेवेसियपुत्त, पुण्डरीय, कासव, मेहिल, कालियपुत, आनन्दरक्खिय आदि पार्श्व-शिष्यों का उल्लेख जैन साहित्य में उपलब्ध होता है[4]। विशेष महत्व की बात यह है कि पार्श्व के अनुयायियों में महिलायें भी

---

[1] कौटिल्य पृ० १७३.

[2]. मनु० ८,२१६

[3]. कल्पसूत्र ७.२०६-२२८, जम्बुदीवपन्नति २.१८-४०.

[4]. आवश्यक चूर्णि २८५, २६१. भगवती सूत्र ६.२३, १.६, २.५. नायाधम्मकहा १६.२१८

थीं। इनका उल्लेख नायाधम्मकहा[1] और निर्यावलियाओं[2] में विशेषतया हुआ है। सोमा, जयन्ती, विजया, पगब्भा, काली और पुष्फचूला आदि कुछ ऐसी ही पार्श्व की शिष्यायें थीं[3]।

पार्श्व की शिक्षाओं के ४ आधारभूत सिद्धान्त थे—(१) अहिंसा (२) मुसावायाओ वेरमण (३) अदिन्नादानाओ वेरमण और (४) बहिद्धाओ वेरमण। इनके अतिरिक्त निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय में तव, सत्त, सुत्त, एगत्त और बल के रूप में पंचभावना का भी प्रतिपादन किया गया था, परन्तु पार्श्व ने कभी भी नग्नता को धार्मिक साधना के हेतु अनिवार्य न समझा। इसके विरुद्ध उन्होंने सपरिग्गह (वस्त्र-धारण) को ही प्रतिपादित किया था। सामञ्ञफल में दीघनिकाय निगंठ का उल्लेख करते हुए कहता है कि वह पूर्णरूपेण संयत होता है और पाप-कर्म से सदा दूर रहता है। इस ग्रन्थ ने भी उसके चातुयाम-संवर का उल्लेख किया है।

इन समस्त उल्लेखों से स्पष्ट हो जाता है कि महावीर स्वामी के उदय के पूर्व ही निर्ग्रन्थ-मत का प्रादुर्भाव हो चुका था। पार्श्व के संरक्षण में इस मत के बहुसंख्यक अनुयायी भी हो गये थे। तुंगिय नगर पार्श्व-स्थविरों का केन्द्र था[4]। निर्ग्रन्थ-सम्प्रदाय को संगठन एवं स्थैर्य देने के हेतु पार्श्व ने ४ गणों की स्थापना की जो ४ गणधरों की अध्यक्षता में संगठित थे।[5] इन समस्त साक्ष्यों से विदित होता है कि पार्श्व के समय में जैन-संगठन की रूप-रेखा बीजरूप में निर्धारित हो चुकी थी। इनके पश्चात् महावीर स्वामी जैन-धर्म के संस्थापक न होकर उसके सुधारक एवं विकासकर्ता ही थे। पार्श्व और महावीर स्वामी की शिक्षाओं में कुछ अन्तर भी दृष्टिगत होता है। उदाहरणार्थ पार्श्व ने सपरिग्गह का प्रतिपादन किया था और इसके अन्तर्गत भिक्षुकों को वस्त्र-धारण करने की अनुमति दे दी थी। परन्तु महावीर स्वामी नग्नता के पोषक थे[6]। इसी प्रकार जहां पार्श्व ने केवल ४ प्रतिज्ञाओं (व्रतों) का प्रतिपादन किया वहां महावीर स्वामी ने ५ का। इन भेदों से यही प्रतिभासित होता है कि कदाचित् पार्श्व की मृत्यु के पश्चात् निर्ग्रन्थ-सम्प्रदाय के विधि-निषेधों में कुछ अन्तर उत्पन्न होने लगा था और महावीर स्वामी मूल शिक्षाओं एवं उदित विभेदों को दृष्टि में रखते हुए प्राचीन जैन-धर्म को पुनः संगठित किया।

---

१. नायाधम्मकहा २.१०.

२. निर्यावलियाओं ४.

३. आवश्यकचूर्णि २८६, २६१, नायाधम्मकहा २.१.२२२.

४. भगवती सूत्र २.५.

५. कल्पसूत्र ६.१६०.

६. उत्तराध्ययन २३.२६

पार्श्व की भांति महावीर स्वामी ने भी गणधरों की नियुक्ति की, परन्तु उनकी संख्या ४ के स्थान पर ११ थी। जैन साहित्य में[१] इनके नाम इस प्रकार हैं--(१) इन्द-भूइ (२) अग्गिभूइ (३) वाउभूइ (४) वियत (५) सुहम्म (६) मण्डिय (७) मोरियपुत्त (८) अकम्पिय (९) अयलभाया (१०) मेइज्ज और (११) पभास। विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि ये सब ब्राह्मण थे। स्वयं महावीर स्वामी जैन संघ के सर्वप्रधान और ये थे गणधर उन्हीं के नेतृत्व में संघ-संचालन करते थे। महावीर की मृत्यु के पश्चात् गणधर सुहम्म संघ का प्रधानाध्यक्ष बना[२]। उसके पश्चात् जम्बु, पभव, सेज्जम्भव, जसोभद्द, सम्भूतिविजय, भद्दबाहु, थूलभद्द, महागिरी, सुहत्थी, सुठ्ठीय सूरि सुप्पडिबुद्ध, इन्ददिन्न, कालकाचार्य, अज्ज वैर और अज्ज रक्खिय आदि क्रमशः संघाधिकारी हुए[३]। जम्बुपर्यन्त जैन-संघाध्यक्षों को केवलिन की उपाधि से विभूषित किया गया है। परन्तु इसके पश्चात् वे श्रुतकेवलिन् के नाम से सम्बोधित होते हैं[४]। इनमें से भद्रबाहु चन्द्रगुप्त मौर्य का समकालीन था और इसी के समय मगध में महादुर्भिक्ष का प्रकोप हुआ था। उसका उत्तराधिकारी थूलभद्द जैन साहित्य में नवें नन्द के प्रधानमन्त्री सगडाल का पुत्र कहा गया है। कालान्तर में अनेक जैन-धर्मावलम्बियों ने नग्नता के सिद्धान्त का परित्याग कर दिया था। उसका उत्तराधिकारी सुहत्थी मौर्य-नरेश सम्प्रति का समकलीन था। उसने जैनधर्म स्वीकार कर लिया था और बड़े परिश्रम के साथ उसका प्रसार किया था। जैन साहित्य का उल्लेख है कि उनके संघाध्यक्ष कालकाचार्य ने सीथियन नरेशों की सहायता से गद्दभिल्लि को पराजित किया था। अन्य जैनाचार्य अज्ज वेर नहवाण (नहपान)। का समकालीन कहा गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि अपने दीर्घकालीन इतिहास में सदैव जैन-संघ किसी आचार्य की अध्यक्षता में ही संचालित होता रहा है। बौद्धधर्म की भाँति कभी भी उसने प्रधानाध्यक्षता के नियम का परित्याग न किया।

बौद्ध धर्म की भांति जैन धर्म भी नितान्त निवृत्ति-प्रधान था। इसके अनुसार भी मनुष्य का जीवन क्षणभंगुर तथा संकटाकीर्ण है। गृहस्थ-जीवन में उसके लिये कोई सुख नहीं है[५]। सांसारिक सुख व्याधिमूलक है[६]। संसार का संगीत प्रलाप एवं नृत्य उपहास के

---

१. कल्पसूत्र ८. १--४

२. " ८. ५.

३. " ८.

४. निशीथ चूर्णि ५. ४३७.

५. उत्तराध्ययन १४.७.

६. " १४.१३

समान हैं। मनुष्य के आभूषण भारमात्र हैं। उसके समस्त सुख-दुःखोत्पादक हैं[१]। वृद्धावस्था मनुष्य की शक्ति को नष्ट कर देती है और मनुष्य का जीवन नित्य शनैःशनैः मृत्यु की ओर अग्रसर होता रहता है[२]। अपने कर्मों का उत्तरदायित्व स्वयं कर्त्ता पर है। अतः कर्म-मूलक नाना प्रकार के दुःख स्वयं उसी को भोगने पड़ते हैं। इसमें उसके बन्धु-बान्धव तथा अन्य सम्बन्धी योग नहीं दे सकते[३]। इसलिये मनुष्य को संसार के भोग-विलास का परित्याग कर ज्ञानार्जन करना चाहिए और संयतचित्त होकर तपश्चर्या करना चाहिये[४]। सुख तृष्णा के कारण पंचालनरेश ब्रह्मदत्त नरक का भागी हुआ था, परन्तु इसके विरुद्ध चित्र नामक साधु संयम और नियन्त्रण के द्वारा पूर्णता को प्राप्त हुआ था[५]। अतः मनुष्य को सांसारिक सम्बन्धों से विच्छेद करके निःस्पृह हो जाना चाहिए। जो भिक्षु अपने में अनुरक्त व्यक्तियों के साथ भी अनुराग नहीं करता वह समस्त पापों से विमुक्त हो जाता है।

जैन-साहित्य में संसार-त्याग के अनेक कारणों का उल्लेख हुआ है। अरिष्टनेमि वध के हेतु बंधे हुए पशु-समूह को देखकर संसार की अनित्यता पर विचार करने लगता है और सन्यास ग्रहण कर लेता है[६]। उज्जयिनी-नरेश देविलासत अपने सिर पर सफेद बाल देखकर संसार-त्याग कर देता है[७]। अपनी मुद्रिकाहीन उंगली की असुन्दरता को देख कर भरत के हृदय में संसार की असारता का भाव जाग्रत होता है और वह भिक्षु हो जाता है[८]। ठाणांग में संसार-त्याग के १० कारणों का उल्लेख मिलता है—(१) स्वेच्छा (२) आकस्मिक क्रोध (३) निर्धनता (४) स्वप्न (५) प्रतिज्ञा (६) पूर्व जीवनस्मरण (७) रुग्णता (८) पराभव (९) देव-निर्देश और (१०) पुत्र-सन्यास-ग्रहण। इस उल्लेख से स्पष्ट हो जाता है कि अनेकानेक अनुपयुक्त मनुष्य भी अवांछनीय कारणों से प्रेरित होकर जैन संघ में प्रविष्ट हो जाते थे। परिणामतः उनकी उपस्थिति, आचरणहीनता तथा अयोग्यता ने संघीय जीवन की सुव्यवस्था एवं अनुशासनशीलता के लिये गम्भीर संकट प्रस्तुत कर दिया होगा। इसी संकट के

---

१. उत्तराध्ययन १३.६.१७

२. " १३.२६

३. " १३.२१.२

४. " १४.२८

५. " १३.३४-३५

" ८.१.२.

६. " २२.१४

७. आवश्यकचूर्णि २.२०२

८. उत्तराध्ययन टीका १८.२३२.

निवारणार्थ बौद्धों की भांति जैनियों ने भी सार्वजनिक संघ-प्रवेश के ऊपर प्रतिबन्ध लगा दिये थे। इन प्रतिबन्धों के अनुसार बालक, वृद्ध, क्लीव, जड़, रुग्ण, चोर, राजद्रोही, उन्मत्त अन्ध, दास, धूर्त, मूढ़, ऋणी, अंगहीन, अनुचर, भृत्य, गर्भिणी, तथा बालिकाओं के लिये संघ-प्रवेश वर्जित था[1]।

जैन संघ में चार प्रकार के सदस्य होते थे—(१) समण (२) समणी (३) सावय और (४) साविया। इनमें से प्रथम दो संसार-त्यागी होते थे। ये गृहस्थ-जीवन का परित्याग कर भिक्षु-वृत्ति का आश्रय लेते थे। परन्तु अन्तिम दो कोटियों के अन्तर्गत वे स्त्री-पुरुष आते थे जो गृहस्थ-जीवन का वहन करते हुए भी जैन-धर्म द्वारा प्रतिपादित विधि-निषेधों का पालन करते हुए धार्मिक जीवन व्यतीत करते थे। यद्यपि जैन-व्यवस्था के अन्तर्गत इनका स्थान प्रथम दो कोटि के व्यक्तियों की अपेक्षा निम्न था तथापि निवृत्तिमार्गी एवं संसार-त्यागी जैन भिक्षुओं और भिक्षुणियों का भरण-पोषण इन्हीं गृहस्थों की उदारता एवं दानशीलता पर निर्भर था।

संसार-त्याग के दिन मनुष्य का निष्क्रमण-संस्कार होता था। यह कार्य किसी शुभ दिवस पर ही होता था। चतुर्थी और अष्टमी के दिवस इसके लिये अशुभ समझे जाते थे[2]। नायाधम्मकहा में राजा मेघकुमार के निष्क्रमण-संस्कार का वर्णन है। सर्वप्रथम राजा के लिये बाजार से 'रयोहरण' और 'पडिग्गह' (भिक्षापात्र) खरीदे जाते हैं। ये भिक्षु के लिये आवश्यक वस्तुयें होती थीं। तत्पश्चात् कासावय (नापित) आता है जो राजा के बाल काटता है। मुण्डितशीश होने के पश्चात् राजा स्नान करता है। तदनन्तर उसका शरीर गौसीस एवं वस्त्राभरणों से प्रसाधित और सुसज्जित किया जाता है। इस प्रकार अपनी दोनों माताओं के साथ पालकी में बैठ कर तथा अपने हाथों में रयोहरण और पडिग्गह ग्रहण कर वह गुण सिलय-उपासनालय में जाता है जहाँ महावीर स्वामी उसे अपने अनुयायी के रूप में दीक्षित करते हैं और धर्म के विधि-निषेधों की शिक्षा देते हैं[3]।

बौद्धों की भांति जैन-भिक्षु भी अपने भिन्न-भिन्न उवस्सयों अथवा वसतियों में रहते थे। समस्त भिक्षु-समाज अनेक समुदायों में विभक्त था। प्रत्येक समुदाय का एक आचार्य होता था। उसी के निरीक्षण में उस समुदाय के भिक्षु अपना धार्मिक जीवन व्यतीत करते थे। उदाहरणार्थ, वेरसामी के निरीक्षण में ५०० भिक्षुओं का एक गण रहता था[4]।

---

१. ठाणांग ३.२०२

२. वृहत्कल्प भाष्य पीठिका ४१३

३. नायाधम्मकहा १-२४-३४

४. आवश्यकचूर्णि ३९४

भिक्षु का जीवन कठोर साधनाशील था। इसी से वह असिधारोपरिगमन के समान कठिन बताया गया है[१]। व्रत-भंग करने की अपेक्षा उसके लिये अग्नि-प्रवेश अधिक श्रेयस्कर है[२]। प्रत्येक भिक्षु को निम्नलिखित असत्कर्मों से बचने की शिक्षा दी गई है[३]—(१) हिंसा (२) असत्य-भाषण (३) चौरकर्म (४) सम्भोग (५) सम्पति (६) रात्रिकाल भक्षण (७) क्षितिशरीरी-जीवोत्पीडन (८) जलशरीरी-जीवोत्पीडन (९) अग्निशरीरी जीवोत्पीडन (१०) वायु-शरीरी जीवोत्पीडन (११) वानस्पतिक जीवोत्पीडन (१२) जंगम जीवोत्पीडन (१३) वर्जित वस्तु (१४) गृहस्थों के पात्रों में भक्षण (१५) पर्यंक-प्रयोग (१६) निरुज्जाप्रयोग (१७) स्नान और (१८) अलंकार। उत्तराध्ययन सूत्र[४] में उसके अनुशासनपूर्ण जीवन के जिन विधिनिषेधों को अधिक महत्वपूर्ण बताया है वे हैं--(१) उल्लास-निषेध (२) संयम (३) परनिन्दा-निषेध (४) अनुशासनशीलता (५) लोभ-निषेध (६) सत्य-भाषणादि। ये नियम सामान्य अनुशासन के नियम थे जिनका प्रतिपादन प्रायः समस्त धर्मों ने किया है। इसी ग्रंथ में एक अन्य स्थान पर ज्ञान, विश्वास, आचरण और तपश्चर्या के गुरु का उल्लेख किया गया है[५]। प्रथम से मनुष्य को वस्तुओं का बोध होता है, द्वितीय से उनमें उसकी आस्था उत्पन्न होती है, तृतीय मनुष्य को कर्म-बन्धन से मुक्त करता है और चतुर्थ के द्वारा वह परिशुद्धि प्राप्त करता है। निर्ग्रन्थों के लिए भोजन-सम्बन्धी अनेक नियमों की कल्पना की गई थी। उनके लिये ऐसा खाद्य अथवा पेय अग्राह्य था जो विशेषरूप से उन्हीं के लिए बनाया, पकाया, खरीदा अथवा रक्खा गया हो। दुर्भिक्ष-पीड़ित मनुष्यों, वनवासियों, रुग्ण मनुष्यों अथवा वर्षाऋतु के लिए एकत्रित खाद्यान्न भी उनके लिए वर्जित था। इसी प्रकार उनके लिए मूल, फूल, बीज और हरे शाकों के भक्षण का भी निषेध था। एक स्थान पर जिनदत्त नामक एक श्रावक-पुत्र का अपने माता-पिता से कथन है कि मैं अग्नि में प्रविष्ट हो कर प्राण दे दूंगा परन्तु मांस-भक्षण के द्वारा अपना व्रत भंग न करूंगा[७]। दूसरे स्थान पर जैन अक्षयकुमार और बौद्धों के

---

१. नायाधम्मकहा १.२८.

२. बृहत्कल्प भाष्य ५.४९४६.

३. दसवेयालिय ६.८

४. उत्तराध्ययन ११.५

५. उत्तराध्ययन २८–३४

६. नायाधम्मकहा १.२८

७. आवश्यकचूर्णि २.२०२

वाद-विवाद का उल्लेख है जिसमें प्रथम ने मांस-भक्षण का घोर विरोध किया है [१]। आचारांग सूत्र का आदेश है कि भिक्षुओं को ऐसे समारोहों में सम्मिलित न होना चाहिये जिनमें एकमात्र मांस-भोजन की व्यवस्था हो [२]। परन्तु समस्त जैन साहित्य को देखने से ऐसा विदित होता है कि आपत्काल में जैन भिक्षुओं के लिए मांस-भक्षण की अनुमति थी। सिन्धु देश तथा अनेक चौर-उपनिवेशों एवं सुण्णगामों में प्रायः निरामिष भोजन अलभ्य था। ऐसे प्रदेशों में व्यावहारिकता को दृष्टिकोण में रखते हुए जैन भिक्षुओं को मांस-भक्षण की अनुमति दे दी गई थी [३]। आचारांग सूत्र में खाद्य सामग्री में मज्ज और मांस का उल्लेख है। कालान्तर में टीकाकार ने इस उल्लेख को यह कह कर समझाने की चेष्टा की है कि कदाचित् लालची भिक्षु इनका उपयोग करने की इच्छा करें। इसी से खाद्य एवं पेय पदार्थों में इनका नामोल्लेख कर दिया है [४]। परन्तु बात ऐसी नहीं थी। वास्तव में परिस्थितिवश भिक्षु यदा-कदा मांस-भक्षण भी करते थे। इसी से एक स्थान पर कहा गया है कि यदि भिक्षु को कांटेदार अथवा हड्डियों वाला मांस भिक्षा में मिले तो उसे कांटे और हड्डियों को निकाल शेष मांस का उपभोग करना चाहिये [५]। निशीथ चूर्णि स्पष्टतया आपत्काल में मांस-भक्षण की अनुमति देता है [६]। मांस के समान मदिरा भी साधारणतया जैन-भिक्षुओं के लिए निषिद्ध थी [७]। बृहत्कल्प सूत्र के आदेशानुसार जैन भिक्षु एवं भिक्षुणियां ऐसे स्थानों पर निवास न कर सकते थे जहाँ मदिरा-कुम्भ संगृहीत हो। परन्तु आपत्काल तथा रुग्णावस्था में इसका प्रयोग अनुमत था [८]।

इसी प्रकार जैन-साहित्य में भिक्षु एवं भिक्षुणियों के वस्त्रावरण के भी विविध उल्लेख प्राप्त होते हैं। साधारणतया वे अत्यल्प तथा अति साधारण होते थे। न तो वे रंगे हुए हो सकते थे और न उनमें दसा ही हो सकती थी। जैसा कि पहले कहा जा चुका है बुद्ध प्रायः तीन वस्त्र धारण करते थे—संघाट, उत्तरासंग और अन्तरवासक। जैन भिक्षुओं के लिये भी सामान्यतया तीन वस्त्रों की ही व्यवस्था थी—दो अन्तरवासक जिन्हें जैन साहित्य

---

१. सूयगडंग २-६-३७-४२

२. आचारांग सूत्र १-४-२४१

३. बृहत्कल्प भाष्य १-१२३९

४. आचारांग टीका २. १. ४. २४७

५. दसवयालिय सूत्र ५. १. ७३

६. निशीथ चूर्णि १६. १०३४

७. कल्पसूत्र ६. १७

८. बृहत्कल्प भाष्य २. ३४१३, नायधम्मकहा, ५. ८०

में ओमचेल के नाम से पुकारा गया है और एक उत्तरासंग। ये वस्त्र प्राय: क्षौमिक होते थे। परन्तु शीत से रक्षा के लिए उत्तरासंग और्णिक (ऊनी) होता था[१]। इनके अतिरिक्त जैन साहित्य में निर्ग्रन्थों के लिए कटिवन्ध अब्भिन्तरनियंसिणी, वहिनियंसिणी, चलनिका, पट्ट, उग्गहणन्तग, अद्धोरुग आदि वस्त्रों का भी उल्लेख हुआ है। भिक्षुणियों के विशेष वस्त्रों में कचुक, उवकच्छी,, खन्दहकरणि, संघाट और वेगच्छिया प्रमुख हैं[२]।

भिक्षु-भिक्षुणियों के ये वस्त्र जंगिय, भंग, साणिय, पोत्तग, खोमिय और तूल आदि की सहायता से वनते थे[३]। इनके अतिरिक्त वे वस्त्र के स्थान पर कत्ति (चर्म) का भी प्रयोग कर सकते थे[४]। रुग्णावस्था में भिक्षुणियों के हेतु दीवि और तरच्छ के प्रयोग की भी अनुमति दी गई थी[५]। साधारणतया भिक्षुकों का जीवन भ्रमणशील था। अत: प्रत्येक प्रकार के मार्गों एवं स्थानों पर पर्यटन की सुविधा के हेतु उन्हें पद-त्राणों की अत्यंत आवश्यकता थी। इसी से जैन धर्म-व्यवस्थाकारों ने उन्हें पद-त्राण धारण करने की अनुमति दे रक्खी थी। जैन-साहित्य में इनके अनेक प्रकारों का वर्णन है-अर्धजंघिका, जंघिका, अद्धखल्ल, खल्ल, खपुसा, वागुरा, तलिय, एगपुड आदि। वृहत्कल्प भाष्य के वर्णनानुसार भिक्षुकों को पर्यटन, रुग्णावस्था, पादकोमलता, वन्यपशुमय स्थानों, नेत्रनिर्वलता आदि कारणों से पदत्राणों की आवश्यकता होती है[६]।

ईसा पूर्व सातवीं, छठी और पांचवीं शताब्दियां भारतवर्ष में ही नहीं वरन् संसार में धार्मिक क्रान्ति की शताब्दियाँ हैं। इस समय संसार के अनेक क्षेत्रों में नूतनातिनूतन विचार-धारायें निस्सृत हो रही थीं जो अपने उद्दाम वेग में शताब्दियों की पुरातन रूढ़ियाँ एवं परम्पराओं को प्रवाहित कर जाना चाहतीं थीं। मानव-मस्तिष्क अपनी आलोचनात्मक शक्ति से पुरातनवाद के आवरण को चीर कर प्रत्येक वस्तु को सत् और असत् की कसौटी पर परखना चाहता था। मानवी आत्मा सहस्त्रों वर्षों की रूढ़िवादिता और अन्धविश्वास-परता का परित्याग कर अपना नवीन पथ निर्धारित करना चाहती थी। युग-युग की पुंजीभूत धूम्र राशि में दवी हुई दीप शिखा अपना पूर्ण-प्रकाश चाहती थी। फलत. मनुष्य की

निवृत्तिमार्गी विचार-धारा

---

१. आचारांग ७.४.२०८

२. आचारांग २.५.१.३६४

३. वृहत्कल्प सूत्र २. २४

४. वृहत्कल्प भाष्य १. २८८५.

५. वृहत्कल्प भाष्य ३. ३८१७

६. वृहत्कल्प भाष्य ३. ३८६२.

इस उदीयमाना जिज्ञासा ने उसके धार्मिक जीवन में हलचल मचा दी। जिस प्रकार फारस में जरथस्ट्, चीन में कन्फ्यूशिक्स और यूनान में सुकरात एवं उसके अनुयायियों ने प्राचीन रूढ़िवादिता के विरुद्ध नवीन विचारों का प्रचार किया उसी प्रकार भारतवर्ष में महावीर स्वामी एवं महात्मा बुद्ध ने धार्मिक क्रान्ति का उद्‌घोष किया। परन्तु अन्य देशों की भांति भारतवर्ष की यह क्रान्ति न तो आकस्मिक घटना थी और न एकमात्र इन दो युगपुरुषों के प्रचार के कारण हुई थी। वास्तव में इसका बीजारोपण सैकड़ों वर्ष पूर्व ही हो चुका था। काल गति के साथ साथ वह शनैःशनैः अंकुरित, परिवर्धित और पल्लवित होता रहा। अन्त में ई० पू० छठी शताब्दी में वह कुसुमित और फलित हुआ।

यह धार्मिक क्रान्ति जिन अनेक कारणों से उद्‌भूत थी उनमें आर्य-अनार्य विचारधाराओं का पारस्परिक संघर्षण एक प्रमुख कारण था। जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, आर्य विचार-धारा वैदिक काल से ही प्रवृति मार्गी थी। उसमें संसार-त्याग, वैराग्य, सन्यास, प्रव्रज्या अथवा भिक्षुजीवन के लिये स्थान नहीं था। ये समस्त विचार अनार्य थे जो वैदिक काल से ही उत्तरोत्तर दृढ़ीभूत होकर आर्य-विचार धारा को प्रभावित कर रहे थे। पीछे उल्लेख किया जा चुका है कि वैदिक साहित्य में जिन सन्यासियों अथवा तपस्वियों का वर्णन है वे अनार्य प्रतीत होते हैं। इनकी निवृतिमार्गी विचार-धारा को हम श्रमण-विचार-धारा भी कह सकते हैं। ब्राह्मणों की वर्णविशिष्टता, वेद-अपौरुषेयता, यज्ञ-प्रधान कर्मकाण्डता एवं प्रवृतिमूलक धार्मिकता के विरुद्ध जो विचार-धारायें प्रवाहित होती रहीं थीं वे श्रवण विचार-धारा से संयुक्त हो गईं और उनकी सम्मिलित शक्ति से ही निवृतिमार्गी जैन तथा बौद्ध धर्मों का उद्रेक हुआ। यह कोई आकस्मिक घटना न थी कि इन दोनों विरोधी धर्मों का उद्भव पूर्वी भारतवर्ष में हुआ। ब्राह्मण धर्म का केन्द्र प्रारम्भ में पंजाब और कालान्तर में आर्यावर्त हुआ। ब्राह्मण-संस्कृति मगध एवं विदेह ऐसे पूर्वी प्रदेशों को छठी शताब्दी तक पूर्णरूपेण आत्मसात् न कर सकी थी। यही कारण है कि यहां के ब्राह्मण भी उदीच्य ब्राह्मणों की अपेक्षा हीन समझे जाते थे। अतः स्वाभाविक था कि ब्राह्मणों का विरोध इन्हीं पूर्वी प्रदेशों में होता जहां उनका प्रभाव नगण्य अथवा अल्प था।

जिस प्रकार दीर्घकाल से प्रवृतिमूलक और निवृतिमूलक विचारों का संघर्ष चल रहा था, उसी प्रकार कर्मकाण्डीय और दार्शनिक विचारों में भी प्रतिद्वन्द्विता थी। यह प्रतिद्वन्द्विता उपनिषद्-काल में उन्मुख हो चुकी थी। उद्दालक, आरुणि और श्वेतकेतु तत्कालीन दार्शनिक विचार-धारा के परिपोषक थे जो वेदाध्ययन तथा यजन-याजन की अपेक्षा शील और ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति को अधिक महत्वपूर्ण समझते थे। कतिपय विद्वानों का तो विश्वास है कि भारतवर्ष के इस सोफिस्ट आन्दोलन (नवीन दार्शनिक विचार-धारा) के प्रवर्तक यही उद्दालक आरुणि थे [1]। जो भी हो, इतना निश्चित है कि ये दोनों विचार-धारायें—

[1] रीज डेविड्ज लिखित बुद्धिष्ट इण्डिया पृ०, २४७ तथा डा० बरुआ लिखित हिस्ट्री आव् प्री-बुद्धिस्टिक इन्डियन फिलासफी।

श्रमण-विचार-धारा और दार्शनिक विचार-धारा--छठी शताब्दी ई० पू० तक अत्यन्त परिपुष्ट हो गई थीं। इनके परिणाम-स्वरूप जैन और बौद्ध धर्म का तो जन्म हुआ ही, साथ में अनेक अन्य मतों का भी प्रादुर्भाव हुआ। यद्यपि इन दो प्रधान ब्राह्मण-विरोधी धर्मों के तुमुल उद्घोषों के समक्ष अन्य मतों के स्वर मन्द थे तथापि उनका उल्लेख बौद्ध और जैनों, दोनों के साहित्य में हुआ है।

निवृत्तिमार्गी कोटि के अन्तर्गत सन्यासी, ऋषि, तपस्वी, परिव्राजक, श्रमण और भिक्षु आते हैं। सन्यासी, ऋषि अथवा तपस्वी प्रायः एक ही कोटि के मनुष्यों की संज्ञा है। ये लोग संसार त्यागी थे और किसी शान्त स्थान पर निवास करते हुये जीवन-मरण, आत्मा-परमात्मा, इहलोक और परलोक आदि के गहन विषयों पर मनन एवं विचार-विमर्श करते थे। समाज में इनका विशेष मान था। 'इसि' को हानि पहुँचाना एक महान् पातक समझा जाता था [१]। समाज उन्हें धर्म-प्रदर्शक समझता था [२] और समय-समय पर अपने कल्याण के लिए उनसे परामर्श लेता था [३]। वर्ष में लगभग आठ मास ये हिमालय पर्वत पर स्थित अपने आश्रमों में रहते थे [४] जो प्रायः घास और पत्तियों से निर्मित होते थे [५]। आश्रम के कन्द-मूल-फल और अन्य खाद्यान्न ही इनकी जीविका के साधन थे [६]। वर्षाकाल में यह खाद्य-सामग्री अलभ्य हो जाती थी। अतः ये लोग नीचे मैदानों में चले आते थे [७]। आश्रम-जीवन अति सरल तथा आश्रमियों की आवश्यकतायें अत्यल्प थीं [८]। प्रायः वे दो वस्त्र तथा एक अजिन धारण करते थे। उनके एक हाथ में दन्ड तथा दूसरे में कमन्डलु (पट्टम्) रहता था। वे सिर पर जटामंडल और कमर में मौंजी धारण करते थे। चरण रक्षा के हेतु वे पद-त्राण (उपानह्) का भी प्रयोग करते थे। भोजन करने के पश्चात् मध्याह्न काल से लेकर सायंकाल तक उनका सारा समय अध्ययन, मनन एवं विचार-विमर्श में ही व्यय होता था। [९]

---

१. जातक २.१७२—गा० १२४.४.३८३—गा० ६, ५.१४३—गा० ६८.
२. „ ५.५०६—गा० ४६०—धम्मो हि इसिन धजो।
३. „ ४.१३४—गा० ६७–६—समणा अनुसासन्ति इसी धम्मगुणेरिता।
४. „ १.१४०, २.१०३.
५. „ १.३७५, ६.७५
६. „ ४.४३४—गा० १५०–३, ५.३२३—गा० १३०–६, जातक १.४५०,४.२२
७. „ २.८५, ३.३७
८. „ १.३०४, ३.८२, ४.२५, ५.३१२, १.३०४, ५.१३२, ६.२१, ७३, ४.४७६
९. जातक ५.३१३, ६.७५

जैन साहित्य में भी 'तावस समणों' का उल्लेख है। प्रायः वे वनों में रहते थे[1] और वन्य कन्द-मूल-फल तथा अन्य खाद्यान्न पर निर्वाह करते थे[2]। ओवाइय सूत्र[3] ने इन तपस्वियों को अनेक कोटियों में विभाजित किया है :--

(१) पोत्तिय — ये वस्त्र धारण करते थे।
(२) वक्कवासी — ये त्वचा धारण करते थे।
(३) जलवासी — ये जल में डूबे रहते थे।
(४) बिलवासी — ये कन्दराओं में रहते थे।
(५) रुक्खवासी — ये बिना वृक्षों के नीचे रहते थे।
(६) कोत्तिय -- ये बिना बिछी हुई धरणी पर सोते थे।
(७) होत्तिय — ये यज्ञ करते थे।
(८) वाउभक्खी -- ये एकमात्र वायु-भक्षण करते थे।
(९) अम्बुभक्खी — ये एकमात्र जलाहारी थीं।
(१०) सेवालभक्खी — ये एकमात्र 'सेवाल' भक्षण करते थे, इत्यादि।

इस सूची से स्पष्ट है कि कोटि-विभाजन का आधार दार्शनिक न था। वह एकमात्र तपश्चर्या अथवा जीवन-चर्या की किसी न किसी प्रमुख विशेषता के ऊपर आधारित था। परन्तु इन अनेक कोटियो से ऐसा प्रतीत होता है कि देश में तपस्वियों अथवा आश्रमियों की संख्या नगण्य न थी। बहुसंख्यक मनुष्यों ने सांसारिकता का परित्याग कर तपस्वि-जीवन अंगीकार किया था।

परिव्राजक, श्रमण तथा भिक्षु के बीच कोई सुव्यवस्थित एवं स्थिर अन्तर निर्धारित नहीं किया जा सकता। तीनों पर्यटनशील, मुण्डितशीश एवं भिक्षार्थी होते थे। इनकी वेश-भूषा भी बहुत-कुछ समान थी। परन्तु समस्त साक्ष्यों के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि श्रमण और भिक्षु की संज्ञायें प्रायः बौद्धों और जैनों के लिये व्यवहृत होती थीं और परिव्राजक की संज्ञा अन्य धर्मावलम्बियों, विषेतया ब्राह्मणों, के लिये। निवृत्तिमार्गी विचारों के प्रसार के साथ-साथ इनकी संख्या भी अत्यधिक हो गई और ये सब प्राचीन भारत में लोक-शिक्षा के अत्यन्त प्रभावपूर्ण माध्यम बन गये।

जैन साहित्य में ब्राह्मण-साहित्य की भांति परिव्राजक की संज्ञा प्रायः ब्राह्मण परिव्राजकों के लिये ही प्रयुक्त की गई है। ओवाइय सूत्र के अनुसार ये परिव्राजक वेद, इतिहास, निघण्टु, ६ वेदांगों और ६ उपांगों में पारंगत होते थे। ये घूम-घूम कर जनता को दानधम्म,

---

1. निशीथ चूर्णि ८६५
2. व्यवहार भाष्य, उत्तराध्ययन टीका १०. १५४.
3. ओवाइय सूत्र ३८. १७०

और तित्थाभिसेय, आदि की शिक्षा देते थे। इनका जीवन अत्यन्त सरल, संयत और अनुशासनपूर्ण था। इनके वस्त्र धाउरत्त से रंगे होते थे। इनके हाथ में लकड़ी अथवा मिट्टी का पात्र रहता था और उंगली में एक माम्र-मुद्रिका (पवित्ताय)। ये अपने कानों में पुष्प धारण करते थे और अपने शरीर पर गंगा नदी की मिट्टी मलते थे। न तो इनके पास सम्पत्ति थी और न धन। हाथी, घोड़ा, गाड़ी आदि वाहनों का प्रयोग इनके लिये वर्जित था। राजा, चोर, देश, स्त्री, भोजन आदि से सम्बद्ध किसी भी विषय पर ये वार्ता न करते थे। नृत्य-सङ्गीत से ये लोग विरक्त रहते थे। जैन साहित्य में परिव्राजकों की भी अनेक कोटियां उल्लिखित हैं :—

(१) चम्मखण्डिअ—इनके वस्त्र चर्म के होते थे।

(२) चीरिक—ये मार्ग पर पड़े हुए त्यक्त जीर्ण-शीर्ण वस्त्रों को ग्रहण कर धारण करते थे।

(३) हंस—ये पर्वत-कन्दराओं, आश्रमों, आरामों आदि एकान्त स्थानों पर रहते थे और एकमात्र भिक्षा के लिये ही नगरों और ग्रामों में प्रवेश करते थे।

(४) पण्डुरंग—ये अपने शरीर पर राख मलते थे।

(५) परमहंस—ये सरिता-तटों और सङ्गमों पर रहते थे।

(६) कुडिव्वय—ये अपने गृहों में ही रहते हुए लोभ, दम्भादि मनोविकारों के दमन के हेतु सतत चेष्टा करते थे।

परिव्राजकों की भांति श्रमण भी जनता के अत्यन्त आदरपात्र थे[१]। वे घूम-घूम कर जनता को धर्मोपदेश करते थे और इसके बदले में जनता उनके भोजन वस्त्र और निवास की व्यवस्था करती थी[२]। इनकी सामाजिक मान्यता इसी बात से स्पष्ट है कि जब ये भिक्षार्थ नगर-प्रवेश करते थे तो स्वयं राजा इनके स्वागत के लिये जाते थे[३]। जातकों के अनेकानेक कथानकों से स्पष्ट होता है कि ये श्रमण नगरों के बाहर बने हुए उपवनों अथवा शालाओं में एक दूसरे से मिलते थे और वाद-विवाद करते थे। परिव्राजकों की भांति इनकी भी वेष-भूषा अत्यन्त सरल रहती थी। नियमतः ये काषाय तिचीवर धारण करते थे। इनके एक हाथ में भिक्षा-पात्र और दूसरे हाथ में दण्ड रहता था। अन्य आवश्यक कार्यों के लिये ये अपने साथ वासि, सूचि, बन्धनम् और परिस्सवन भी रखते थे[४]।

---

१. अनुयोगद्वार सूत्र २०, नायाधम्मकहा टीका १५, ओवाइय ३८.१७२
जातक ५.१५, जातक ६.३६०

२. " १.१८७, २६८; ४८०, जातक ३.३०४, जातक ४.२८-३०, ३२०, ६.२८७
गा० १२४७, २६६ गा० १२६८

३. " १.१४०, ३२३, ३६५, जातक ३, ३६, ७६, ११६, जातक ५.१८२

४. " ३.३७७. जातक ४.३४२. जातक ६.१८७. जातक ६.५२-४.२५.

जैन साहित्य में श्रमण शब्द का प्रयोग अत्यन्त व्यापक अर्थ में हुआ है। इसके अन्तर्गत ब्राह्मण, बौद्ध, जैन आजीविक आदि सभी सन्यासी आ जाते हैं। निशीथ चूर्णि[१] के अनुसार श्रमण-समाज ५ भागों में विभक्त किया गया है :--(१) निग्गन्थ (२) सक्क (३) तावस (४) गेरुअ (परिव्राजक) और (५) आजीविक। इनमें से सक्क श्रमण बौद्ध भिक्षुओं के लिये व्यवहृत हुआ है। ये शाक्य श्रमण जैन निर्ग्रन्थों के घोर विरोधी थे। अतः जैन साहित्य में इनकी तथा इनके सिद्धान्तों की कटु आलोचना की गई है। बौद्ध श्रमण अक्रियावादी और उनके द्वारा स्वीकृत बुद्धशासन मिथ्याचार तथा अज्ञानोत्पादक कहा गया है।

आजीविक सम्प्रदाय का बौद्ध एवं जैन साहित्य में अनेक स्थानों पर उल्लेख मिलता है। विरोधी होने के कारण वहां इसकी कटु आलोचना की गई है। लोमहंस जातक में एक आजीविक का इस प्रकार वर्णन किया गया है :—नग्न और मलयुक्त वह एकाकी और एकविहारी रहता था। मानव-सम्पर्क से वह मृगवत् भागता था। छोटी मछलियां, गोबर और अन्य त्यक्त वस्तुयें उसका आहार थीं। अपने चित्त को एकाग्र रखने के हेतु वह वन के किसी निर्जन कुंज में निवास करता था। शीतकाल में वह रात्रि के समय अपने निवास-स्थान से बाहर निकल आता था और फिर सूर्योदय-काल पर भीतर जाता था। रात्रि में वह हिम-कणों से भीगता था और दिन में कुंज की शाखाओं के चूने से। इस प्रकार दिन-रात वह शीत की भंयकरता सहन करता था। ग्रीष्म ऋतु में वह दिन भर बाहर रहता था और रात्रि भर वन के भीतर, जो दिन भर सूर्यातप से तपता रहता था और जहां रात्रि की शीतल वायु का नाम भी न रहता था। अतः उसके शरीर से पसीने की धारायें बहती थीं। यह जातक कठोर तपश्चर्या में लीन इस आजीविक का उल्लेख करने के पश्चात् उसकी निन्दा करता है और उसके तप को मिथ्याचार के नाम से पुकारता है[२]। एक दूसरे जातक[३] में एक आजीविक गुणकस्सप का उल्लेख है। यह मिथिला के एक आराम में रहता था और अपनी विद्या-बुद्धि के लिये प्रख्यात था। उसके संरक्षण में बहुसंख्यक अनुयायी रहते थे। जातक में गुणकस्सप के नियतिवाद अथवा उच्छेदवाद का वर्णन है। कालान्तर में सूजा और नारद ने इस मत का खंडन करते हुए इसकी अप्रामाणिकता प्रदर्शित की है[४]।

जैन-साहित्य में भी आजीविकों का वर्णन है। भैक्ष्य और तपश्चर्या के आधार पर ओवाइय[५] ने इन्हें कई कोटियों विभाजित कर दिया है :—

(१) जो प्रति दूसरे घर से भिक्षाग्रहण करते थे।

(२) जो प्रति तीसरे घर से भिक्षा ग्रहण करते थे।

---

१. निशीथ चूर्णि १३ ८६५

२ जातक ५ १६-गा० ६३, मज्झिम निकाय १ ७६

३. जातक ६. २२०-२५५, जातक ६ २३४-गा० १०३५-६

४. जातक ६ २४४-५४ गा० १०६०, जातक ६. २५२-३ गा० ११२७-३६.

५. ओवाइव सूत्र ४१ १६६.

(३) जो प्रति चौथे घर से भिक्षा ग्रहण करते थे।
(४) जो प्रति छठें घर से भिक्षा ग्रहण करते थे।
(५) जो प्रति सातवें घर से भिक्षा ग्रहण करते थे।
(६) जो भिक्षा में एकमात्र कमल-दण्ड ही ग्रहण करते थे।
(७) जो प्रत्येक घर भिक्षा ग्रहण करते थे।
(८) जो बिजली चमकने पर भिक्षायाचना न करत थे।
(९) जो विशाल मृण्भाण्डों में प्रविष्ट हो कर तपश्चर्या करते थे।

ठाणंग ने उनकी तपश्चर्या की ४ श्रेणियाँ बताई हैं:—

(१) कठोर तपश्चर्या (२) भयंकर तपश्चर्या (३) घृतादि वस्तुओं का परित्याग और (४) भोजन के प्रति उदासीनता।

इन समस्त विभाजनों से एक बात जो स्पष्ट होती है-वह है आजीविकों का काया क्लेश के सिद्धान्त में विश्वास। उनका मत था कि काया क्लेश के द्वारा मानसिक विकारों का दमन कर मनुष्य आत्मोत्कर्ष कर सकता है। आजीविक शब्द की व्युत्पत्ति आजीव से हुई है जिसका अर्थ होता है जीवन-यापन की प्रणाली अथवा तत्सम्बन्धी व्यवसाय। इस सम्प्र दाय के अनुयायी विशिष्ट प्रकार के आजीव-सिद्धान्त का प्रतिपादन करते थे। इसी से कदाचित् उनका नाम आजीविक पड़ा।

बौद्ध एवं जैन धर्म-ग्रंथों में इस सम्प्रदाय के संस्थापक का नाम गोसाल मंखलिपुत्त अथवा मक्खलिपुत्त मिलता है जो संस्कृत का मस्करिपुत्र है [१]। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट हो जाता है, यह व्यक्ति मंखलि नामक एक साधारण व्यक्ति का पुत्र था। पुनश्च एक गोशाला में उत्पन्न होने के कारण इसका नाम गोसाल पड़ा। युवावस्था में यह महावीर स्वामी के सम्पर्क में आया और उनके प्रभाव में इसने जैन धर्म स्वीकार कर लिया। परन्तु कालान्तर में दोनों में मतभेद उत्पन्न हो गया और गोसाल ने जैन धर्म का परित्याग कर उसके विरोध में आजीविकों के सम्प्रदाय की स्थापना की। दोनों में बहुत दिनो तक प्रतिद्वन्द्विता रही परन्तु अपने जीवन के अंतिम चरण में गोसाल ने महावीर स्वामी की शिक्षाओं में अपनी आस्था प्रकट की [२]।

आजीविक सम्प्रदाय का सर्वप्रथम पुरातत्व-सम्बन्धी उल्लेख अशोक द्वारा निर्मित बाराबर पहाड़ी की दो गुहाओं में हुआ है। अशोक के सप्तम् पाषाण-स्तम्भाभिलेख में आजीविक संघ, ब्राह्मण, निर्ग्रन्थ एवं अन्य पाषंडों के समकक्ष रक्खे गये हैं। जिस प्रकार

---

१. मज्झिम निकाय १.१९८, २५०, संयुक्त निकाय १.६८, ४.३९८, दीघनिकाय १.५२, जातक ५.२४६, उवासग दसाओ २.१३३, भगवती सूत्र १५.१.

२. भगवती सूत्र १५. १. एवं सुमंगलविलासिनी १४३–४ से गोसाल की जीवनी पर प्रकाश पड़ता है।

अशोक ने आजीविकों के हेतु गुहा-निर्माण किया था उसी प्रकार उसके उत्तराधिकारी दशरथ ने भी। इसका साक्ष्य हमें नागार्जुनी पहाड़ी पर निर्मित तीन गुहाओं में अंकित लेख से मिलता है। इस सम्प्रदाय का इतिहास दीर्घकालीन है। छठी शताब्दी में उत्पन्न होकर यह सम्प्रदाय शताब्दियों तक जीवित रहा। ईसा की छठी शताब्दी में वराहमिहिर ने इस सम्प्रदाय का उल्लेख अन्य छः सम्प्रदायों के साथ किया है [1]। ऐसा प्रतीत होता है कि नवीं शताब्दी तक आते-आते इस सम्प्रदाय की जैनों के दिगम्बर सम्प्रदाय के साथ इतनी अधिक समता स्थापित हो गई कि दोनों एक ही सम्प्रदाय समझे जाने लगे। उदाहरणार्थ सूत्र-कृतान्त में टीकाकार शीलांक (८७६ ई०) और अभिधान-रत्नमाला में हलायुध (९५० ई०) का ऐसा ही मत है [2]।

बौद्ध धर्मग्रन्थों में गोसाल तथा आजीविक-सम्प्रदाय की कटु आलोचना की गई है। उनके अनुसार गोसाल मोघपुरिस था जो मछुए की भाँति मनुष्यों को अपने पाश में फँसाता था। उसके मत का आधार अब्रह्मचर्य था। अतः मनुष्य के लिये वह नितान्त अहितकर था [3]।

इसी प्रकार जैनधर्मों का उल्लेख है कि गोसाल के मतानुसार स्त्री-सहवास भिक्षु के लिए पापकर नहीं है [4]। यही कारण है कि महावीर स्वामी ने आजीविकों की भर्त्सना नारी-रत एवं कामी पुरुषों के रूप में की है [5]।

बौद्धों के अनुसार गोसाल का मत था कि संसार में पवित्रता-अपवित्रता एवं उत्कर्षापकर्ष का कोई निश्चित कारण नहीं है। संसार की प्रत्येक वस्तु शक्तिरहित है। अतः उसका जीवन उसके कर्मफल पर नहीं अपितु भाग्य, प्रकृति एवं परिस्थिति पर अवलम्बित है [6]। यही मत जैन उवासग दसाओ में प्रदर्शित किया गया है [7]। कुछ भी हो,

---

१. वृहज्जातक १५.१. लघु जातक ६.१२.

२. जैन सूत्राज़ २.२६७ अभिधान-रत्नमाला २.१८८-६०

३. मज्झिम १.५१४, अंगुत्तर १.२८६, डायलांग्ज आफ़ दी बुद्ध ७१ आदि।

४. जैन सूत्राज़ २.४११.

५. वही, २.२.७०, २४५

६. दीघ निकाय पृ० ५३, संयुक्त निकाय ३.२१. अंगुत्तर निकाय १. २८६.

७. उवासग दसाओ १.९७, ११५, २.१११, १३२.

इतना निश्चित है कि बौद्धकालीन भारत में आजीविक सम्प्रदाय गण्य सम्प्रदाय था। स्वयं महात्मा बुद्ध बौद्धेतर सम्प्रदायों के आचार्यों में गोसाल को ही सबसे अधिक 'प्रबल समझते थे[1]।

जैसा कि पीछे कहा गया है, ई० पू० छठीं शताब्दी प्राचीन भारतीय इतिहास में बौद्धिक क्रांन्ति का काल थी। उपर्युक्त धार्मिक वर्गों और सम्प्रदायों के अतिरिक्त बौद्ध और जैन साहित्य में अनेकानेक अन्य मत-मतान्तरों का भी वर्णन उपलब्ध होता है। महाबोधि जातक में ५ दार्शनिक सम्प्रदायों का उल्लेख है। विरोधी सम्प्रदाय होने के कारण बौद्ध उन्हें भिच्छादिट्ठिक कहते हैं और इनका खन्डन करते हैं। ये ५ सम्प्रदाय निम्नप्रकार के थे :--

(१) उच्छेवादी[2]--इसके अनुसार प्रत्येक मनुष्य ४ तत्त्वों--क्षिति, जल, समीर और आकाश से निर्मित है। मृत्यु के पश्चात् इन तत्त्वों का विघटन हो जाता है और मनुष्य का अस्तित्त्व मिट जाता है। फिर मनुष्य का कोई भी अंश अवशिष्ट नहीं रहता। अतः पुनर्लोक और पुनर्जन्म की कल्पना भ्रामक है।

(२) अहेतुवादी[3]--प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति आकस्मिक है। उसके लिए कोई विशेष कारण नहीं रहता। पुनर्जन्म अवाञ्छनीय नहीं। उससे तो मनुष्य की शुद्धि होती है।

(३) पुब्बेकतावादी[4]--इहलोक में मनुष्य अपने पूर्व कर्मों के फलस्वरूप दुःख, सुख और पाप-पुण्य का भागी होता है। उसके वर्तमान कर्म पूर्व कर्मफलों को विनष्ट अथवा परिवर्त्तित नहीं कर सकते।

(४) इस्सरकारणवादी[5]--संसार के प्रत्येक कार्य का कारण एक परम शक्ति है जिसे ये लोग ईश्वर के नाम से पुकारते थे। इसी से समस्त वस्तुओं एवं कृत्यों की उत्पत्ति होती है।

(५) खगविज्जावादी[6]--इनके अनुसार मनुष्य का स्वार्थ सर्वोपरि है। स्वार्थ-सिद्धि के हेतु मनुष्य किसी भी साधन का उपयोग कर सकता है। अपने लाभ के लिए मनुष्य अपने माता-पिता की हत्या भी कर सकता है।

इसी प्रकार जैन साहित्य[7] में ४ प्रमुख सम्प्रदायों का उल्लेख प्राप्त होता है :--

---

1. अंगुत्तर १.३३.
2. जातक ५.२३६. गा० १४८-५१,
3. ,, ५.२३७-गा० १३६-४१.
4. ,, ५.२३८-६-गा० १४५-४७.
5. ,, ५.२३८-६ गा० १४२-४.
6. ,, ५.२३८-६ गा० १५४-७.
7. सूयगडंग १. १२. १.

(१) किरियम्–(क्रियावाद)–इसके पोषक आत्मा के अस्तित्त्व में विश्वास करते थे। जैन साहित्य में इसकी १८० शाखायें थीं। जैन मतानुयायी इसी कोटि में रक्खे गये हैं।

(२) अकिरियम् (अक्रियावाद)—इसके अनुसार संसार की प्रत्येक वस्तु नश्वर और क्षणिक है। यह आत्मा के अस्तित्त्व में विश्वास नहीं करता। इसकी ८४ शाखाओं का उल्लेख है। जैनों के मतानुसार बौद्ध इसी वाद के पोषक थे।

(३) अन्नाणम् (अज्ञानवाद) इस वाद के अनुसार संसार में पूर्ण अथवा शाश्वत ज्ञान नहीं है। प्रत्येक ज्ञान में परस्परविरोधी बातें पाई जाती हैं। अतः वह भ्रामक हैं। मोक्ष के लिए ज्ञान-प्राप्ति आवश्यक नहीं है। इसकी ६७ शाखायें थीं।

(४) विणयम् (विनयवाद)–इसके अन्तर्गत विनय को प्रधानता दी गई है। इसके द्वारा मनुष्य आत्मोत्कर्ष कर सकता है। विनय का अर्थ बड़े व्यापक रूप में लिया गया है। मनुष्य को केवल राजा, माता-पिता आदि के प्रति ही नहीं वरन् समस्त प्राणिमात्र के प्रति विनीत होना चाहिये। विनीत मनुष्य को अन्य कर्मकाण्डों अथवा अनुष्ठानों के करने की आवश्यकता नहीं है। विनय समस्त सत्कर्मों की आधार-शिला है। एकमात्र इसी के अनुसरण से मनुष्य का कल्याण हो सकता है। जैन-साहित्य में इस वाद की ३२ शाखायें बताई गई हैं।

इन ४ प्रधान वादों के अतिरिक्त जैन साहित्य में चन्डिदेवग, भूयकम्पिय, धम्म-चिन्तक, पिन्डोलग, कुच्चिय, वारिखल, अत्तुक्कोसिय, ससरक्ख, वाणीभग आदि अनेकानेक मतानुयायियों का उल्लेख उपलब्ध होता है। अनेक मत अथवा वाद अपने-अपने आचार्यों अथवा नेताओं की संरक्षता में संगठित थे। स्वयं महात्मा बुद्ध अपने पर्यटन-काल में ऐसे ही अनेक मताचार्यों एवं प्रधान मतानुयायियों से मिले थे और उन्होंने उनके साथ वाद-विवाद किया था। बौद्ध साहित्य में यत्र-तत्र इनके नाम आते हैं :—

(१) अचेलको पाटिकपुतो [१]–महात्मा बुद्ध इनसे वैशाली के महावन में मिले थे और 'अगज्ज' के ऊपर इन दोनों का वाद-विवाद हुआ था।

(२) निग्रोध [२]–ऐसा प्रतीत होता है कि यह व्यक्ति एक लब्ध प्रतिष्ठ उपदेशक था। दीघनिकाय में इसके ३ हजार अनुयायियों का उल्लेख है। इसके साथ महात्मा बुद्ध का वाद-विवाद राजगृह के गिज्भकुट में हुआ था। विवाद का विषय 'भिक्षु-जीवन' था।

(२) चूलसकुलदायि [३]–यह जैन मतानुयायी था। महात्मा बुद्ध ने राजगृह के वेलुवन में इसके द्वारा प्रतिपादित कायाक्लेश की उपयुक्तता का खंडन किया था।

---

[१]. दीघनिकाय भाग ३ पृ० १२-३५.

[२]. ,, ,, ,, ३६.५७.

[३]. मज्झिमनिकाय भाग २ पृ० २६–३६

(३) वच्छ गौत्त [१]—महात्मा बुद्ध इनसे वैशाली के महावन में मिले थे। इन दोनों के विवाद का विषय था 'गृहस्थ को मोक्ष-प्राप्ति का अधिकार'।

(४) भग्गवगोत्त [२]—इनके साथ महात्मा बुद्ध का विवाद मल्लनगरी अनुपिय में हुआ था।

(५) कुन्डलिय [३]—यह महात्मा बुद्ध से साकेत में मिला था और इसने उनसे 'इतिवादपामोक्ख' और 'उपारम्भ' के ऊपर प्रश्न पूछे थे।

(६) पोटलियो [४]—यह महात्मा बुद्ध से सावत्थी में मिला था। इसकी जिज्ञासा का विषय था 'पुग्गल'।

(७) अन्नभारो और वरधारो [५]—इन्होंने महात्मा बुद्ध से 'चत्तारि धम्मपदानि' के ऊपर प्रश्न किये थे।

(८) अजितो [६]—यह महात्मा बुद्ध से श्रावस्ती में मिला था। इसने इनके साथ चेतना की ५०० अवस्थाओं पर विवाद किया था।

बौद्ध साहित्य में ऐसे ही अनेकानेक अन्य धर्मावलम्बियों के नामोल्लेख हैं जिन्होंने महात्मा बुद्ध के साथ किसी न किसी विषय पर विवाद किया था। जैसा कि पहले कहा गया है, यह काल बौद्धिक क्रान्ति का काल था। इस समय मनुष्य की चेतना गवेषणा के क्रोड़ में उन्मुक्त विहार कर रही थी। उसके लिए समस्त सृष्टि जिज्ञासा का विषय बन गई थी। वह अन्धविश्वास से अपना दामन छुड़ा कर तर्क की सहचरी बन गई थी। मनुष्य की उत्सुकता, जिज्ञासा और तर्कशीलता ने सम्पूर्ण वातावरण को सस्वर कर दिया था। स्थान-स्थान पर सम्प्रदायों की प्रतिष्ठा हुई, धर्मध्वज लहराये गये, विविध उद्घोषों से सारा वायु मण्डल प्रकम्पित हो उठा। डाक्टर रीज डेविड्ज के कथनानुसार परिव्राजक, श्रमण और भिक्षु उपदेशक अथवा साफिस्ट थे जो प्रति वर्ष ८–६ मास यत्र-तत्र भ्रमण किया करते थे और सदाचार-शास्त्र, दर्शन-शास्त्र और रहस्यवाद आदि विषयों पर पारस्परिक विवाद किया करते थे। यूनानी साफिस्ट की भांति ये व्यक्ति भी प्रतिभा, तत्परता और सत्यपरायणता में एक दूसरे से भिन्न थे। यदि हम इनके विवाद-विषयों का अध्ययन करें तो इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि ये सर्वतोमुखी थे। इस सम्बन्ध में बौद्ध साहित्य का निम्नलिखित उद्धरण पर्याप्त संकेतक है :—

---

१. मज्झिम निकाय भाग १ पृ० ४८१

२. दीघनिकाय भाग ३ पृ० १.

३. संयुत्तनिकाय भाग ५ पृ० ७३.

४. अंगुत्तरनिकाय भाग २ पृ० १००.

५. ,, ,, २ पृ० २६, १७६

६. ,, ,, ५ पृ० २३०

"इस समय पोट्ठपाद भिक्षुओं के साथ बैठे थे जो अनेक प्रकार के सांसारिक विषयों-राजाओं, चोरों, राजमन्त्रियों, युद्ध, आतंक, रण की कथाओं, खाद्यपेय, वस्त्र, बिस्तर, मालाओं, सुगन्धित पदार्थों, सम्बन्धों, उपकरणों, ग्रामों, जनपदों, नगरों, देशों, स्त्रियों, वीरों की वार्ताओं, सामान्यमार्गीय स्थलों और जल स्थलों से सम्बद्ध आलापों, भूत-प्रेतों की कथाओं, प्रलापों, भूमि और सागर के निर्माण सम्बन्धी कथानकों और अस्तित्त्व एवं अनस्तित्त्व की कल्पनाओं पर तीव्र स्वरों में तुमुल कोलाहल के बीच बातें कर रहे थे[1]।"

इस उद्धरण से तत्कालीन परिव्राजकों, श्रमणों, भिक्षुकों और विचारशील व्यक्तियों के उत्साह, जिज्ञासा और वार्ता-विषय-वैभिन्य के ऊपर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। वार्ता-विषयों में न केवल धार्मिक वरन् दार्शनिक, पौराणिक, राजकीय एवं सार्वजनिक विषय भी सम्मिलित थे।

परन्तु उपर्युक्त कथन समाज के एक विशिष्ट स्तर के मनुष्यों की ही नवीन विचार-धारा एवं उदीयमान् चेतना के द्योतक हैं। बौद्धिक गवेषणा एवं धार्मिक जिज्ञासा सामान्य मनुष्य के लिये दुरूह थीं। कदाचित् समाज का बहुसंख्यक वर्ग उनसे अधिक प्रभावित न हुआ। दार्शनिक वाद-विवाद एवं धार्मिक वितण्डावाद से परे ग्रामों में निवास करने वाला सामान्य भारतीय कदाचित् उस समय भी इतना ही परम्परानुरागी, रूढ़िवादी और क्रान्ति-निरपेक्ष था जितना आज है। इसका परिणाम यह हुआ कि यद्यपि समाज के उच्च वर्ग में बौद्धिक क्रान्ति हुई, धर्म-परिवर्त्तन हुए, जीवन के विभिन्न विषयों का नवीन मूल्यांकन हुआ तथापि सामान्य भारतीय न्यूनाधिक मात्रा में अपरिवर्त्तित रहा--अस्पृष्ट रहा। विवादों के झंझावात आये, सिद्धान्तों के संघर्ष हुये, विभिन्न दर्शन टकराये, नूतनातिनूतन विचार-धाराओं का आप्लावन हुआ, परंतु इन सब के बीच सामान्य भारतीय बहुत कुछ पूर्ववत् ही रहा। न तो उसके जीवन में और न उसके धर्म में ही क्रान्तिकारी परिवर्त्तन हुये। यही कारण है कि हम बौद्ध और जैन दोनों के साहित्य में उसे पूर्ववत् अपने परम्परागत लौकिक धर्म का अनुसरण करते हुए पाते हैं जो तर्क के स्थान पर असीम श्रद्धा के ऊपर अवलम्बित है।

यही नहीं, स्वयं बौद्ध और जैन धर्म भी इस लौकिक धर्म के प्रभाव से अछूते न रहे। उन्होंने कालान्तर में इसके अनेक अंगों को अपने भीतर समाविष्ट कर लिया।

लौकिक-धर्म

देववादविरोधी बौद्ध और जैन धर्मों के साहित्य में भी हम विभिन्न देवी देवताओं की पूजा-उपासना के अनेकानेक साक्ष्य पाते हैं।

चुल्ल निद्देश में समस्त देवताओं को ३ कोटियों में विभक्त किया गया है :-- (१) सम्मुतिदेवा :--इसके अन्तर्गत राजा, रानियां, राजकुमार और राजकुमारियाँ आती हैं।

---

१. डायलाग्ज़ आव दि बुद्ध, भाग १ पृ० २४५.

(२) उपपत्तियेवा–इसके अन्तर्गत मनुष्यों द्वारा पूजित विभिन्न देवता आते हैं और (३) विसुद्धिदेवा–इसके अन्तर्गत विभिन्न मतों के आचार्य एवं लब्ध-प्रतिष्ठ अनुयायी रक्खे गये हैं। कालान्तर में जनता की श्रद्धा-भक्ति के पात्र हो गए थे। यहाँ पर हमारा सम्बन्ध द्वितीय कोटि के वास्तविक देवताओं से है। बौद्ध साहित्य में इस कोटि को भी ३ उपकोटियों में विभक्त किया गया है–(१) भुम्माये –वे देवता हैं जो भूमि पर रहते हैं। उदाहरणार्थ, पशु-देवता, नाग, सर्प, इत्यादि। (२) अन्तरिक्खचरा–इस कोटि के देवता अन्तरिक्ष-निवासी हैं। उदाहरणार्थ, सूर्य चन्द्र आदि (३) आकासट्ठ—इसमें आकाश-निवासी देवता आते हैं। प्रायः समस्त प्रमुख देवता—इन्द्र, ब्रह्मा, लक्ष्मी आदि इसी कोटि के हैं।

बौद्धों ने प्रधानता-क्रम के आधार पर विभिन्न देवताओं एवं जड़-चेतन की स्थिति इस प्रकार निर्धारित की है :–(१) महात्मा बुद्ध (२) अरिय की ८ कोठियाँ (३) अरूपब्रह्म की ४ कोटियाँ (४) रूपब्रह्म की १६ कोटियाँ (५) कामावचरदेवों की ६ कोटियाँ (६) मानव-जगत् (७) पशु-जगत् (८) भूत-जगत् और (९) विभिन्न नरक।

समाज के समस्त देवता पांचवी कोटि के कामावचरदेवों के अन्तर्गत आते हैं। इसी प्रकार एक भिन्न सूची जैन साहित्य[1] में मिलती है :—

(१) प्रमुख अनुयायियों के सहित महावीर स्वामी।

(२) वैमानिक देवये सोहम्म ईसाण, सणकुमार, माहिन्दबम्भा (ब्रह्मा) लंतग, महासुक्क, सहस्सारा, अच्छुतपदी, इत्यादि हैं।

(३) ज्योतिषी—ये देवता सूर्य, चन्द्र एवं अन्य नक्षत्र हैं।

(४) वाणमन्तर–इस कोटिके अन्तर्गत भूत, पिशाच, किन्नर, गन्धर्व, यक्ष आदि आते हैं।

(५) भवनवासी—इस कोटि में उदधि, पवन, अग्नि, विद्युत्, असुर, नाग आदि रक्खे गये हैं।

(६) क्षितिशरीरी जीव।

(७) जलशरीरी जीव।

(८) अग्निशरीरी जीव।

(९) वायुशरीरी जीव।

बौद्ध और जैन साहित्य में उल्लिखित समस्त देवताओं में सर्वोच्च स्थान प्राय' इन्द्र को दिया गया है जो स्थान-स्थान पर सक्क, सुजंपति और मघवा के नामों से भी सम्बोधित हुआ है[2]। यह पर्जन्य-देवता है[3] और तावतिंस नामक सर्वोत्तम स्वर्ग के समस्त ३३ देवताओं का अध्यक्ष है[4]।

---

1. औपपातिक सूत्र ३२-३७.
2. जातक ४.६ गा० १२.४०३-गा० ५५, जातक ३.१४६-गा० १८३.
3. जातक १.३३१, जातक ४.२५३-गा० ११३.
4. जातक १.२०२. जातक २.८६, ३१२.

यह स्वर्ग सुन्दर प्रासादों एवं उपवनों से युक्त है[१] और इसमें देवधीतायें और अप्सरायें क्रीड़ा करती रहती हैं[२]। स्वयं उसके प्रासाद का नाम मसक्कसार है[३]। वह सुधम्मा नामक सभा-भवन में अपने पाण्डुवर्ण संगमर्मर में सिंहासन पर बैठ कर शासन-कार्य करता है[४]। उसके मनोरंजन के हेतु पंचसिख नामक संगीतज्ञ सदैव उसकी सेवा में प्रस्तुत रहता है और उसका सारथी मातलि अपनी कला के लिये संसार-प्रसिद्ध है[५]। कल्पसूत्र के अनुसार इन्द्र अपने स्वर्ग में विविध देवताओं—आठ महिषियों, तीन सभाओं, सात सेनाओं, सात सेनापतियों और अनेक शरीर-रक्षकों से समन्वित रहता है[६]। उसकी आराधना के हेतु इन्द्र-ट्ठाणं (इन्द्रस्थान) में नगर के अभिजात वंश की ५०० कन्यायें एकत्रित होती थीं और अपने सौभाग्य के लिये बलि, पुष्प और धूप से इन्द्र की पूजा करती थीं[७]। जैन साहित्य इन्दमह (इन्द्र-महोत्सव) का उल्लेख करता है जो आषाढ़-पूर्णिमा को मनाया जाता था[८]।

देवधम्म जातक से प्रतीत होता है कि सूर्य-चन्द्र की उपासना भी पर्याप्त रूप से प्रचलित थी। जैन साहित्य में रुद (रुद्र) महादेवता के रूप में प्रतिष्ठित हैं[९]। आवश्यक चूर्णि में इस देवता की काष्ठ-मूर्तियों का उल्लेख हुआ है[१०]। रुद्र के ही दूसरे रूप शिवकी पूजा का भी प्रचलन था[११]। एक स्थान पर शिव-मूर्ति की पुष्प-पत्र और गुग्गुलादि के साथ अर्चना का वर्णन है[१२]। आवश्यकचूर्णि का[१३] एक स्थानपर कथन है कि जब महावीरस्वामी श्रावस्ती गए थे तो स्कन्द की मूर्ति एक रथ पर प्रतिष्ठित कर जलूसमें निकाली गई थी। इससे प्रतीत होता है कि कदाचित् स्कन्द-पूजा महावीर स्वामी के जीवन-काल में भी प्रचलित थी। निशीथ

---

१. जातक ६.१३२.

२. जातक १.२४०, जातक २.५७

३. जातक ६.२८६-गा० १२५५.

४. जातक ६ ३८६, जातक ६.२७८-गा०१२१६, जातक२.१८८, जातक३.५३.१२६

५. जातक ३.२२२, जातक ५.३८३.

६. कल्प सूत्र १.१३.

७. बृहत्कल्प भाष्य ४.५१५३.

८. निशीथचूर्णि १६.११७४.

९. " " १६ २३६

१०. आवश्यक चूर्णि ११५.

११. " निर्युक्ति ५०६

१२. बृहत्कल्प भाष्य २ पीठित ८०४.

चूर्णि[1] में खन्दमह (स्कन्द-महोत्सव) का भी उल्लेख है जो महावीर स्वामी के जीवन-काल में 'आसोय मास की पुण्णिमां' को मनाया जाता था। पाणिनि के साक्ष्य से उनके समय में वासुदेव-सम्प्रदाय के अस्तित्व का ज्ञान होता है[2]। आवश्यक नियुक्ति में महावीर के समय में वलदेव की पूजा का उल्लेख है। इस देवता की मूर्ति 'नंगल' सहित प्रदर्शित की गई है[3]। महाभारत में भी वलदेव लागुलिन् के रूप में उल्लिखित हैं। यद्यपि चुल्लनिद्देस और औपपातिक सूत्र दोनों में ब्रह्मा (वम्मा) का उल्लेख आया है तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि इस देवता की उपासना अधिक लोक-प्रिय न थी। अग्नि और जल ब्राह्मण धर्म के यज्ञों एवं तर्पणादिक क्रियाओं से सम्बद्ध थे। अतः स्वाभाविक ही था कि इसके देवता विरोधी धर्म साहित्य में उपहास एवं उपेक्षा के भाजन होते[5]। जैन सूची में ये दोनों देवता वाणमन्तर-कोटि में रखे गये हैं[6]। तत्कालीन अन्य गौण देवताओं में वायु, वरुण और सोम उल्लेखनीय हैं। बौद्ध और जैन साहित्य में इन सब के नाम आते हैं। परन्तु उस समय तक इन वैदिक देवताओं की प्रतिष्ठा घट गई थी।

इन देवताओं के अतिरिक्त नवीन धर्मों का साहित्य अनेक देवियों की उपासना के प्रचलन पर भी प्रकाश डालता है। जातकों[7] के अनुसार सक्क के ४ पुत्रियां है--(१) आसा (२) श्रद्धा (३) सिरी और (४) हिरी। मनुष्य की विभिन्न मनोवृत्तियों का देवीकरण वैदिक-काल में ही प्रारम्भ हो गया था। कालान्तर में इसका प्रचुर विकास हुआ। ये चारों देवियां मनुष्य की देवीकृत मनोवृत्तियां ही हैं। इनमें सबसे अधिक समादृत थी सिरी (श्री लक्ष्मी)। कहीं-कहीं पर वह पूर्व दिशा के लोकपाल 'घतरट्ठ' की पुत्री के रूप में भी उल्लिखित है। ललितविस्तार और महावस्तु में लक्ष्मी के ४ रूप प्राप्त होते हैं— श्रीमती यशमती, यशः प्राप्ता अथवा लक्ष्मीमती और यशोधरा। अन्य देवियों में समुद्र-देवी[8] (मणिमेखला), गङ्गा देवता[9] और कालकण्णि जातक के अनुसार कालकर्णी दुर्भाग्य और आपदा की देवी थी। वह पच्छिम दिशा के लोकपाल विरूपक्ख की पुत्री के रूप में

---

१. आवश्यक चूर्णि १३५

२. निशीथ चूर्णि १६. ११७४.

३. पाणिनि ४. ३. ९५-१००

४. आवश्यक नियुक्ति ४८१.

५. जातक १. ४६४. जातक २ ४४. जातक ६. २०६-७

६. औपपातिकसूत्र २२-२७

७. जातक ६. ३६२

८. जातक ४. १७-२१, जातक ६. ३५

९. जातक २. ४२३

उल्लिखित है। इस प्रकार सौभाग्य-देवी लक्ष्मी से इसका सहज वैर है। आचारांग चूर्णि में चण्डिया दुर्गा के 'जाग' का वर्णन है जिसमें बकरियों और भैंसों आदि पशुओं की बलि दी जाती थी[१]।

बौद्ध और जैन साहित्य में नागों अथवा सर्पों की पूजा का अनेकानेक स्थानों पर उल्लेख है। यद्यपि यह पूजा वैदिक, ब्राह्मण अथवा उपनिषद्-काल में प्रतिष्ठित न थी, तथापि छठी शताब्दी के लगभग यह पर्याप्त रूप से महत्वपूर्ण हो गई थी। कदाचित् यह अनार्य-परम्परा के ऊपर विकसित हुई थी। नागों का उल्लेख अर्धपाशविक एवं अर्ध-मानवी रूप में हुआ है। ये पशु होते हुये भी स्वेच्छया मनुष्य रूप धारण कर सकते थे[२]। डाक्टर अनंतप्रसाद बनर्जी 'शास्त्री' का मत है कि नाग असुरों (असीरियन) की उपशाखा थे जो दीर्घकालीन युद्ध के पश्चात् आर्यों द्वारा पराजित हुए थे[३]। कालान्तर में इन नागों के अवशिष्टांश आर्य-जाति में ही निमज्जित हो गए। कदाचित् साहित्य में उल्लिखित नाग-परम्परा उसी आर्य-असुर की ओर संकेत करती है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस नाग परम्परा ने प्राचीनतम अनार्यों की सर्प-पूजा से सम्मिश्रित होकर एक अत्यन्त मनोरंजन नूतन परम्परा को जन्म दिया। नागों का सम्बन्ध जल से रहा है। भूरिदत्त जातक[४] में एक नाग माता कहती है कि मेरी संतान जल-प्रकृति है। अन्य स्थानों पर उनका सम्बन्ध सरिताओं, द्वीपों और समुद्रों के साथ स्थापित किया गया है[५]। नाग भूगर्भ में रहते थे जहाँ उपवन, धन-धान्यादि से समन्वित उनके सुन्दर प्रासाद थे[६]। साहित्य में वे कुशल भवन-निर्माताओं के रूप में प्रख्यात हैं[७]। उनकी सृष्टि के हेतु मनुष्य मांस, मदिरा दुग्ध आदि से उनके लिए यज्ञ करते थे[८]।

जैन साहित्य के अनुसार राजा भरह के पौत्र भगीरह ने सर्वप्रथम, नाग-बलि की प्रतिष्ठा स्थापित की थी[९]। नायाधम्मकहा नागजता (नागोत्सव) का उल्लेख करता है। इस अवसर पर नागदेवता की फल, पुष्प, पत्र, धूप आदि से अर्चना की जाती थी[१०]।

---

१. आचारांग चूर्णि ६१.
२. जातक २.१.३
३. असुर इन्डिया
४. जातक ६.१६०
५. जातक १.४७२. जातक २.१११. जातक ३.८७-८ जातक ५.४५४.
६. जातक ६.२६६-७ गा० ११६४-७१, जातक ६. १६७.
७. जातक ४.४६४ गा० २४४.७ जातक ६.१७३-४ गा० ७६७-७१.
८. जातक १.४६८
९. उतराध्ययन टीका १८.२३४.
१०. नायाधम्म कहा ८.६५.

पूर्वोल्लिखित चुल्लनिद्देस में नागदेवता के साथ-साथ सुवण्ण (सुपर्ण) का भी उल्लेख है। जातकों में भी अनेक स्थानों पर गरुड़-पूजा का वर्णन है। नागों की भाँति ये भी मनुष्य-रूप धारण कर सकते थे। एक जातक का कथन है कि काशी नरेश की महिषी सुपण्णराज की सुन्दर मानवी आकृति को देख कर मुग्ध हो गई और उसके साथ उसके द्वीप चली गई [1]। नागों के साथ गरुणों का सहज वैर प्रदर्शित किया गया है। ये नागों को पकड़-पकड़ कर खा जाया करते थे [2]। औपपातिक सूत्र में नागों के साथ सुपण्ण भी भवनवासी देवताओं की कोटि में रक्खे गये हैं [3]।

इसी ग्रन्थ में वाणमन्तरदेवों का उल्लेख है। इन देवों में यक्ष, पिशाच, राक्षस, किन्नर, गन्धर्व, भूत इत्यादि सम्मिलित किये गये हैं। उत्तराध्ययन सूत्र के अनुसार यक्ष, देव, दानव, गन्धर्व और किन्नर उन मनुष्यों का आदर करते हैं जो ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करते हैं [4]। अनेक स्थानों पर महिलायें पुत्र-कामना से यक्षों की अर्चना करते हुये प्रदर्शित की गई हैं [5]। इन यक्षों की सन्तुष्टि के हेतु समय-समय पर उत्सव किये जाते थे [6]। जैन साहित्य में स्थान-स्थान पर यक्ष उदारचित्त और परोपकारी व्यक्तियों के रूप में उल्लिखित हैं। सेलग नामक एक यक्ष प्रति चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या और पूर्णिमा को मनुष्यों की अनेक प्रकार से सहायता करता था [7]। इस भाँति मणिभद्र नामक एक अन्य यक्ष ने समिल्ल नामक नगर के निवासियों की प्रार्थनाओं से द्रवित हो कर उस नगर में चेचक के प्रकोप को शान्त किया [8]। परंतु कभी-कभी इन यक्षों का चरित्र-चित्रण बड़े निन्दनीय रूप में किया गया है। यक्ष-गृहीत अज्जुणय नाम के एक मालाकार ने ७ व्यक्तियों की हत्या कर डाली थी [9]। सुरप्पिय नामक एक यक्ष प्रतिवर्ष अपने ही चित्र को अंकित करने वाले व्यक्ति की हत्या कर डालता था [10]। सूलपाणि नामक एक अन्य यक्ष का मन्दिर आहत मनुष्यों

---

१. जातक ३.६१, गा० १०५.८

२. जातक २.१३. जातक ६.१६१.

३. औपपातिक सूत्र ३२–३७.

४. उत्तराध्ययन सूत्र १६–१६

५. आवश्यक चूर्णि २.१६३, नायाधम्मकहा २.४६ विवासुय ७.४२.

६. वृहत्कल्प भाष्य ३.४७६६, दसवेयालिय चूर्णि ४८.

७. नायाधम्मकहा ६.१२७.

८. पिण्ड नियुक्ति १४५

९. अन्तगडदसाओ ६.

१०. आवश्यक चूर्णि ८७

की अस्थियों पर निर्मित था। यह यक्ष अपने मन्दिर में ठहरने वाले प्रत्येक व्यक्ति की हत्या कर डालता था [१]। कभी-कभी आचरण-भ्रष्ट यक्षों का भी वर्णन मिलता है [२]।

बौद्ध-साहित्य में अनेकानेक यक्ष-कथानक मिलते हैं। यक्ष विशालकाय, निर्निमेष विशालनेत्र, मांसाहारी एवं क्रूरकर्मी होते थे [३]। उनके स्वामी का नाम वेस्सवन था [४]। बौद्ध साहित्य में भी यक्ष-ग्रहीत मनुष्य की विवश एवं करुण अवस्था का वर्णन उपलब्ध होता है। नरदेव नामक यक्ष के दुष्प्रभाव में अमात्य काविन्द पागल कुत्ते के समान भूकने लगता था [५]।

यक्षों के समान अब्भुतधम्मा, दानव-रक्खसों, असुरों, कुम्भण्डों पिशाचों और विज्जाधरों आदि का वर्णन भी बौद्ध साहित्य में प्राप्त होता है [६]। जैन साहित्य के ४ महामहों में एक भूयमह भी है। यह उत्सव चैत्रपूर्णिमा को मनाया जाता था [७]। भूतों को प्रसन्न करने के लिए मनुष्य समय-समय पर बलि देते थे [८]। समाज में 'भूयवाइयं (भूत-विद्या) के विज्ञाताओं की प्रतिष्ठा थी जो जन्त्र-मंत्र के द्वारा अनेकानेक रोगों का शमन करते थे [९]। नायाधम्मकहा में भूतों की भांति पिशाचों का भी वर्णन है [१०]। ये रक्तपिपासु एवं मांसाहारी होते थे। ये रात्रि काल में प्रायः श्मशानों में निवास करते थे।

बौद्ध-साहित्य की भाँति जैन-साहित्य में भी विज्जाहरों का उल्लेख आता है। इसके अनुसार वे एक अर्ध-मानवी एवं अर्धदैवी जाति थे। उनके अनेक राजाओं का वर्णन मिलता है [११]। कभी-कभी जैन-संघ में थे प्रविष्ट होते हुए भी प्रदर्शित किये गये हैं [१२]। घज-

---

१. आवश्यक चूर्णि २७२–४.

२. उत्तराध्ययन चूर्णि ८३

३. जातक ६.२०७, जातक १.२७३ जातक १.१०२ जातक ४.४९१.

४. " १.३२८, जातक २.१६ जातक ३.५०२.

५. " ६.३८३

६. दीघनिकाय। महासमय सुत्तन्त और आतानातीय सुतन्त। डायलाग्ज आव दि बुद्ध, २.२८६, ३.१८८ जातक १.२०२–२०६ गा० ३० जातक ३.५२७, जातक ३.३०३, ४५५, जातक २.३९७, जातक ३.१४६–७-गा० १८३–४ जातक २.१६ गा० ६–१० उवासगदसाओ ४६–५१.

७. निशीथ चूर्णि १९.११७४.

८. आवश्यक चूर्णि २.१६२.

९. आवश्यक टीका ३९९, उत्तराध्ययन टीका १.५, १२.१७४.

१०. नायाधम्मकहा ८.९९

११. उत्तराध्ययन टीका २२.२२७, १८.२४१, १८.२३८, २४७, १३.१९३.

१२. " ९.११८

विहेठ जातक के अनुसार ये अत्यन्त रसिक जीव थे। रात्रि भर वे क्राम क्रीड़ाओं में संलग्न रहते थे और दिन को पाप-निवारणार्थ अनेक प्रकार के प्रायश्चित्त करते थे। उत्तराध्ययन-टीका का कथन है कि कभी-कभी वे विवाह के अवसर पर परकन्याओं का अपहरण कर ले जाते थे[1]।

बौद्धों की कामावचरदेवों की सूची में निम्नतम स्थान ४ महाराजों अथवा लोकपालों का है। ये घतरट्ठ, विरुपक्ख, विरूल्ह और वैस्सवन-कुवेर क्रमशः पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर दिशाओं के महाराज तथा गन्धर्वों, नागों, कुम्भण्डों और यक्षों के अध्यक्ष थे[2]। औपपातिक सूत्र में इनका उल्लेख वेमानिकदेवों की सूची में किया गया है।

उपर्युक्त देवी-देवताओं के अतिरिक्त समाज में वृक्ष-पूजा की भी अत्यधिक प्रतिष्ठा थी। मनुष्यों का विश्वास था कि वृक्षों में अनेक देवता रहते हैं। वृक्षों को हानि पहुँचाने से ये देवता रुष्ट होते थे और उन्हें सन्तुष्ट करने से ये भी सन्तुष्ट होते थे[3]। यही कारण था कि मनुष्य वृक्षों की पूजा करते थे, उन पर वलि तथा पुष्प-मालायें चढ़ाते थे[4]। कभी-कभी उन्हें प्रसन्न करने के हेतु नर-वलि और पशु-वलि भी दी जाती थी[5]। इन समस्त सेवाओं के वदले में वे उनसे पुत्र, धन-धान्य एवं कीर्ति के लिए कामना करते थे।

देवी-देवताओं की पूजा तथा विविध धार्मिक अनुष्ठानों के साथ-साथ जनता अनेक प्रकार के अन्धविश्वासों में भी आस्था रखती थी। वौद्ध साहित्य के अनुसार समाज में वहुसंख्यक लक्खणपाठकों, नैमित्तिकों, अंगविज्जापाठकों और नक्खतजाननकों की प्रतिष्ठा थी जो भिन्न-भिन्न शारीरिक लक्षणों, आकस्मिक संकेतों और नक्षत्र-स्थितियों के आधार पर भविष्यवाणी किया करते थे,[6]। सामान्य मनुष्य दिव्वमाया, भूतविज्जा, मन्त, परित्ता वालिकम् के द्वारा अपने संकटों का निवारण करने की चेष्टा करते थे[7]। देश में प्रयाग, दोण, तिस्वरु, आदि पवित्र स्थान थे जहाँ का स्नान पाप-मोचन समझा जाता था[8]। इसी प्रकार के उल्लेख जैन साहित्य में भी उपलब्ध होते हैं। प्रत्येक पक्ष की चतुर्थी, षष्ठी, अष्टमी, नवमी और द्वादशी पवित्र तिथियाँ समझी जाती थीं[9]। अस्वच्छवस्त्रधारी मनुष्य, वाम

१. उत्तराध्ययन टीका ६.१३७.१३.१८२
२. जातक ३.२५७
३. जातक ४.२१०.३५३ जातक २.९३, जातक ४.१५३
४. जातक १.१६६, २५६, जातक. ३.२३—गा० २६, जातक ४.१५३.
५. जातक ३.१६० जातक ५.४.७२, ४.७४, ४८८ जातक १.२५६.
६. जातक १.२६०, जातक २.२१, जातक ५.४५८, जातक ४.१२४. जातक ५.२६६
७. जातक १.१२०, १३३, २५७, जातक ३.५६
८. जातक १.४५६, जातक ६.४५८ गा० १६२३—४, जातक ३.५११ जातक १.२६६—१.
९. जातक ५.३८८ गा० १६६, जातक ६.१६७—८—गा० ८५७
१०. व्यवहार भाष्य १.१२५.

दिशा से दक्षिण दिशा को जाने वाले श्वान, कुब्ज, वामन गर्भिणी स्त्री, वृद्धा, काष्ठधारी मनुष्य और कुच्चन्धर सन्यासी के दर्शन अशुभ समझे जाते थे [1]। इनके विरुद्ध दक्षिणस्थ शृगाल, चास मयूर भारद्वाज के और मछली, घण्टी तथा पताका के दर्शन शुभ माने जाते थे [2]। आपत्ति निवारणार्थ मनुष्य पुरोहितों से अनेक प्रकार के धार्मिक अनुष्ठान करवाते थे [3]। नायाधम्मकहा में अनेक प्रकार के जन्त्र-मन्त्रों का उल्लेख है जिनकी सहायता से मनुष्य कम्मणजोय (रोगोत्पत्ति), कम्मोजोय (सौन्दर्य-प्राप्ति), हियौड्डावण (हृदयाकर्षण), काउड्डावण (शरीर-ग्रहण), वसीकरण (वशीकरण) कर सकता था। अभीष्ट-प्राप्ति के हेतु जैन साहित्य में विज्जा, जोग और मन्त का उल्लेख है जो ऐसे (अलौकिक) गुण हैं [4]। स्वयं जैन भिक्षु इन्हीं के प्रयोग द्वारा आश्चर्यजनक कार्य करते हुये प्रदर्शित किये गये हैं। वन में घिर जाने पर ये साधु आत्म-रक्षा के हेतु कार्योत्सर्ग के द्वारा वन-देवता का आह्वान करते थे [5]। अपनी जोगदक्षता से भिक्षु शत्रु-दमन, रोगशमन आदि करते थे और उसी की सहायता से जल के ऊपर चलते तथा वायु में उड़ते थे [6]। ओवाइय में महावीर स्वामी के अनुयायियों का उल्लेख है जो अपनी अलौकिक शक्ति के द्वारा प्रत्येक प्रकार की आपत्तियों का निवारण कर सकते थे।

इन समस्त उल्लेखों से स्पष्ट हो जाता है कि जैन और बौद्ध धर्मों का प्रसार भी समाज की श्रद्धा, अन्धविश्वास, रूढ़ि और परम्परा की सुदृढ़ भित्तियों को न ढहा सका। जनसाधारण पूर्ववत् अपने परम्परागत देवी-देवताओं की उपासना करता रहा। उन्हें संतुष्ट करने के हेतु वह विविध धार्मिक अनुष्ठान, याज्ञिक कर्म एवं अनेकानेक विधि-निषेधों का पालन करता रहा। नवीन धर्मों ने समाज में प्रचलित जन्त्र-मन्त्रों एवं अन्य अन्धविश्वासों का विरोध किया। उनके विरोध का प्रभाव समाज में कितने बड़े वर्ग पर कितनी मात्रा में पड़ा, यह निश्चित रूप से कहना असम्भव है। अनुमानतः तर्कवादी नवीन धर्मों का प्रचार समाज के अल्पसंख्यक शिक्षित एवं अभिजातवर्ग को ही प्रभावित कर सका होगा, क्योंकि बौद्ध एवं जैन साहित्य में हम सामान्य मनुष्य के जिस जीवन की झांकी पाते हैं वह बहुदेववादिता, रूढ़िवादिता, अन्धविश्वासशीलता और परम्पराप्रियता से ओत-प्रोत है। यही कदाचित् अपने धर्मों को लोक-प्रिय बनाने के हेतु इन के अनुयायियों ने कालान्तर में उनमें उन समस्त रूढ़ियों और परम्पराओं का समावेश कर लिया जिनका उनके प्रवर्तकों ने प्रारम्भ में विरोध किया था।

---

१. बृहत्कल्प भाष्य १,१५४५, ओघ भाष्य ८२.७४.

२. औघ भाष्य १०८

३. विवागसुय ५.३३ घाणसाख जातक ३.१५६.

४. बृहत्कल्प भाष्य १.१२३५.

५. बृहत्कल्प भाष्य १.३१०८.

६. निशीथ चूर्णि ७४८, ८७४ बृहत्कल्प भाष्य १.१२३५

अध्याय ४

आर्थिक अवस्था

वैदिक कालीन भारतीय समाज अपने विकास की प्रारम्भिक दशा में था और इसी से उस समय तक समाज की कोई सुव्यवस्थित आर्थिक पद्धति का निर्माण न हो सका था। ऋग्वेद और अन्य संहिताओं में इस सामाजिक विकास की विभिन्न स्थितियों की झाँकी अवश्य मिलती है, किन्तु वह इतनी अस्पष्ट है कि उसके आधार पर सहसा किसी सुनिश्चित आर्थिक-व्यवस्था का अनुमान कर सकना नितान्त कठिन है। यत्र-तत्र बिखरे हुए तथ्यों के द्वारा हम उस समय आर्थिक जीवन के दो भिन्न स्वरूपों की कल्पना कर सकते हैं।

आर्थिक जीवन के विकास की प्रथम स्थिति में आर्यों में चिर-पर्यटनशील प्रवृत्ति का प्राधान्य था। उनके समूह एक स्थान से दूसरे स्थान को प्रस्थान करते रहते थे। उनके ग्राम और निवास स्थायी न थे। ऐसी दशा में उन्हें पशु-पालन जैसे प्रमुख व्यवसाय की सुविधा ही प्राप्त हो सकती थी, यद्यपि साधन उपलब्ध होने की स्थिति में वे जहाँ-तहाँ थोड़ा-बहुत कृषि-कार्य भी कर लेते थे। अनवरत संघर्षमय जीवन व्यतीत करने वाले व्यक्ति कभी तो आत्म-रक्षा एवं सत्ता-विस्तार के लिये अनार्य दस्युओं से युद्ध करते रहते थे और कभी अपने ही वर्ग के शक्तिशाली समूहों के विरुद्ध पारस्परिक कलह में व्यस्त रहते थे। आर्यों के संघर्षशील जीवन के परिचायक अनेक वर्णन वैदिक साहित्य में मिलते हैं, जहां वे अपने देवी देवताओं की स्तुति करते समय अपने पशुओं की रक्षा का महत्व न भूलते थे। वैदिक देवता पुरन्दर केवल अनार्यों के नगरों का ध्वंस ही न करता था, वरन् वह उनके पशुओं की चोरी करने वाले दस्युओं को भी भयभीत बनाये रहता था। अनेकानेक युद्धों में विजय प्राप्त करने के उपरान्त जहां उनके जीवन और अस्तित्व का संकट दूर होता गया, वहाँ उसके साथ ही उन्हें विजितों की प्रभूत सामग्री भी हस्तगत हुई। फलस्वरूप आर्य-जाति धीरे-धीरे अधिकाधिक साधन-सम्पन्न होने लगी।

विकास की द्वितीय स्थिति में आर्य स्थिर-निवास हो गये थे। इस समय उनका आर्थिक जीवन भी पूर्वकालीन जीवन की अपेक्षा अधिक व्यवस्थित हो गया। पशु-पालन के अतिरिक्त कृषि उस समय आर्थिक जीवन का मुख्य आधार बन चुकी थी। पुरोहित अथवा योद्धा को छोड़कर अन्य सभी कृषि-कार्य में योग देते थे। जीते हुए उर्वर प्रदेशों में ग्रामों की स्थापना होने लगी थी और विजित जातियों को या तो गिरि-प्रदेशों की ओर भगा दिया गया था अथवा अधीनता स्वीकार कर लेने पर उन्हें दासता का जीवन व्यतीत करने की अनुमति प्राप्त हो गई थी।

विजेता की स्थिति में विस्तृत भू-भाग पर अधिकार हो जाने से भूमि पर्याप्त रूप में उपलब्ध हो गई थी। विजेता परिश्रमी और सशक्त थे। परिश्रम से उन्हें अरुचि न थी। ऐसी अवस्था में आर्थिक विकास का क्रम स्वभाविक रूप से तीव्रतर होने लगा और उत्तरी भारत के समस्त उर्वर-क्षेत्रों में आर्यों की बस्तियों का सूत्रपात द्रुतगति से हो चला। उस समय सर्वप्रथम आर्थिक अवस्था के केन्द्र ग्राम माने जाने लगे।

प्रत्येक ग्राम कई परिवारों का समूह होता था और हर एक परिवार में कई व्यक्ति रहते थे, जो परिवार के स्वामी गृहपति की अधीनता में रहकर कृषि एवं पशु-पालन के कार्यों की व्यवस्था करते थे। गृहपति प्रायः परिवार का सबसे वृद्ध पुरुष व्यक्ति होता था, जो कुटुम्ब का प्रधान होने की स्थिति में खेतों की देखभाल और गृह के यज्ञादिक कर्त्तव्यों को संपादित किया करता था। आर्यों के इस स्थायी जीवन ने उनकी आर्थिक अवस्था को भी स्थायी बनाने में सहायता की और कृषि उस समय के समाज की जीविका का मूल साधन बन गई।

वैदिक साहित्य का अध्ययन करने से यह प्रतीत होने लगता है कि क्षत्रिय योद्धाओं और यज्ञकर्मा ब्राह्मणों को छोड़कर सभी गृहस्थ स्वावलम्बन का जीवन व्यतीत करने लगे थे। वैदिक कृषक अपने साथी हलवाहों के कार्य की देखभाल करने के साथ ही इन्द्र, पूषण और कृषि के अन्य देवी-देवताओं की उपासना करता हुआ दिखाई देता है। वह सदैव वर्षा और प्रभूत धान्य की कामना करता है। फ़सल पक जाने पर वह अपने सहायकों के साथ उसका संग्रह करते समय देवी के श्रद्धा स्वरूप कुछ अंश वहीं छोड़ देता है। सन्ध्या समय वह मरुत् देवता के आश्रय में गोचरभूमि में स्वतन्त्रता पूर्वक तृण ग्रहण करती हुई गायों की देख-रेख करता है और इन्हीं दैवी शक्तियों का अनुग्रह वह सपरिवार दूध और अन्न की भेंट के रूप में करता है।

भारतवर्ष प्रारम्भ से ही कृषि-प्रधान देश रहा है। कुछ लोग 'आर्य' शब्द को स्वयं कृषिकर्मा व्यक्ति के अर्थ में प्रयुक्त करते हैं। इतना निश्चित है कि ऋग्वेद में प्रयुक्त होने वाला आर्य शब्द विजेताओं को एक वर्ग अथवा जाति के रूप में आदिवासियों से पृथक् करता है। डा० मैक्डानल प्रभृति विद्वानों का तो यहां तक कथन है कि वैदिक आर्य कम से कम कृषि का प्रारम्भिक ज्ञान अफ़ग़ानिस्तान की घाटियों में आने के पूर्व ही प्राप्त कर चुके थे, जैसा कि भारतीयों तथा ईरानियों द्वारा प्रयुक्त 'कृष्' शब्द के प्रयोग से प्रतीत होता है। वास्तव में ऋग्वेद के समय तक कृषि का महत्व पशु-पालन के उपरान्त ही माना जाने लगा था। हमें उपर्युक्त कथन की तथ्यता में सन्देह करने का कोई कारण वैसे भी नहीं दिखाई देता है, क्योंकि पुरातत्व की खोजों ने यह सिद्ध कर दिया है कि मानव-सभ्यता के के विकास-क्रम में अब से कई सहस्रवर्ष पूर्व नवीन पाषाण-युग में ही मनुष्य को मिट्टी के बर्त्तन बनाने की कला और कृषि का ज्ञान होने लग गया था। फिर वैदिक आर्य-सभ्य एवं सुसंस्कृत जाति के थे। यदि प्रारम्भिक ऋग्वैदिक काल में कृषि उनका प्रमुख व्यवसाय न

था, तो उनका एक मात्र कारण यही था कि अव्यवस्थित जीवन व्यतीत करने के कारण उन्हें कृषि की वैसी सुविधा प्राप्त न थी, जैसी भारतीय भू-भाग में स्थायी निवास ग्रहण कर लेने के पश्चात् प्राप्त हुई। यहां पर आर्यों के कृषि-जीवन पर प्रकाश डालने वाले वैदिक वर्णनों पर विचार कर लेना भी समीचीन प्रतीत होता है। ऋग्वेद में क्षेत्र के स्वामी की सहायता से क्षेत्र की जीतने की प्रार्थना करने वाला क्षेत्र के देवता से अपने पशुओं और अश्वों के सुखी जीवन की कामना भी करता है। वह अपनी गायों से दुग्ध प्राप्त करने की इच्छा से मिष्ट, निर्मल, नवनीत की भांति सुस्वादु एवं प्रभूत जल-वृष्टि के हेतु जल के देवता की उपासना करता है। शुनःसीर, इन्द्र, पूषन् , पर्जन्य सभी देवताओं से वर्षा, धान्य तथा पशुओं एवं व्यक्तियों के सुख की निरन्तर कामना करते हुए हम वैदिक आर्य को सदैव तत्पर देखते हैं। यजुर्वेद एवं अथर्ववेद में भी सीता, इन्द्र, पूषन्, शुनःसीर आदि देवताओं की स्तुति पके हुए धान्य, गाय, भेड़, स्वस्थ एवं प्रहृष्ट स्त्री की प्राप्ति तथा पृथ्वी की उर्वरा शक्ति की वृद्धि के लिये की गई है। मेघों के मुख्य शत्रु तथा अकाल के मित्र वृत्र का नाश करने से ही इन्द्र का महत्व और बढ़ने लगा।

संहिता तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में एक मात्र कृषि की रक्षा करने वाले देवी-देवताओं की उपासना ही नहीं है, वरन् उनसे कृषि-कर्म का सम्यक् बोध भी होता है। कृषक-जीवन से सम्बन्धित सभी बातों--यथा हल जोतना, जुते हुए खेत में बीज बोना, पशुओं के हेतु जल पीने की व्यवस्था करना, गहरे जल से तथा सदा परि-पूर्ण रहने वाले कूप से चर्म-रज्जु की सहायता से जल खींचने, अश्वों को विश्राम करने तथा खेत से कटे हुए धान्य को सरलता से ले जाने के हेतु गाड़ी के निर्माण[1] आदि का उल्लेख संहिता में मिलता है। शतपथ ब्राह्मण में भी जोतने, बोने, निराने तथा धान्य काटने के साथ ही हंसिये के द्वारा पके हुए अनाज को काटकर, छोटे-छोटे गट्ठों के रूप में संग्रह करने के पश्चात् अन्न-संग्रहालय में लाने का वर्णन है, जहां उसे कूट पीस कर वायु के द्वारा अलग किया जाता था। इस भांति अनाज को तृण से अलग करने वाला व्यक्ति 'धान्यकृत्' कहा जाता था और अन्न की तौल 'ऊर्दर' नाम के पात्र से होती थी[2]।

कृषि की सफलता के लिये वैदिक काल में ही भारतीयों को सिंचाई के साधनों की आवश्यकता प्रतीत होने लगी थी जैसा कि कूप[3]; सिंचाई के हेतु जल[4]; नहरों द्वारा खेतों

---

१. ऋग्वेद दशम मण्डल २८.

२. वैदिकइण्डैक्स १. १८२.

३. ऋग्वेद १०. २५.

४. " १०. ६३.

की सिंचाई की व्यवस्था [1], खेत सींचते हुए किसान[2] और नहरों को खोदने[3] के अनेक वर्णन संहिताओं में विद्यमान हैं। न केवल कृषि-कर्म अथवा सिचाई की व्यवस्था का ही, वरन् गोचर-भूमि का महत्व भी उनकी दृष्टि से छिपा न था। बैल और गाय ही वैदिक काल के व्यक्ति की सम्पत्ति के प्रमुख साधन थे और इसी से उनका वर्णन स्थान-स्थान पर मिलता है[4]। चरवाहों को सम्बोधित किये गये उनके उद्गार यह स्वभावतः सोचने को बाध्य कर देते हैं कि वैदिक आर्य अपने पशुओं की सुरक्षा के लिये कितने चिन्तित रहते थे[5]।

इस भाँति प्रारम्भिक वैदिक काल में भारतवासियों के जीवन का मुख्य आधार पशु-पालन था। हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि स्थान-स्थान पर गाय, अश्व, भेड़, बकरी और भैंस के नामों का उल्लेख प्रायः मिलता है। पशुओं के उपरान्त ही, कृषि उनके आर्थिक-जीवन का अन्य महत्वपूर्ण साधन था, जिसका वर्णन हमें समस्त वैदिक-साहित्य में प्राप्त होता है।

न केवल पशु-पालन एवं कृषि ही वैदिक आर्यों के आर्थिक-संगठन के आधारभूत तत्त्व थे, किन्तु इसके साथ ही व्यापार एवं वाणिज्य के प्रचलन का आभास भी हमें वैदिक युग में मिलता है। ऋग्वेद में कई स्थानों पर पणि[6] शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसे विद्वान् प्रायः वणिक् अथवा व्यापारी के अर्थ में लेते हैं। वैदिक उपासकों को हम समुद्र से सम्पत्ति पाने की कामना करते हुए देखते हैं[7]। ऋग्वेद का एक द्रष्टा अग्नि से अपने समस्त कष्टों एवं संकटों से उसी भाँति छुटकारा पाने की प्रार्थना करता है, जिस प्रकार नाव सिन्धु के पार ले जाती है। समुद्र के बीच नौका पर स्थित उपासक वरुण की सहायता माँगते समय वैदिक काल में समुद्र-यात्रा का सूक्ष्म संकेत अवश्य करता है[8]। इसी आधार को लेकर वैदिक साहित्य के मर्मज्ञ मैकडानल और कीथ उस समय समुद्री यात्रा में प्रयुक्त वणिक् पोतों की कल्पना करते हैं[9]। हम वैदिक काल में समुद्री व्यापार को चाहे उन्नत दशा में भले ही स्वीकार न करें, किन्तु इतना अवश्यमेव सत्य है कि उन लोगों को समुद्र का ज्ञान था और इसकी पुष्टि वेदों में पोतों के निर्माण और समुद्रयात्रा के उल्लेखों से

---

१. ऋग्वेद १०.६६.
२. ,, १०.६८.
३. ,, १०.७५.
४. शतपथ ब्राह्मण (२) ४, ३, १३, (३) १, २, १३, (४) ५, ६, १०.
५. ऋग्वेद १०. १६.
६. ,, ६.४५
७. ,, १.४७.
८. ,, ७.८८.
९. वैदिक-इण्डेक्स १.४६१.

होती है। कहीं पर यदि वरुण को समुद्र के बीच यात्रा करने वाले पोतों का ज्ञाता मानकर प्रार्थना की गई है[1] तो अन्यत्र अग्नि[2] और इन्द्र[3] के प्रति तूफ़ान के समय पोतों की रक्षा करने के लिये आभार प्रदर्शित किया गया है। पोत-भग्नता[4] के साथ ही पूषन् के स्वर्णिम पोतों[5] की कल्पना भी वैदिक साहित्य में मिलती है।

इतना ही नहीं वैदिक युग में अन्य व्यवसाय और उद्योगों का प्रचलन भी था। इसके अनेक उल्लेख संहिता-साहित्य में प्राप्त होते हैं। कालान्तर में इन्हीं ने उपजातियों का रूप धारण कर लिया। ऋग्वेद में वप्ता[6], तष्टा[7], त्वष्टा[8], भिषक्[9], कमीर अथवा कार्मार[10] और चर्मम्न[11] शब्दों का प्रयोग हुआ है। अथर्ववेद में प्रयुक्त होने वाले रथकार[12], कार्मार[13] और सूत्र[14] तथा तैत्तिरीय संहिता[15] में आने वाले क्षत्; संग्रहित्, तक्षान्, रथकार, कुलाल, कर्मार, पुंजिष्ट, निशाद, इषुकृत, धन्वकृत, मृगयु और श्वनि आदि शब्द भी विशेष व्यवसायों के ही द्योतक हैं। इन शब्दों का प्रयोग वाजसनेय-संहिता[16] और कठक संहिता[17] में भी हुआ है। तैत्तिरीय ब्राह्मण[18] में आयोगू, मागध, सूत, शैलूष, रेभ, भीमल, रथकार, तक्षन्, कौलाल, कर्मार, मणिकार, वप, इषुकार, धन्वकार, ज्याकार, रज्जुसर्ग, मृगयु, श्वनि, सुराकार, अयस्ताप, कितव, विदलकार, कण्टककार आदि शब्दों

---

१. ऋग्वेद १.२५.
२. „ १.६७.
३. „ १.१३१.
४. „ ५.५६.
५. „ ६.५८.
६. „ १०.१४२.४.
७. „ १.६१.४.
८. „ ८.१०२.८.
९. „ ६.११२.१.
१०. „ १०.७२.२.
११. „ ६.११२.२.
१२. अथर्ववेद ३.५.६
१३. „ ३.५.६.
१४. „ ३.५.७.
१५. तैत्तिरीय-संहिता ४.५.४.२.
१६. वाजसनेय-संहिता १६.२६-२८.
१७. क० सं० १७.१३.
१८. तै० ब्रा० ३.४.१.

का प्रयोग आर्थिक संगठन की उन्नत-दशा का बोध कराता है। शतपथ ब्राह्मण[1] में कुलालचक्र का भी उल्लेख है।

उपर्युक्त प्रमाणों से यह सम्भावना प्रतीत होने लगती है कि संहिता और ब्राह्मणों के समय प्रयुक्त ये सभी नाम भिन्न-भिन्न व्यवसायों के सूचक थे, जिन्होंने कालान्तर में जातियों का रूप ग्रहण कर लिया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अपनी प्रारम्भिक अवस्था में होने के कारण इस आर्थिक व्यवस्था का अपूर्ण और अव्यवस्थित ही कह सकते हैं, किन्तु इसके साथ ही यह उस सांस्कृतिक विकास की पीठिका थी, जिसने प्राचीन भारत के भावी आर्थिक जीवन को सुदृढ़ आधार प्रदान किया। हम वर्णाश्रम धर्म की महत्ता पर विचार करते समय यह स्पष्ट कर चुके हैं कि किस भाँति भारतीय सामाजिक व्यवस्था जाति-प्रथा को आधार मानकर विशेष नियमों की जटिलता में आवद्ध हो गई और इसी के फल-स्वरूप वर्ण-व्यवस्था ने न केवल सामाजिक स्थिति को ही वरन् आर्थिक संगठन को भी विशेष रूप से प्रभावित किया। ऋग्वेद में आर्यों और दासों के दो विरोधी वर्णों का ही उल्लेख मिलता है। उस समय वर्ण रंग पर ही आधारित थे[2]। तैत्तिरीय ब्राह्मण में दिव्य और असुर वर्णों का वर्णन आता है[3]। कुछ समय के पश्चात् यही असुर वर्ण शूद्र वर्ण के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। वैदिक आर्यों के स्थायी-जीवन के साथ-साथ वर्ण-व्यवस्था को भी क्रमशः स्थायित्व प्राप्त होने लगा और दिव्य वर्ण से ही ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्णों का आविर्भाव हुआ। तैत्तिरीय ब्राह्मण में ब्राह्मण और क्षत्रिय ब्रह्म तथा क्षत्र के द्योतक माने गये हैं[4]। एक ने ब्रह्म के व्यापक क्षेत्र के भीतर अपनी गति तीव्र की तो दूसरे ने क्षात्र-धर्म की प्रतिष्ठा स्थिर करने का भार अपने ऊपर लिया। इधर पशु-पालन, कृषि, वाणिज्य आदि कार्यों का दायित्व उनके ऊपर न रह कर एक तीसरे वर्ण पर आ गया, जो वैश्य की संज्ञा से अभिहित किया गया। वैश्य दोनों उच्च वर्णों के उपभोग का आयोजन करने लगे[5] और वास्तव में वैदिक अर्थ-व्यवस्था का आधार इस तीसरे वर्ण ने ही प्रस्तुत किया। दास जातियां जो ऋग्वेद में आर्यों का विरोध करती दिखाई देती हैं,

---

1. शत० ब्रा० ६.८.१.
2. ऋग्वेद ११, १२, ४- यो दासं वर्णमधरं गुहा कः।
3. ब्राह्मणश्च शूद्रश्च चर्मकर्ते व्यायच्छेते। दैव्यो वै वर्णो ब्राह्मणः असुर्य शूद्रः। तै० ब्राह्मण १. २.६.
4. ब्रह्म वै ब्राह्मणः क्षत्रं राजन्यः—तै० ब्राह्मण ३. ९.१४.
5. वैश्यो मनुष्याणां गावः पशूनां तस्मात्त आद्या अन्नधानादध्यसृज्यन्त तस्माद् भूयांसोऽन्येभ्यः। तै० सं० ७, १. १. ५.

वे धीरे-धीरे अपना स्वाभाविक वैर भूलकर आर्यों की सेवा में तत्पर होती गईं। मनुस्मृति में तो शूद्रों की उत्पत्ति ब्राह्मण की सेवा के उद्देश्य से ही मानी गई है[1]। अन्त में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र भारतीय सामाजिक-संगठन के अविच्छिन्न अंग समझे जाने लगे, जिनका महत्व पुरुषसूक्त में स्पष्टतया मान लिया गया है[2]। इससे यह प्रतीत होता है कि वैदिक ऋचाओं के रचयिताओं की दृष्टि में समाज का इन चार वर्णों में विभाजन बहुत प्राचीन काल से ही था और वे इसे स्वाभाविक अथवा ईश्वरीय मानते थे।

वर्ण-व्यवस्था के इस भाँति स्थायी अथवा अपरिवर्त्तनशील हो जाने से आर्थिक-व्यवस्था भी इससे अछूती न रह सकी। जातियों के जन्मजात होते ही खान-पान और विवाहादि बन्धनों के साथ ही अपने जातिगत कर्मों का पालन परमावश्यक समझा जाने लगा। धर्म की विविध रूपिणी व्याख्या के द्वारा वर्ण-धर्म और आश्रम-धर्म आदि सामान्य धर्मों का पालन विशेष महत्त्व रखने लगा[3]। जाति-धर्म के साथ ही प्रत्येक व्यक्ति अपने पैतृक व्यवसाय का संरक्षण भी तत्परता से करने लगा। फिर भी सामाजिक-व्यवस्था किन्हीं विशेष नियमों की परिधि में अनिश्चित काल तक के लिये बंधी नहीं रह सकती, क्योंकि उसमें अवश्यम्भावी परिस्थितियां अपेक्षित परिवर्तन उपस्थित कर देती हैं। वर्णाश्रमधर्म की स्वाभाविक प्रतिक्रिया वर्णसंकरों की वृद्धि से होने लगी। वर्णों के वैवाहिक नियमों की अवमानना करने के कारण प्रतिलोम विवाह से उत्पन्न सन्तानों को वर्णच्युत करने की व्यवस्था धर्मानुकूल मानी गई, और ऐसी सन्तानों को वर्णसंकर[4] कहा जाने लगा जो कालान्तर में मिश्रित जातियों के रूप में बढ़ने लगी। गीता में वर्णसंकरों का आविर्भाव एकमात्र अधर्म की वृद्धि से होता है[5]। इसी भय से नारद ने भी राजा को

---

१. शूद्रं तु कारयेद् दास्यं क्रीतमक्रीतमेव वा।
दास्यायैव हि सृष्टोऽसौ ब्राह्मणस्य स्वयंभुवा॥ मनु०।८।४१३.

२. पुरुषसूक्त—१०.९०.१२.

३. इह पंचप्रकारो धर्म इति विवरणकाराः प्रपंचयन्ति—मेधा० । मनु० २.२५. अत्र च धर्म शब्दः षड्विधस्मार्तधर्मविषयः। तद्यथा-वर्ण धर्म आश्रम धर्मो गुण धर्मो निमित्त-धर्मः साधारण धर्मश्चेति। मिताक्षरा या० १.१

४. प्रातिलोम्येन यज्जन्म स ज्ञेयो वर्णसंकरः। नारद। स्त्रीपुंस १०२।
ब्राह्मण छत्रविट् शूद्रा वर्णाश्चान्त्यास्त्रयो द्विजाः।
प्रतिलोमानुलोमाश्च ते ज्ञेया वर्णसंकराः॥ बृहस्पति, कृत्यकल्पतरु

५. अधर्माभिभवात् कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः॥ गीता १.४१.

स्त्रियों की विशेष रूप से रक्षा करने को कहा है[1]। स्मृतिकारों के समय तक इन वर्णसंकरों द्वारा बनने वाली मिश्रित जातियों की संख्या में भी अपूर्व वृद्धि हो गई थी[2]। मनु तथा अन्यधर्मशास्त्रकारों ने वर्णाश्रमधर्म के विरुद्ध कार्य करने वालों को घोर दण्ड की व्यवस्था दी है और इसी हेतु राजा का मुख्य धर्म वर्णाश्रम धर्म की रक्षा माना गया है[3]। कुछ भी हो, इतना विधि-निषेध होने पर भी मिश्रित जातियों की स्थिति में कोई विशेष अन्तर नहीं आया। समाज में उनका स्थान अपेक्षाकृत निम्न होने के कारण वे अन्य-जातियों की भाँति अपने पैतृक व्यवसायों को न अपना सकती थीं, क्योंकि उन्हें विधि-विहित मान्यता प्राप्त न होने से कोई आर्थिक अवलम्ब भी प्राप्त न था और इसी से उन्हें अपने निर्वाह के हेतु स्वतन्त्र व्यवसायों की सृष्टि करनी पड़ी। अन्य व्यावसायिक जातियों की आर्थिक दशा इनकी अपेक्षा अच्छी होने के प्रमाण हमें श्रेणी, पूग, गण, व्रात, और संघ आदि शब्दों के प्रयोग[4] और उनके तत्कालीन महत्त्व से प्राप्त होते हैं। परन्तु स्मृतिकारों ने सामाजिक एकता को पूर्ववत् बनाये रखने की दृष्टि से जाति-विभेदों और समाज के अन्तर्गत स्वावलम्बी संगठनों की उपादेयता स्वीकार की और इसके साथ ही जनता की रुचि एवं शासन-सत्ता का आश्रय ग्रहण कर जातियों एवं श्रेणियों के नियमों का पालन करने पर विशेष बल दिया। इसी के फलस्वरूप अर्थ-शास्त्रों एवं धर्मशास्त्रों में जातियों, समूहों, श्रेणियों के प्रचलित नियम-व्यवहार तथा रीतियों की मान्यता राज-नियमों की भांति ही स्वीकार की गई है[5]।

इस भांति उत्तरी भारत में षोडश महाजनपदों के उत्कर्ष-काल के समय तक सामाजिक स्थिति में एक स्वाभाविक अस्थिरता उत्पन्न कर दी थी। चाहे हम इसे मस्तिष्क के क्षेत्र में नाना स्मृति-विधानों की अवतारणा के रूप में ले लें अथवा सामाजिक अवस्था में वर्ण-सम्मिश्रण के तथ्य की दृष्टि से स्वीकार करें। इसके समन्वय से तत्कालीन आर्थिक संगठन का जो आधार स्थित हुआ, उसी का विश्लेषण हम विस्तारपूर्वक करना समीचीन समझते हैं।

---

1. चाण्डालो जायते शूद्राद् ब्राह्मणी यत्र मुह्यति।
   तस्माद्राज्ञा विशेषण स्त्रियो रक्ष्यास्तु संकरात्॥ नारद, स्त्रीपुंस ११३
2. संकरसंकराश्चासंख्येयाः--विष्णु धर्मसूत्र १६.७.
3. स्वादानाद्वर्णसंसर्गात्त्वबलानांच रक्षणात्।
   बलं संजायते राज्ञः प्रेत्यचेहचवर्धते॥ मनु० ८ १७२.
4. गणाः पाषण्ड पूगाश्च व्रताश्चश्रेणयस्तथा।
   समूहस्थाश्च ये चान्ये वर्गाख्यास्ते बृहस्पतिः॥ कात्या०, स्मृति च० पृष्ठ १८.
5. जाति जानपदान् धर्मान् श्रेणिधर्मांश्चधर्मवित्।
   समीक्ष्य कुल धर्मांश्च स्वधर्मं प्रतिपादयेत्॥ कौटिल्य—३, ८ पृष्ठ १६५ तथा मनुस्मृति ८.४१.

कुलथ[1], तिल[2], नीली[3], मंजिष्ठ[4], तूल[5], उमा, ऊर्णा[6] आदि का उल्लेख करते हैं। ये समस्त उपज तीन फसलों में उपलब्ध होती थीं[7]--

(१) आश्वयुजक--जो अश्वयुज (आश्विन) में बोई जाती थी।

(२) ग्रैष्म अथवा ग्रैष्मक—जो ग्रीष्म ऋतु में बोई जाती थी और,

(३) वासन्त अथवा वासन्तक--जो वसन्त में बोई जाती थी।

अष्टाध्यायी में खेतों की सिंचाई के लिये नहरों का उल्लेख नहीं मिलता। परन्तु 'युग-वरत्रा'[8] और 'उदंचन'[9] के उल्लेखों से प्रकट होता है कि कृषक सिंचाई के लिये कूपों का प्रयोग करते थे। कदाचित् वर्षा और सरिताओं से प्राप्त जल साधारणतया कृषि-कार्य के लिये पर्याप्त होता होगा।

अष्टाध्यायी की भांति निकटकालीन बौद्धजातकों एवं यूनानी लेखों में भी कृषि सम्बन्धी अनेकानेक ज्ञातव्य बातें प्राप्त होती हैं। मगधराज्य के उत्कर्ष-काल तक भारतीय अर्थ-व्यवस्था में ग्रामों के साथ ही नगरों का महत्व भी बढ़ने लगा, क्योंकि नगर विभिन्न व्यवसायों के केन्द्र थे, फिर भी कृषि-कर्म का सर्वोत्कृष्ट स्थान पूर्ववत् बना रहा। आर्थिक संगठन की दृष्टि से ग्रामों की भी कई श्रेणियां थीं, जिनमें ग्राम और ग्रामक छोटे गांवों के अर्थ में प्रयुक्त होते थे, जब कि निगमग्राम से अपेक्षाकृत अधिक जनसंख्या वाले गांवों का बोध होता था[10]। द्वार ग्राम और पच्चन्त ग्राम क्रमशः नगर के द्वार के समीपस्थ ग्राम तथा सीमावर्ती गांव के लिये प्रयुक्त होते थे। ग्रामों की श्रेणी में कुछ ऐसे गांव होते थे, जिनमें एक ही जाति अथवा वर्ण के लोग निवास करते थे। जातक-साहित्य में ब्राह्मणों[11]

---

१. पाणिनि ४.४.४.
२. पाणिनि ५.२.४; ५.२.७.
३. पाणिनि ४.१.४२.
४. पाणिनि ८.३.९७.
५. पाणिनि ३.१.२५.
६. पाणिनि ४.३.१५८.
७. पाणिनि ४.३.४५—आश्वयुज्या वुञ्
८. पाणिनि ४.३.४६—ग्रीष्मवसन्तादन्यतरस्याम्
९. पाणिनि ४.२.४५—गणपाठ.
९. पाणिनि ३.३.१२३.
१०. कैम्ब्रिज हिस्ट्री आव इण्डिया, पृष्ठ २००
११. मज्झिमनिकाय, जिल्द १, पृष्ठ २८५.

के ग्रामों का वर्णन मिलता है। इसी भांति काष्ठकारों[1], लौहकारों[2], कुम्भकारों तथा अन्य जातियों के ग्रामों का उल्लेख भी मिलता है। साधारणतः ग्रामों की जनसंख्या में कृषि-कार्य से ही सम्बन्धित लोग आते हैं। ग्रामों में कृषि-भूमि भी सम्मिलित रहती थी, जिसे क्षेत्र अथवा खेत कहते थे। इस भूमि पर लोगों का व्यक्तिगत अधिकार होता था और ऐसे व्यक्ति 'खेत्तपति' अथवा 'वत्थुपति' कहलाते थे। वे प्रायः स्वतन्त्र व्यक्ति होते थे और उनकी सहायता के लिये सम्भवतः दास होते थे[3]। यद्यपि उच्च वर्णों के व्यक्ति कृषि-कर्म में प्रवृत्त नहीं होते थे, किन्तु इस समय तक व्यावसायिक बन्धन इतने कठोर नहीं रह गये थे। धर्म-सूत्रों में ब्राह्मणों तक को निर्धन होने की स्थिति में कृषि तथा पशु-पालन के कार्य करने की आज्ञा दे दी गयी[4], जो कि इसके पूर्व केवल वैश्य तथा शूद्र वर्णों का ही कर्म समझा जाता था। शास्त्रकारों ने आध्यात्मिक विकास में बाधक होने के कारण ही उच्च वर्णों को इस कर्म से अलग रहने का विधान किया था[5]। जातकों में ऐसे वर्णन अनेक हैं जहाँ ब्राह्मण कृषि-कर्म स्वयं अपने हाथों से करते दिखाई देते हैं[6]। ऐसे कस्सक ब्राह्मणों का उल्लेख मिलता है[7], जिनके पास लगभग १००० 'करीस'[8] भूमि तक होती थी और वे अपने दासों की सहायता से उसका प्रबन्ध किया करते थे। इस भांति जातकों में समृद्ध और निर्धन ब्राह्मणों का समान वर्णन प्राप्त होता है।

खेती की भूमि प्रायः कृषकों के बीच बँटी रहती थी और खेतों की सीमा प्रकट करने के हेतु पत्थर लगे रहते थे[9]। कृषि-भूमि की सीमा से ही वन-भूमि लगी रहती थी, जो इस बात का द्योतन करती है कि वनों को काट-काट कर कृषि-भूमि का उपयोग होता था[10]। कृषि की सफलता बहुत अंशों में समयानुसार वर्षा पर निर्भर थी। अनावृष्टि

---

१. जातक संख्या १५६.
२. जातक संख्या २८१.
३. जातक संख्या १ पृ० २७७ तथा ३ पृ० १६२.
४. कृषिवाणिज्ये वा स्वयंकृते। कुसीद च। गा० १०.५-६.
५. वेदः कृषिविनाशाय कृषिर्वेदविनाशिनी।
शक्तिमनुभूयं कुर्यादशक्तस्तु कृषिं त्यजेत्॥ बौधा० ध० सू० १.५.१०१।
६. सोमदत्त जातक २११ तथा उरग जातक ३५४.
७. जातक ३.२६३ तथा सालिकेदार जातक ४.२७६.
८. एक नाप लगभग चार अम्मण। चाइल्डर्स—पाली डिक्सनरी।
९. जातक ४ पृ० २८१.
१०. जातक २, ३५८ तथा जा० ६६– सव्वं वनं छिन्दित्वा खेत्ताणि कारित्वा कसिकम्मं करन्तु।

अथवा अतिवृष्टि के कारण दुर्भिक्ष की आशंका सदैव बनी रहती थी। पाणिनि ने दुर्भिक्ष का उल्लेख किया है तथा बौद्ध-साहित्य में तद्विषयक उद्धरणों की प्रायः भरमार है [1]। यद्यपि इसके हेतु सिंचाई के साधनों की व्यवस्था भी की जाती थी; किन्तु इतने पर भी दुर्भिक्षों की भयंकरता नष्ट नहीं की जा सकती थी। जातकों में तो यहां तक प्रमाण मिलते हैं कि अन्न का अभाव होने पर जीवन-यापन में असमर्थ व्यक्ति डाका डालने लगते थे [2]।

कृषि-कर्म के सम्बन्ध में बौद्ध साहित्य में जो वर्णन मिलते हैं, उनसे कृषक के सुखी जीवन पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है [3]। कृषि, हल और दो बैलों की सहायता से ही होती थी [4]। ठीक समय पर बीज बो दिया जाता था[5] और फ़सल पकने पर खलिहान[6] में, जिसे 'खलमण्डल' कहते थे, उसे काटकर अन्न और भूसा अलग कर लिया जाता था तत्पश्चात् अन्न-संग्रहालयों को अनाज भेज दिया जाता था[7]। कृषि में प्रायः शालि, गोधूम, माष, यव आदि अनाजों का उल्लेख तो वैदिक साहित्य में ही प्राप्त होता है। पाणिनि के सूत्रों में इन अनाजों का उल्लेख आता है। धान्य की कृषि अधिकता से होती थी और इसके लिये कई नामो यथा, शालि, व्रीहि, तण्डुल का प्रयोग[8] स्थान-स्थान पर मिलता है। अन्य अनाजों में जौ, बाजरा[9], चना,[10] मटर, मूंग-उर्द[11] की उपज विशेष उल्लेखनीय है।

---

१. जातक १ पृ० ३२६, ४५०; २ पृ० १३५, १४६, ३०७; ५ पृ० १८३, ४०१; ६ पृ० ४८७। म० १,२१०; विनय १.२११–१५.

२. वेस्सन्तर जातक ६, पृ० ४८७.

३. सुत्तनिपात तथा धनिय सुत्त।

४. नंगलिस, जातक १ पृ० ५०२, २ पृ० ५६, १६५, ३००; ५ पृ० ६८.

५. जातक २ पृ० १३५, ५ पृ० ४०१, गा० २४५ वपन्ति बीजानि।

६. जातक २ पृ० ३४१, ६ पृ० २६७, गा० १३०१.

७. जातक १ पृ० ४६७, २ पृ० १३५, ४ पृ० २४०; ६ पृ० २६७ गा० १३०१.

८. जातक १ पृ० ४२६, ४८४; २ पृ० १३५, ३७८; ३ पृ० ३८३; ४ पृ० २७६. ५ पृ० ४०५ गा० २६२, ६ पृ० ५३० गा० २०३०.

९. कंगु जा० २ पृ० ११०; ३ पृ० २१६; ६ पृ० ५८०.

१०. कलाये.

११. मुग्गमास—जातक २ पृ० ७४, १ पृ० ४२६, ४८४, ५ पृ० ३७, ६ पृ० ३५५, ५८०.

ईख[1] की खेती का प्रचार बहुत था। नारियल[2] की खेती भी अधिकता से होती थी। इनके साथ ही मसाले भी उत्पन्न किये जाते थे, जिनमें मिर्च (मरिच), गीली और सूखी अदरख-(अद्दसिंगिवेर) राई (सिद्धट्ठक) लहसुन और जीरा मुख्य थे[3]। तिलों में एरण्ड, और सूती वस्त्रों की आवश्यकता के लिये कपास का प्रयोग होता था। ऐसा प्रतीत होता है कि कपास का उत्पादन इसी समय प्रारम्भ हुआ होगा, क्योंकि इसका सर्वप्रथम उल्लेख आश्वलायन श्रौत सूत्र और तत्कालीन बौद्ध साहित्य में मिलता है।

शाक-तरकारियों का उत्पादन भी होता था[4]। पशुओं के लिये चारे का संग्रह किया जाता था, यह कार्य तिणहारका' करते थे। जातकों में उपवना का बड़ा मनोरम वर्णन मिलता है, जो फल और पुष्पों से सदा परिपूर्ण रहते थे। इनमें किशक, पाटलि, कण्णिकार, जयसुमन, कंदूव, सिरिस, वकुल, साल, केतक आदि पुष्पों[5] तथा फलों में आम, सेव, जम्बूफल, अंजीर, अंगूर, केला और खजूर के नामों का वर्णन बहुधा मिलता है[6]।

पशुओं के लिये चरागाहों की व्यवस्था थी, जिनमें पशु दिन भर चरते रहते थे। उनकी देख-रेख के लिये गोपालक, गोप और अजपाल रहते थे, जो संध्या समय पशुओं को घर ले आते थे[7]। कृषि की भूमि के पश्चात् वन्य भूमि भी प्रत्येक ग्राम की सीमा के अन्तर्गत आती थी। वनों की लकड़ी का प्रयोग ग्रामवासी अपनी आवश्यकता के लिये अवश्य करते होंगे।

कृषक खेती की भूमि के लिये राजा को भूमि-कर देते थे। राजा की ओर से प्रत्येक ग्राम में 'ग्राम भोजक' नियुक्त रहते थे, जो भूमि-कर लेते थे[8]। राज-भाग उपज के एक अंश के रूप में लिया जाता था, जिसके सम्बन्ध में कोई निश्चित सिद्धान्त न था। गौतम

---

1. उच्छु-जा० २ पृ० २४०; ४ पृ० १६०—१; ६ पृ० ५३६ गा० २११३.
2. जा० १ पृ० ४२३; २ पृ० ४४०; ५ पृ० ३५४, ४१७, ६ पृ० ५२६ गा० २०२३.
3. जा० १ पृ० २४४; २ पृ० ३६३; ३ पृ० २२५; ५ पृ० १२; ६ पृ० ५३६-गा० २०८३; ५३६-गा० २११३
4. साकं एव अलाबु कुमाण्डी एलालुकादिनि तिपुसा। जा० १ पृ० ३१२,४ पृ० ४४५, ५ पृ० ३७
5. जा० ६ पृ० ५३०—३६ गा० २०२४, २०१५.
6. जा० ६ पृ० ५२६ गा० २०१७, ५३४ गा० २०६०.
7. जा० १ पृ० १६४, २ पृ० १४६, ४०१; ४ पृ० ३६४—गा० २५६; ५ पृ० ४१७.
8. राजबलिम् लभित्वा—जा० १.३५४.

ने उपज का $\frac{1}{10}$, $\frac{1}{8}$ अथवा $\frac{1}{6}$ अंश राज-भाग के रूप में लेने की आज्ञा दी है। वसिष्ठ[1] वौधायन[2], नारद[3]; और विष्णु[4] ने राजा को उपज का षष्ठमांश ग्रहण करने का अधिकारी माना है और इसी से राजा को 'षड्भागिन्' कहा गया है। मनु[5] ने शान्ति के समय $\frac{1}{8}$ भाग और आवश्यकता के समय चतुर्थांश तक लेने की अनुमति दी है[6]। इस भाँति मनु के अनुसार अन्न का $\frac{1}{8}$, $\frac{1}{6}$ अथवा $\frac{1}{12}$ भाग राज-भाग के अन्तर्गत आता है[7]। जातकों में $\frac{1}{12}$ भाग से लेकर षष्ठमांश तक राज-भाग के रूप में लिये जाने के प्रमाण मिलते हैं। कुरु-धम्मजातक में एक अन्य अधिकारी का उल्लेख मिलता है, जिसे 'दोणमापक' कहते थे, वह अपनी विशेष तौल (द्रोण) के द्वारा राज-भाग ग्रहण करता था। राजा अपनी इच्छानुसार किसी व्यक्ति को राज-भाग से मुक्त भी कर सकता था[8]। कृषक् अपनी इच्छा से कृषि-भूमि का विक्रय कर सकते थे अथवा दान के रूप में दे सकते थे।

भारतीय कृषि-सम्बन्धी अनेक उल्लेख यूनानी लेखों में भी उपलब्ध होते हैं। इन विदेशी आगन्तुकों को भारतीय भूमि की उर्वरता का ज्ञान प्राप्त करने में देर न लगी। निआर्कस का कथन है कि भारतीय सरितायें पर्वतों से अपने साथ उपजाऊ मिट्टी बहाकर लाती हैं जिससे मैदान उर्वर वन गये हैं[9]। मेगास्थनीज ने भी भारतीय भूमि की उर्वरता का उल्लेख किया है जिसके परिणाम-स्वरूप यहां अन्न और फल दोनों की दो फसलें होती थीं[10]। इस उर्वर भूमि पर अनेक प्रकार के अन्न तथा वृक्ष उत्पन्न होते थे। हेरोडोटस का कथन है कि भारत-भूमि में अनायास ही बाजरे के आकार का एक अन्न उत्पन्न होता था[11]। ओनेसिक्रिटस ने 'विस्मौरन' नामक एक अन्न का वर्णन किया है, जो गेहूँ से कुछ छोटा होता था और धान की भांति माड़ा जाता था[12]। अतः यह जो प्रतीत होता है।

---

१. १.४२.
२. जा० १.१८.१
३. जा० १८.४८
४. जा० ३.२२.
५. जा० ७.१३०.
६. जा० १०.११८
७. जा० ७.१३०.
८. जातक ४.१६६
९. स्ट्रैवो १५.१.१६.
१०. फ्रैगमेण्ट ११, स्ट्रैवो १५.१.२०.
११. हेरोडोटस ३–१००.
१२. स्ट्रैवो १५.१.१८.

एरिस्टोव्यूलस ने धान की खेती का वर्णन किया है। इसके अनुसार धान का पौदा ऊँचाई में ४ क्यूबिट होता था। इसमें अनेक बालियां होती थीं जिससे बहुत-सा धान निकलता था। यह पौदा पानी से भरी हुई क्यारियों में खड़ा किया जाता था[१]। केशिअस ने अन्नों का तो उल्लेख नहीं किया है तथापि उसके लेखों में बाँस, 'कर्पिअन' (कपूर) और खजूर के वृक्षों का वर्णन मिलता है[२]। निआर्कस एक वृक्ष का वर्णन करता है जो मधुमक्खियों के बिना ही मधु उत्पन्न करता था। स्पष्टतया यह गन्ने का वर्णन है[३]। ओनेसिक्रिटस ने एक अन्य वृक्ष का वर्णन किया है। इसकी शाखायें नीचे की ओर विकसित होती थीं। इनके कारण उस वृक्ष का आकार एक विशाल शिविर के समान हो जाता था जिसके नीचे ५० अश्वारोही रह सकते थे[४]। निश्चित रूप से यह बरगद के वृक्ष का वर्णन है। इनके अतिरिक्त सिकन्दर के सहगामियों ने अनेक प्रकार के औषधि सम्बन्धी जड़ी बूटियों, पौदों और वृक्षों का वर्णन भी किया है।[५]

अनुगामी यूनानी दूत मेगास्थनीज़ को जहां एक ओर अनुभव प्राप्त करने के हेतु अधिक अवसर प्राप्त था, वहां दूसरी ओर सुविधायें भी। अतः उसके वर्णन में पूर्वगामी यूनानियों की अपेक्षा विस्तारात्मकता और वास्तविकता अधिक है। मेगास्थनीज़ ने जिस दूसरी 'जाति' का वर्णन किया है वह वास्तव में कृषक-वर्ग था। वे अन्य 'जातियों' की अपेक्षा संख्या में कहीं अधिक थे। वे युद्ध कर्मों एवं सार्वजनिक सेवा-कार्यों से मुक्त थे। वे अपने सम्पूर्ण समय को कृषि-कर्म पर ही व्यय करते थे। ये कृषक समाज-सेवी समझे जाते थे। अतः समस्त प्रकार के अहितों से उनकी रक्षा की जाती थी। युद्ध-काल में प्रस्थानकारिणी शत्रु-सेनायें भी खेतों में व्यस्त कृषकों को किसी प्रकार की क्षति न पहुँचाती थीं[६]। इस विदेशी दूत ने भी भारतवर्ष में होने वाली दो फ़सलों का उल्लेख किया है[७]। यद्यपि मेगास्थनीज़ ने इन फ़सलों में उत्पन्न होने वाले भिन्न-भिन्न अन्नों का वर्णन नहीं किया है तथापि उसके द्वारा उल्लिखित भारतीय भोजन की सूची से स्पष्ट हो जाता है कि

---

१. स्ट्रैबो १५.१.१८.

२. फ्रैग्मेण्ट ६, २८ और १३.

३. स्ट्रैबो १५.१.२०.

४. स्ट्रैबो १५.१.२१.

५. स्ट्रैबो १५.१.२१

६. फ्रैग्मेण्ट ३३; डिओडारस २,४०; स्ट्रैबो ६, १, ४०; एरियन की इण्डिका ११.

७. स्ट्रैबो १५; १२०.

पूर्वी प्रदेश में धान का उत्पादन अधिक होता था[1]। इसके अतिरिक्त मेगास्थनीज़ ने कन्द-मूल और फलों के उत्पादन का भी वर्णन किया है। दोनों फ़सलों में उत्पन्न होने वाले अन्नों का उल्लेख स्ट्रैबो ने किया है। इसके अनुसार वर्षाऋतु में धान, 'विस्मोरन', Flex Millet और Sesamum की तथा शीतऋतु में गेहूं, जौ तथा विविध दालों की खेती होती थी[2]। इस लेखक का कथन है कि उत्तरी प्रदेश अधिक उर्वर एवं बहुसंख्यक है। परन्तु दक्षिणी प्रदेश में उष्णता की अत्यधिकता तथा वर्षा का अभाव है। परिणामस्वरूप यह प्रदेश वन्य पशुओं के निवास के उपयुक्त है[3]। स्ट्रैबो ने कदाचित् अपनी अधिकांश सूचना मेगास्थनीज़ की इण्डिका से ही ली होगी।

सैद्धान्तिक विवेचन की दृष्टि से कौटिल्य के पूर्व अर्थ-व्यवस्था का विश्लेषण करने वाले अर्थ-शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों की प्राप्ति नहीं होती। परन्तु कौटिल्य ने विद्याओं का वर्गीकरण करते समय स्पष्टतया अर्थ से सम्बन्धित वार्ता का भी उल्लेख किया है[4]। वार्ता के अन्तर्गत कृषि, वाणिज्य और पशुपालन का वर्णन होता है। वार्ता शब्द स्वयं 'वृत्ति' शब्द से बना है, जिसका अर्थ व्यवसाय है और इसी हेतु इस शास्त्र में व्यवसायों की विवेचना की गई है[5]। कौटिल्य ने कृषि, पशुपालन और वाणिज्य को ही वार्ता शास्त्र का विषय स्वीकार किया है[6]। कौटिल्य ने स्पष्ट शब्दों में वार्ता का महत्त्व स्वीकार किया है, क्योंकि इसके द्वारा हा अन्न, पशु, स्वर्ण, अन्य पदार्थ और निःशुल्क श्रम की प्राप्ति होती है। वार्ता के साधन से प्राप्त कोश और सेना की सहायता से ही राजा अपनी प्रजा और वैरियों को वश में करने में समर्थ होता है। महाभारत में भी वार्ता को इस लोक का मूल कहा गया है, क्योंकि इसके द्वारा ही जगत् का निर्वाह होता है[7]। कहने का तात्पर्य यह है कि कौटिल्य के परवर्ती अन्य सभी शास्त्रकारों ने वार्त्ता अथवा अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों का मनन व्यावहारिक अध्ययन की दृष्टि से अनिवार्य माना है[8]। क्रमशः वार्ता के अन्तर्गत आने वाले

1. फ्रैगमेण्ट ३२.
2. स्ट्रैबो १५, १, १३.
3. स्ट्रैबो १५, १, २६.
4. आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्चेतिविद्याः—अर्थशास्त्र १, २.
5. ततः प्रादुर्बभौ तासां सिद्धिस्त्रेतां युगे पुनः।
   वार्तार्थसाधिकाप्यन्या वृत्तिस्तासां हि कामतः॥ वायुपुराण ८, १२४.
6. कृषि पाशुपाल्या वाणिज्या च वार्ता। धान्यपशुहिरण्यकुप्यविष्टिप्रदानादौपकारिकी। तया स्वपक्षं परपक्षं वा वशीकरोतिकोशदण्डाभ्याम्॥ कौटिल्य १, ४, पृष्ठ ८.
7. वार्तामूलाऽयं लोकस्य तया वै धार्यते सदा।
   तत्सर्वम् वर्तते सम्यग्यथा रक्षति भूमिपः॥ वनपर्व ६७, ३५.
8. त्रैविधेभ्यस्त्रयीं विद्यां दण्डनीतिं च शाश्वतीम्।
   आन्वीक्षिकीं चात्मविद्यां वातरिम्भांश्च लोकतः॥ मनुस्मृति ७, ४, २.

वाले विषयों में भी वृद्धि होती गई और ऋण[1] तथा गोरक्षा आदि विषय भी अर्थशास्त्र के भीतर सम्मिलित कर लिये गये।

कौटिल्य ने राजा के लिये वार्ता का अध्ययन अनिवार्य समझकर तत्सम्बन्धी विषयों की उपयोगिता स्पष्टतया स्वीकार की है[2]। व्यवसाय की दृष्टि से तो कृषि-कर्म वैश्यों के लिये उपयुक्त समझा जाता था, किन्तु ब्राह्मण तथा क्षत्रिय वर्णों के हेतु इसका पूर्णतया निषेध नहीं था। भूमि से प्राप्त होने वाली आय राज-कोश का मुख्य आधार थी[3]। राज्य की ओर से कृषि की रक्षा के सभी सम्भावित प्रयत्न किये जाते थे। कौटिल्य ने वानप्रस्थी को छोड़कर अन्य भ्रमणार्थियों तक को ग्राम की सीमा के भीतर प्रवेश करना, निषिद्ध ठहराया है। सामूहिक स्थानों में नाच, गाने-बाजे का प्रदर्शन भी उसने इसलिये न करने का आदेश दिया है कि जिससे ग्रामीणों के कार्य में बाधा न उत्पन्न हो[4]। ग्रामीणों पर अत्याचार की सम्भावना कम करने के उद्देश्य से उसने राजकर्मचारियों को गांवों की सीमा के बाहर ही रहने का आदेश दिया है। कौटिल्य के इस कथन की पुष्टि मेगास्थनीज के वर्णन से होती है, जिसके कथनानुसार युद्ध के समय शत्रु-सेनायें भी कृषि को हानि नहीं पहुँचाती थीं। कालान्तर में अन्य स्मृतिकारों ने भी कौटिल्य के इस नियम को सदैव दुहराया है[5]।

अर्थ-शास्त्र में भूमि-व्यवस्था पर राज्य का पूर्ण अधिकार माना गया है। कौटिल्य के समय में कृषि के लिये भूमि की वृद्धि करने के सभी साधनों का प्रयोग होता था। यहाँ तक कि परती की भूमि[6] तथा वनों[7] को भी कृषि-योग्य बनाने का प्रयत्न किया जाता था।

---

१. कुसीदकृषि वाणिज्यं गोरक्षावार्तयोच्यते। शुक्रनीति १, ३११.

२. वृत्तोपनयनस्त्रयीम् आन्वीक्षिकीं च शिष्टेभ्यः, वार्ताम् अध्यक्षेभ्यः, दण्डनीतिं वाक्यप्रयोक्तृभ्यः—कौटिल्यः १, ११.

३. नटनर्तनगायनवादनवाग्जीवनकुशीलवाः व न [कर्मविघ्नं कुर्युः। निराश्रयत्वात् ग्रामाणाम्, क्षेत्राभिरतत्वाच्च पुरुषाणाम्; कोश-विशिष्ट द्रव्यधान्यरसवृद्धिः भवतीति। कौटिल्य २, १, पृ० ४८.

४. मेगास्थनीज़—फ्रैगमेण्ट ३३ स्ट्रैबो १५, १. ४०.

५. नृपकार्यम् विना कश्चिन्न ग्रामं सैनिको विशेत्।
तथा न पीडयेत् कुत्र कदापि ग्रामवासिनः॥
सैनिके न व्यवहरेत् नित्यं ग्राम्यजनोऽपि च।
युद्धक्रियां विना सैन्यं योजयेन्नान्यकर्मणि॥—शुक्रनीतिसार ५,१८०-१८२

६. करदेभ्यः कृतक्षेत्राणि एक पुरुषिकाणि प्रयच्छेत्। अकृतानि कर्तृभ्यो नादेयात्।—कौटिल्य २, १, पृ० ४७.

७. स्थाणुच्छेदस्य केदारमाहुः शल्यवतो मृगम्।

अर्थ-शास्त्र में समाहर्त्ता [1] के कर्त्तव्यों की एक पूरी विवरण-तालिका दी गई है, जिसके अनुसार वह समस्त जनपद को चार भागों में विभक्त कर तथा उनमें भी ज्येष्ठ, मध्यम और कनिष्ठ की कल्पना कर सभी भागों की भूमि का विवरण, मानचित्र तथा परिचय-पंजिका प्रस्तुत करता था। सैनिकों को दिये गये गांवों, अनाज, पशु, वेतन तथा अन्य समस्त आय का विवरण उसके पास रहता था। जैसा कि स्पष्ट किया जा चुका है कि कौटिल्य ने राज-भाग के विषय में भूमि, अन्न तथा सिंचाई के साधनों को ध्यान में रखकर ही भूमि-कर निश्चित करने की व्यवस्था की है। कृषि-कार्य से सम्बन्धित सबसे उच्च राजकर्मचारी 'सीताध्यक्ष' [2] के अध्याय के अन्तर्गत अर्थशास्त्र में वर्षा, बीज तथा कृषक के परिश्रम के अनुसार अधिक से अधिक उपज का $\frac{1}{3}$ अथवा $\frac{1}{4}$ भाग तथा न्यूनातिन्यून पांचवें भाग को ही उचित समझा है। मेगास्थनीज् के कथन से भी अर्थशास्त्र की व्यवस्था की पुष्टि होती है। उसके कथनानुसार कृषक उपज का चतुर्थांश भूमि-कर के रूप में राजा को देते थे [3]। आवश्यकता पड़ने पर कृषकों को राज्य की ओर से सुविधायें प्राप्त करने का भी अधिकार था [4]। राज्य की ओर से विशेष व्यक्तियों अथवा संस्थाओं को भूमि दी जाती थी, जिस पर कोई शुल्क नहीं देना पड़ता था। राजा ब्राह्मणों को और आतिथ्य तथा आयुधीय वर्ग के भीतर आने वाले अधिकारियों को भूमि प्रदान करता था, जिस पर उसको कोई भाग प्राप्त न होता था। दुर्भिक्ष की सम्भावना नष्ट करने के उद्देश्य से कौटिल्य ने राज्य तथा कृषकों का ध्यान कृषि के विकास की ओर बार-बार आकर्षित किया है। इस हेतु भी उसने राज्य की ओर से करमुक्त करने की व्यवस्था दी है। यदि निरन्तर दुर्भिक्षों के बचाव पर कोई प्रबन्ध राज्य की ओर से न हो तो ऐसी स्थिति में प्रजा सामूहिक रूप से दूसरे राज्य में प्रस्थान कर सकती है [5]।

कौटिलीय कृषि-व्यवस्था का उल्लेख करने के पश्चात् हमारा ध्यान स्वभावतः परवर्त्ती

---

१. समाहर्ता दुर्गम् राष्ट्रं खनिं सेतुं वनं व्रजं वणिक्पथं चावेक्षेत्। २.६.

२. कौटिल्य—द्वितीय अधिकरण, अध्याय २४। वापतिरिक्तमर्धसीतिकाः कुर्युः। स्ववीर्योपजीविनो वा चतुर्थपंचभागिकाः। यथेष्टमनवसितं भागं दद्युरन्यत्र कृच्छ्रेभ्यः। —कौ० १३.२ पृ० ३६४.

३. मेगास्थनीज्- ३२ स्ट्रैबो १५.१.४०

४. धान्यपशुहिरण्यैश्चैनानुपग्रहणीदात्। तान्यनु सुखेन दद्युः—कौटिल्य पृष्ठ ४७.

५. दुर्भिक्षस्तेनाहव्युपघातेषु च पौरजानपदान् उत्साहयन्तो सत्रिणो ब्रूमः—"राजानमनुग्रहं याचामहे निरनुग्रहा परत्र गच्छामः" इति—कौटिल्य १३.२. पृ० ३६४.

युग पर जाता है, जिसके प्रमाण हमें महाकाव्यों [१] में मिलते हैं। महाकाव्यों में कृषि का महत्व उत्तरोत्तर वृद्धि करता हुआ दिखाई देता है। वार्ता-शास्त्र के महत्त्व के विषय में राम का यह कथन अधिक स्वाभाविक प्रतीत होता है, जब वे भरत से वार्ता-शास्त्र के अनुकूल व्यक्तियों का कृषि तथा गोरक्षा में संलग्न रह कर सुख-प्राप्ति के विषय में प्रश्न करते हैं [२]। इसी भांति महाभारत में भी आर्थिक-व्यवस्था के अध्ययन की उपयोगिता स्पष्टतया स्वीकार की गई है [३]।

वैदिक वर्ण-व्यवस्था के पोषक महाकाव्यों में भी कृषि-कर्म को महत्वपूर्ण स्थिति प्रदान की गई है। रामायण में राजा जनक यज्ञ-विधान के अन्तर्गत हल चलाते हुए दिखाई देते हैं [४] और वहीं पर उन्हें अपनी पुत्री सीता की प्राप्ति होती है। इसी भांति राजा दुर्योधन [५] भी वैष्णव-यज्ञ के समय कृषि कर्म में प्रवृत्त होते हैं। यद्यपि वर्णाश्रमधर्म के अनुसार कृषि को वैश्यों का कर्म माना गया है, किन्तु महाभारत में अपनी जीविका-प्राप्ति करने वाली कृषि-कर्मा द्विजातियों का भी संकेत मिलता है [६]। कृष्ण स्वयं अपने को कृषि कर्म करने वाला कहते हैं [७]। विदुर तो कृषि-कर्म का ज्ञान न रखने वाले व्यक्ति का समिति में प्रवेश तक निषिद्ध ठहराते हैं [८]।

महाकाव्यों में कौशल [९], मत्स्य [१०], वत्स [११] आदि देशों की उर्वर भूमि की भूरि-भूरि प्रशंसा की गई है। ऐसे अन्यान्य नगरों का वर्णन आता है जो अपनी सुन्दर कृषि, मधुर शाक

---

१. रामायण तथा महाभारत।

२. कच्चित्ते दयिताः सर्वे कृषिगोरक्षजीविनः।
वार्तायां संश्रितस्तात लोकोहि सुखमेधते।--रामायण--अयोध्याकाण्ड अ० १००, ४८.

३. वार्तामूलोऽयं लोकस्य तया वै धार्यते सदा।
तत्सर्वम् वर्तते सम्यग्यथा रक्षति भूमिपः॥ महाभारत वनपर्व ६७, ३५.

४. रामायण २, ११८१, २८, २६

५. महाभारत ३, २५५, २८, २५६, २

६. ,, २, ४६, २४.

७. कृषामि मेदिनीं पार्थ भूत्वा कार्ष्णायसो महान्।--महाभारत १२, ३४२, ७६।

८. न नः स समितिं गच्छेद् यश्च नोर्वपेत्कृषिम्। महा० ५, ३६, ३३.

९. रामायण २, ५०, ८-११ तथा २, १००, ४४-४५.

१०. बहुधान्य समाकुलम् – महा० ४, ३०, ८.

११. ततः समृद्धान् कुमशस्यमालिनः क्षणेन वत्सान् मुदितानुपागमत्। --रामायण २, ५२, १०१.

तथा मनोरम उपवनों के लिये प्रसिद्ध थे[१]। अयोध्या के कृषकों को शालि तथा अन्य धान्यों से परिपूर्ण चित्रित किया गया है[२]। राजा अपने राज्य को धान्य में समृद्ध होने का गर्व करते दिखाई देते हैं[३]। ग्रामों के वर्णन में स्वभावतः उनकी सीमा पर जुते हुए खेतों का विशद उल्लेख मिलता है[४]। महाकाव्यों में कृषि के इस भव्य चित्रण से तत्कालीन समाज की कृषि-कर्म के प्रति अपूर्व आस्था प्रकट होती है। इन काव्यों में कृषि का न केवल प्रकृति-चित्रण ही है, वरन् वास्तविक जीवन-वृत्ति के रूप में भी वर्णन प्राप्त होता है। भूमि के उर्वर और ऊसर भाग की उपयोगिता एवं अनुपयोगिता का स्पष्टीकरण करने के साथ ही महाकवियों ने बीजों के चयन को भी उपयोगी ठहराया है। षण्ढतिल[५], काकयव तथा पुलाका[६] आदि बीज बोने के योग्य नहीं कहे गये हैं।

रामायण तथा महाभारत दोनों में कौटिल्य की भांति चैत्र तथा आश्विन की उपज का वर्णन मिलता है। वर्षाऋतु तथा होली के पश्चात् राजा को शत्रुओं पर आक्रमण करने में एक लाभ यह भी होता था कि इन दिनों उन्हें पका हुआ अन्न भी सुलभ हो जाता था[७]। कृषि द्वारा प्राप्त होनेवाले अन्नों में यव, गोधूम, तथा शालि, व्रीहि, कलम और षष्टिक आदि कई प्रकार के चावलों[८] का उल्लेख मिलता है। माष, मुद्‌ग, चणक तथा कुलित्थ का उपयोग[९] दाल की भांति अवश्य होता होगा। तिल तथा सरसों (सर्षप) की उपज का वर्णन कई स्थानों में मिलता है[१०]। बौद्ध साहित्य तथा अर्थशास्त्र की भांति ही ईख[११] (इक्षु) के उत्पादन की अधिकता की पुष्टि रामायण से होती है। कपास[१२] के खेतों का वर्णन इस बात का द्योतन करता है कि इसके द्वारा उनके वस्त्रों की समस्या हल हो जाती थी। कृषि द्वारा प्राप्त ये धान्य ग्राम्य-उत्पादन के अन्तर्गत आते थे, जब कि आरण्य

---

१. महा०—५. ५४. १५–१७.
२. रामायण, अयोध्याकाण्ड ६८.
३. रामायण अयोध्याकाण्ड—२. १४.
४. ,, ,, ४२.
५. महाभारत—२.७७.८.
६. ,, १२.१८१.७.
७. चैत्रं वा मार्गशीर्षं वा सेनायोगः प्रशस्यते।
पक्वशस्या हि पृथ्वी भवत्यम्बुवती तदा॥ महा०—१२.१००.११–११.
८. रामायण १.५.१७.
९. महाभारत १३.३.७१.
१०. ,, ७.२३.५१.
११. रामायण – २.६१.५६.
१२. महाभारत – ७.२१.२४.

अथवा वानेय में वे धान्य थे, जिन्हें हम स्वयंरुह कह सकते हैं। इनमें श्यामक और नीवार [१] के नाम आते हैं, जिनका उपयोग तपस्वी तथा साधु पुरुष अपने वनवास के समय करते होंगे।

कृषि हल-बैल के द्वारा ही की जाती थी। हल काष्ठ का होता था जिसके साथ फाल तथा लोहे का वह भाग लगा रहता था [२], जो भूमि के भीतर जाता है। हल और जुये को जोड़ने वाले काष्ठ-भाग को 'ईषा' कहते थे। हल महाभारत में सम्मान सूचक वस्तु के रूप में आता है। बलराम अपने आयुध के रूप में हल का प्रयोग करते थे और इसी से वे हलायुध कहे जाते थे [३]। वनों में ऋषि-मुनि लोग अपने निर्वाह के लिये कुदाल से कन्द-मूल खोदते थे [४]। युद्ध के समय में भी शिविर के अस्त्र-शस्त्रों में वृक्ष तथा फल-फूल, तृण आदि काटने के लिये हंसिये का वर्णन मिलता है, जिसे 'दात्र' कहते थे [५]। दात्र, कुदाल तथा कुठार सब का संग्रह शिविर में आवश्यक समझा जाता था [६]। अन्न की फ़सल काटने पर खलिहान [७] में धान्य तथा भूसे को अलग करते समय सर्वप्रथम बैलों द्वारा उसका मर्दन करने में सहायता ली जाती थी [८]। अन्न स्वच्छ करने के लिये 'शूर्प' [९] का प्रयोग होता था।

कृषि-कर्म केवल बैलों की सहायता से ही सम्पन्न होता था [१०], जिसके कारण उनकी उपयोगिता स्वयं स्पष्ट है। हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि वार्ता के अन्तर्गत कृषि के समान ही गोरक्षा का महत्व स्वीकार किया गया है [११]। बैलों तथा गायों की देख-भाल करने के लिये राजा की ओर से गोपाध्यक्ष की नियुक्ति होती थी, जो कौटिल्य के 'गोऽध्यक्ष' [१२] की भांति ही थे। महाभारत में सहदेव पशुओं से सम्बन्धित वार्ता के विशेषज्ञ प्रतीत होते

---

१. महाभारत ३. ८३. ६८.
२. काष्ठमयोमुखम् — महाभारत १२. २६२. ४६.
३. महाभारत — ६. ३७. ३८.
रामायण — २. ३२. २६.
४. दात्रैश्चिन्दन् क्वचित् क्वचित् — रामा० २. ८०. ७.
६. महाभारत—५. १५५. ७-६.
७. खलात् क्षेत्रात्तथा रामात्— महाभारत १२. १६५. १२.
८. सम्मर्दं च तत सैन्यं पिता देवव्रतस्तव।
धान्यानामिव लूनानां प्रकरं गोगणा यथा॥ महा० ६. १०३. ३.
९. महाभारत — ५. १५५. ७.
१०. तथैवानुडुहो युक्तान्। महाभारत १२. २६२. ४६.
११. कृषिवाणिज्यगोरक्षम् शिल्पानि विविधानि च—महा० १२. १६. २.
१२. कौटिल्य २. २६.४६

हैं [१] । बछड़ों को नियन्त्रित करने के लिये बधिया करने तथा नथने के साधनों का प्रयोग होता था [२] । इसी भांति राजा नल [३] बाहुक के रूप में 'हय-तत्वज्ञ' कहे गये हैं। सारथि सदैव घोड़ों का विशेषज्ञ ही समझा जाता था [४] ।

कृषक अपनी भूमि के लिये राजा को कर देते थे, क्योंकि समस्त भूमि पर राजा का अधिकार समझा जाता था। ऐसा प्रतीत होता है कि अर्थशास्त्र और मनुस्मृति की व्यवस्था का ही महाकाव्यों में भी अनुसरण किया गया है। आवश्यकता पड़ने पर महाभारत में राजा को ब्राह्मणों के अतिरिक्त अन्य सब जातियों की सम्पत्ति बलात् ग्रहण करने का अधिकार प्रदान किया गया है [५] । वैसे महाभारत में उपज की $\frac{१}{१०}$ भाग से लेकर $\frac{१}{६}$ भाग तक राज-भाग स्वीकार किया गया है। जातकों में $\frac{१}{१२}$ भाग से लेकर भाग तक का वर्णन मिलता है [६] । मनु ने भी राज-भाग की यही व्यवस्था की है [७] । सामान्यतः राज-भाग भूमि और श्रम को ध्यान में रखकर निश्चित किया जाता था।

---

१. क्षिप्रं गावो बहुला भवन्ति, न तासु रोगो भवतीह कश्चन् ।
तैस्तैरुपायैर्विदितम् ममैतदेतानि शिल्पानि मयि स्थितानि ॥
ऋषिभांश्चाऽपि जानामि राजन् पूजित लक्षणाम् ।
येषां मूत्रमुपाघ्राय अपि वन्ध्या प्रसूयते ॥ महा० ४.१०.१३-१४,

२. सुसम्बद्धौतु तौ दम्यौ दमनायामिनिहारतौ ।
उद्यमयो दम्य मे दम्यौ विषमेणैव गच्छतः ॥ महा० १२. १७७.५-६,
पशूनां वृषणं छित्वा ततोभिन्दंति मस्तकम् ।
वहन्ति वहवो भारान् वध्यन्ति दम्यन्ति च ॥ -महा० १२.१५.५१.

३. महाभारत—३.७१.१८.

४. कुलीना हययोनिज्ञाः साथ्यें विनिवेशिताः । महा० ५.१५५.२ ।

५. महाभारत—१२.८८.२७-३४ तथा १२.१३०.३६.

६. जातक—२, २३६, २७६ तथा ३७८, ४, १६६.

७. मनु०—८, ३४-३५, ३६.
प्रनष्टाऽधिगतं द्रव्यं तिष्ठेद् युक्तैरधिष्ठितम् ।
यांस्तत्र चौरान् गृह्णीयात्तान् रामेन् घातयेत् ॥
ममायमिति यो ब्रूयान्निधिं सत्येन मानवः ।
तस्माददीत षड्भागं राजा द्वादशमेव वा ॥
निधिनां हि पुराणानां धातूनामेव च क्षितौ ।
अर्धभाग्रक्षणात् राजा भूमेरधिपतिर्हि सा ॥

भूमिकर निश्चित करते समय सदैव देश तथा काल का विधि पूर्वक ध्यान रखने का स्पष्ट आदेश किया गया है [१]। ब्राह्मण, स्त्रियाँ तथा बच्चों से कोई कर नहीं लिया जाता था [२]। उपज अच्छी न होने की स्थिति में राज्य की ओर से विशेष सुविधा प्रदान करने की व्यवस्था की जाती थी [३]। दुर्भिक्ष की सम्भावना नष्ट करने के उद्देश्य से राज्य का कर्त्तव्य होता था कि वह सिंचाई के साधनों की व्यवस्था उत्तम रीति से करे [४]। सिंचाई के हेतु छोटी-छोटी नालियों (कुल्या) का वर्णन महाकाव्यों में यत्र-तत्र मिलता है [५]। महाकाव्यों में कृषि का विकास करने के उद्देश्य से विघ्नकारक तत्वों का भी उल्लेख किया गया है। [६] स्मृतिकारों ने भी कृषि के घातक तत्वों का वर्णन महाकाव्यों की उक्तियों के ही अनुरूप किया है [७]। दुर्भिक्ष आदि आपत्तियां राजकीय दुर्व्यवस्था तथा कुशासन के कारण होती थीं। समयानुकूल वर्षा राजा के सौभाग्य को सूचित करती थी [८]। राम के राज्य में प्रजा धन-धान्य से समृद्ध चित्रित की गई है [९]। महाभारत में दुर्योधन [१०] भी गर्व-पूर्वक यह कहता है कि उसके राज्य में कृषि की हानि पहुँचाने वाले कोई तत्व नहीं रह गये थे। बौद्ध-साहित्य, अर्थशास्त्र, व्यवस्थाकारों तथा महाकाव्यों में कृषि कर्म सम्बन्धी जो उल्लेख प्राप्त होते हैं, उनसे समस्त युग की कृषि-व्यवस्था पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। कृषि-दशा पूरे समय न्यूनाधिक समान ही रही है। प्रत्यक्ष तथा परोक्ष सभी प्रमाणों से यह बात स्वयमेव सिद्ध हो जाती है कि कृषि तथा पशु-धन प्राचीन भारत में आर्थिक

---

१. न चास्थाने न काकाले करास्तेभ्यो निपातयेत्।
अनुपूर्वेण सान्त्वेन यथाकाले यथाविधि॥ महा० १२.८८.१२.

२. महा० १२.८८.२६.

३. कश्चिन्न भक्तं बीजं च कर्षकस्यावसीदति।
प्रत्येकं च शतं वृध्या ददस्यऋणमनुग्रहम्॥ महाभारत २.५.७८.

४. महाभारत २.५.७७.

५. ,, १२.२६०.१४.

६. ,, ५.६१.१७.

७. अतिवृष्टिरनावृष्टिः मूषिकाः शलभाः शुकाः।
अत्यासन्नश्च राजानः षडेता ईतयः स्मृताः॥

८. महाभारत ४.२८.१६—सदा च तत्र पर्जन्यः सम्यग्वर्षी न संशयः।

९. रामा० ६.१२८.१००
निरामया विशोकाश्च रामे राज्यं प्रशासति।
नित्यमला नित्यफलास्तरवस्तत्र पुष्पिताः॥

१०. महाभारत ५.६१.१७ – निकामवर्षी पर्जन्यः ईतयश्च न सन्ति मे।

संगठन के मुख्य आधार थे। वैदिक-काल से लेकर स्मृतियों के समय तक कृषि का महत्व उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया और सभी व्यवस्थाकारों ने अपनी नियम-व्यवस्था में इस साधन को सुव्यवस्थित करने की सदैव चेष्टा की।

जैन साहित्य में भी कृषि-सम्बन्धी अनेकानेक कथन हैं। इनके अनुसार भी विविध उपज तीन कोटियों के अन्तर्गत रक्खी जा सकती है। १—क्षैत्रिक, जो खेतों में उत्पन्न होती थी। २—आरामिक, जो आरामों अथवा उद्यानों में उत्पन्न होती थी और ३—आटविक, जो वनों में उत्पन्न होती थी। पुनः क्षैत्रिक भूमि दो प्रकार की थी[१]। प्रथम प्रकार को सेतु कहते थे। इसमें कृषिकार्य कृत्रिम साधनों (अर्हट्ट आदि) की सहायता से होता था। दूसरे प्रकार की क्षेत्र-भूमि को केतु कहते थे। इस भूमि का कृषि-कर्म पूर्णरूप से वर्षा-जल पर अवलम्बित था। कृषकों का प्रधान औजार हल था जो कुलिय और नंगल के नाम से भी विज्ञात था[२]। कदाचित् अनेक मनुष्य दूसरों के खेतों में 'फोडिकम्म' (खेत जोतने का कर्म) के द्वारा ही अपना जीविकोपार्जन करते थे[३]। सम्पन्न भूमिपतियों के खेतों में अनेक हलों का प्रयोग होता था। उदाहरणार्थ, गहपति आनन्द का कृषिकर्म ५०० हलों की सहायता से होता था[४]। हल के अतिरिक्त कृषक खोदने के लिये 'कुद्दाल'[५] और अनाज काटने के लिये 'असिएहि'[६] का प्रयोग करते थे। अनाज साफ करने के लिये 'सुप्पकत्तर' का प्रयोग होता था[७]। साफ करने के पश्चात् अनाज संवाह पल्लग[८], कुम्भी[९], मुख[१०], आचारादि[११] विविध संग्रहालयों में एकत्रित किया जाता था। सिंचाई के लिये कृषक वर्षा, कूप, सरिता, आसार और आप्लावन के जल पर निर्भर रहते थे।

---

१. बृहत्ककल्प भाष्य १. ८२६.
२. आवश्यक चूर्णि ८१.
३. उवासगदसाओ १. ११; पतंजलि २' ३३–एकान्तु तूष्णीमासीन उच्यते पंचभिर्हलैः कृषतीति तत्र भवितव्यं, पचभिर्हलैः कर्षयतीति।
४. उवासगदसाओ १. ७.
५. उवासगदसाओ १.२३
६. नायाधम्मकहा ७.८६.
७. सूयगडंग ४.७.१२.
८. बृहत्कल्प भाष्य १.१०९२.
९. आवश्यक टीका ७५.
१०. बृहत्कल्प २.१०.
११. अनुयोगद्वार १३१.

फिर भी जलाभाव से यदा-कदा दुर्भिक्ष का प्रकोप हो ही जाता था। जैन साहित्य में चन्द्रगुप्त मौर्य के काल में दुर्भिक्ष प्रकोप का उल्लेख है। व्यवहार-भाष्य कौशल के एक दुर्भिक्ष का वर्णन करता है, जिसमें वहुसंख्यक भिक्षुओं ने अन्नाभाव से विवश होकर आत्महत्या कर ली थी।[1]

जैन-साहित्य[2] में अनेक प्रकार के अन्नों एवं अन्य सामग्रियों का नामोल्लेख है। इनमें गोधूम, यव, व्रीहि, शालि, माष, चणक, (चना), मुद्ग, इच्छु (गन्ना), कप्पास, खोम, उण्णिय, सण, लवंग, पिप्पल, सिगवेर, तम्बोल, आदि प्रमुख हैं। आरामिक उपज में अनेक प्रकार के फल--आम्र, अनार, अंगूर, सेव, अंजीर, खजूर आदि तथा फूल--मल्लिका, यूथिका, चम्पक, जाति, मोगर, वासन्ती, कुन्द आदि और विविध-लतायें समाविष्ट[3] हैं। आटविक उत्पत्ति में आम, दाडिम, जम्बु, अशोक, पलाश, वकुल, विल्व, वट, चन्दन, कपित्थ आदि वृक्ष तथा अनेकानेक जड़ी-बूटियां सम्मिलित हैं[4]।

इस विषय पर कि प्राचीन भारतवर्ष में भूमि पर राजा का अधिकार था अथवा व्यक्तिगत रूप से पृथक्-पृथक् मनुष्यों का, विद्वानों में वड़ा मतभेद रहा है। परन्तु अपने गवेषणा निवन्ध-काल में समस्त साक्ष्यों पर विचार करने के पश्चात् यही निष्कर्ष निकलता है कि इस प्रश्न का उत्तर दो रूपों में दिया जा सकता है – व्यावहारिक रूप और सैद्धान्तिक रूप।

भूमिस्वामित्व

प्रथम के अन्तर्गत भूमि देश के भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के हाथ में थी। वे स्वेच्छानुसार उन भूमि-खण्डों पर कृषि-कर्म करते थे, उन पर अपने भवनादि का निर्माण करते थे। अथवा उन्हें किराये पर अन्य व्यक्तियों को दे सकते थे[5]। परन्तु सैद्धान्तिक दृष्टि से ऐसा प्रतीत होता है कि राजतन्त्र के विकास के साथ-साथ भूमि पर राजस्वामित्व का भी विकास होता गया। विभिन्न व्यवस्थाकारों के इस मत से कि भूगर्भ से निकली हुई सम्पत्ति (निधि) के ऊपर सामान्यतः राजा का ही अधिकार होगा, खननकर्त्ता का नहीं, इस कथन की पुष्टि होती है[6]। पुनः कौटिल्य–अर्थशास्त्र पर टीका करते हुए भट्टस्वामी ने एक पद

---

1. वृहत्कल्प भाष्य १.१२३६.
2. व्यवहार भाष्य १०.५५७–६०.
3. वृहत्कल्प भाष्य १.८२८, दसवैयालिय चूर्णि २१२, भगवती २१.२, आचारांग २.१.८.२६८, व्यवहार भाष्य १०.४८४, उत्तराध्ययन १.६. ५२–३, उत्तराध्ययन टीका २.२३, ४.७८, ५.१०३, आदि।
4. आचारांग २.१.८.२६६, पण्णवणा १.२३.१२–७, १.२३. २३–५, नायाधम्मकहा १.१०. रायपसेणिय ३.१८.
5. आप० २. ११. २८, १. ६.८, विनय २. १५८. १५६
6. इस सम्बन्ध में समस्त उल्लेखों का वर्णन प्रथम अध्याय में हो चुका है।

उधृद्त किया है जिसका अर्थ है कि नृपति भूमि और जल दोनों का स्वामी है और लोग इन दोनों को छोड़ कर अन्य वस्तुओं पर स्वामित्व का प्रयोग कर सकते है।[1] इसमें राजा का भूमिस्वामित्व स्पष्ट है । परन्तु डाक्टर जायसवाल ने तंत्र स्वाम्यं के स्थान पर तत्र साम्यं पढ़ते हैं। उनका कथन है कि मद्रास म्यूजियम की एक प्रतिलिपि में यही पाठ है। डाक्टर जायसवाल सम्पूर्ण श्लोक का अर्थ इस प्रकार करते हैं :- शास्त्रज्ञों के अनुसार राजा भूमि एवं जल का रक्षक (पति) है। इन दो को छोड़ कर अन्य सम्पत्ति पर उसके (राजा के) परिवार-वालों का समान अधिकार है। परन्तु प्रथम दृष्टि में ही स्पष्ट हो जाता है कि यह अर्थ का वलादारोपण है। पति का अर्थ मेधातिथि ने प्रभु से किया है न कि रक्षक से। प्रायः समस्त व्यवस्थाकारों ने इसी अर्थ में पति शब्द का प्रयोग किया है। कुटुम्बिनाम् शब्द का अर्थ प्रजा से है। इसका सम्बन्ध राजासे स्थापित नहीं किया जा सकता है। इसलिये यदि हम स्वाम्यम् के स्थान पर साम्यम् भी पढ़ें तो भी यही अर्थ होगा कि शास्त्रज्ञों के अनुसार राजा भूमि और जल का स्वामी है। गृहस्थ लोगों का इन दो को छोड़ कर और सब पर समान अधिकार है। राजा के भूमिस्वामित्व की पुष्टि मनुस्मृति द्वारा भी होती है। उसका तत्सम्बन्धी एक उद्धरण विशेष महत्वपूर्ण है[2]। व्यलर ने मेधातिथि-टीका के वल पर भूमेरधिपतिः का अर्थ किया है भूमि का स्वामी। डाक्टर जायसवाल ने इसे तीन भागों में तोड़ कर (भूमेः + अधि + पतिः) यह अर्थ निकाला है कि वह अपरीय और निहित भूमि का रक्षक (पति) है। परन्तु यह अर्थ बड़ा ही अस्वाभाविक प्रतीत होता है। मेधातिथि ने भी भूमि के रक्षणत्व को उसके स्वामित्व से पृथक् नहीं किया है। पुनश्च गायकवाड़ ओरिएंटल सीरीज में प्रकाशित मानसोल्लास भी पृथ्वी पर राजाधिकार का ही उल्लेख करता है[3]।

---

१. राजा भूमेः पतिर्दृष्टः शास्त्रज्ञैरुदकस्य च।
ताभ्यामन्यत्र यद्द्रव्यं तत्र स्वाम्यं कुटुम्बिनाम्॥
—१ अ० पण्णवणा, १, २३, १२, ३५,४०, ठाणागं १०, ७३६, रायपसेणिय ३, १२.

२. निधीनान्तु पुराणानां धातूनामेव च क्षितौ।
अर्द्धभाग रक्षणाद्राजा भूमेरधिपतिर्हि सः॥

३. समुद्धरेन्निधिं राजा निजाध्यक्षपुरस्सरम्।
एवं लिप्यन्ति सर्वाणि निधनानि न संशयः॥
धनानामीश्वरो राजा ब्राह्मणाः परिकल्पिताः।
भूतानां विशेषेण यतोऽसौ विबुधाधिपः॥

इस सम्बन्ध में मित्रमिश्र के राजनीतिप्रकाश में कात्यायन का एक उद्धरण उपलब्ध होता है जिसका सीधा तात्पर्य यही है कि राजा भूमि-स्वामी है। अतः वह छे भाग का अधिकारी है[१]। इन साक्ष्यों के अतिरिक्त राजा का भूमि पर कर लगाना तथा ताम्रपत्रों आदि के द्वारा भूमिदान करना भी यही संकेत करता है कि राजा भूमि का एकमात्र रक्षक ही न था वरन् वह उसका स्वामी भी था।

जैसे कि पीछे उल्लेख किया जा चुका है, श्रमीजीवी दासों, परिचारकों, भृत्यों और कुम्भकारों की कोटि में आते हैं। सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति के दृष्टिकोण में ये समस्त व्यक्ति या तो एकमात्र स्वतन्त्र वैतनिक थे या स्वामिबद्ध परतन्त्र दास। वैतनिक श्रमजीवियों की ओर संकेत पाणिनि की अष्टाध्यायी में उपलब्ध होता है[२]। इस वर्ग के उदय का प्रधान कारण दरिद्रता था।

श्रमजीवी

उदाहरणार्थ, दरिद्र कुल में उत्पन्न होने के कारण बोधिसत्व को एक सेट्ठि के साथ भृत्य-कार्य करना पड़ा था[३]। इस वर्ग के अन्तर्गत प्रत्येक वर्ग के मनुष्य सम्मिलित थे जो जीविका के अन्य साधनों के अभाव में भृत्य-वृत्ति के द्वारा अपना जीवन-निर्वाह करते थे। यथा, एक जातक में एक गृहपति का उल्लेख है जो भृत्य-कर्म के द्वारा अपनी तथा अपनी माता का उदर-पूर्ति करता था[४]। वेतन धन-धान्य दोनों रूपों में मिलता था[५]। धान्य के रूप में वेतन देने की प्रथा कदाचित् क्षेत्रों में कार्य करने वाले कम्मकारों के लिये अधिक थी। एक स्थान पर कौटिल्य का कथन है कि यदि पहले से वेतन निश्चित न हुआ हो तो श्रमजीवी उपज का दसवां भाग प्राप्त करने का अधिकारी है[६]। परन्तु समस्त साक्ष्यों के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन भारत में श्रम सस्ता और श्रमजीवियों को मिलने वाला वेतन अत्यल्प था[७]। परन्तु ये वैतनिक श्रमजीवी स्वतन्त्र थे। दिन भर कार्य करने के पश्चात् संध्याकाल ये अपने घर वापस आ जाते थे[८]। श्रमजीवियों में बहुसंख्यक ऐसे थे जो अपने स्वामियों के क्षेत्रों

---

१. भूस्वामी तु स्मृतो राजा नान्यद्रव्यस्य सर्वदा।
तत्फलस्य हि षड्भागं प्राप्नुयान्नान्यथैव तु॥
भूतानां तन्निवासित्वात् स्वामित्वेन कीर्तितम्।
तत्क्रियात्रलिषड्भागं शुभाशुभनिमित्तजमिति॥

२. पाणिनि ४.४.१२.

३. जातक ३.४०६, ४४

४. जातक ३.३२५.

५. जातक २.१३६, ३.१२६, २५७, ३२६, ४.५०, ३२०, ५.२१२, ६.३३०,

६. अर्थशास्त्र ३.१३.

७. जातक १.४७५, २.३२५.

८. जातक ३.४४५, ४४६.

में रह कर प्रातःकाल से लेकर संध्यापर्यन्त कृषिसम्बन्धी कार्य करते थे[१]। इन श्रमजीवियों में स्त्रियां भी सम्मिलित थीं[२]। जैन साहित्य, निम्न प्रकार के स्वतन्त्र श्रमजीवियों का उल्लेख करता है[३] :-(१) दिवसभयक—जो दैनिक वेतन पाते थे। (२) जत्ताभवग—जो यात्रासम्बन्धी कार्यों के हेतु ठेके पर नियुक्त किये जाते थे और (३) कव्वाल भवग—जो दैनिक ठीके के आधार पर नियुक्त होते थे। इनके अतिरिक्त परिवारों के साथ रहने वाले कोडुम्बियपुरिस थे जो अपने स्वामिगृह में अनाज काटने, भूसा निकालने, पिसाई करने, भोजन बनाने आदि का कार्य करते थे[४]। जहां तक स्वामिवद्ध परतन्त्र दासों का प्रश्न है, इनका उल्लेख प्रथम अध्याय में हो चुका है।

कृषि-कर्म की अवस्था पर विचार करने के उपरान्त हमारा ध्यान स्वभावतः समवर्त्ती व्यवसाय-संगठन की ओर जाता है, जो प्राचीन भारत की सामाजिक-व्यवस्था में आय-प्राप्ति का प्रमुख साधन माना जाता था। प्राचीन भारत में इन व्यवसायों का महत्व केवल आर्थिक-संगठन ही नहीं, वरन् समस्त सामाजिक व्यवस्था के अध्ययन की दृष्टि से भी विशेष उल्लेखनीय है। हम यह स्पष्ट कह चुके हैं कि प्राचीन भारत की सम्पूर्ण आर्थिक-व्यवस्था, वर्ण व्यवस्था की अनुगामिनी रही है। इसी के अनुसार सभी वर्णों के कर्त्तव्य निश्चित कर दिये गये थे और सामान्यतः सभी वर्णों की कर्म-प्रणाली एक दूसरे से भिन्न थी। वैदिक वर्ण-व्यवस्था में कृषि, पशुपालन तथा वाणिज्य आदि कर्म वैश्यों के माने गये हैं। समाज की अर्थ-व्यवस्था का आधार होने के कारण उच्च वर्ण भी उनसे ही अपने उपभोग अथवा जीवन-निर्वाह की सामग्री प्राप्त करते थे[५]।

ब्राह्मण-ग्रन्थों की समाप्ति होने तक वर्ण-व्यवस्था इतनी स्थायी हो गई थी कि विभिन्न देवों को भी वर्ण-प्रथा के भीतर सम्मिलित कर लिया गया। उदाहरण के लिये अग्नि और बृहस्पति देवताओं में ब्राह्मण थे। इन्द्र, वरुण, सोम, यम, क्षत्रिय; वसु, रुद्र, विश्वदेव और मरुत् वैश्य तथा पूषन् शूद्र थे[६]। वर्ण-व्यवस्था संबन्धी ये विचार महाकाव्यों और स्मृतियों के रचना-काल में भी प्रचलित रहे[७]। कालान्तर में वर्ण-व्यवस्था

---

१. जातक ३. ४४५, ४. ११४, २७७

२. जातक १.१११., ४७५, २.४४६.

३. ठाणांग ४.२७१.

४. नायाधम्मकहा ७.८८, नारद ५. २४.

५. तस्माद्वैश्योद्यमानो न क्षीयते प्रजननादिध सृष्टस्तस्ताद् बहुपशुर्वैश्यदेवो हि जागतो वर्षा ह्यस्यतुस्तस्माद् ब्राह्मणस्य च राजन्यस्य चाद्यो धरो हि सृष्टः। ताण्ड्य महाब्रा० ६.१.१०.

६. शतपथ १४.४.२. २३—२५., मैत्रायणी संहिता १.१०.१३

७. शान्तिपर्व २०४. २३—२५.

के वन्धनों की जटिलता से अन्य उपजातियों में वृद्धि भी होने लगी। व्यवसाय तथा शिल्प के आधार पर भी जातियों का निर्माण होने लगा था। इसके प्रमाण हमें संहिता-युग में ही प्राप्त होने लगते हैं। ऋग्वेद,[१] अथर्ववेद,[२] तथा ब्राह्मण ग्रन्थों[३] में ऐसी अनेक व्यावसायिक जातियों का उल्लेख मिलता है। सांस्कृतिक विकास के साथ ही श्रम-विभाजन की आवश्यकता बढ़ती गई और इसके फलस्वरूप व्यवसाय के आधार पर अनेक उपजातियों का जन्म होने लगा। उपनिषत्-काल की समाप्ति तक ऐसी जातियों की संख्या में अपेक्षाकृत वृद्धि हो गई थी और बौद्ध-काल में इस सामाजिक-संगठन ने तत्कालीन शिल्प-व्यवस्था को जिस भांति प्रभावित किया, उस पर विचार करना आवश्यक है।

सामाजिक-संगठन के विकास की प्रारम्भिक अवस्था में शिल्प-जीवी ग्रामों में रहकर अपना जीवन व्यतीत करते थे। सामान्यतः ग्रामों में कृषक-परिवार निवास करते थे और ये शिल्पजीवी व्यक्ति उन्हीं के आश्रय में रहकर अपना जीवन निर्वाह करते थे। पाणिनि के सूत्रों में ग्रामों से सम्बन्धित ऐसे शिल्पजीवियों का उल्लेख मिलता है[४]। क्रमशः व्यवसायों की वृद्धि के साथ ही शिल्पजीवियों ने अपना स्वतन्त्र संगठन प्रारम्भ कर दिया और वे धीरे-धीरे ग्रामों को छोड़कर नगरों की ओर आने लगे, जहां उन्हें सामाजिक स्वतन्त्रता के साथ ही आर्थिक सुविधायें भी विशेष रूप से प्राप्त थी। नागरिक जीवन के विकास के साथ ही व्यवसायों की उन्नति भी होने लगी। शिल्प-समाज ने अपनी व्यवस्था समूह-संगठन के रूप में आरम्भ की और व्यवसायों का संगठन समूहों के रूप में होने लगा। इन समूहों की स्थापना ने शिल्प-समृद्धि में बड़ा योग दिया।

शिल्प-समूह (गिल्ड) प्रायः सभी देशों में और सभी युगों में रहे हैं। ये केवल मनुष्यों के समूह ही न थे, वरन् इनमें श्रम तथा सम्पत्ति की भी विशेष मान्यता प्राप्त रहती थी। इस श्रेणि तथा समूह-व्यवस्था के प्रमाण वैदिक-युग की समाप्ति से ही प्राप्त होने लगते हैं। सर्वप्रथम पाणिनि के सूत्रों में इन शिल्प-समूहों का उल्लेख प्राप्त होता है। जहां गण, पूग, व्रात और संघ शब्दों का प्रयोग शिल्प-समूह के लिये हुआ है[५]। महाभाष्य में व्रात की व्याख्या विभिन्न जातियों के पुरुष-समूहों के अर्थ में की गई

---

१. ऋग्वेद १०.१४२.४, १.६१.४, ७.३२.२०, ६.११२.१, १०.११६.५, ८.१०२, ४, ६.११२. १, १०.७२. २

२. अथर्व० ३.५.६, ३.५.७,

३. तै० सं० ४.५.४.२,–१.८.६.१–२.

४. 'ग्रामःशिल्पी' ६.२. ६२ तथा-ग्राम-कौटाभ्याम् चतक्ष्ण ५.४.९५.

५. व्रातेन जीवति। पा० ५.२.२१, वहुपूगगणसंघस्य तिथुक्। पा० ५.२.५२

है, जिनकी जीविका निश्चित न हो और जो अपने श्रम के निर्वाह करते हों [१]। काशिका में भी इसी भांति व्याख्या की गई है [२]। पाणिनि ने इसके साथ ही आयुध-जीवी संघों तथा योधेयों का उल्लेख किया है।

बौद्ध-साहित्य में भी संघ, पूग, सेनी तथा गण शब्दों का प्रयोग हुआ है [३]। 'गण' शब्द धार्मिक अथवा अन्य किसी उद्देश्य से बनने वाले समूह को कहते थे [४]। ऐसे समूहों से प्रतिष्ठित व्यक्तियों के समूह का बोध होता था। धार्मिक संस्था के अर्थ में गण का उल्लेख परवर्ती साहित्य में मिलता है। पूग का प्रयोग भी धार्मिक संस्था[५] के लिये होता था और बौध और जैनग्रन्थों में संघ का अर्थ धार्मिक निगम के रूप में माना जाता था।

कौटिल्य ने भी एक स्थान पर सैनिक और श्रेणी का भेद स्पष्ट करते हुए[६] लिखा है कि काम्भोज और सौराष्ट्र में क्षत्रियों के श्रेणि-समूह शस्त्र तथा वार्त्ता की वृत्ति से अपना निर्वाह करते थे [७]। राजनैतिक संघों के साथ ही अर्थशास्त्र में व्यावसायिक और सहयोगी संघों का वर्णन भी आता है [८]। गण का प्रयोग कौटिल्य ने केवल निगम के अर्थ में किया है, जब कि महाभारत में राजनैतिक संगठन के अर्थ में इसका प्रयोग किया गया है। महाभारत में राजनैतिक संघों का वर्णन आता है। श्रीकृष्ण यादव-संघ के मुख्य कहे जाते थे।

स्मृतिकारों ने भी शिल्प-समूहों से सम्बन्धित शब्दों का प्रयोग किया है [९]। वसिष्ठ ने सीमा सम्बन्धी झगड़ों में लिखित प्रमाणों में मतभेद होने पर ग्राम अथवा नगर या

---

१. नानाजातीया अनियतवृत्तय उत्सेधजीविनः संघाव्राताः तेषां कर्म व्रातं तेन व्रातकर्मणा जीवतीति व्रातीनः। महा० २. पृ० ३७४.

२. नानाजातीया अनियतवृत्तयोऽर्थकाम प्रधानाः संघाः पूगाः—काशिका

३. भिक्खुनी पतिमोक्ख, अध्याय २.

४. भोजनवग्ग।

५. धम्मगणाम्।

६. आयुधीयप्रायः श्रेणीप्रायो वामे जनपदः। अर्थशास्त्र ७. १. पृ० २६५.

७. काम्भोजसुराष्ट्रक्षत्रियश्रेण्यादयोवार्ताशस्त्रोपजीविनः। अर्थशास्त्र-११.१.पृ० ३७८.

८. अर्थशास्त्र पृ० ४८ तथा १८५.

९. गणाः पाण्डपूगाश्च व्राताश्च श्रेणयस्तथा।
समूहस्थाश्च ये चान्ये वर्गाख्यास्ते बृहस्पतिः॥ कात्या० वि० १० प० ६६६.

श्रेणी के वृद्धपुरुषों की सम्मति लेने की व्यवस्था की है[१]। विष्णु ने गण की सम्पत्ति का गबन करने तथा रीतियों का अतिक्रमण करने वाले व्यक्ति को निर्वासित करने की आज्ञा दी है[२]। मनु ने भी ग्रामीण और स्थानीय संघों के विषय में इसी भाँति की व्यवस्था दी है[३]। कात्यायन ने इन शब्दों की व्याख्या करते हुए स्पष्ट किया है कि निगम एक ही नगर के निवासियों का समुदाय होता है—व्रात विविधायुध सम्पन्न सैनिकों के समूह को कहते हैं, पूग व्यापारियों का समुदाय है, इसी भाँति गण ब्राह्मणों का समूह है, बौद्धों, जैनों तथा श्वपच-वर्ग गुल्म हैं[४]। नारद ने भी राजा द्वारा श्रेणी, नैगम, पूग, व्रात और गण की रीतियों का पालन करने की व्यवस्था दी है[५]। इस भाँति हम गण और संघ शब्दों का प्रयोग प्रायः राजनैतिक अथवा अन्य उद्देश्य से बनने वाले समूहों के हेतु पाते हैं, परन्तु पूग तथा श्रेणी शब्द व्यावसायिक अथवा शिल्प-समूह के अर्थ में ही प्रयुक्त होते थे।

बौद्ध-साहित्य का अध्ययन करने से इस युग के सर्वप्रमुख व्यवसाय श्रेणि-समूहों के रूप में संगठित प्रतीत होते हैं। प्रायः बौद्ध ग्रन्थों में इनका बोध कराने के लिए श्रेणी और पूग शब्दों का प्रयोग होता था[६]। जातकों के वर्णनों से इन शिल्प-समूहों की महत्वपूर्ण स्थिति का आभास होता है। तत्कालीन समाज-व्यवस्था में इन श्रेणियों की इतनी शक्तिशाली स्थिति हो गई कि वे अपने वर्ग की रक्षा करने तथा स्ववर्ग के व्यक्तियों द्वारा अधिकारों का दुरुपयोग करने पर उन्हें अपदस्थ करने में समर्थ होने लगीं। इन श्रेणि-समूहों का अपने झगड़ों का निर्णय करने का पूर्ण अधिकार प्राप्त था[७]। जातकों में अट्ठारह श्रेणि-समूहों का उल्लेख बार-बार मिलता है[८] जिनमें कुछ समूहों का वर्णन विशेष रूप से किया गया है[९]। जातक-कथाओं के आधार पर कुछ विद्वानों ने इन श्रेणि-समूहों की संख्या अट्ठारह से अधिक मानी है[१०]।

---

१. वसिष्ठ ध० सू० १६. १५.

२. विष्णुधर्म सू० ५. १६७.

३. मनु० ८.२१६.

४. कात्यायन वि० र०. पृ० ६७८-६८१.

५. पाषण्डनैगम श्रेणीपूगव्रातगणादिषु।
संरक्षेत्समयं राजा दुर्गे जनपदे तथा॥

६. रीज़ डेविड्स-बुद्धिस्ट इण्डिया, फर्स्ट इण्डियन एडीशन, पृ० ६०.

७. विनयपिटक ४. २२६.

८. अट्ठारस सेणियो-जा० २ पृ० २२, ४२७.

९. "वड्ढकि कम्मार-चम्मार-चित्तकारादिनांना सिप्पकुसल अट्ठारस सेणियो" जा० ६,४२७.

१०. मजूमदार-कारपोरेट लाइफ इन एनशेण्ट इण्डिया, पृ० ४.

संगठन की दृष्टि से ये व्यावसायिक श्रेणियाँ परम्परागत उत्तराधिकार की प्रथा पर आधारित थीं। प्रायः अपने बाल्यकाल से ही पुत्र अपने पिता के व्यवसाय में सिद्धहस्त होने का प्रयत्न करता था और इस भाँति व्यवसाय किसी भी परिवार में परम्परागत रूप से चलता रहता था। जातकों में सट्ठवाहकुल,[१], सट्ठवाहपुत्त[२], घएग वणिजकुल[3] तथा पणिणककुल[४] आदि का प्रयोग परम्परागत व्यवसाय के सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं। व्यावसायिक सम्बन्धों का क्रमशः विकास होने के साथ ही इन श्रेणि-समूहों में आत्म-निर्भरता की वृद्धि होने लगी और शनैः-शनैः इन्होंने विवाह तथा खान-पान के सम्बन्ध में अपने रीति-रिवाज निश्चित कर लिये। कालान्तर में वे शिल्प-जातियों के रूप में परिणत हो गई।

वंशानुगत प्रवृत्ति के साथ ही इस युग में शिल्प के स्थानीकरण की भावना भी परिलक्षित होने लगती है। स्थानीकरण का प्रभाव नगरों तथा ग्रामों, दोनों ही स्थानों में व्यावसायिक क्षेत्रों में स्पष्टतया दिखाई देता है। नगरों में वीथियों का नामकरण व्यवसाय-विशेष के आधार पर होने लगा। इन क्षेत्रों में बहुधा एक ही शिल्प के व्यक्ति अपना कार्य करते थे। यदि कोई व्यक्ति किसी नगर में जाता था, तो उसे एक वीथी में एक ही व्यवसाय से सम्बन्धित वस्तुयें दिखाई देती थीं[५]। दन्तकार-वीथी[६], रजकवीथी[७], सुरापण[८] तथा तंत वितत्तट्ठान[९] आदि शब्द विभिन्न व्यवसायों के स्थानीकरण को चरितार्थ करते हैं।

नगर व्यवसायों में कुछ ऐसे भी थे, जो नगर के भीतरी भागों में न होकर उसकी सीमा पर स्थित थे। कुम्भकार जातक में बनारस की सीमा पर स्थित द्वारगाम का उल्लेख है, जिसमें कुम्भकार रहते थे[१०]। ऐसा प्रतीत होता है कि कुम्भकार प्रायः नगर के बाहर द्वारग्राम में ही रहते थे[११]। इसी प्रकार अलीनचित्त जातक[१२] में एक वड्ढिकगाम का वर्णन

---

१. १.६८, १०७, २. २००.
२. १.६६, १६४, २.३२५.
३. ३.११८.
४. १.३१२
५. "दन्तकारवीथिम् पस्सा दन्तकारे दन्त विकतिया कुरुमाने दिस्वा"—१.३२०.
६. १.३२०, २.१६७.
७. ४.८१.
८. १.२२१.२५२, २६६, ३५०, २.४२७, ४३१, ४.११५, २२३ गा० ५३, ५.१३; ६.२७६, गा० ११६६.
९. १.३५६.
१०. ३.३७६.
११. बारानसिनगरस्स द्वारगामे कुम्भकार कुल—३.३७६.
१२. २.१८.

किया गया है, जिसमें काष्ठकार अपना व्यावसायिक कर्म करते हुए चित्रित किये गये हैं। कभी-कभी तो इन ग्रामों में एक सहस्र परिवारों तक का उल्लेख मिलता है[१]।

शिल्प-वीथियों और द्वारग्रामों के साथ ही व्यावसायिक ग्राम भी अपनी महत्वपूर्ण स्थिति के लिये प्रसिद्ध थे। ऐसे ग्राम स्वतन्त्र रूप से देश के भू-भाग में स्थित थे। वे स्वयं ग्रामीण क्षेत्र के हेतु व्यावसायिक केन्द्र की भाँति थे। सूचिजातक[२] में ऐसे दो कम्मार ग्रामों का वर्णन आता है, जो एक दूसरे के समीप स्थित थे और उनमें से एक की जन-संख्या एक सहस्र कुटीर थी[३]। आस-पास के गांवों के लोग उस ग्राम में जाते थे और कृषि तथा अपनी आवश्यकता की सभी वस्तुएँ वहाँ लेते थे[४]। फिक ने इसके आधार पर तत्कालीन सामाजिक जीवन के वाह्यरूप की प्रशंसा करते हुए इस भांति के महत्वपूर्ण संगठन का कारण मुख्यतया भारतीय मस्तिष्क की संगठन, वर्गीकरण तथा योजनाकरण विषयक स्वाभाविक प्रवृत्ति को माना है[५]। ऐसा प्रतीत होता है कि उच्च जातियों की देखादेखी निम्न वर्ग ने भी व्यावसायिक जाति के रूप में अपना अलग संगठन प्रारम्भ कर लिया और आधुनिक जाति-व्यवस्था को बहुरूपता प्रदान करने में सहायता की।

बौद्ध-कालीन इन श्रेणि-समूहों के संगठन के वाह्यतत्वों पर प्रकाश डालने के साथ ही उनके आन्तरिक जीवन से सम्बन्धित वर्णन भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। प्रत्येक शिल्प समूह का नेतृत्व एक प्रमुख अथवा ज्येष्ठक के द्वारा होता था। ऐसे शिल्प-प्रमुखों के प्रमाण हमें जातकों में यथेष्ट रूप से मिलते हैं, जिनमें वड्ढकिजेट्ठक[६], मालाकार जेट्ठक[७] तथा कम्मारजेट्ठक[८] के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। प्रायः एक ही व्यवसाय के व्यक्ति श्रेणी के रूप में अपना संगठन करते समय अपने नेता का चुनाव भी कर लेते थे। समुद्दवाणिज जातक में एक वड्ढकिगाम में एक सहस्र परिवारों का वर्णन आता है जिनमें प्रत्येक पांच-सौ परिवारों का एक प्रधान था[९]। कभी-कभी इन शिल्प-प्रमुखों की स्थिति बड़ी महत्वपूर्ण प्रतीत होता है। समृद्ध होने के साथ वे राजा के कृपापात्र भी होते थे। सूचिजातक में एक ऐसे समृद्धिशाली कम्मारजेट्ठक के राजा का कृपापात्र होने का उल्लेख मिलता है[१०]। जातक-कहानियों में व्यावसायिक शिक्षा प्राप्त करने वाले व्यक्ति के लिये

---

१. २.४०५, ४.१५९—कुलसहस्सनिवासो महावड्ढकी गामो।

२. ३.२८१

३. 'सहस्सकुटिको कम्मारगामो'—३.२८१.

४. 'वासिफरसु-फलपचनादिकारापनत्थ'

५. फिक-शोशल आर्गनाइजेशन—पृ० २८२.

६. जा० ४, पृ० १६१, ६.३३२.

७. ३.४०५,

८. ३.२८१.

९. कुलसहस्से पंचन्नम् कुलसतानम् जेट्ठका ते वड्ढकि अहेसुम्।

१०. ३.२८१.

'अन्तेवासिक' शब्द का प्रयोग हुआ है, वह अपने व्यावसायिक गुरु के साथ रह कर शिल्प-ज्ञान प्राप्त करने का उद्योग करता था। इन विभिन्न व्यवसाय-समूहों के पारस्परिक सम्बन्धों के विषय में हमें अधिक तथ्य नहीं मिलते। जब कभी दो शिल्प-समूहों में मतभेद हो जाता था तो उसका निर्णय महाश्रेष्ठि करता था, जिसकी स्थिति सभी श्रेणियों के प्रधान के रूप में थी[२]।

तत्कालीन श्रेणि-समूहों के संगठन पर विचार करने के पश्चात् विभिन्न श्रेणि-समूहों का वर्णन अपेक्षित है। बौद्ध-ग्रन्थों में इन प्रमुख व्यवसायों की संख्या प्रायः अट्ठारह बतलाई गई है, किन्तु उनकी संख्या इससे कहीं अधिक प्रतीत होती है। बौद्ध जातकों में वस्त्र, काष्ठ, आभूषण, मिट्टी के बर्तन, चमड़ी, पत्थर, हाथी दांत, गृह-निर्माण, तैल तथा अन्य व्यवसायों का उल्लेख आता है। वस्त्र-व्यवसाय में कपास, रेशम तथा ऊन के वस्त्रों का बोध होता है। वैदिक काल से ही वस्त्र-व्यवसाय का महत्व प्राप्त हो गया था। बौद्ध-काल में ही काशी, अपने मूल्यवान् वस्त्रों के हेतु प्रसिद्ध थी[३]। इसके साथ ही गन्धार और कोडम्बस अपने महर्घ्य ऊनी वस्तुओं के लिये विख्यात थे[४]। रेशमी वस्त्र को कोसेय्य कहते थे। बनारस के रेशमी वस्त्र सर्वत्र प्रसिद्ध थे[५]। विनय-पिटक में सिवि-देश के सूती वस्त्रों की बड़ी प्रशंसा की गई है[६]। सामान्य जनता सूती वस्त्रों का उपयोग करती थी, जब कि राजा तथा अन्य वैभवशाली व्यक्ति बहुमूल्य रेशमी और ऊनी वस्त्रों को धारण करते थे[७]। यही नहीं हाथी तथा अश्वों के लिये भी वस्त्रों का उपयोग होता था[८]। वस्त्र बुनने का कार्य तन्तुवाय करते थे[९], और स्त्रियाँ घरों में सूत कातने का कार्य करती थीं[१०]।

काष्ठ का व्यवसाय करने वाले व्यक्ति बौद्ध-ग्रन्थों में वड्ढकि कहे जाते थे, जो घरों में प्रयुक्त होने वाली वस्तुओं का निर्माण करते थे। वे गृह-निर्माण के कार्य में भी दक्ष होते

---

१. सेणिभण्डन—उरगजातक, १५४.

२. रीज डेविड्स—बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० ६०.

३. २.४४३ गा० १४१, ३.१०.

४. ६.५०० गा० १७६६, १८०१.

५. ५.७८ गा० २३०, ६.४६ गा० १६४.

६. महावग्ग ८.१.

७. १.१४६, ३०४, २.६८, २७४, १३८। कंबल, १८७, ४५८, चित्तत्थर। ६,१८६, १६१, २८०, । वरपोट्ठकत्थरणं।

८. ४.४०४ गा० ६०. नागे हेमकप्पनवाससे।

९. १.३५६, ४.४७५.

१०. ६.४१.

थे। जातकों में ऐसे कुशल काष्ठकारों का उल्लेख मिलता है, जो गृह-निर्माण में आवश्यक वस्तुओं को बनाने में बड़े प्रवीण थे[१]। कभी-कभी तो वे अपने बड़े गाँवों में निवास करते थे[२]। आचारांग सूत्र[३] में काष्ठ से बनने वाली वस्तुओं के साथ ही काष्ठ शिल्पी, वाणिक् पोत[४] तथा विभिन्न प्रकार की गाड़ियाँ[५] बनाते थे। उनके द्वारा यन्त्रों[६] के बनने का वर्णन भी मिलता है।

आभूषणों के प्रति भारतीयों का प्रेम सदैव से रहा है। जातकों में भी सोना, चांदी, हीरा, मोती, स्फटिक तथा अन्य बहूमूल्य धातुओं के आभूषणों का उल्लेख मिलता है[७]। सचि जातक में एक स्वर्णकार का वर्णन आता है, जो आभपण बनाने की कला में बहुत प्रवीण था। इसी भाँति कुस-जातक में स्वर्ण-मूर्तियों का निर्माण करने वाले एक शिल्पी का उल्लेख प्राप्त होता है। आभूषणों में अत्थत्थरण, मुद्दिका, माला, कुण्डल, मेखला, कायूर, बन्धन तथा चूलामणि का वर्णन बौद्ध-ग्रन्थों में मिलता है[८]।

अन्य धातु-व्यवसाय में बौद्धकाल में कम्भार का उल्लेख आता है, जो लोहे की वस्तुओं का निर्माण करते थे। कृषि से सम्बन्धित लोहे की वस्तुओं के[९] साथ ही वे गृह-कार्य में आवश्यक वस्तुयें यथा विविध अस्त्र-शस्त्र—कुल्हाड़ी, कुदाल, आरी, चाकू, हथौड़ा आदि बनाते थे[१०]। कम्मारगामों[११] का वर्णन इस व्यवसाय की महत्त्वपूर्ण स्थिति का द्योतन करता है।

कुम्भकार का वर्णन बौद्धग्रन्थों में प्रायः मिलता है, जो इस व्यवसाय की उपयोगिता को चरितार्थ करता है। अधिकांशतः कुम्भकार नगर अथवा ग्राम के बाहर रहा करते थे[१२]।

---

१. २.१८
२. २.४०५, ४.१५६.
३. आचारांग सूत्र २.४; २, ११.
४. ४.१५६, ६.४२७.
५. ४.२०७.
६. ५.२४२ गा० १६४.
७. १.१७७, ३५१, ४७६, २०६, ४. ६०.
८. आचारांग सूत्र २.२.१.२.१. १२४. २.१२२, ३७३, ३.१५३, ४.६०.
९. १.२४७, ३१२, ४६४, २.५६, २४.१, ४०५.
१०. ५.४५—वासिफरसु कुद्दाल—निखादन—मुट्ठिक—वेलुगंमछेदन—सट्ठि—तिपलायन—असि—लोहलण्ड—दानुक—अयस्थिघातक।
११. ३.२८१.
१२. २.८०, ३.३७६.

उनके बर्तन प्रायः आपण में ही बिकने आते थे[१]। कुम्भकार अपने चाक का प्रयोग करते थे और कच्चु वर्तन सूख जाने पर, आग में पकाये जाते थे[२]। मिट्टी के वर्तन बनाने का व्यवसाय उस समय बड़ी उन्नति पर था क्योंकि भाँति-भाँति के वर्तनों का उल्लेख बहुधा प्राप्त होता है[३]।

कुम्भकार की भाँति ही चर्मकार[४] भी अपने व्यवसाय में सिद्ध-हस्त थे। अस्सलायन सुत्त तथा सुत्त विभंग में अन्य शिल्पों के साथ चमकार का कार्य भी निम्न कर्मों में सम्मिलित है[५]। चर्मकार नानाभाँति के जूते, ढाल, थैले तथा रस्सियाँ बनाते थे। राजा तथा सम्भ्रान्त व्यक्तियों के हेतु जूतों में सुन्दर बेल-बूटे बनाये जाते थे[६]।

पत्थर तथा गृह-निर्माण के सम्बन्ध में पाषाण कोट्टक[७] इट्ठकवड्ढकि[८] एवं गहपतिसिप्पकार[९] के नाम बौद्धसाहित्य में प्रयुक्त होते हैं। साधारण गृहों के साथ ही विशाल भवनों का निर्माण इन्हीं शिल्पियों के द्वारा होता था। बौद्धकालीन स्थापत्य-कला की असाधारण उन्नति का प्रमाण हमें तत्कालीन मरहुत, सांची अथवा अमरावती के अवशेषों से प्राप्त होता है।

हाथी-दाँत के शिल्प की उन्नति जातकों में इन व्यावसायिकों की वीथियों के उल्लेख से प्रकट होती है। बनारस में दन्तकारवीथि में हस्तिदन्त की सुन्दर वस्तुओं के निर्माण का उल्लेख मिलता है[१०]।

जातकों में अन्य व्यवसायों में 'मालाकार' का उल्लेख भी किया गया है। इस देश में फल तथा पुष्पों की उत्पत्ति सदैव प्रभूत मात्रा में होती रही है। मालाकार सुन्दर उद्यानों की देख-रेख करते थे[११]। वे सुन्दर पुष्पों की मालायें बनाकर सम्भ्रान्त तथा सर्वसाधारण-सभी को भेंट करते होंगे। चन्दन तथा सुगन्धित पुष्पों की सहायता से सुगन्धित तेल तथा इत्रादि का निर्माण किया जाता था। कासिकचन्दन[१२] का उपयोग प्रायः किया जाता था।

१. ६.५२.
२. ५.२६१.
३. ५.२६१—'नानारूपाणि समुट्ठापेति'।
४. ६.१४२.
५. हीनम् नाम सिप्पम् नलकारसिप्पम् कुम्भकारसिप्पम् पेसकारसिप्पम् चम्मकारसिप्पम् नहापितसिप्पम्।
६. ४.३७९, ६.२१८—'चित्रा सुकता चित्रसिब्बना'।
७. १.४७८
८. ६.३३३.
९. ६.४३८.
१०. १.३२०—'दन्तकारवीथियम् दन्तवलीयादं करोन्ते दिस्वा।
११. १.६५, १२०, २.३२१, ४.८२.
१२. १.३५१, ५.३०२—गा० ४०.

इत्र सुगन्धित पुष्पों से बनाये जाते थे जिनमें पियंगु[1] का नाम विशेष उल्लेखनीय है। सुगन्धित द्रव्य आपण में बिकते थे और इस व्यवसाय को करने वाले गन्धिक कहे जाते थे[2]।

इनके अतिरिक्त अन्य व्यवसायों में रंगरेज, चित्रकार, सुरा, मांस, मत्स्य, मिष्ठान्न के विक्रेता, नलकार, नाई तथा नाविक आदि के कार्य मुख्य थे। रंगरेज अपने कार्य के लिये हरताल, हिंगुलक[3] आदि के रंगों का प्रयोग करते थे। चित्रकार अधिकांशतः भवनों की दीवालों पर ही चित्रनिर्माण करते थे। ऐसे कई वर्णन मिलते हैं, जिनमें मगध तथा कोसल के क्रीड़ा गृहों में चित्रकला के विविध दृश्यों का उल्लेख है[4]। सुरा, मांस, मत्स्य तथा मिष्ठान्न के व्यवसायी नगर में अपने-अपने क्षेत्र में इन वस्तुओं का विक्रय करते थे। नलकार[5] बांस की टोकरियाँ आदि बनाकर बेचते थे। नापित तथा नाविक अपने कार्य स्वतन्त्र व्यवसाय के रूप में करते थे। ये व्यक्ति हीन-जाति में समझे जाते थे।

वंशानुगत व्यवसायों के अतिरिक्त कुछ ऐसे शिल्प थे, जो श्रेणि-समूह में सम्मिलित न थे। इन व्यावसायिकों का जातीय संगठन न था और वे प्रायः राजाश्रम में रहा करते थे। जातकों में गन्धब्ब[6], नाटक[7], नच्चगि-तादिसुकुसला[8], हत्थाचरिम[9] धनुग्गह[10] आदि नामों का प्रयोग हुआ है। ये व्यक्ति राजा के अनुग्रह पर निर्भर थे तथा उसके मनोविनोद का साधन थे। राज्यकृपा पर अवलम्बित अन्य प्रतिष्ठित वृत्तियों में वैद्य, ज्योतिषी, लेखक तथा गणक विशेष उल्लेखनीय हैं। ये व्यक्ति कभी-कभी अपने कार्य के हेतु भरपूर धन प्राप्त करते थे। जीवक नाम के वैद्य को एक श्रेष्ठी की स्त्री को चंगा करने के उपलक्ष में १६ सहस्र मुद्रायें प्राप्त हुई थी[11]। बनारस तथा तक्षशिला उस समय के प्रसिद्ध शिक्षा-केन्द्र थे, जहाँ विद्वान्-आचार्य अध्यापनकार्य करते थे, इन्हें राज की ओर से यथेष्ट आर्थिक सहायता प्राप्त होती थी।

---

1. ६.३२६.
2. १.२६०—गन्ध-धूप-चुण्ण—कप्पुरादिनि।
3. ५.४१६.
4. विनय २.१५१, ४.४७, ६१, २६८.
5. ५.२६१.
6. १.३८४., २.२५०.
7. ४,३२४.
8. २.२२७.
9. २.२२१.
10. २.८७, ५.१२८.
11. विनय १.२७१.

बौद्ध-ग्रन्थों के आधार पर तत्कालीन व्यवसायों के संगठन पर विचार करने के पश्चात् हमारा ध्यान स्वभावतः परवर्ती साहित्य की ओर जाता है। गौतम का कथन है कि कृषक, व्यापारी, पशुपालक और व्यवसायी अपने स्वतन्त्र संगठन का निर्माण करते हैं, जिन्हें राजा की ओर से मान्यता प्राप्त होती है[१]। इससे समूह-संगठन के विकास की अर्थ स्थिति का बोध होता है। गौतम ने राज्य द्वारा इन व्यावसायिक समूहों को वैधानिक मान्यता देने की व्यवस्था दी है। हम बौद्धकालीन समाज-व्यवस्था में इन श्रेणि-समूहों का प्रभाव भली-भाँति देख चुके हैं, जिसमें इन श्रेणियों को अपने सदस्यों के ऊपर यथेष्ट अधिकार प्राप्त होता था[२]। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में अपने समय की श्रेणि-व्यवस्था का विशद् विवेचन किया है। कौटिल्य की राजकीय व्यवस्था में इन व्यावसायिक श्रेणियों की गति-विधि पर दृष्टि रखने के उद्देश्य से तीन अमात्यों अथवा प्रदेष्टा की समिति की स्थापना का विधान किया गया है[३]। कारणिक[४] अथवा आय-व्यय-लेखाधोत्तक इन समूहों में प्रचलित रीतियों, विभिन्न व्यवसायों तथा कार्य-पद्धति का विवरण पंजीकृत करता था।

कण्टक-शोधक-समिति श्रेणि-समूहों की देख-रेख करती थी। किसी शिल्प-श्रेणी में प्रवेश पाने के हेतु प्रत्येक व्यवसायी प्रवेश-शुल्क देता था जो श्रेणि-वृद्धों के द्वारा प्राप्त किया जाता था। श्रेणि-वृद्ध वे ही व्यक्ति चुने जाते थे, जो श्रेणी के व्यक्तियों का नेतृत्व करने में समर्थ होते थे तथा अपने शिल्प की उन्नति अपनी प्रतिभा के आधार पर करने में सचेष्ट रहते थे। सदस्यों से प्राप्त होने वाला शुल्क श्रेणी की स्थायी सम्पत्ति बन जाता था। आपत्ति के समय श्रेणी का धन वापिस प्राप्त हो सकता था[५]।

व्यावसायिक श्रेणि-समूहों के राजकीय-समिति के नियन्त्रण में होने की पुष्टि ग्रीक-लेखकों के कथन से होती है। मेगास्थनीज़ ने तत्कालीन शिल्प-व्यवस्था का आंखों देखा वर्णन प्रस्तुत किया है[६]।

---

१. देशजातिकुलधर्माश्च आम्नायैः अविरुद्धाः प्रमाणम्।
कर्षकवणिक्पशुपालकुसीदकारवः स्वे स्वे वर्गे ॥ गौतम ११.२२-२३.

२. विनयपिटक ४. २२६.

३. प्रदेष्टारस्त्रयस्त्रयोवामात्याः कण्टकशोधनं। कारुरक्षणं कुर्युः ''कौ० पृ० २००.

४. अर्थशास्त्र २. ७ पृ० ६६.

५. अर्ध्यप्रतीकाराःकारुशासितारः सन्निक्षेप्तारः स्ववित्तकारवः श्रेणी-प्रमाणानिक्षेपं गृह्णीयुः। विपत्तौ श्रेणी निक्षेपं भजेत्। -कौटिल्य ४. १. पृ० २००

६. मेगास्थनीज-३३-स्ट्रैबो १५. १. ४६.

अमात्य-समिति शिल्पियों के वेतन, कार्य तथा कार्य समाप्त करने की अवधि निश्चित करती थी। कार्य के समय कोई सामग्री नष्ट होने पर आर्थिक दण्ड देने का अधिकार भी इन्हीं अमात्यों को प्राप्त था। नियमानुसार कार्य पूरा न होने की स्थिति में शिल्पी अपने वेतन की हानि के साथ ही ऊपर से दण्ड भी प्राप्त करते थे[1]।

अर्थशास्त्र में तत्कालीन व्यावसायिक समूहों का वर्णन किया गया है, जिनमें तन्तुवाय, रजक, स्वर्णकार, भंगी, धातुकार, भिषक्, गायक, नर्तक, काष्ठकार, कुम्भकार, लोहकार तथा मांस, शाक अथवा मिष्ठान्न-विक्रेता प्रमुख थे[2]। तन्तुवाय सूती, ऊनी[3] तथा रेशमी वस्त्र[4] बनाते थे। सूत तथा बुने हुए वस्त्रों की तौल निश्चित रहती थी। वस्त्रों का आकार भी नियत रहता था। तौल तथा आकार कम निकलने पर शिल्पी को अपने वेतन की हानि के साथ ही अर्थ-दण्ड भी देना पड़ता था[5]।

बहुमूल्य रत्नों अथवा धातुओं की खानें खोजने वाले व्यक्ति राजा को सूचना देने पर प्राप्त वस्तु का $\frac{1}{6}$ भाग पाने के अधिकारी होते थे, किन्तु वे यदि मृतक होते तो $\frac{1}{12}$ भाग ही प्राप्त कर सकते थे। यदि इस भाँति की रत्न-राशि का मूल्य एक लाख मुद्रा से अधिक होता था, तो समस्त रत्न-भाग राजकीय कोष में चला जाता था। खनिज-पदार्थ सम्बन्धी श्रेणी के सदस्य यदि राजकीय नियम-व्यवस्था के विरुद्ध कार्य करते थे, तो उन्हें इसके हेतु अर्थ-दण्ड दिया जाता था।

सोना-चांदी आदि धातुओं के व्यवसायियों का भी श्रेणी समूह के रूप में संगठन होता था। सौवर्णिक राज्य को सूचना दिये बिना अनुचित उपायों से सोने अथवा चांदी की वस्तुओं का क्रय न कर सकते थे। सोने-चांदी में मिलावट करने, कम तौलने, सोना-चांदी को किसी चोर से ग्रहण करने अथवा आभूषण-निर्माण करते समय स्वयं कुछ भाग चुराने की दशा में क्रमशः अधिकाधिक दण्ड प्राप्त होता था[6]। अपसारक अथवा अन्य वंचक

---

[1] निर्दिष्टदेशकालकार्यं च कर्म कुर्युः। अनिर्दिष्टदेशकालकार्यापदेशं कालातिपातने पादहीनं वेतनं तद्द्विगुणश्च दण्डः। अन्यत्र भ्रेषोपनिपाताभ्यां नष्टं विनष्टं वाभ्यावहेयुः। कार्यस्यान्यथाकरणे वेतननाशः तद्द्विगुणश्च दण्डः—कौटिल्य ४.१. पृ० २०१.

[2]. कौटिल्य—४.१, २

[3]. पत्रोर्णाकम्बलदुकूलानाम्—४.१.

[4]. क्षौमकौशेयानाम्—४.१.५.

[5]. कौटिल्य—४.१.

[6]. अर्थशास्त्र-४.१.

उपायों[1] से सोना चुराने की स्थिति में पांच-सौ पण तक का दण्ड दिया जाता था।

अर्थशास्त्र में आभूषणों के निर्माण के विषय में राज्य की ओर से दरें निश्चित करने का उल्लेख भी मिलता है। एक धरण चांदी के लिये १ माष तथा सुवर्ण के लिये उसको ⅛ भाग निर्माण-शुल्क के रूप में दर नियत रहती थी। तांबा, पीतल, वैकृणटक तथा आरकूट के आभूषणों के बनवाने में ५ प्रतिशत मूल्य देना पड़ता था[2]।

इनके अतिरिक्त काष्ठकार, लोहकार, भवन-निर्माण-कर्त्ता, भिषक्, श्रोत्रिय अथवा होता, गायक[3], नर्त्तक तथा अभिनय करने वालों के श्रेणी-समूहों का भी वर्णन कौटिल्य ने राजकीय व्यवस्था के अन्तर्गत किया है। वैद्यों को उपचार करते समय रोग की भीषण स्थिति होने पर राज्य को सूचना देनी पड़ती थी। ऐसा न करने पर यदि रोगी की मृत्यु हो जाती थी, तो वे दण्ड के भागी होते थे। भिषक् की असावधानी अथवा कर्मवध के कारण रोग के बढ़ने तथा रोगी की मृत्यु हो जाने पर भी उसे दण्ड प्रदान किया जाता था। गायक, नर्त्तक तथा अभिनय करने वाले व्यक्ति वर्षाऋतु में किसी विशेष-स्थान पर ठहर जाते थे। वे अपने प्रदर्शन देश, जाति, परिवार तथा व्यवसाय की प्रथा के अनुसार करते थे[4]। वे अपने प्रदर्शन बहुत अधिक संख्या में नहीं कर सकते थे और न किसी को अधिक हानि[5] पहुँचा सकते थे। ऐसा करने पर उन्हें १२ पण तक का दण्ड दिया जा सकता था।

निम्नवर्ग के शिल्पियों में नाई, धोबी, भंगी, सन्देशवाहक, दास, कुम्भकार, रंगरेज, बांस की वस्तुएं बनाने वाले व्यक्ति, मांस, शाक, मदिरा बेंचने वाले व्यक्ति विशेष उल्लेखनीय हैं। धोबी आदि विशेष चिह्न-सूचक वस्त्र धारण करते थे। उत्तम श्रेणी के वस्त्र धोने के लिये एक पण मूल्य दिया जाता था। मध्यम तथा साधारण वस्त्रों के लिये क्रमशः आधा और चौथाई पण पारिश्रमिक प्रदान किया जाता था[6]। भंगी आदि निम्नवर्ग के व्यक्ति यदि अपना कार्य करते समय कोई मूल्यवान् वस्तु प्राप्त करते थे, तो वह राजा को तुरन्त दे देते थे, जिसके लिये उन्हें वस्तु के मूल्य का तृतीयांश दिया जाता था। ऐसी वस्तु हड़पने की चेष्टा करने पर कठोर दण्ड दिया जाता था[7]। कौटिल्य ने यह स्पष्ट किया कि व्यापारी,

---

१. त्रिपुटक, शुल्व बेल्लक तथा हेमापसारण आदि साधन—अर्थशास्त्र २.१४.३२.
२. अर्थशास्त्र—४.१.
३. कुशीलव—अर्थशास्त्र ४.१.
४. अर्थशास्त्र—४.१.२४६.
५. अतिपातम्—अर्थशास्त्र ४.१.
६. अर्थशास्त्र—४.१.
७. अर्थशास्त्र—४.१.

शिल्पी, कुशीलव, भिक्षुक, विदूषक, तथा अन्य अकर्मण्य व्यक्ति चोर होने की स्थिति में राज्य द्वारा राष्ट्र का शोषण करने के कुचक्र से विरत किये जाते थे।

अर्थशास्त्र में भी तत्कालीन शिल्पों का अनुमान अन्यान्य राजकीय विभागों के संगठन से होता है। इन शिल्प-समूहों में व्यवसाय से सम्बन्धित कारीगर भी सम्मिलित थे। बौद्ध-ग्रन्थों में इन श्रेणियों की संख्या अट्ठारह बतलाई गई है। स्मृतियों में भी इसी संख्या का उल्लेख आता है। आर्थिक दृष्टि से इन श्रेणियों के कई भेद थे। गृह-निर्माण कार्य से सम्बन्धित शिल्पी, सामूहिक व्यवसाय-योजना[1] के आधार पर अपनी पूंजी लगा कर कार्य करते थे। उनका व्यावसायिक संगठन 'संघ' कहलाता था। अन्य चतुर शिल्पी धनीमानी-व्यवसायपतियों से सामग्री प्राप्त कर शिल्प-निर्माण कार्य करते थे और उन्हें शिल्प-लाघव के अनुसार वेतन प्राप्त होता था। कुम्भकार, मालाकार और बांस की वस्तुयें बनाने वाले निम्नवर्गीय शिल्पी सम्पत्तिशाली व्यक्तियों से पूर्णतया अलग रहकर प्रकृति-प्रदत्त वस्तुओं का उपयोग कर अपने श्रम से व्यावसायिक वस्तुओं का निर्माण करते थे। नाई, धोबी, भंगी तथा कृषक-दास आदि निम्नजातीय व्यक्ति अपना कार्य कर आवश्यकता भर के लिये वेतन प्राप्त करते थे। अन्य उच्चवर्गीय व्यवसायों के व्यक्ति, पुरोहित, भिषक्, चिकित्सक, गायक तथा लेखक आदि निश्चित वेतन प्राप्त कर अपना जीवन-निर्वाह करते थे[2]।

संघ अथवा श्रेणियों के शिल्पी कार्य-समाप्त करने पर विशेष सुविधायें प्राप्त करते थे। प्रायः उन्हें निश्चित्त पारिश्रमिक पर अवधि के भीतर ही अपना काम पूरा करना पड़ता था। सदस्य परस्पर कार्य-विभाजन कर लेते थे। अपने व्यवसायपति की आज्ञा प्राप्त किये बिना वे कार्य को अधूरा नहीं छोड़ सकते थे, अन्यथा उन्हें दण्ड दिया जाता था[3]।

अन्य सभी कारीगर कण्टक-शोधन समिति द्वारा वेतन के अनुसार कार्य करते थे। ऐसा न करने अथवा कार्य में हानि करने पर उन्हें दण्ड मिलता था। कार्य अपूर्ण रहने की स्थिति में उन्हें दण्ड तथा अर्थ दण्ड दोनों प्राप्त होते थे[4]।

वेतन अथवा कार्य के विषय में विवाद उत्पन्न होने की स्थिति में व्यवसाय में कुशल

---

१. सम्भूय समुत्थाधारः—३.१४.

२. कारुशिल्पिकुशीलवचिकित्सक वाग्जीवनपरिचारिकादिराशाकारिक वर्गस्तु यथा न्यस्तद्विधः कुर्यात्। यथा वा कुशलाः कल्पयेयुः तथा वेतनं लभेत।

—अर्थशास्त्र-३.१४.

३. गृहीत्वा वेतनं कर्म अकुर्वतो भृतकस्य द्वादशपणो दण्डः। संरोधश्चाकरणात्।

—अर्थशास्त्र ३.१४

४. ३ अध्याय, १४ तथा ४ अध्याय १.

व्यक्ति मध्यस्थता करते थे[१]। व्यवसायपति कारीगर अथवा कुशल शिल्पी के वेतन को कम नहीं कर सकते थे अन्यथा उन्हे अर्थ-दण्ड देना पड़ता था[२]।

श्रेणी-संगठन पर यथेष्ट प्रकाश डालने के साथ ही कौटिल्य ने इन शिल्प-समूहों की शक्ति का भी उल्लेख किया है। अर्थशास्त्र में राज्य की सैन्य शक्ति के साथ ही 'श्रेणीबल'[३] का भी वर्णन आता है। आवश्यकता पड़ने पर राजा राष्ट्र की रक्षा अथवा शत्रु पर आक्रमण करने के उद्देश्य से विश्वसनीय श्रेणीबल की सहायता ले सकता था। श्रेणी मुख्य अथवा शिल्प समूह के प्रधान का वेतन भी हस्त्यध्यक्ष, अश्वाध्यक्ष, तथा रथाध्यक्ष के समान ही था[४]। शत्रु के द्वारा निरन्तर आपद्ग्रस्त रहने की स्थिति में राजा का यह कर्त्तव्य था कि वह श्रेणीबल को कुछ भूमि-भाग प्रदान करे[५]। कौटिल्य ने ऐसी क्षत्रिय श्रेणियों का उल्लेख किया है, जो व्यापार और युद्ध पर अवलम्बित थीं, इस भांति की विशेष श्रेणियाँ काम्भोज तथा सौराष्ट्र में होती थीं[६]।

अर्थशास्त्र की भाँति ही महाकाव्यों में भी तत्कालीन शिल्पव्यवस्था की विकासपूर्ण स्थिति का वर्णन मिलता है। शिल्प शास्त्रों में पारंगत कुशलकर्मी व्यक्तियों को विशेष सामाजिक मान्यता प्राप्त थी। अयोध्या ऐसे सभी शिल्पकारों से परिपूर्ण थी[७]। उन्हें राज्य की ओर से विशेष संरक्षण प्राप्त होता था[८]। महाराज दशरथ के यज्ञ के समय[९] तथा राम को वापिस लाने के हेतु भरत के साथ[१०] कर्मान्तिकों का वर्णन आता है। अयोध्याकाण्ड में शिल्प-वर्ग के अन्तर्गत कर्मान्तिक शिल्पिनं शिल्पकार, वर्धकि तथा खनक आदि नाम शिल्पियों के हेतु प्रयुक्त हुए हैं। रामायण में उच्च तथा निम्नवर्गीय शिल्पकारों में सूत्रकार्य विशारद, खणक, कर्मान्तिक, सुराकार, वंशाकार, मणिकार, रजक, कुम्भकार, आष्णोदक, सूत्रकर्मविज्ञ, धूपिक, सुवर्णकार, वर्धकि, तन्त्रक, सूपकार, वृत्तकार, चर्मकार, दन्तकार, स्नापक, सुधाकार, वैद्य, गन्धोपजीवी, शस्त्रोपजीवी, कैवर्तक, कम्बलकार, मयूरक, क्राकचिक,

---

१. अद्धा या रागविवादेषु वेतनं कुशलाः कल्पयेयुः।

२. कारुशिल्पिनां च कर्मगुणापकर्षमाजीवं विक्रयं क्रयोपघातं वा सम्भूय समुत्थापयतां सहस्रं दण्डः। —अर्थशास्त्र-४.२.

३. अर्थशास्त्र—६, अध्याय २.

४. अर्थशास्त्र—५.३.

५. अर्थशास्त्र—७.१६.

६. काम्भोज—सौराष्ट्र-क्षत्रिय-श्रेण्यादयो वार्ता शस्त्रोपजीविनः।—९.२.

७. रामायण—बालकाण्ड—५ अध्याय

८. महाभारत—सभापर्व ५.३५.

९. रामायण—बालकाण्ड, अध्याय १३.

१०. रामायण—अयोध्याकाण्ड, अध्याय XXCIII

वैधक, रोतक, तन्तुवाय, शैलूष, नट, तालावचार, मार्गशोधक, सौण्डिक तथा रत्तक नाम प्रयुक्त हुए हैं[१]।

महाभारत में भी भिन्न-भिन्न अध्यायों में मिश्रित जातियों के प्रसंग में तन्तुवाय, स्वर्णकार, कर्मार, वर्धकि, भवन-शिल्पी, वंशकार, इपुकार, दन्तकार, सुराकार, कुम्भकार, मालाकार, रजक, नापित आदि शिल्पियों का उल्लेख आता है[२]।

महाकाव्यों में अन्यान्य शिल्पियों के हस्त-लाघव के कल्पनातीत वर्णनों को देखकर तत्कालीन आर्थिक व्यवस्था में शिल्प-संगठन का महत्वपूर्ण स्थान प्रतीत होता है। युधिष्ठर के प्रासाद में सभाभवनों तथा सरोवरों की रचना के कारण असुरों के स्थापति माया का नाम सदैव अग्रगण्य रहना चाहिये[३]। रावण के राजप्रासाद का वर्णन भी बड़ा मनोरम है, जिसमें स्फटिक, मोती तथा अन्य सभी प्रकार के बहुमूल्य रत्न जड़े हुए थे। स्वर्णमय प्राचीर, हस्तिदन्त तथा रजतमय वातायन और स्वर्णिम सरणि-समूह के सहित लंकेश के राजभवन को देखते ही हनुमान द्वारा स्वर्ग की कल्पना करना उचित ही जान पड़ता है[४]।

वस्त्र-व्यवसाय की दशा भी उन्नतिपूर्ण दिखलाई पड़ती है। तन्तुवाय तथा कम्बलकार सुन्दर सूती, रेशमी तथा ऊनी वस्त्रों का निर्माण करते थे। सीता-स्वयंवर के अवसर पर राजा जनक ने अन्य उपहारों में बहुमूल्य रेशमी वस्त्र भी दिये थे[५]। रेशमी वस्त्रों में ही दशरथ की रानियों ने सीता का स्वागत किया था[६]। राम और सीता घर पर रेशमी वस्त्र ही धारण करते हैं[७]। यहाँ तक कि एक साधारण उपचारिका भी रेशमी वस्त्रों का प्रयोग करती है[८]। साधारण वस्त्रों के साथ ही[९] रत्न-जटित सुन्दर वस्त्रों का उपयोग भी होता था[१०]।

---

१. रामायण—अयोध्याकाण्ड—अध्याय ८३.

२. महाभारत—अनुशासन पर्व

३. महाभारत—२.५०.२५-२६.

४. रामायण—सुन्दरकाण्ड ९.

५. रामायण—बालकाण्ड—७४.

६. रामायण—बालकाण्ड—७७.

७. रामायण—अयोध्याकाण्ड ३७ तथा ७९.

८. रामायण—अयोध्याकाण्ड ७.

९. रामायण—किष्किन्धाकाण्ड.

१०. रामायण—सुन्दरकाण्ड.

कम्बलकारों का वर्णन राजधानी के निवासियों में ही आता है[१]। अयोध्या[२], किष्किन्धा[३] के साथ ही लंका में भी बहुमूल्य ऊनी वस्त्रों का उल्लेख आता है[४]।

राजप्रासादों तथा वस्त्रों के साथ विविध रत्नों एवं अन्यान्य धातुओं के वर्णन से बहुमूल्य खनिजपदार्थों तथा धातुओं के अधिकाधिक ज्ञान का बोध होता है। सोने तथा अन्य मूल्यवान् धातुओं के आभूषणों का निर्माण उस समय अधिकता से होता था। स्वर्णाभूषणों में रत्न जड़े जाते थे[५]। विविध आभूषणों में परिणत करने के उद्देश्य से हीरकों में छेद किये जाते थे अथवा उनके कई भाग आवश्यकतानुसार कर दिये जाते थे[६]। इस भाँति स्वर्णकार तथा मणिकार के शिल्प की विकासपूर्ण स्थिति का स्वभावतः भान होने लगता है।

अन्य शिल्पियों में कुम्भकार अपने चाक की सहायता से मिट्टी के वर्तन बनाते थे[७]। वर्धकि काष्ठकार वृक्षतक्षक के सहयोग से सुन्दर रथों, पालकियों तथा नावों का निर्माण करते थे। लौहकार कवच तथा युद्ध के आयुधों का निर्माण करते थे। इषुकार धनुष-बाण बनाने में दक्ष थे[८]। बाँस तथा चमड़े का व्यवसाय करने वाले शिल्पी बाँस के वर्तन तथा जूते बनाते थे। मालाकार गन्धोपजीवी तथा धूपक राजकुमारों तथा अन्य वैभवशाली व्यक्तियों के हेतु पुष्पमालाओं तथा इत्रादि का निर्माण कर अपनी जीविका चलाते थे। कैवर्त्तक, मल्लुवे, शिकारी, मिष्ठान्न-विक्रेता, संगीत तथा नृत्य-विशारद सभी अपने चातुर्य का प्रदर्शन करते हुये महाकाव्यों में चित्रित किये गये हैं। इन वर्णनों से स्वभावतः महाकाव्यों के निर्माण-काल की शिल्प-व्यवस्था पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है।

विभिन्न शिल्पकारों के साथ ही महाकाव्यों में उनके संगठन-सूचक शब्दों के प्रयोग से श्रेणी-समूहों की विद्यमानता का भी बोध होता है। रामायण में कई स्थानों पर श्रेणी-मुख्यों[९] के साथ ही नैगमों[१०] तथा गण-वल्लभों[११] का प्रयोग हुआ है। अयोध्या में राम के आगमन पर श्रेणी मुख्य उनका स्वागत करते हैं[१२]।

---

१. रामायण--अयोध्याकाण्ड ६७.
२. रामायण—बालकाण्ड ७३.
३. रामायण—किष्किन्धाकाण्ड ५०.
४. रामायण—सुन्दरकाण्ड ६.
५. रामायण—२.८३.१२
६. सुमृष्टमणिकुण्डलं—महाभारत-४.१८.१६.
७. कुलालचक्रवत्—महाभारत-७.२५.२६.
८. महाभारत-१३.२३.७६-७७.
९. रामायण-अयोध्याकाण्ड-अध्याय २६.
१०. रामायण-अयोध्याकाण्ड-१४.८६.
११. रामायण-अयोध्याकाण्ड-अध्याय ८१.
१२. रामायण-लंकाकाण्ड-अध्याय १२६.

महाभारत में भी श्रेणियों तथा उनके संगठन से सम्बन्धित अन्यान्य वर्णन प्राप्त होते हैं[१]। युधिष्ठिर तथा दुर्योधन की विजयों के उपलक्ष में होने वाले उत्सवों में अन्य व्यक्तियों के साथ श्रेणियों के मुख्य भी भाग लेते थे,[२]। श्रेणीबन्धों की उपेक्षा करने पर व्यक्तियों को दण्ड प्राप्त होता था। शान्ति-पर्व[३] में गणों की अवस्था पर यथेष्ट प्रकाश डाला गया है। गण-मुख्य अथवा गण-प्रधान अपनी कार्यकारिणी का निर्माण करते थे और वे ही कार्य-प्रबन्ध तथा न्याय-व्यवस्था की देख-रेख करते थे। गणों की संख्या अधिक थी। शक्तिशाली होने की स्थिति में राजा उनकी सहायता का इच्छुक रहता था। गण के अशक्त रहने की स्थिति में उसकी नीति गुप्त नहीं रह सकती थी। गण अपने संघातों का निर्माण करते थे[४]। अपनी महत्वपूर्ण स्थिति के कारण ही श्रेणि-समूह राज्य-शक्ति के प्रमुख आधार माने जाते थे[५]। विपक्षी-राष्ट्र को हानि पहुँचाने के उद्देश्य से श्रेणी-मुख्यों के बीच मतभेद कराना तथा उन्हें देश-द्रोह के हेतु प्रेरित करना उपयोगी साधन समझे जाते थे[६]।

बौद्ध-साहित्य की भांति जैनसाहित्य में भी तत्कालीन भारतीय व्यावसायिक स्थिति की स्पष्ट रूप-रेखा दृष्टिगत होती है। आवश्यक चूर्णि में पांच महत्वपूर्ण व्यवसायियों--नन्तिवंक-कोलिय, कुम्भकार, रथकार, कम्मार और नापित का नामोल्लेख है[७]। प्रथम नाम का प्रयोग वस्त्र बनाने वाले व्यवसायियों के लिये किया गया है। कपड़ा बुनने का काम 'तन्तुवाय' करते थे। काम करने के लिये इनकी अपनी तंन्तुवायशालायें होती थीं[८]।

---

१. महाभारत—आदिपर्व तथा शान्तिपर्व

२. महाभारत—वनपर्व—अध्याय २४८.

३. महाभारत—शान्तिपर्व—अध्याय १०७.

४. जायसवाल--हिन्दू पालिटी--अध्याय १४.

५. आददीतब्बलं राजा मौलं मित्रबलं तथा।
अटवीबलं भृतं चैव तथा श्रेणिबलं प्रभो॥
तत्र मित्रबलं राजन् मौलं चैव विशिष्यते।
श्रेणिबलं भृतं चैव तुल्ये एवेति मे मतिः॥
तथा चारबलं चैव परस्परसमं नृप।
विशेयं बहुकालेषु राज्ञा काल उपस्थिते॥ महा० आश्रमवासिक पर्व ७.७-६.

६. अग्निदैर्गरदैश्चैव प्रतिरूपक कारकैः।
श्रेणिमुख्योपजापेन वीरुधेश्छेदनेन च॥
श्रेणिमुख्योपजापेषु वल्लभानुनयेषु च।
अमात्यान् परिरक्षेत भेदसंघातयोरपि॥ महाभारत--शान्तिपर्व ५६.४६, तथा महा०, शा० १४१.६४.

७. आवश्यक चूर्णि १५६.

८. वही, २८२.

रेशमी वस्त्रों के बनाने वाले 'पट्टकूल' के नाम से सम्बोधित होते थे[1]। विविध वस्त्रविक्रेताओं--कप्पासिय, दोसिय, सोत्तिय के वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि कपड़े बनाने का व्यवसाय पर्याप्तरूप से विकसित था। यही कथन कुम्भकार-व्यवसाय के विषय में भी सत्य है। समृद्ध कुम्भकार अपने मृण्भाण्डों के निर्माण का कार्य कम्मसाला में, पकाने का कार्य पचनसाला में, संग्रह-कार्य भाण्डसाला में और विक्रय-कार्य पणियसाला में करते थे[2]। रथकार से एकमात्र रथ-निर्माता का ही बोध नहीं होता। वास्तव में वह आधुनिक बढ़ई का पर्यायवाची है। अपने कार्य के महत्व के कारण एक स्थान पर उसकी गणना राजसभा के चार रत्नों में की गई है[3]। कम्मार अधुनिक लौहकार है। यह प्रायः अपनी दूकानें कम्मार सालाओं में कार्य करते थे। वहीं पर उसके 'अयकोट्ठ', 'संडसी' और 'अहिकरणी' इत्यादि उपकरण रहते थे[4]। निर्मित वस्तुओं में कवल्लि, तवय, कंड्य, थाल, मल्लग, पाई अवपक्क, सुइ, पिप्पलग आदि के नाम मिलते हैं[5]। यह समस्त सामग्री अय, तम्ब, सीसग, ताम्र, जसद आदि धातुओं से निर्मित होती थी[6]। इसी प्रकार चम्मकार समाज का एक आवश्यक व्यवसायी था। विभिन्न वस्तुओं के निर्माण के लिये ये लोग गाय, भैंस, भेड़, बकरी, कुत्ता, सिंह आदि पशुओं के चर्म का प्रयोग करते थे[7]। इनकी निर्मित वस्तुओं में अनेक प्रकार के जूते, कम्मेट्ठ, मशक, किणिक आदि विशेष उल्लेखनीय हैं[8]। घास, पत्तियों, छाल और बाँस आदि से बनने वाली वस्तुओं का व्यवसाय भी पर्याप्त रूप से विकसित था। इनके निर्माण एवं विक्रय के हेतु स्थान-स्थान पर दूकानें (कम्मन्त) थीं[9]। निर्मित वस्तुओं में वालवीज, वेणुसंपच्छणी, वासत्ताण, मुंजपादुका, गोणि, वेणुफल आदि प्रमुख हैं[10]। इन प्रमुख व्यवसायियों के अतिरिक्त जैन साहित्य मालाकार, गंधिय, तेगिच्छक, नट्टग, मल्ल, आइक्खग, लासग, हासकर, तुम्बवीणिय आदि बहुसंख्यक जीविकानुसारियों का उल्लेख

---

1. पन्नवणा १.३७.
2. निशीथ चूर्णि १५ १०५८, बृहत्कल्प भाष्य २,३४४४.
3. आवश्यक चूर्णि २.५६.
4. भगवती १६.१.
5. नायाधम्मकहा टीका १.४२, भगवती ११.६, विवागसुय ३.२२. बृहत्कल्पभाष्य १.२८८३.
6. ओवाइय सूत्र ३८.१७३.
7. बृहत्कल्प भाष्य ३.२८२४, १.१०१६
8. पण्णवणा १.३७, आवश्यक चूर्णि २९२; व्यवहार भाष्य ३.२०.
9. आचारांग २.२.३०३
10. आवश्यकचूर्णि १३८; नायाधम्मकहा १.११; बृहत्कल्प भाष्य ३.४०९७; पण्णवणा १.१३७; रायपसेणिय २१.६३; सूयगडंग ४.२,८; बृहत्कल्प भाष्य २.३६७५.

करता है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इनमें से लघुकर्मा एवं श्रमशील व्यक्ति तो स्वतन्त्ररूप से जीविकोपार्जन करते थे। उनमें पारस्परिक संगठन न था, परन्तु देश के प्रमुख व्यवसायानुसारी व्यक्ति श्रेणियों के रूप में संगठित थे। जैन साहित्य इस प्रकार की १८ श्रेणियों का उल्लेख करता है[१]। ये श्रेणियाँ अपने सदस्यों की हित-रक्षा का ध्यान रखती थीं। कदाचित् राज व्यवस्था में भी इन्हें सम्मान्यता प्राप्त थी। राजा उनके प्रतिनिधित्व एवं विचारों का आदर करता था। एक स्थान पर चित्रकारों की श्रेणी के आवेदन करने पर राजा ने उसके एक चित्रकार-सदस्य का मृत्यु-दण्ड निर्वास-दण्ड में परिवर्तन कर दिया था[२]। ऐसा प्रतीत होता है कि अपने आन्तरिक विषयों में श्रेणियों को व्यवस्थापन एवं न्यायवितरण के भी कुछ अधिकार प्राप्त थे[३]।

भारतीय अर्थशास्त्र अथवा वार्ता के अन्तर्गत वाणिज्य का विशेष महत्वपूर्ण स्थान सभी शास्त्रकारों ने माना है[४]। भारतीय अर्थव्यवस्था के विकास की प्रथम स्थिति में वाणिज्य को अधिक मान्यता प्राप्त न थी, क्योंकि वाणिज्य की उन्नति नगरों के उदय के साथ ही हुई। वैदिक-काल में नगरों का उल्लेख नहीं मिलता। पाणिनि ने तक्षशिला आदि नगरों का उल्लेख किया है। बौद्ध तथा जैन धर्मों के उदय के समय जहाँ नगरों की संख्या में वृद्धि होने लगी, वहाँ साथ ही वाणिज्य का भी आश्चर्यजनक विकास हुआ। पाणिनि ने एक सूत्र में द्वीपों में व्यापार का उल्लेख किया है[५]। अन्य सूत्रों से देश के निश्चित भू-भागों के साथ व्यापार करने वाले व्यापारियों का बोध होता है[६]। अष्टाध्यायी में प्रयुक्त 'गन्धारवाणिज', 'काश्मीरवाणिज' और 'भद्रवाणिज' आदि शब्दों से अन्तःप्रदेशीय वाणिज्य का बोध होता है। देश में स्थान-स्थान पर शुल्कशालायें थीं जहाँ व्यापारियों से विक्रय वस्तुओं पर शुल्क लिया जाता था[७]। पाणिनि ने सांस्थानिक[८] व्यापार का भी उल्लेख किया है जिसे अनेक व्यापारी सम्मिलित रूप से करते थे। यह साझे का व्यापार था[९]।

बौद्ध तथा जैनग्रन्थों में व्यापारी के हेतु 'वणिजों' शब्द का प्रयोग हुआ है। तत्कालीन अर्थ-व्यवस्था में वाणिज्य के कई रूप प्रचलित थे। प्रथम तो ग्रामों तथा नगरों में

---

१. आवश्यक चूर्णि २६०; जम्बुद्दीवपन्नत्ति ३.४३.१९३.
२. नायाधम्मकहा ८.१०७.
३. विनय ४.२२६.
४. कौटिल्य १.४ अथवा शुक्रनीति १.३११.
५. द्वैप्यो वणिक्—४.३.१०.
६. पाणिनि—४.१.१३.
७. पाणिनि—५.१.४७.
८. पाणिनि—४.४.७२.
९. डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने 'जर्नल आफ दि यू०पी० हिस्टारिकल सोसायटी' भाग १४ पृ० ११-१२ में ट्रेड ऐण्ड कामर्स इन पाणिनि' शीर्षक के अन्तर्गत अष्टाध्यायी के आधार पर एक बड़ा सुन्दर लेख लिखा है।

प्रचलित सामान्य वस्तुओं का व्यापार था। नगरों में दूकानें स्थित थीं, जिन्हें 'आपण' कहते थे। इन पर किसी एक ही व्यापारी का अधिकार होता था। व्यापारी प्रायः किसी एक ही विशेष वस्तु का ही व्यापार करते थे। पाणिनि ने भी 'लावणिक'[१] तथा 'सलालुक'[२] शब्दों का प्रयोग किया है। प्रत्येक ग्राम के अपने व्यापारी होते थे। वहाँ पर क्रय-विक्रय प्रत्यक्ष रीति से दूकानों अथवा किसी खुले स्थान में होता था। स्थानीय आवश्यकता के हेतु ग्रामीण अपने उत्पादन का कुछ भाग गाँव के बाजार में ही बेंच देते थे। अपनी आवश्यकता से अधिक बच जाने पर शेष भाग नगरों के व्यापारी ले जाते थे और इस भाँति यह सारा अतिरिक्त अंश देश के विभिन्न व्यापारिक केन्द्रों में पहुँच जाता था, जहाँ से वह देश के अन्य भागों में आवश्यकतानुसार भेज दिया जाता था।

नगर के भीतर विभिन्न व्यवसायों के आधार पर वीथियों[३] के नाम निश्चित थे। खाद्य सामग्री[४], शाक-तरकारियाँ[५] तथा पुष्प आदि नगरों के द्वार पर ही विक्रय हेतु आते थे। वहीं पर सूनागार भी थे[६]। पानागार तथा सुरापण का भी उल्लेख इसी भाँति मिलता है[७]। नगरवीथियों के दोनों किनारों पर दूकानें होती थीं। भिक्षु प्रायः भिक्षा हेतु ग्राम अथवा नगर में जाते समय स्वकर्मनिरत कृषकों को तथा आपण में कार्य करते हुए शिल्पियों को देखते थे[८]। बाजार में सभी आपणों में विक्रय के लिये विविध प्रकार की वस्तुयें सजी रहती थीं[९] अथवा अन्तरापण[१०] में इनका संग्रह होता था।

क्रय-विक्रय की एक प्रथा फेरीवालों के माध्यम की थी। वे वीथियों में अपने सामान को लेकर फिरते थे[११] और एक स्थान से दूसरे स्थान को जाते रहते थे[१२]। प्रायः वे विक्रय की वस्तुयें गधों अथवा गाड़ियों पर लेकर चलते थे[१३]।

स्थानीय उत्पादन की वस्तुयें या तो बड़े नगरों को भेज दी जाती थीं अथवा नेगमगामों[१४] में उनका विक्रय होता था। न केवल छोटे व्यापारी ही वरन् धनाढ्य विक्रेता भी इन व्यापारिक केन्द्रों में जाकर इनका क्रय करते थे। दोनों वर्ग मोल-भाव करने के पश्चात्

---

१. पाणिनि—४.४.५१.
२. पाणिनि—४,४.५४.
३. जातक १.६२०.
४. जातक १.३६१.
५. जातक १.४४२; २.१९६; ३.२१.
६. जातक ३.१००; ५.४५८; ६.६२.
७. जातक १.१२१, २५२, २६६, ३५०.
८. कैम्ब्रिज हिस्ट्री आव् इण्डिया १.२१५.
९. जातक २.२६७; ३.१६८.
१०. जातक १.३५०; ३.४०६.
११. जातक १.१११, २०५, २.४२४, ३.२१, २८३.
१२. जातक ३.५४
१३. जातक २.१०६.
१४. जातक १.२०५, २.२२५-२३२, ३.२१, २८३.

ही सौदा तय करते थे। कभी-कभी गांवों के समीप ऐसे व्यक्ति रहते थे, जो [illegible] द्वारा लाया [illegible] वस्तुओं का मूल्य स्थिर करते थे।

आदान-प्रदान करते थे दोनों पक्षों को पूर्ण स्वतन्त्रता थी। वस्तुओं का मूल्य निश्चित न था। [illegible] वस्तु-विनिमय में कठिनाई उत्पन्न हो जाती थी। [illegible]

[illegible]

[illegible]

१. [illegible]
२. [illegible]
३. [illegible]
४. [illegible]
५. [illegible]
६. [illegible]
७. [illegible]
८. [illegible]
९. [illegible]
१०. [illegible]

वणिक समुद्र तक नदी के तटवर्त्ती नगरों से व्यापार करते थे[१]। चुल्लकसेट्ठि जातक[२] में एक वणिकपोत के विक्रय का उल्लेख आता है, जिसमें एक निर्धन परिवार का नवयुवक पोत की सभी सामग्री का क्रय कर लेता है और वह २,००,००० प्रचलित मुद्राओं का लाभ प्राप्त कर बनारस लौटता है।

स्थल और जलमार्गों की सुगमता से देश के सभी प्रसिद्ध व्यापारिक नगर एक दूसरे से सम्बद्ध थे। पूर्व से पश्चिम[३] का प्रमुख मार्ग[४] पूर्ववर्त्ती बौद्धग्रन्थों के आधार पर मगध अथवा चम्पा से लेकर मिथिला[५], बनारस[६] सहजाति[७] तथा कौशाम्बी[८] तक उपयोग में आता था। बनारस का व्यापार उज्जैन[९] से भी होता था। इसके बीच में कौशाम्बी और चेदि देश पड़ते थे। विदेह से काश्मीर और गन्धार तक व्यापारिक मार्ग जाते थे। पश्चिम में सिन्ध देश से अश्व[१०] देश के अन्य भागों को भेजे जाते थे। मगध से सौवीर को भी व्यापारियों के जाने का उल्लेख है। राजपूताना के पश्चिम में मरुस्थल को पार करते समय व्यापारी रात्रि के समय ही यात्रा करते थे और उस समय तारों की गति पर ध्यान रखकर[११] मार्ग का पता लगाते थे। समुद्री वाणिज्य के अन्तर्गत तो भारतीय व्यापारियों की यात्रायें ताम्रपर्णी[१२], सुवर्णभूमि[१३] के साथ ही भृगुकच्छ से होकर बैबीलोन, मिस्र आदि पश्चिमी देशों तक होती थीं।[१४]

अन्य व्यवसायियों की भाँति व्यापारी वर्ग भी अपने श्रेणियों के रूप में संगठित था। वाणिज्य-श्रेणि-समूह भी प्रायः वंशानुगत प्रथा पर आधारित थे। धज्ज वनिजकुल[१५] तथा पणिककुल[१६] आदि शब्दों के प्रयोग से इस कथन की पुष्टि होती है। छोटे-छोटे व्यावसायिक जो अपनी वस्तुयें नगर की वीथियों में चिल्ला-चिल्लाकर बेंचते थे[१७] अथवा वे सौदागर जो कुछ अधिक मात्रा में विक्रय हेतु सामग्री गधों पर लादकर अपने क्षेत्र में

---

१. महाजनक जातक
२. जातक १, १२६.
३. पुब्बन्ता अपरन्तं– जा० १.६८, ३६८, ३.५०२, ५.४७१.
४. अपण्णकजातक १.६८.
५. गन्धार जातक ३.३६५.
६. जातक १, १२६.
७. विनय २, ४०१.
८. विनय ३, ३८२.
९. जातक २, २४८.
१०. जातक १, १२४, २, ३१, २८७.
११. जातक १, १०७.
१२. बलाहस्स जातक ४, १३८, ४२.
१३. महाजनक जातक ६, ३४.
१४. सुप्पारक जातक ४, १३८–४२.
१५. जातक ३. १६८.
१६. जातक १. ३१२.
१७. कच्छपट्टवाणिज–१, १११.

बेचते थे[१], सम्भवतः किसी श्रेणि-समूह में संगठित न थे। जातकों में कई व्यापारियों द्वारा एक साथ वाणिज्य करने का उल्लेख मिलता है।[२] महावाणिज जातक[३], सीरवाणिज जातक[४] तथा गुट्टिल जातक[५] में साझे की प्रथा के उदाहरण प्राप्त होते हैं। उत्तर की ओर से जाने वाले अश्व-व्यापारी प्रायः साथ मिलकर ही व्यापार करते थे।[६]

इसके साथ ही देश के विभिन्न भागों में व्यापार करने वाले व्यापारियों का वर्णन भी आता है। कभी-कभी तो पाँच-सौ गाड़ियों तक की संख्या में व्यक्ति व्यापारिक वस्तुएँ लादकर चलते थे।[७] ऐसे व्यापारी-समूह का नेता 'सत्थवाह' कहलाता था। 'सत्थवाह-कुल'[८] का प्रयोग यह द्योतन करता है कि व्यापारी-वर्ग के नेतृत्व की यह स्थिति वंशानुगत रूप में प्राप्त होती थी।

अपनी समृद्धिपूर्ण स्थिति के कारण तत्कालीन समाज-व्यवस्था में व्यापारी-वर्ग की यथेष्ट प्रतिष्ठा प्राप्त होने के अनेक प्रमाण मिलते हैं। गहपति, कुटुम्बिक तथा सेट्ठि शब्द प्रधानतः व्यापारी-समुदाय के सदस्यों की सम्मानित अवस्था के सूचक हैं। विनय-पिटक में सेट्ठि के महत्वपूर्ण कार्यों का उल्लेख आता है। सेट्ठि-राजा तथा स्ववर्ग दोनों के हितसाधन में लगे रहते थे[९]। श्रावस्ती के प्रसिद्ध श्रेष्ठी अनाथपिण्डिक[१०] का नाम अपने समय के धनाढ्य तथा परोपकारी व्यक्तियों में अग्रगण्य था। श्रेष्ठी अपनी राजकीय स्थिति में व्यापारी वर्ग के प्रतिनिधि की दृष्टि से राजदरबार में सम्मान पाता था[११]। अपनी अधिकारपूर्ण स्थिति में वह राजुपट्ठान[१२] में भाग लेता था। कभी-कभी तो राजा के आश्रय में दिन में कई बार तक जाता था[१३]। राज्य की आर्थिक व्यवस्था की देख-रेख राजकर्मचारियों के वेतन का भुगतान तथा व्यापारिक वर्ग के हितों की रक्षा करने का उत्तरदायित्व उसी पर रहता था। राज्य से बाहर यात्रा करने, सांसारिक वैभव त्याग करने[१४] तथा अपनी सम्पत्ति का दान करने[१५] के पूर्व उसे राजा की स्वीकृति प्राप्त करनी पड़ती थी।

---

१. २. १०६.
२. अञ्ञेन वाणिजेन सद्धिं एकतो हुत्वा वाणिज्जं करोति—जा० १. ४०४.
३. जातक ४. ३५०.
४. जातक १. १११.
५. जातक २. २४८.
६. जातक २. ३१.
७. जातक १. ९८, १०७, १९४, ३६८.
८. जातक २. ३९५, ३, २००.
९. महावग्ग ८. १. १६ 'बहूपकारो देवस्स च एव नेगमस्स च'।
१०. चुल्लवग्ग ६. ४. १.
११. फिक—सोशल आर्गनाइजेशन, पृष्ठ २५६.
१२. जातक १. २६९, ३४९, ३. ११९, २९९, ४. ६३.
१३. जातक २. ४७५—'दिवस्स तयो वारे राजुपट्ठानम् गच्छति'।
१४. जातक २. ६४.
१५. जातक ५. ३८२.

वंशानुगत सामाजिक स्थिति की भाँति ही श्रेष्ठी का राजकीय स्थान भी उसे उत्तराधिकार में प्राप्त होता था[1]। पिता की मृत्यु के उपरान्त उसका पुत्र व्यापारी वर्ग का प्रतिनिधित्व करने लगता था[2]।

बौद्ध-साहित्य के अतिरिक्त वाणिज्य की अवस्था का परिचय हमें कौटिलीय अर्थ व्यवस्था के अन्तर्गत प्राप्त होता है। अर्थ-शास्त्र में वाणिज्य एवं व्यवसाय की उचित व्यवस्था पर विशेष ध्यान दिया गया है। भारतीय व्यवस्थाकारों ने सदैव वाणिज्य में उचित मूल्य पर विशेष बल दिया है। ऐसा प्रतीत होता है कि अर्थ-शास्त्र की रचना के पूर्व सम्पत्ति के दुरुपयोग का घातक प्रभाव समाज में परिव्याप्त हो रहा था और इसी से धर्म-सूत्रों में सूदखोरी तथा वस्तुओं के भावों में अतिवृद्धि की स्पष्ट शब्दों में निन्दा की गई है[3]। फलतः वाणिज्य में उचित मूल्य तथा व्यवसायों में उचित लाभ के साथ श्रमिकों के उपयुक्त वेतन की व्यवस्था ने तत्कालीन शासन-नीति के उद्देश्यों के अन्तर्गत मुख्य स्थानग्रहण किया।

कौटिल्य की अर्थ-व्यवस्था में भूमि के पश्चात् वाणिज्य और व्यवसाय ही राज्य की आय के मुख्य साधन थे, इसी से अर्थ-शास्त्र में वाणिज्य और व्यवसाय पर राज्य का पूर्ण नियन्त्रण स्वीकार किया गया है। कौटिल्य ने व्यापारियों को चोर की भाँति माना है। अनुचित लाभ से आय-वृद्धि करने के कारण राज्य सदैव व्यापारियों को सन्देह की दृष्टि से देखता था। अतएव व्यापारियों एवं व्यवसायियों के कार्यों में राज्य की ओर से सदैव हस्तक्षेप होता रहता था। राज्य स्वयं प्रतियोगिता के रूप में अपने उत्पादन की वृद्धि में सचेष्ट रहता था। इसी से व्यापारियों को सदैव राज्य की नीति के प्रति सतर्क रहना पड़ता था। राज्य प्रायः अपनी आय के क्षेत्र में अपने हितों की विशेष चिन्ता करता था, जिसके कारण व्यक्तिगत वाणिज्य की बहुत कम सुविधा थी।

राज्य में विभिन्न वस्तुओं के व्यापार में खनिज पदार्थ, नमक, राजकीय भूमि तथा शिल्प-केन्द्रों के उत्पादन के विषय में शासन को विशेष अधिकार प्राप्त थे। इन सभी वस्तुओं के विक्रय की व्यवस्था पण्याध्यक्ष[4] की देख-रेख में होती थी, जो व्यापारी वर्ग द्वारा निर्मित वस्तुओं के पूर्व ही अपनी वस्तुओं के विक्रय हेतु सचेष्ट रहता था।

वाणिज्य के सम्बन्ध में राज्य सदैव अपने कोष को पूर्ण रखने का इच्छुक रहता था और इसके साथ ही राज्य की ओर से यह प्रयत्न बराबर किया जाता था कि प्रजा को वस्तुएँ अधिकाधिक कम मूल्य पर प्राप्त हो सकें। इसी कारण कोई भी व्यापारी राजाज्ञा प्राप्त किये बिना किसी वाणिज्य को प्रारम्भ नहीं कर सकता था। जो कोई भी व्यक्ति किसी दूकान को खोलना चाहता था, तो उसे इसके लिये राज्य से आदेश-पत्र प्राप्त करना होता

१. जातक १. २३१, २४८, ३. ४७५ 'सेट्ठिट्ठानं'।

२. ४. ६२.

३. प्रकाशवंचकास्तेषां नानापण्योपजीविनः ।
प्रच्छन्नवंचकास्त्वेते ये स्तेनाटविकादयः ॥ मनु० ९. २५७.

४. अर्थशास्त्र २. १६.

था[1]। राज्य जब व्यापारियों को वाणिज्य की अनुमति देता था तभी वे व्यापार कर सकते थे। निश्चित व्यापारियों के अतिरिक्त जो व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं से अधिक क्रय करता था, उसका सभी क्रीतमाल छीन लिया जाता था[2]।

वस्तुओं के भाव और लाभ की समुचित व्यवस्था करने के उद्देश्य से कौटिल्य ने बाजार में ही सभी वस्तुओं के विक्रय की आज्ञा दी है। कोई भी वस्तु अपनी उत्पत्ति के स्थान में बेंची नहीं जा सकती थी[3]। ग्रीक-इतिहासकारों ने भी कौटिल्य की इस वाणिज्य व्यवस्था की पुष्टि की है। मेगास्थनीज़ के कथनानुसार सभी वस्तुओं की परीक्षा होती थी और उसके पश्चात् स्थानीय अधिकारी उनकी मुहरबन्दी करके उसे, बाज़ार में बेचने की आज्ञा दे देते थे। वहाँ पर सभी वस्तुओं का मूल्य निश्चित रहता था। पाटलिपुत्र का नगर-निगम वाणिज्य की पूर्णरूपेण देख-रेख करता था और उसी के तत्वावधान में वस्तुओं का क्रय-विक्रय होता था[4]। अर्थशास्त्र में भी वाणिज्य और व्यवसाय से सम्बन्धित बातों की समुचित व्यवस्था करने के हेतु शुल्काध्यक्ष, पण्याध्यक्ष पोताध्यक्ष तथा अन्तपाल नियुक्त थे। पण्याध्यक्ष वस्तुओं की प्राप्ति, विक्रय तथा मूल्य-अवधारण की व्यवस्था करता था। व्यापारी सर्वप्रथम वाणिज्य प्रारम्भ करते समय उसकी स्वीकृति प्राप्त करते थे। वह वस्तुओं के विक्रय में अनुचित लाभ उठाने तथा खाद्यसामग्री में मिलावट करने पर व्यापारियों को दण्ड देता था। कौटिल्य ने इसी से पण्याध्यक्ष को वाणिज्य का पूर्ण ज्ञाता होना आवश्यक समझा है[5]।

शुल्काध्यक्ष[6], पोताध्यक्ष[7] तथा अन्तपाल[8] क्रमशः चुंगी, तौल, मापनिरूपण और विदेशी व्यापार की देख-रेख करते थे। वाणिज्य से सम्बन्धित ये सभी अधिकारी व्यापारियों की गति-विधि पर पूर्ण दृष्टि रखते थे। इसके पूर्व जातकों के वर्णनों में मोल-भाव का उल्लेख मिलता है, जिसमें निश्चय ही व्यापारी अनुचित लाभ प्राप्त करते थे।[9] इस दुरवस्था की सम्भावना नष्ट करने के उद्देश्य से ही अर्थशास्त्र में लाभ तथा वस्तुओं के भाव निश्चित कर दिये हैं।[10] व्यापारी नाम में न सही, किन्तु कर्म में चोर ही माने गये

---

१. कौटिल्य २. १६.
२. तेन धान्यपण्यनिचयांश्चानुज्ञाता कुर्युः, अन्यथानिचितमेषांपण्याध्यक्षो गृह्णीयात्।
३. "जातभूमिषु पण्यानामविक्रयः। खनिभ्यो धातुपण्यादानेषुषट् छतमत्ययः।" कौटिल्य २. २१.
४. मेगास्थनीज-३४-स्ट्रैबो १५. १. ५०-५२.
५. पण्याध्यक्षः स्थलजलजानां नानाविधानां पण्यानां स्थलपथवारिपथोपयातानां सारफल्वर्घान्तरं प्रियाप्रियतां च विद्यात्। तथा विक्षेपसंक्षेपक्रय-विक्रय प्रयोगकालान्।—कौटिल्य २. १६.
६. कौटिल्य—२. २१
७. कौटिल्य—२.१६.
८. कौटिल्य—२.२१.
९. जातक १.१११, १६५, २.२२२, २४६, ४२४.
१०. कौटिल्य ४. २.

हैं।[१] अतएव व्यापारियों को प्राप्त होने वाले लाभ की दरें भी नियत कर दी गई थीं।[२] क्रय-विक्रय सम्बन्धी अर्थशास्त्र की व्यवस्था का पालन बाद के धर्मसूत्रकारों ने भी किया है।[३]

व्यापारी अतिलाभ करने की स्थिति में राज्य द्वारा दण्डित किये जाते थे।[४] इसी भाँति आवश्यकता एवं आवश्यकता पूर्ति की विषम परिस्थितियों का अनुचित लाभ उठाने की दृष्टि से कोई व्यापारी वस्तुओं का मनमाना क्रय करने की कुचेष्टा भी न कर सकता था। असाधारण स्थिति में वस्तुओं के भावों में उतार-चढ़ाव न होने दिया जाता था। किसी वस्तु का विक्रय अधिक होने की सम्भावना के समय पण्याध्यक्ष स्वयं उसके विक्रय की व्यवस्था करता था और अनेक विक्रेताओं के स्थान पर केवल एक व्यक्ति ही उसके विक्रय का उत्तरदायी होता था।[५] इसी भाँति वणिक्-समूह व्यक्ति-विशेष अथवा सामूहिक रूप में वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि अथवा न्यूनता नहीं कर सकता था, अन्यथा उन्हें कठोर अर्थ-दण्ड मिलता था।[६]

अर्थशास्त्र के रचयिता ने विक्रय हेतु अन्य वस्तुओं की अपेक्षा खाद्य पदार्थों की स्वच्छता पर विशेष ध्यान दिया है। राज्य की ओर से खाद्य-वस्तुओं को शुद्ध रखने की भरसक चेष्टा की जाती थी और हानिकारक द्रव्यों के सम्मिश्रण की कठोर भर्त्सना की जाती थी। अन्न, तेल, नमक, सुगन्धित खाद्य वस्तुयें तथा औषधीय द्रव्यों में मिलावट करने का सर्वथा निषेध था।[७] इसके साथ ही राज्य की ओर से तुला-माप पर भी पूर्ण नियन्त्रण था और कोई व्यापारी अनियमित नाप-तौल का दुस्साहस न कर सकता था, अन्यथा उसे कठोर दण्ड मिलता था। पोताध्यक्ष विनिमय की सभी वस्तुओं की तुला-माप की समुचित व्यवस्था करता था।[८]

स्थल-वाणिज्य की अपेक्षा कौटिल्य ने समुद्री व्यापार को विशेष सुविधायें देने की योजना की है। नदियों में नावों का प्रबन्ध राज्य की ओर से रहता था। विदेशी व्यापार को

१. एवं चोरानचोराख्यान् वणिक्कारुकुशीलवान्।
भिक्षुकान् कुहकांश्चान्यान्वारयेत् देशपीडनात्॥ अर्थशास्त्र ४.२ पृ० २०२

२. अनुज्ञानक्रयादुपरि चैषां स्वदेशीयानां पण्यानां पंचकं शतमाजीवं स्थापयेत परदेशीयानां दशकम्। अर्थशास्त्र पृ० २०२.

३. मनुस्मृति ८.२४६–२६, याज्ञवल्क्य २.२२६, विष्णु ५.१२४.

४. ततः परमर्घम् वर्धयतां क्रये विक्रये च भावयतां पणशते पंचपणाद्विशतो दण्डः—कौटिल्य ४.२.

५. पण्यबाहुल्यात् पण्याध्यक्षः सर्वपण्यान्येकमुखानि विक्रीणीत। तेष्वविक्रीतेषु नान्ये विक्रीणीरन्—कौटिल्य ४.२.

६. वैदेहकानां व सम्भूय पण्यमवरुन्धतामनर्घेण विक्रीणतां व सहस्र दण्डः।—कौटिल्य ४.२.

७. धान्यस्नेहक्षारलवणगन्धभैषज्यद्रव्याणां समवर्णोपधाने द्वादशपणो दण्डः।

८. कौटिल्य २.१६.

प्रोत्साहित करने की दृष्टि से लाभ कम होने की स्थिति में व्यापारियों को चुंगी कम करने की आज्ञा दी गई है।[1] मेगास्थनीज के वर्णन से भी देश में विदेशियों के रहने की पुष्टि होती है। पाटलिपुत्र के नगर-निगम की एक समिति विदेशियों की मृत्यु हो जाने पर उनकी सम्पत्ति की देख-भाल करती थी और विदेशियों की सुरक्षा का प्रबन्ध करती थी।[2] राज्य की ओर से विदेशी बाजारों में देशी वस्तुओं के विक्रय के सभी सम्भाव्य प्रयत्न किये जाते थे। ऐसे निर्यात के विभिन्न शुल्कों का ध्यान रखकर ही उनका मूल्य निश्चित किया जाता था। व्यापारियों को निर्यात के विषय में यथेष्ट सुविधायें दी जाती थीं।[3] आयात के क्षेत्र में राज्य को हानि पहुँचाने वाली वस्तुओं का आयात सर्वथा निषिद्ध था, किन्तु राष्ट्र के उपयोग में आने वाले अप्राप्त बीजों तथा वस्तुओं के आयात की पूर्ण आज्ञा थी।[4] इस भाँति कौटिल्य की वाणिज्य-व्यवस्था में जहाँ देशीय क्षेत्र में व्यापारियों की अपेक्षा राज्य के वाणिज्य के द्रुत प्रसार की पूर्ण चेष्टा की जाती थी, वहाँ साथ ही विदेशी व्यापार को प्रोत्साहन देने की दृष्टि से वाणिज्य की समस्त सुविधायें व्यापारी-वर्ग को प्रदान की जाती थीं। राज्य प्रतियोगिता के द्वारा अपने व्यापार को सर्वोपरि स्थान देता था। व्यापारियों तथा प्रजा के हितों के विषय में राज्य सदैव प्रजा के हित-साधन का प्रयत्न करता था।

वाणिज्य-व्यवस्था का वर्णन महाकाव्यों में वार्ता-शास्त्र के अन्य अंगों की भाँति संकेत रूप से प्राप्त होता है। राम भरत से कृषकों तथा व्यापारियों के हितों की रक्षा करने के लिये कहते हुए दिखाई देते हैं[5]। महाभारत में भी कृषि, गोरक्षा तथा वाणिज्य सांसारिक जीवन के आधार माने गये हैं[6]। रामायण और महाभारत, दोनों ग्रन्थों में ही वाणिज्य की उन्नत दशा का उल्लेख मिलता है। राज्य का संरक्षण प्राप्त कर वाणिज्य की पूर्ण उन्नति

---

१. परभूमिजं पण्यमनुग्रहेणावाहयेत्। नाविक सार्थवाहेभ्यश्च परिहारमायाति दामं दद्यात्। अनभियोगश्चार्थेष्वागन्तुनामन्यत्र सभ्योपकारिभ्यः—कौटिल्य २, १६.

२. मेगास्थनीज—३४-स्ट्रैबो १५, १, ५०—५२.

३. परविषयेतु पण्यप्रतिपण्ययोरर्घमूल्यं च आगमय्य शुल्कवर्तन्यातिवाहिकगुल्म तरदेयभक्तभागव्ययशुद्धमुदयं पश्येत्। असत्युदयेभाण्डनिर्वहणेन पण्यप्रतिपण्यार्घेण वा लाभं पश्येत्। ततः सारपादेन स्थलव्यवहारमध्वना क्षेमेनप्रयोजयेत् अटव्यन्तपालपुरराष्ट्रमुख्यैश्च प्रति संसर्गम् गच्छेदनुग्रहार्थम्। कौटिल्य २, १६.

४. राष्ट्रपीडाकरं भाण्डमुच्छिन्द्यात् अफलं च यत्।
महोपकारम् उच्छुल्कं कुर्यात् बीजं च दुर्लभम्॥

५. रामायण—अयोध्याकाण्ड १०३.

६. कृषिगोरक्षवाणिज्यम् लोकानामिह जीवनम्—महाभारत, शान्तिपर्व अध्याय ८९

हो रही थी[1]। अयोध्या में अन्य बहुत से देशों के व्यापारी रहते थे[2]। महाभारत में देश के विभिन्न भूभागों तथा प्रसिद्ध नगरों के बीच सम्बन्ध स्थापित करने के उद्देश्य से राज-मार्गों का वर्णन आता है[3]। विदर्भ के राजा भीम की पुत्री दमयन्ती अपने पति नल से वियुक्त होने पर सार्थवाह का आश्रय प्राप्त करना चाहती है, जो अपने सार्थ के सहित समुद्रतट की ओर जाता था[4]। इसी भाँति भरत[5] और भीष्म[6] की यात्राओं में क्रमशः अयोध्या एवं हस्तिनापुर से सम्पर्क स्थापित करने वाले मार्गों का वर्णन प्राप्त होता है।

महाकाव्यों में विभिन्न स्थानीय वस्तुओं का उल्लेख मिलता है, जो अश्वमेध अथवा राजसूय यज्ञों के अवसर पर अधीनस्थ राजाओं के द्वारा सार्वभौम नरेशों को उपहार स्वरूप भेंट की जाती थी। काम्बोज, वाह्लीक एवं वनायु देश अपने अश्वों के लिये प्रसिद्ध थे[7]। एक स्थान पर केकयनरेश काम्बोज को दस सहस्र अश्व उपहार स्वरूप भेजते हैं[8]। विन्ध्यक्षेत्र के हाथी अपने आकार एवं शक्ति के लिये विख्यात थे।[9] अयोध्याकाण्ड[10] में कौत्य और अपरान्त के समुद्र रत्नों की भेंट करते हैं। इनके साथ ही उदीच्य, प्रतीच्य तथा दक्षिणात्य देशों के व्यापारी भी अपने उपहार प्रस्तुत करते हैं।

महाभारत में तो आदिपर्व[11] और सभापर्व[12] में विभिन्न वस्तुओं की एक बृहद् तालिका दी गई है, जो उपहार स्वरूप कृष्ण तथा आश्रित राजाओं ने पाण्डवों को भेंट की थी। इनमें पूर्वीय देशों के हाथी, काम्बोज, गान्धार, वाह्लीक तथा प्राग्ज्योतिषपुर के अश्व, पश्चिमी क्षेत्रों के ऊँट, काम्बोज के ऊनीवस्त्र, वाह्लीक तथा चीन के रेशमीवस्त्र, अपरान्त तथा पूर्वीय क्षेत्रों के सूती वस्त्र, प्राग्ज्योतिष, अपरान्त तथा पूर्वीय क्षेत्रों के आयुध, पाण्ड्य तथा म्लेच्छ देशों के मोती तथा सिन्धुदेश के शालि विशेष उल्लेखनीय हैं। निस्सन्देह देश के

१. नाराजके जनपदे वणिजो दूरगामिनः।
गच्छन्ति क्षेममध्वानं बहुपण्यसमाचिताः॥ रामायण – अयोध्याकाण्ड ६७, २२.
२. नानादेशनिवासैश्च वणिग्भिरुपशोभितम्। रामायण—बालकाण्ड ६.
३. एष पन्थाः विदर्भाणाम् सौगच्छति कौशलान्।
एते गच्छन्ति बहवः पन्थानो दक्षिणा पथम्॥ महाभारत ३.६१.२१–२३
४. महाभारत—३.६४. २३–२८.
५. रामायण—बालकाण्ड ६८–७१.
६. महाभारत—१.११३.
७. रामायण—बालकाण्ड, अध्याय ६.
८. रामायण—उत्तराकाण्ड, अध्याय ११३.
९. रामायण—बालकाण्ड, अध्याय ६.
१०. रामायण—अयोध्याकाण्ड, अध्याय ८२.
११. महाभारत—आदिपर्व, अध्याय १९९, २२१.
१२. महाभारत—सभापर्व, अध्याय २८, ३०, ३१ ४९, ५१.

विभिन्न क्षेत्रों की इन प्रसिद्ध वस्तुओं का व्यापार तत्कालीन वाणिज्य व्यवस्था को उन्नत करने में पूर्ण सहायता पहुँच रहा होगा, जिसका संकेत महाकाव्यों में स्पष्ट किया गया है[१]।

स्थल-मार्गों के साथ ही नदियों में नावों के द्वारा व्यापार की सम्भावना नावों के माध्यम से होने वाली यात्राओं के वर्णन से की जा सकती है। नदियों तथा खाड़ियों के ऊपर सेतु-निर्माण का उल्लेख भी मिलता है[२]। अयोध्या-काण्ड[३] में गुहक का वर्णन आता है, जो अपने कैवर्त्तों को पाँच-सौ नावें प्रस्तुत करने की आज्ञा देता है, जिससे कि शत्रु का मार्ग अवरुद्ध किया जा सके। समुद्र-वाणिज्य के समय पोत-भग्न होने की दशा का वर्णन तो महाकाव्यों में बार-बार आता है[४], जो तत्कालीन समुद्री-व्यापार की विद्यमानता की पुष्टि करता है।

जैसा कि प्राक्कथन में कहा जा चुका है, ईसा पूर्व छठी शताब्दी से देश में (Money Economy) की प्रतिष्ठा होती है। इस संस्था के उदय का प्रधान कारण व्यापारिक वृद्धि है। देशीय एवं विदेशीय व्यापार के परिणामस्वरूप देश में एक ऐसे वर्ग का उदय हुआ जिसे हम आधुनिक भाषा में 'पूंजीपतियों' और 'उद्योगपतियों' का वर्ग कह सकते हैं। बौद्ध-साहित्य में इनका वर्णन 'सेट्ठि' के रूप में किया गया है। विशेषतया इन्हीं के कार्य-कलाप ने देश के व्यापारिक जीवन को अत्यन्त व्यस्त एवं जटिल बना दिया था और व्यापारिक जगत् में आदान-प्रदान एवं क्रय-विक्रय के अनेक साधनों को जन्म दिया। इन ऋण-संस्था विशेष का विशेष उल्लेख है। पाणिनि ने द्वैगुणिक, त्रैगुणिक और दशैकादशिक व्याज का उल्लेख किया है। इससे यही प्रतीत होता है कि तत्कालीन समाज में व्याज की दर बहुत ऊँची थी[५]। यही कारण है कि व्याजमूलक ऋण-दान अनेक धर्मसूत्रकारों की दृष्टि में असत्कर्म था। वसिष्ठ ने ब्राह्मणों और क्षत्रियों के लिये इसे वर्जित बताया है[६]। परन्तु व्याज की अनेक दरों के उल्लेख से स्पष्ट हो जाता है कि ऋण-दान एवं ऋण-ग्रहण समाज में दृढ़ संस्थायें हो चुकी थीं। गौतम ने साधारण व्याज की दर पंचमांश प्रति २० कार्षापण बताया है। परन्तु इसके अतिरिक्त उन्होंने चक्रवृद्धि, त्रैगुणिक, चातुर्गुणिक, आदि व्याज की विविध दरों का भी उल्लेख किया है[७]। वसिष्ठ के अनुसार व्याज की साधारण दर २% से ५% मासिक के बीच में होती थी[८]। ऐसा प्रतीत होता है कि वार्धूषिक-वृत्ति गौतम के

१. रामायण—२.६७-२२.
२. रामायण—६.२२.५१-६८.
३. गुरुभारभाराक्रान्ता नौः सत्रार्थेव सागरे—रामा०—४.१६.१४.
४. वणिजो नाविभिन्नेयामगाधे विप्लवा इव–महा०–९. १. ५.
५. पाणिनि—४. ४. ३०, ५.१.४७.
६. वसिष्ठ—२. ४०.
७. गौतम—१२. २९.
८. वसिष्ठ—२. ४८-४९.

काल तक पर्याप्त रूप से विकसित हो चुकी थी और अन्य व्यवसायियों की भाँति ऋण-दाता भी वर्गों में संगठित थे।[1] ऋण प्राय: लिखित ऋण-पत्रों अथवा गिरवी के ऊपर दिये जाते थे।[2] इस विषय पर अर्थशास्त्र से प्रचुर प्रकाश पड़ता है। इसके अनुसार विविध ब्याजों की दरें राज्य की ओर से निश्चित कर दी गईं थीं, क्योंकि ऋणदान के विषय के ऊपर ही 'राजन्य योगक्षेम' बहुत कुछ निर्भर है[3]। कौटिल्य के अनुसार साधारण ब्याज १¼ पण व्यावहारिकी ५ पण, कान्तारकों में १० पण तथा सामुद्रिक व्यापारियों में २० पण प्रतिशत प्रतिमास की दर थी[4]। इन दरों से अधिक ब्याज लेना दण्डनीय था[5]। ब्याज धन-धान्य दोनों पर लगता था[6]। इसी प्रकार कौटिल्य ने गिरवी के सम्बन्ध में भी अनेक नियमों की व्यवस्था की थी। यदि गिरवी रक्खी हुई वस्तु से ब्याज सहित मूल वसूल हो जाय तो गिरवी की वह वस्तु लौटाने की व्यवस्था थी। यदि गिरवी रखने वाले मनुष्य की पूर्व सम्मति के बिना ही ऋणदाता उसकी वस्तु का किसी प्रकार उपभोग करे तो उसे उपभोग के लिये हर्जाना देना पड़ता था[7]। (Money Economy) के अन्तर्गत कौटिल्य ने आदेश (Bill of Exchange) और अन्वधि (Bailment for delivery) का भी उल्लेख किया है[8]।

ब्राह्मणग्रन्थों के समान बौद्ध-ग्रन्थों में भी (Money Economy) विविध रूप में वर्त्तमान मिलती है। इन ग्रन्थों से ऐसा प्रतीत होता है कि ब्याज की दर बहुधा ऊंची होती थी। अतः ऋण न चुका सकने के कारण कभी-कभी मनुष्यों को दासवृत्ति भी स्वीकार करनी पड़ती थी। थेरीगाथा के वर्णनानुसार इसिदासी के पिता ने मूल और ब्याज के रूप में ऋणदाता को अपनी पुत्री ही दासी के रूप में दे दी थी। ऋणी मनुष्य समाज में अवज्ञा की दृष्टि से देखा जाता था। बौद्ध-व्यवस्था के अनुसार उसके लिये संघ-प्रवेश वर्जित था,[9]। बौद्ध कदाचित् वार्धुषिक-वृत्ति को असत् समझते थे। इसी से कहीं-कहीं पर उसकी निन्दा की गई है[10]।

---

१. गौतम—१२. २१.
२. वसिष्ठ—१६. १०.
३. बुक ३
४. वही
५. वही
६. वही
७. वही, याज्ञवल्क्य, २. ६८. .
८. बुक ३.
९. विनय १. ७६.
१०. महाकान्ह जातक ४६६.

प्राचीन भारतवर्ष में आधुनिककाल की भाँति व्यवस्थित बैंक न थे। अतः सुरक्षा के हेतु मनुष्य अपने धन एवं अन्य वस्तुओं को विश्वासपात्र मित्रों एवं विभिन्न निकायों के पास जमा कर देते थे।[१] इस प्रकार सुरक्षा के हेतु जमा की गई सम्पत्ति के दो रूप होते थे--[२] (१) उपनिधि जो किसी डब्बे अथवा अन्य पदार्थ से बन्द कर दी जाती थी और (२) निक्षेप जो खुली रहती थी। निक्षिप्त वस्तु की सुरक्षा का उत्तरदायित्व उस व्यक्ति अथवा निकाय के ऊपर रहता था जो उसे अपने अधिकार में रखता था। उसकी क्षति अथवा विनाश के हेतु उसे हर्जाना देना पड़ता था। उसका उपभोग करने के अपराध में उसे भोगवेतन देना पड़ता था[३]। बैंक के रूप में निकायों के कार्यों का पर्याप्त ज्ञान अनेक अभिलेखों में प्राप्त होता है। नासिक[४] के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि जुलाहों के एक निकाय में २००० कार्षापण जमा थे। इन पर उस निकाय को १% प्रतिमास व्याज के रूप में प्राप्त होता था। इसी प्रकार के एक दूसरे निकाय में १००० कार्षापण जमा थे। इन पर उसे ३/४ प्रति सैकड़ा प्रतिमास व्याज मिलता था। बैंक के रूप में कार्य करने वाले इन निकायों को अच्छी आय हो जाती थी और इनमें से अनेक पर्याप्य रूप से सम्पत्तिवान् हो गये थे। इस सम्पत्ति का उपयोग वहुधा ये सार्वजनिक हित के कार्यों के सम्पादन में करते थे। जुन्नर के अभिलेख में एक श्रेणी का उल्लेख है जिसने अपने दो क्षेत्रों की आय को वृक्ष लगाने के कार्य के लिये समर्पित कर दिया था।[५] यहीं के एक अन्य अभिलेख के अनुसार एक अन्य श्रेणी ने एक गुफा और एक हौज का निर्माण कराया था।[६] इस प्रकार के अनेक निकायों और श्रेणियों का वर्णन नासिक और जुन्नर के अभिलेखों में प्राप्त होता है।[७]

विदेशीय सम्पर्क-स्थापना, व्यापार-प्रसार एवं बृहत्तर-भारत का शिलान्यास

हमारे गवेषणा-निबन्ध के समस्त काल में भारतवर्ष का विदेशीय व्यापार उत्तरोत्तर बढ़ता रहा। इस व्यापार ने न केवल भारतवर्ष की आर्थिक अवस्था को सुदृढ़ किया वरन् शनैः-शनैः वाह्य देशों में उसका औपनिवेशिक एव सांस्कृतिक प्रसार भी किया। बावेरु जातक में भारतीय व्यापारियों की बैबिलोन यात्रा का वर्णन है।[८] पंडर जातक के अनुसार ५०० यात्री एक दीर्घ समुद्र-यात्रा कर रहे थे। १७ दिनों की यात्रा के पश्चात् अभाग्यवश समुद्र के बीच दुर्घटना हो गई और

१. विनय ३. २३७.
२. अर्थशास्त्र बुक ३, याज्ञवल्क्य २. ६६, नारद २. ५.
३. अर्थशास्त्र बुक ३, मनु० ८, १८५.
४. एपिग्राफ़िया इंडिका, भाग ८, पृ० ८२-८६.
५. ल्यूडर्स—ए लिस्ट आफ ब्राह्मी इंस्क्रिप्शंस
६. वही, संख्या ११८०
७. वही, सख्या ११३७, ११४०, ११६२, ११६५ इत्यादि
८. बावेरुजातक, संख्या ३३९.

वे समस्त यात्री जलसमाधिस्थ हो गये।[१] बलाहस्स जातक[२] ताम्रपर्णि की सामुद्रिक यात्रा का वर्णन करता है। इसके अनुसार वहाँ सुन्दर यक्षिणियाँ निवास करती थीं जो भूले-भटके यात्रियों की हत्या कर डालती थीं। महाजनक जातक[३] में सुवर्णभूमि की यात्रा का उल्लेख है। सुस्सोदि जातक[४] के वर्णनानुसार भारतवर्ष के पूर्वी प्रदेश के व्यापारी चम्पा नामक बन्दरगाह से सुवर्ण-भूमि की यात्रा करते थे। यह सुवर्णभूमि बर्मा, मलाया, स्यामा, कम्बोडिया, अनाम आदि समस्त हिन्द प्रायद्वीप की सामूहिक संज्ञा थी।[५] इसी प्रकार सुप्पारक जातक,[६] महावाणिज जातक,[७] समुद्दवाणिज जातक,[८] दीघनिकाय,[९] अंगुत्तर-निकाय,[१०] आदि में भी समुद्र-यात्राओं के साक्ष्य मिलते हैं।

जिस प्रकार छठी शताब्दी में भारतवर्ष ने अपना सम्बन्ध पूर्वी देशों के साथ स्थापित किया था, उसी प्रकार उसने पश्चिमी देशों के साथ भी सम्बन्ध-स्थापना की। यह काल पश्चिम में पारसीक प्रभुता का काल था। हखामनीष वंश की छत्रच्छाया में पारसीक साम्राज्य का संगठन हो चुका था। पर्सीपोलिस और नक्शेरुस्तम में प्राप्त अभिलेखों से विदित होता है कि पारसीक सम्राट् दारा (ई० पू० ५२२-४८६ ई० पू०) ने प्रति वर्ष के पश्चिमीय प्रदेश के कुछ भाग पर अपनी सत्ता स्थापित कर ली थी। हेरोडोटस के वर्णनानुसार यह भारतीय प्रदेश पारसीक साम्राज्य का बीसवाँ प्रान्त था जिससे उसे (पारसीक साम्राज्य को) ३६० टैलेंट सोना (लगभग ४ करोड़ रुपया) कर रूप में प्राप्त होता था। इस सम्राट् के जलसेनापति स्काइलैक्स ने फारस और भारत के बीच लालसागर से हो कर जाने वाले सामुद्रिक मार्ग का अनुसंधान किया। पारसीक साम्राज्य एवं भारतवर्ष का यह सम्बन्ध दारा के उत्तराधिकारियों के शासन-काल में भी बना रहा। हेरोडोटस ने पारसीक शासक जेरक्सीज (ई० पू० ४८६ ई० पू० ४६५) की सेना में भारतीय सैनिकों का वर्णन किया है। दारा द्वारा स्थापित पारसीक साम्राज्य एक विस्तृत भूखण्ड पर फैला हुआ था। इसमें मिस्र, लीडिया, बैबिलोनिया, असीरिया, अरमीनिया, मीडिया आदि देश सम्मिलित थे। अतः यह स्वाभाविक प्रतीत होता है कि फारस के सम्पर्क में आने से भारतवर्ष इन विभिन्न देशों के भी सम्पर्क में आया होगा।

---

१. पण्डर जातक, संख्या ५१८.
२. बलाहस्स जातक, संख्या १९६.
३. महाजनक जातक, संख्या ५३९.
४. सुस्सोदि जातक, संख्या ३६०.
५. डा० आर० सी० मजूमदार—हिन्दू कालोनीज इन दि फार ईस्ट
६. सुप्पारक जातक, संख्या ४६३.
७. महावाणिज जातक, संख्या ४९३.
८. समुद्दवणिज जातक, संख्या ४६६.
९. दीघ निकाय १. २२२.
१०. अंगुत्तरनिकाय ४. २७.

भारतीय विदेशीय सम्पर्क एवं व्यापार के विषय पर यूनानी लेखों से प्रचुर प्रकाश पड़ता है। इस क्षेत्र में विशेष प्रगति सिकन्दर के आक्रमण के परिणाम स्वरूप एवं पश्चात् हुई। मेगास्थनीज ने नौका-निर्माण एवं व्यापारिक कार्यों के हेतु एक राजकीय विभाग का उल्लेख किया है। टालमी का कथन है कि पश्चिमी प्रदेश के भारतीयों ने नियार्कस के लिये जिन २००० नौकाओं का निर्माण किया था उन पर आठ हजार यात्री, हजारों घोड़े और प्रचुर परिमाण एवं संख्या में अन्य सामग्री लादकर नियार्कस ने यात्रा की थी। पिलनी ने भी भारतीय नौकाओं एवं पोतों के निर्माण का उल्लेख किया है[१]।

नौकाओं एवं जलपोतों की विकसित निर्माण-कला ने भारतवर्ष के सामुद्रिक व्यापार को विशेष प्रोत्साहन दिया होगा। मेगास्थनीज ने भारतवर्ष का ताम्रपर्णि के साथ सम्पर्क का संकेत किया है। उसके अनुसार ताम्रपर्णि एक अत्यन्त समृद्धिशाली देश था। उसमें भारतवर्ष से भी अधिक सोना-मोती एवं अन्य मूल्यवान् रत्न उपलब्ध होते थे[२]। स्ट्रैबो का कथन है कि मिश्र के टालमी शासकों के काल में यूनानी भारतवर्ष की यात्रा करते थे और उसके साथ व्यापारी टालमी द्वितीय फिलाडैल्फस (ई० पू० २८५-ई० पू० २४६) ने स्वेज नहर खोल कर भारतवर्ष और पश्चिमीय देशों के बीच होने वाले व्यापार को बड़ा प्रोत्साहन दिया। एकिनियस नामक यूनानी लेखक के कथनानुसार इस टालमी के द्वारा आयोजित उत्सवों में भारतीय पशुओं एवं अन्य सामग्रियों का प्रदर्शन किया गया था। डा० हुल्श ने बंगलोर में टालमी सोटर की एक स्वर्ण-मुद्रा प्राप्त की थी जिससे कदाचित भारत एवं मिश्र के बीच होने वाले व्यापार की पुष्टि होती है[३]।

प्रथम मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त की भाँति उसके पुत्र बिन्दुसार और पौत्र अशोक ने भी विदेशों से कूटनीतिक सम्बन्ध रक्खा। मिश्र के सम्राट् टालमी फिलाडैल्फस (ई० पू० २८५-ई० पू० २४७) का राजदूत डायोनिसिअस बिन्दुसार की राजसभा में रहा था। इसी प्रकार सीरिया के सम्राट् ऐंटिओकस ने लगभग २८० ई० पू० डाइमेकस नामक अपना एक राजदूत बिन्दुसार की राजसभा में भेजा था। इसी ऐंटिओकस से एक बार भारतीय सम्राट् ने अपने देश की मदिरा और एक दार्शनिक भेजने की प्रार्थना की थी। मौर्य-सम्राट् अशोक के समय में यह भारतीय-विदेशीय सम्पर्क और भी अधिक बढ़ गया। उसके तेरहवें शिलालेख से ज्ञात होता है कि उसने सीरिया, मिस्र, मेसीडोनिया और एपिरस में अपने दूत भेजे थे। उसी अभिलेख में वह यह भी कहता है कि जिन अन्य देशों में मेरे दूत नहीं भी गये हैं उन्होंने भी इस धर्म विजय का वृतान्त सुन रक्खा है और वे इसका अनुसरण कर रहे हैं। कदाचित् इन अन्य देशों में ब्रह्मा और चीन प्रमुख थे। इस

१. पिलनी भाग ६.२१.

२. मेगास्थनीज ऐन्ड एरियन, पृ० ६०

३. जर्नल आफ दि रायल एशियाटिक सोसाइटी, १६०४, पृ० ४१०.

अभिलेख-साक्ष्य की पुष्टि महावंश से भी हो जाती है जिसके उल्लेखानुसार अशोक ने महारक्षित को यवनदेश, सोण और उत्तर को सुवर्ण भूमि, तथा महेन्द्र को लंका भेजा था। दीपवंश और सामन्तपासादिका में भी इसी प्रकार के उल्लेख हैं। इस प्रकार के सम्पर्क ने इन देशों में भारत की संस्कृति का प्रसार किया और उसके व्यापार को प्रोत्साहन दिया। तहकीक-ए-हिन्द में अलबरूनी का कथन है कि फारस, ईरान और सीरिया का प्रमुख धर्म बौद्ध था। ह्वेनसांग ने फ़ारस में दो बौद्ध-विहारों को देखा था। आरेल स्टाइन ने हेलमान्ड में एक बौद्ध विहार के ध्वंसावशेषों का पता लगाया है। बहुत सम्भव है कि इस प्रदेश में प्राप्त बौद्धधर्म के प्रचलन का बीजारोपण अशोक के धार्मिक प्रसार के परिणाम स्वरूप हुआ हो। अशोक के व्यापारिक संरक्षण का उल्लेख बोधिसत्वावदान कल्पलता नामक ग्रन्थ से होता है। उसके अनुसार नागजाति के मनुष्य भारतीय जहाजों को लूट लिया करते थे। इस पर कुछ भारतीय व्यापारियों ने अशोक से निवेदन किया। अशोक ने अपनी धर्म-नीति से नागों को प्रभावित किया और उन्हें लूट-मार के कर्म से विरत किया। इस प्रकार भारतीय व्यापार सुरक्षित हो गया[1]।

कौटिल्य का अर्थशास्त्र भी मौर्यकालीन सामुद्रिक व्यापार के ऊपर यथेष्ट प्रकाश डालता है। उसमें तत्सम्बन्धी अनेक महत्वपूर्ण व्यवस्थायें है, यथाः—

"नावाध्यक्ष बन्दरगाह के अध्यक्ष की आज्ञा तथा नियम का पालन करे। आँधी-पानी से बही या टूटी नाव पर पिता के समान अनुग्रह करे। जो सामग्री भीग गई हो उस पर केवल आधी चुंगी ले अथवा बिल्कुल ही न ले। समय आने पर व्यापारी बन्दरगाहों या नगरों की ओर नौकाओं को रवाना करें। दूसरे स्थान पर जानेवाली नावें जब बन्दरगाह में ठहरें तो उनसे चुंगी ली जाय........।

प्रति दिन आने-जाने वाले या स्वदेशीय वणिकों के जान-पहचान के विदेशीय व्यापारी बन्दरगाहों में बिना बाधा के उतरने दिया जाय।...............पासपोर्टहीन विदेशागत सभी व्यक्ति पकड़ लिये जाँय[2]।"

इसी प्रकार के महत्वपूर्ण उल्लेख अर्थशास्त्र में अन्यत्र भी मिलते हैं:—

"स्वदेशी राज्यकीय पदार्थों को एक मूल्य पर और विदेशी पदार्थों को भिन्न मूल्य पर बेचे। परन्तु सब मूल्यों पर प्रजा के हित को ही मुख्य रखना चाहिये।

विदेशी माल मँगानेवाले व्यापारियों पर अनुग्रह रक्खा जाय। नाविकों तथा विदेशी व्यापारियों को लाभ के अनुसार चुङ्गी माफ कर दी जाय। हिस्सेदारों तथा स्थानीय सभ्यों को छोड़ कर विदेश से माल मँगाने वाले विदेशियों पर ऋण के सम्बन्ध में मुकदमा न चलाया जाय।

१. बोधिसत्वावदानमाला, पल्लव ७२.
२. अर्थशास्त्र २. २५.

जल-मार्ग से विदेश को माल भेजने से पूर्व गाड़ी-खर्चा, भोजन-व्यय, विनिमय में आने वाले विदेशी माल का दाम तथा मात्रा, मात्रा-काल, भय से बचने का उपाय और बन्दरगाहों के नियमों के विषय में पूँछ-ताँछ करें। भिन्न-भिन्न नगरों के नियमों को जान कर नदी-मार्ग से दूसरे राष्ट्रों में बेचने के लिये जहाँ लाभ देखे वहाँ भेजे और जहाँ हानि की सम्भावना हो वहाँ से दूर रहे......"[1]

इन समस्त उल्लेखों से स्पष्ट हो जाता है कि मौर्यकालीन भारत विदेशों से व्यापार करता था, व्यापार के सम्बन्ध में यहाँ विदेशीय व्यापारी आते थे और उनकी रक्षा एवं व्यापार-क्रिया के हेतु राज्य ने अनेकानेक नियम बना रक्खे थे।

कौटिल्य ने चीन देश में निर्मित चीनपट्ट के भारतीय आयात का उल्लेख किया है[2]। कौशाम्बी, मथुरा, अमरावती, नागजुंगीकोंड आदि स्थानों में प्राप्त अनेक मूर्तियाँ चीनी कौशेय धारण किये हुए हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि चीनी देश अतिप्राचीन काल से ही अपने रेशम के व्यवसाय के लिये प्रख्यात था और वहाँ के रेशमी वस्त्रों की भारतवर्ष में माँग थी। ई० पू० १२२ में यात्रा करने वाले एक चीनी राजदूत चांग-कियन का कथन है कि शिन्दो से मध्यएशिया में वस्त्र-निर्यात होता था। यह शिन्दो सिन्ध प्रदेश है। प्रथम शताब्दी के पान-काउ नामक एक लेखक का कथन है कि चीन के दक्षिणी प्रदेश से कांजीवरम् तक की यात्रा में लगभग १ वर्ष लगता था। इसी का पुनः उल्लेख है कि चीन के राजा वांग-मंग ने कांची नरेश के लिये अपने देश की अनेक वस्तुयें उपहारस्वरूप भेजी थी। इनके बदले में चीनी शासक के इच्छानुसार भारतीय नरेश ने उसे एक गैंडा भेंट में दिया था। इन उल्लेखों से स्पष्ट हो जाता है कि भारतवर्ष और चीन तथा मध्य एशिया के बीच का सम्पर्क एवं व्यापारिक यातायात उत्तरोत्तर बढ़ता रहा।

चीनदेश मध्य एशिया से एक अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थल-मार्ग द्वारा मिलता था। यह मार्ग खोतान नगर से यारकन्द और काशगर होता हुआ चीन देश को जाता था। मध्य एशिया ने चीन और भारतवर्ष के बीच माध्यम का कार्य किया। पहले स्वयं उसने भारतीय संस्कृति को ग्रहण किया। वहाँ शैलदेश (काशगर), चोक्कुक (यारकंद), खोतन्न (खोतन) कूची (कूचार) आदि भारतीय उपनिवेश स्थापित हो गये और इन्हीं उपनिवेशों से भारतीय सांस्कृतिक प्रभाव उपर्युक्त मार्ग का आश्रय लेकर चीन देश में पहुँचता रहा[3]। भारतवर्ष एवं मध्यएशिया का विशेष सम्बन्ध कुषाण-काल में स्थापित हुआ। क्योंकि इन दोनों भूखण्डों के विशाल प्रदेश कुषाण साम्राज्य के अन्तर्गत थे। अश्वघोष द्वारा रचित

१. अर्थशास्त्र २, १६ पृ० ८८-९०

२. वही, २. ११–कौशेयं चीनपट्टाश्च चीनभूमिजाः।

३. जे० आर० ए० एस० १९४१, पृ० २९६-३१९ वही, १९४४ पृ० ५-२४, एक्सप्लोरेशंस इन सेंट्रल एशिया (जिओग्राफिकल जर्नल लन्दन, जुलाई-सितम्बर १९०९)

शारिपुत्रप्रकरण की एक पाण्डुलिपि का कुछ अंश आरेल स्टाइन को मध्य एशिया के तुर्फान नामक नगर में उपलब्ध हुआ था। इसी प्रकार खोतान के गोशृङ्ग नामक प्राचीन बौद्ध विहार के ध्वंसावशेषों में धम्मपद की एक प्रति प्राप्त हुई है। खनन-कार्य में प्राप्त प्राचीन बौद्ध स्तूपों और विहारों के ध्वंसावशेष उस प्रदेश में व्याप्त तत्कालीन भारत के सांस्कृतिक प्रभाव को प्रदर्शित करते हैं [1]।

महाभारत के कतिपय अंश भी भारतवर्ष तथा मध्य एशिया एवं चीन के बीच में स्थित पारस्परिक सम्पर्क पर प्रकाश डालते हैं। उपायनपर्व के वर्णनानुसार राजसूय यज्ञ के अवसर पर इन विदेशों के नरेशों ने महाराज युधिष्ठिर के लिये अनेक प्रकार के उपहार-रत्न मुक्ता, सोने-चांदी की वस्तुयें, अनेक प्रकार के वस्त्राभूषण तथा पशु आदि भेजे थे[2]। इसी प्रकार रामायण में दक्षिण-पूर्वी द्वीपसमूह के यवद्वीप और सुवर्णद्वीप का वर्णन मिलता है[3]।

ईसा की प्रथम शताब्दी से भारतीय व्यापारिक एवं सांस्कृतिक धारायें विभिन्न दिशाओं में द्रुततरगति से प्रवाहित होने लगीं। इनके दीर्घ आप्लावन के गर्भ से ही बृहत्तरभारत का उद्भव हुआ। इसी शताब्दी में (४७ ई० में) हिप्पलस नामक एक यूनानी यात्री ने हिन्द महासागर में चलने वाली मानसून हवाओं का पता लगाया। इस अनुसंधान ने सामुद्रिक व्यापार को प्रचुररूप से प्रोत्साहित किया। पहले भारतवर्ष से मिस्त्र तक यात्रा करने में एक वर्ष लगता था, परन्तु अब उसका काल केवल २ मास हो गया। इसी शताब्दी में भारतवर्ष और रोम का घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हुआ। रोम साम्राज्य की विलासप्रियता को सन्तुष्ट करने के हेतु भारतवर्ष अनेक प्रकार के बहुमूल्य वस्त्राभूषण, सुगन्धित पदार्थ, मुक्ता, रत्न आदि वस्तुओं का निर्यात करने लगा। इसके परिणामस्वरूप भारतवर्ष में रोम से अपार धन-राशि आने लगी। प्रथम शताब्दी के (७५ ई०) लेखक प्लिनी का कथन है कि भारतीय माल रोम आ कर सौ गुने मूल्य पर बिकता है और ऐसा कोई भी वर्ष नहीं जाता जिसमें भारतीय व्यापारी रोम से कम से कम साढ़े-पांच करोड़ सेस्तर न खींच ले जाते हों। इस प्रभूत व्यापार का साक्ष्य भारतवर्ष के विभिन्न स्थानों—लंका, मदुरा, कोयम्बटूर, बम्बई, मैसूर, मध्यप्रदेश आदि में प्राप्त बहुसंख्यक रोम-मुद्राओं से मिलता है।

---

1. ओरेल स्टाइन लिखित एक्सप्लोरेशन्स इन सेंट्रल एशिया (जिओग्राफिकल जर्नल, लन्दन, जुलाई-सितम्बर १९०९)
2. महाभारत—२.३२-२६, ४५-४८.
3. रामायण ४.४०, २३—२५.

इसी काल के लगभग रचित मनुस्मृति में भी जलपोतों और नौकाओं की विभिन्न विक्रेय सामग्री के उल्लेख प्राप्त होते हैं [१]। अन्य स्थान पर मनु सामुद्रिक व्यापारियों का भी उल्लेख करते हैं [२]। २१ ईस्वी के लगभग स्ट्रैबो ने १२० भारतीय जलपोतों को अरब और ईरान के समुद्रतट का अनुकरण करते हुए मिस्र की ओर जाते देखा था। [३] इसी प्रकार पेरिप्लस ने तामील तट से मिस्र और सुवर्णभूमि के हेतु भारतीय जल-पोतों के जाने का वर्णन किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि भारतवर्ष का व्यापारी वर्ग इस समय एक अद्भुत चेतना एवं कार्यशीलता से ओत-प्रोत है। वह उत्तुंग तरंगों से खेलता हुआ दूरस्थ एवं अपरिचित देशों में जा पहुँचता है और वहाँ अपने देश के हेतु व्यापारिक एव सांस्कृतिक सम्भावनाओं के लिये भूमि प्रशस्त करने लगता है। इस साहसकारिता एवं अध्यवसाय-शीलता का सब से उज्ज्वल परिणाम बृहत्तर भारत की स्थापना में हुआ [४]।

भारतीय व्यापार एवं सांस्कृतिक के इस सफल प्रसार के कतिपय महत्वपूर्ण कारण थे। प्रथम भारतीय व्यापारी को राजसंरक्षण एवं व्यापारिक संगठनों से बड़ी सहायता मिलती थी। जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, देश के व्यापारी अनेकानेक संघों (गिल्ड) में संगठित थे। ये संघ प्रत्येक व्यक्तिगत व्यापारी सदस्य की सुविधा, सुरक्षा एवं सहायता के लिये कार्यशील रहते थे। राज्य इन संघों को वैधानिक स्वीकार करता था और उसके समक्ष उनके विधि-निषेधों एवं आन्तरिक व्यवस्था की मान्यता स्थापित हो चुकी थी। राज्य ने व्यापार-व्यवसाय के संचालन हेतु मार्ग बनवाये, पदाधिकारी नियुक्त किये और क्रय-विक्रय एवं यातायात की विशद् व्यवस्था निर्मित की। इन सब का सामूहिक परिणाम यह हुआ कि व्यापारिक एवं व्यावसायिक जगत् में एक संगठन, एक प्रणाली आ गई। राजसभाओं में बहुधा व्यापारियों एवं व्यवसायियों के प्रतिनिधियों को भी स्थान दिया जाता था। ये अपने पद का लाभ उठा कर अपने वर्ग के हितों को राज्य के समक्ष रखते थे। इस प्रकार के वातावरण में भारतीय व्यापार की उत्तरोत्तर उन्नति होना स्वाभाविक ही था। द्वितीय, भारतवर्ष के समस्त सामाजिक कार्य कलाप वर्ण व्यवस्था के चतुर्दिक होते थे। वर्ण-व्यवस्था के जन्मज हो जाने से देश के अधिकांश व्यवसाय परम्परा-गत हो गये। परम्परागत व्यवसायानुसरण व्यवसायियों के हस्तलाघव को उत्तरोत्तर विकसित करता गया। उनके व्यवसाय उनकी पैतृक निधि बन गये। अतः उनके विकास-प्रसार में वे तन-मन-धन से रत हुए। यही परम्परा हम वणिक्-समुदाय में भी देखते हैं। विदेशियों को भारतीय व्यापार का इतिहास भारतीय वणिक् समाज का परम्परागत इतिहास है। तृतीय, प्रत्येक देश के व्यापारिक प्रसार एवं सांस्कृतिक स्थापना में वहाँ के प्रवासियों ने विशेष योग दिया है। यह

---

१. मनु० ८.४०६–६

२. मनु० ३.१५८.

३. स्ट्रैबो २,५,१२.

४. यह दूसरी शताब्दी के पश्चात् का विषय है। अतः हमारे गवेषणा-निबन्ध से परे है।

प्रवास धार्मिक अत्याचार, राजनिष्कासन, जनसंख्या-वृद्धि आदि कारणों से भी हो सकता है। प्राचीन भारत में धार्मिक अत्याचार के परिणामस्वरूप बहुसंख्यक भारतीयों को अपना देश छोड़ना पड़ा हो, इसका तो कोई साक्ष्य नहीं है। परन्तु अन्य दो कारणों के परिणामस्वरूप प्रवास सम्भव हो सकता था, यद्यपि इस विषय पर स्पष्ट उल्लेखों का अभाव है। चतुर्थ कारण हमारे सामाजिक इतिहास के दृष्टिकोण से सब से अधिक महत्वपूर्ण है और वह है भारतीयों का अपने धर्म एवं संस्कृति को बाह्य देशों में प्रसारित करने का उत्कट उत्साह। इस उत्साह के पीछे किसी प्रदेश पर अपनी धार्मिक प्रभुता आरोपित करने की भावना के के स्थान पर भारतीयों की सार्वभौमिक हित-साधना का आदर्श ही कार्य कर रहा था। भारतीय अपने धर्म एवं संस्कृति के सार्वभौमिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन कर समस्त मानवता की हित-चिन्ता में रत देखे गये हैं [१]।

---

१. एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥-मनु० २,२०.

अभ्यास ६

शिक्षा

शिक्षा आदिकाल से ही मनुष्य के पूर्ण-विकास का महत्वपूर्ण साधन रही है। शिक्षा शब्द स्वयं इतना अस्पष्ट है कि इसके व्यापक और सीमित दोनों अर्थ हो सकते हैं। अपने व्यापक क्षेत्र में शिक्षा मनुष्य के आत्मिक विकास की वह गति है, जो उसके जन्म से लेकर अनुकरण, श्रवण, अध्ययन, मनन तथा पारस्परिक सम्बन्ध-स्थापन के द्वारा जीवन के अन्त तक चलती रहती है। यदि व्यक्ति चाहे, तो वह अपने जीवन के अन्तिम समय तक विद्यार्थी रह सकता है[1]। सीमित अर्थों में शिक्षा का तात्पर्य जीवन की उस अवस्था-विशेष से है, जिस अवधि में कोई मनुष्य अपने गुरु अथवा शिक्षा-संस्थान में रह कर अपनी प्रगति के हेतु अपेक्षित उपदेश (संस्कार) प्राप्त करता है। प्रचलित अर्थ में मनुष्य के विकास की इस महत्वपूर्ण स्थिति को विद्यार्थी-जीवन कहा जाता है, जो उसके किसी कार्य अथवा वृत्ति में स्थायी होने के पूर्व के समय का द्योतन करता है। प्रायः शिक्षा का आधुनिक समय में इसी संस्कार से अभिप्राय है, जो कोई भी व्यक्ति जीवन संग्राम में प्रविष्ट होने के पूर्व विभिन्न शिक्षा-संस्थाओं में प्राप्त करता है।

वैदिक युग से लेकर अब तक भारतवासी शिक्षा का महत्व भलीभाँति समझते आये हैं। स्वयं वेद का अर्थ ज्ञान है। शिक्षा के द्वारा मस्तिष्क और बुद्धि का विकास होने की स्थिति में ही शिक्षित व्यक्ति अन्य मनुष्यों की तुलना में श्रेष्ठ माना जाता है[2]। विद्या को अमृत प्राप्त करने का साधन वेदों में ही स्वीकार किया गया है[3]। इसी से मुक्ति प्राप्त होती है[4]। उपनिषदों में विद्या और अविद्या का पार्थक्य स्पष्ट कर विद्या का आश्रय ग्रहण करने तथा अविद्या से दूर रहने का उपदेश किया गया है[5]।

विद्या को न केवल आत्मिक के हेतु वरन् समस्त जीवन के तत्व का सम्यक् बोध कराने की दृष्टि से भी उपयोगी माना गया है। इस रूप में मनुष्य का सम्पूर्ण ज्ञान शिक्षा

---

१. यावज्जीवेमधीते विप्रः।

२. अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेषु असमा बभूवुः। ऋग्वेद-१०, ७१७.

३. विद्ययामृतमश्नुते–युजर्वेद–४०-१४.

४. सा विद्या या विमुक्तये।

५. दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता। विद्याभीप्सितं नचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा बहवो लोलुपन्त।—कठोपनिषद् २. ४.

का पर्याय है और ज्ञान को मनुष्य का तीसरा नेत्र कहा गया है।[1] इस भाँति शिक्षा मनुष्य के लिये प्रकाश और शक्ति का कार्य करती है, जिसके द्वारा वह अपना कायिक, मानसिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक विकास कर सकता है। महाभारत में भी विद्या को सर्वश्रेष्ठ नेत्र के रूप में स्वीकार किया गया है,[2] जिसके द्वारा सभी बातों का यथातथ्य ज्ञान सुलभ है।

नीति-साहित्य में तो विद्या की प्रशंसा में अनेक उक्तियों की भरमार है। नीतिकारों की दृष्टि में विद्या इहलोक और परलोक दोनों के साधन में साहाय्य प्रदान करती है।[3] सांसारिक जीवन में यह माता, पिता और स्त्री की भाँति हित करने वाली तथा लक्ष्मी एवं कीर्त्ति की वृद्धि करने वाली है। भर्तृहरि ने भी इसी कारण विद्यारहित मनुष्य को पशुवत् माना है।[4] इसी भाँति एक अन्य स्थल पर विद्या के कारण ही ब्राह्मण की विशेषता स्पष्ट की गई है, अन्यथा जन्म से तो सभी शूद्र ही होते हैं।[5]

शिक्षा के महत्व के साथ ही उसके उद्देश्यों के प्रति भी भारतवासी प्राचीन समय से ही जागरूक रहे हैं। जन्म से ही प्रत्येक व्यक्ति देवताओं, ऋषियों एवं अपने पूर्वजों के प्रति ऋण ग्रहण करता है, जिनसे वह विशेष कर्त्तव्यों के द्वारा मुक्त हो सकता है। देवताओं के ऋण को वह यज्ञों के द्वारा, ऋषियों के ऋण को ब्रह्मचर्याश्रम के कर्त्तव्यों को पूरा कर के तथा पूर्वजों के ऋण का स्वयं संतानोत्पादन के द्वारा चुका सकता है।[6] ऋषि-ऋण स्वभावतः परम्परागत सांस्कृतिक मान्यताओं के संरक्षण की महत्ता को सार्थक करता है। ऋषि तत्कालीन समाज में ज्ञान के द्रष्टा अथवा स्रष्टा माने जाते थे। उनका सम्यक् अध्ययन एवं मनन करने के हेतु ब्रह्मचर्यव्रत का पालन परमावश्यक समझा जाता था, क्योंकि इन्द्रिय-निग्रह तथा व्रतों के अभाव में ज्ञान-प्राप्ति असम्भव है। आचार्य अपने पास आये हुए व्रतों में स्थित विद्यार्थी को अपने ज्ञान के विस्तृत क्षेत्र में प्रविष्ट कराता है।[7]

गुरु के समीप रह कर पूर्ण तप एवं लगन के साथ विद्योपार्जन करते समय विद्यार्थी अपने चरित्र-निर्माण में भी सदा तत्पर रहता था। तपोनिष्ठ जीवन में ही चरित्र का

---

१. ज्ञानं तृतीयं मनुजस्य नेत्रं समस्ततत्वार्थविलोकदक्षम्।
तेजोनपेक्षं विगतान्तरायं प्रवृत्तिमत्सर्वजगत्त्रयेपि॥
—सुभाषितरत्नसन्दोह, पृ० १९४

२. नास्ति विद्या समं चक्षुर्नास्ति सत्यसमं तपः—महा० १२. ३३९. ६

३. विद्या तु वैदुष्यमुपार्जयन्ती जागर्ति लोकद्वयसाधनाय।

४. विद्याविहीनः पशुभिः समानः—नीतिशतक, १६.

५. जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते।
विद्यया याति विप्रत्वं त्रिभिः श्रोत्रिय उच्यते॥

६. जायमानो ह वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवा जायते ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्य एव वा अनृणो यः पुत्री यज्वा ब्रह्मचारिवासी—तै० सं० ६.३.१०.५

७. आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः—अथर्ववेद ११. ७. ३.

विकास सम्भव हो सकता था। अतएव प्राचीन भारत की शिक्षा-पद्धति में चरित्र-निर्माण की उपादेयता पर अत्यधिक ध्यान दिया जाता था। युवा ब्रह्मचारी के आचार पर ही जातीय चरित्र निर्भर था। इसी से वेदों में ब्रह्मचारी की प्रशंसा बड़े उत्साहपूर्ण शब्दों में की गई है।[1] चरित्र की महत्ता न केवल वैदिक युग में ही, वरन् भारतीय सभ्यता के इतिहास के सभी युगों में सर्वोपरि रही है। मनु ने चरित्रहीन पण्डित की अपेक्षा अल्पज्ञान समन्वित आचारशील ब्राह्मण को श्रेष्ठ कहा है।[2]

चरित्र-निर्माण के साथ ही व्यक्तित्व के विकास की आवश्यकता से भी भारतीय पूर्णतया परिचित थे। साधनारत विद्यार्थी में स्वतः दिव्य गुणों का उदय हो जाता है, इस तथ्य की पुष्टि वैदिक साहित्य में प्राप्त वर्णनों से होती है। ब्रह्मचारी अपने यश से संसार को परिलावित कर दोनों लोकों में चलता है, देवता उसके प्रति इसी भाँति सोचते हैं और वह अपने तप से आचार्य को पूर्ण करता है।[3] इस भाँति के उद्‌गार यह स्पष्ट करते हैं कि उस समग्र समाज अपनी विकासोन्मुख संसृति से विविध आशायें रखता था, क्योंकि विद्यार्थी जातीय संस्कृति का प्रतीक ही नहीं अपितु प्रसारक भी था। उसके व्यक्तित्व पर ही राष्ट्र का भविष्य आधारित था। अथर्ववेद में एक स्थान पर स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया गया है कि यदि योद्धा संग्रामभूमि में ख्याति प्राप्त करता है अथवा राजा शासक के रूप में सफलता प्राप्त करता है, तो इसका एकमात्र कारण उनका सम्यक् अभ्यास एवं शिक्षा है।[4]

व्यक्तित्व का विकास मनुष्य के उदात्त गुणों की अभिवृद्धि करता है। शिक्षित व्यक्ति के जीवन में ऐसे गुण आदर्शों का रूप ले लेते हैं। आचार्य के समीप रह कर विद्यार्थी अपनी शिक्षा के साथ ही इन उत्तम गुणों की प्राप्ति करता था और गुरु का आश्रय छोड़ने के समय तक वह इनका पूर्णरूपेण अभ्यास कर लेता था। तपश्चरण उसे यथेष्ट संयम प्रदान करता था। उसके जीवन में पवित्रता रहती थी। गुरुकुल में संयम तथा विधिविहित अभावों का जीवन व्यतीत करने से उसमें त्याग-भावना का उदय हो जाता था। त्याग मनुष्य में जीवन के प्रति एक विशेष दृष्टिकोण की अभिसृष्टि करता है और इसी के द्वारा वह समस्त विश्व को अनासक्त भाव से देखने लगता है। ऐसी ही स्थिति में कोई व्यक्ति निर्णायक अथवा समत्व-बुद्धि से कार्य कर सकता है। भारतीय शिक्षा पद्धति में इन गुणों की महत्ता पूर्व ही विदित हो चुकी थी।

---

१. युवा सुवासाः परिवीत आगात्स उ श्रेयान्भवति जायमानः। तं धीरासः कवय उन्नयन्ति स्वाध्यो मनसा देवयन्तः—ऋग्वेद ३.८.४.

२. सावित्रीमात्रसारोऽपि वरं विप्रः सुयन्त्रितः।
नायंत्रितस्त्रिवेदोऽपिसर्वाशी सर्वविक्रयी॥ मनु० २.११८.

३. ब्रह्मचारीष्णश्चरति रोदसी उभे तस्मिन्देवाः संमनसोभवन्ति। स दाधार पृथिवीं दिवं च स आचार्यम् तपसा पिपर्ति। अथर्ववेद ११.१५.१७.

४. अथर्ववेद ११.१५.१७.

भारतीय शिक्षा के अनुरूप ब्रह्मचारी में इन नैतिक-गुणों का विकास वैयक्तिक ही नहीं, वरन् सामाजिक हितों को ध्यान में रख कर ही किया जाता था। वस्तुतः विद्यार्थी समाज की आशा-ज्योति था। शिक्षा समाप्त करने पर उसे गार्हस्थ-जीवन में अपने सामाजिक कर्त्तव्यों का भलीभाँति पालन करना पड़ता था। पारिवारिक जीवन में जहाँ वह एक आज्ञाकारी पुत्र, योग्य पति एवं कर्त्तव्यपरायण पिता था, वहाँ अपनी शिक्षा के बल पर समाज में उसकी अपनी विशेष-स्थिति होती थी और उसे उसके अनुकूल अपने कर्त्तव्य पूरे करने पड़ते थे। गृहस्थ के लिये केवल इतना ही यथेष्ट नहीं था कि वह पूर्वजों के प्रति ऋण से मुक्त होने के लिये ही सन्तानोत्पादन करे, अपितु अपने संतानों की शिक्षा के हेतु समुचित व्यवस्था करना भी उसका परमकर्त्तव्य था [१]। गृहस्थ की स्थिति में प्रत्येक व्यक्ति अतिथि की सेवा में दत्तचित्त रहना अपना पुनीत कर्त्तव्य समझता था। वह न केवल अपने घर आये हुए व्यक्ति की अपितु द्वार पर भिक्षार्थ उपस्थित विद्यार्थियों का सत्कार भी सदैव करता था। इस भाँति शिक्षा अपने मूल रूप में विद्यार्थी को सामाजिक कर्त्तव्यों का पालन करने में सदैव सहायक होती है।

परन्तु ऋणमुक्ति, आचार-निर्माण, व्यक्तित्व, विशिष्टगुणों की अभिसृष्टि एवं सामाजिक कर्त्तव्यों का पालन आदि महत्वपूर्ण बातों के साथ ही, शिक्षा का एक सर्वोपरि उद्देश्य धर्म की अभिवृद्धि करना था, जो प्राचीन शिक्षा का प्रमुख लक्ष्य था। उस समय धर्म की परिभाषा आज की सीमित परिधि में न की जाती थी। प्राचीन भारत में धर्म, अभ्युदय एवं निःश्रेयस को प्राप्त करने का साधन माना जाता था [२]। स्मृतिकारों ने धर्म की अनेक व्याख्यायें की हैं। गौतम ने वेद तथा वेदज्ञ के आचार और ध्यान को धर्म कहा है [३]। वसिष्ठ ने भी श्रुति और स्मृति के विधान को धर्म माना है [४]। प्रायः वेद को सभी व्यवस्थाकार धर्म का मूल मानते हैं [५]। प्राचीन शिक्षा में वेद पाठ्यक्रम के प्रधान विषय थे, अतएव वेदों और ऋषियों के आचार एवं शील की शिक्षा प्राप्त कर जब कोई विद्यार्थी अपने घर को लौटता था तो यह निश्चय था कि वह जीवन पर्यन्त धर्माचरण करेगा। आचार्य स्वयं शिक्षा पूर्ण होने के उपरान्त प्रत्येक स्नातक को धर्म का आचरण करने तथा निरन्तर स्वाध्याय करने का दीक्षान्त उपदेश देता था [६] जिसे विद्यार्थी जीवन भर स्मरण

---

१. तस्मात्पुत्रमनुशिष्टं लोक्यमाहुस्तस्मादेनमनुशास्ति। बृहदारण्यक उप० १.५.७.

२. यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः—कणाद

३. वेदो धर्ममूलम्। तद्विदां च स्मृतिशीले—गौतम १.२

४. श्रुतिस्मृतिविहितो धर्मः। तदलाभे शिष्टाचार प्रमाणम्। शिष्टः पुनरकामात्मा—
वशिष्ठ १, ४-६.

५. वेदोऽखिलो धर्ममूलम् स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनाम् आत्मस्तुष्टिरेव च॥—मनु० २.६.

६. सत्यं वद। धर्मम् चर। स्वाध्यायान्मा प्रमद—तैति० उप० १,११.

ही न रखता था, वरन् कार्यान्वित भी करता था। धर्मसाधन करने वाले व्यक्ति को ही महाकाव्यों में पण्डित कहा गया है[१]।

अन्त में मानव की समस्त कर्म-साधना सुख-प्राप्ति के लिये होती है और इस तथ्य के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य जीवन को सुखी बनाना है। कहने की आवश्यकता नहीं कि प्राचीन भारत में शिक्षा के इस उद्देश्य का महत्व भलीभाँति स्पष्ट हो चुका था। समाज वर्णाश्रमधर्म के आधार पर विभक्त हो चुका था और इस विभाजन की मान्यता सर्वोपरि रखने की दृष्टि से तत्कालीन राज-व्यवस्था की ओर से सभी सम्भाव्य प्रयत्न किये जा रहे थे[२]। सभी व्यक्ति प्रायः अपने पैतृक व्यवसाय को ही अपनाते थे, क्योंकि उसी में उन्हें सफलता और सुख प्राप्त होता था। द्विज वर्णों के हेतु पाठ्यक्रम सुनिश्चित था और सभी अपने-अपने विषयों का अध्ययन करते थे। वेदों के अतिरिक्त अन्य बहुत से विषय बढ़ गये थे[३]। प्रत्येक वर्ण के सुख और यश का ध्यान रख कर ही शिक्षा-योजना का निर्माण किया जाता था, जिसे पूर्ण कर लेने पर कोई भी विद्यार्थी वास्तविक जीवन में प्रवेश करता था। वहाँ भी कार्यविशेष के अनुरूप प्रत्येक व्यक्ति में अपेक्षित योग्यता का होना आवश्यक था[४]। प्रसंगवश इतना कह देना भी समीचीन होगा कि अध्यापन-कार्य केवल ब्राह्मण वर्ग तक ही सीमित न था[५] और इसी भाँति अभिरुचि, क्षमता एवं परिस्थिति के अनुसार कार्य-चयन में वर्ण-व्यवस्था बाधक न हो सकती थी।

शिक्षा के महत्व एवं उद्देश्यों पर विचार करने के साथ ही प्राचीन भारत में शिक्षा-संगठन की स्थिति पर दृष्टि डालनी उचित है। वैदिक युग में आचार्य, गुरु अथवा उपाध्याय समस्त शिक्षा-पद्धति का आधार था। उस समय शिक्षा मौखिक ढंग से प्रदान की जाती थी। जैसे ही पुरोहितों का प्रभाव बढ़ने लगा, यज्ञ के कर्मकाण्डों की पद्धति भी उसी भाँति जटिल होती गई। यज्ञोपासना एवं मन्त्रोच्चारण की परिपाटी पिता के उपरान्त पुत्र के

---

१. धर्मम् हि यो वर्धयते स पण्डितः। महा० १२.३२१, ७८

२. चतुर्वर्णाश्रमस्यायं लोकस्याचार रक्षणम्।
नश्यतां सर्वधर्माणां राजा धर्मप्रवर्तकः।
अनुशासद्धि धर्मेण व्यवहारेण संस्थया।
न्यायेन च चतुर्थेन चतुरन्तां महीं जयेत् ॥—कौटिल्य

३. चत्वारो वेदाः सांगाः सरहस्या बहुधा विभिन्ना एकशतमध्वर्युशाखाः वेदो वाको वाक्यमितिहासः पुराण वैद्यकमित्येतावाज शब्दस्य प्रयोगविषयः—
महाभाष्य १ पृ० ६.

४. ब्राह्मण च पुरादधीत विद्याभिजनवाग्रूपवयः शीलसम्पन्नं न्यायवृत्तं तपस्विनम्।
तत्प्रसूतः कर्माणि कुर्वीत।—गौतम ११.१२–१३.

५. अध्यापनाद्यपि भिन्नाचारक्षत्रियवैश्यप्रतियोगित्वात्संदिग्धम्। सर्वम् च दुष्ट शूद्रेष सम्भाव्यमानत्वादनिश्चतम्।—तन्त्रवार्तिक, पृ० १०८.

संरक्षण में आ जाती थी और वास्तव में यही वैदिक-शिक्षा का आदि रूप था। प्रत्येक अनुभवी पुरोहित अपने पुत्रों अथवा परिवार की अन्य सन्तानों को परम्परागत वैदिक मन्त्रों एवं नियमोपासना की मौखिक शिक्षा देता था और वे बार-बार उन्हें दुहराकर, उनका अभ्यास किया करते थे। वेदों के ज्ञान को सुनी-सुनायी रीति से प्राप्त करने के कारण ही वेदों का नाम श्रुति पड़ गया।

मौखिक शिक्षा के विषय में वेदों में यदा-कदा उल्लेख मिलते हैं। ऋग्वेद में एक स्थान पर पावस में शब्द करते हुए मेढकों की तुलना वैदिक मन्त्रों का अभ्यास करते हुए ब्राह्मणों से की गई है[1]। इसी भाँति एक अन्य ऋचा में वाद-विवाद के हेतु उपस्थित विद्वान् ब्राह्मणों की सभा का वर्णन आता है[2]।

यज्ञ-विधान में पुरोहितों को तीन कार्य सम्पन्न करने पड़ते थे। होतृ के रूप में वे देवताओं की स्तुति में वैदिक मंत्रों के उच्चारण का मुख्य कार्य सम्पादित करते थे। प्रारम्भ में इन तीनों कार्यों में कोई विशेषता न समझी जाती थी और कोई भी पुरोहित इन तीनों कार्यों को कर सकता था। इसी के हेतु प्रत्येक पुरोहित अपने पुत्रों को यज्ञ-विधान के इन तीनों कृत्यों का शिक्षा देता था और इस उद्देश्य से शिक्षा का प्रारम्भिक रूप गृह-शिक्षा से चला।

शिक्षा की प्रारम्भिक अवस्था में पिता अपनी सन्तानों को शिक्षा प्रदान करता था।[3] शिक्षा देते समय लड़के और लड़कियों को उच्च शिक्षा समान रूप से दी जाती थी। कई वैदिक मन्त्रों की रचयिताओं में स्त्रियों का उल्लेख भी आता है, जिनमें विश्ववारा,[4] अपाला[5] और घोषा[6] आदि मुख्य हैं। प्राचीन भारत के विद्वान् दार्शनिक याज्ञवल्क्य की विदुषी पत्नी मैत्रेयी अपनी उत्कट ज्ञान-लालसा के हेतु प्रसिद्ध थी।[7] बृहदारण्यक उपनिषद् में पण्डित पुत्र की भाँति विदुषी पुत्री की उत्पत्ति के हेतु उपासना का विधान किया गया है।[8]

संहिताओं के रचनाकाल में शिक्षा का रूप प्रधानतः धार्मिक था। वैदिक उपासना एवं कर्मकाण्डों की शिक्षा ही यथेष्ट समझी जाती थी। क्रमशः वैदिक अध्ययन से सम्बन्धित पुरोहितों की शाखाओं में वृद्धि होने लगी। शिक्षा की परिपाटी भी इन्हीं वैदिक शाखाओं

---

१. ऋग्वेद–७.१०३.५.
२. ऋग्वेद–१०.७१.
३. अनुशिष्टोन्वध्रि पित्रेत्योमिति होवाच।—बृह० उप० ६.२.७.
४. ऋग्वेद ५.२८.
५. ऋग्वेद ८.९१.
६. ऋग्वेद १०.३९.
७. ऋग्वेद सा होवाच मैत्रेयी येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्यां यदेव भगवान्वेद तदेव मे ब्रूहीति—बृह० उप० २.४.३ तथा ६.५.४.
८. अथ य इच्छेद्दुहिता मे पण्डिता जायेत।—बृह० उप० ६.४.१७.

के अनुसार चलने लगी। विद्यार्थी का सर्व-प्रधान कर्त्तव्य यह होने लगा कि वह अपनी शाखा से सम्बन्धित वेद का ज्ञान मौखिक ढंग से प्राप्त करे। इस कार्य को विद्यार्थी अपने गुरु के समक्ष वेद का वारम्बार पारायण करता हुआ पूर्ण करता था। इसके साथ ही वह अपनी शाखा में प्रचलित उपासना-पद्धति एवं यज्ञ-विधि का ज्ञान प्राप्त करता था।

ब्राह्मण-ग्रन्थों की रचना के साथ ही शिक्षा का रूप ही परिवर्तित होने लगा। इन ग्रन्थों में याज्ञिक-विधान की शिक्षा और व्याख्या के साथ ही काल्पनिक कहानियाँ, दर्शन और तर्क का समावेश किया गया है तथा इनमें व्याकरण, खगोल-शास्त्र, शब्दशास्त्र, दर्शन और विधियों का प्रथम रूप प्राप्त होता है। वैदिक मन्त्रों का ज्ञान सर्वसाधारण के लिए कठिन हो गया और उनकी व्याख्या ब्राह्मण-ग्रन्थों के द्वारा सुगम होने लगा,[1] जो गद्य में थे। इन ग्रन्थों से धार्मिक शिक्षा की विकास-पूर्ण स्थिति का अनुमान किया जा सकता है। ब्राह्मण-ग्रन्थों के समय पश्चात् ही आरण्यकों एवं उपनिषदों का निर्माण होने लगा। कदाचित् आरण्यकों की रचना वानप्रस्थ-जीवन व्यतीत करने वाले मनीषियों के द्वारा वनों में हुई। ब्राह्मणसाहित्य का पूर्ण विकास उपनिषदों में दिखाई देता है। इन ग्रन्थों में दार्शनिक चिन्तन का प्राधान्य है। इनमें आत्मा, विश्व और मानव जीवन का विषमताओं की मीमांसा है। इस दार्शनिक ज्ञान ने वैदिक शिक्षा की परम्परागत गृह शिक्षा के स्थान पर आचार्य-कुल में शिक्षा प्राप्त करने की आवश्यकता को उपस्थित किया।

आचार्य से शिक्षा प्राप्त करने की प्रथा भी वैदिक युग से ही प्रारम्भ होने लगी थी। अथर्ववेद में गुरु के हेतु समिधायें और भिक्षा लाने वाले ब्रह्मचारी का उल्लेख मिलता है।[2] शतपथ ब्राह्मण में भी यज्ञ-विधान का ज्ञान प्राप्त करने वाले आचार्यों की परम्परा का वर्णन आता है।[3] इसी प्रकार अपने गुरु के घर और पशुओं की रक्षा करते हुए विद्यार्थी प्रदर्शित किये गये है।[4]

छान्दोग्य उपनिषद् में श्वेतकेतु आरुणेय को बारह वर्ष की आयु में पिता द्वारा आचार्य के समीप भेजे जाने का वर्णन आता है, जो बारह वर्ष तक गुरु के समीप रह कर विद्याध्ययन करता है।[5] इसी उपनिषद् में अन्यत्र पिता द्वारा अपने सब से बड़े अथवा योग्य शिष्य को मधुविद्या की शिक्षा देने का विधान किया है।[6] उन दिनों विद्यार्थी गुरु के

---

1. शतपथ ब्राह्मण ३.२.१.-२४.
2. अथर्ववेद ११.५.
3. शतपथ ब्रा० १०.६.५.६.
4. शतपथ ब्रा० ११.४.१.६.
5. त हि पितोवाच--श्वेतकेतो वस ब्रह्मचर्य्यम्। न वै सौम्यास्मत्कुलीनो न नूच्य ब्रह्मबन्धुरिव भवतीति। स ह द्वादशवर्ष उपेत्य चतुर्विंशति वर्षः सर्वान्वेदानधीत्य महामना अनूचानमानी स्तब्ध स्याय। छान्दोग्य ६. १-२.
6. इदं वाव तज्ज्येष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्म प्रब्रूयात्प्रणाय्याय वान्तेवासिने-- छान्दोग्य ३.११.५.

आश्रम में रह कर विद्या प्राप्त करते थे, शिक्षा मौखिक ढंग से प्रदान की जाती थी और इसी कारण आचार्य की स्थिति महत्वपूर्ण हो गई थी। आचार्य द्वारा प्राप्त ज्ञान का सर्वोच्च स्थान होता है, इस कथन की पुष्टि सत्काम जाबाल के शब्दों से होती है।[१] श्वेताश्वतर उपनिषद् में तो इसी से गुरु को ईश्वर के समान माना है।[२]

आचार्य द्वारा शिक्षा प्राप्त करने के साथ ही पिता की शिक्षा का क्रम भी चलता था[३]। परन्तु उपनिषद् काल में प्रायः शिक्षा गुरुकुल में रह कर ही प्राप्त की जाती थी। ज्ञान के क्षेत्र में विस्तार होने से यह आवश्यक भी था कि शिक्षा का कार्य विद्वान् आचार्यों के दायित्व पर दे दिया जाता। शिक्षा की ओर सम्पूर्ण समाज का ध्यान आकर्षित करने के उद्देश्य से प्रत्येक द्विज का उपनयन संस्कार अनिवार्य कर दिया गया था। ऋग्वेद में ब्रह्मचारी[४] शब्द के उल्लेख से इस संस्कार की प्राचीनता प्रतीत होती है। उपनयन संस्कार के पश्चात् ही विद्यार्थी को तपश्चरण सम्बन्धी व्रतों का पालन करना पड़ता था और यह संयम उसके विद्याध्ययन की समाप्ति तक चलता था। कभी-कभी ऐसा भी होता था कि कई वर्ष तक ब्रह्मचारियों को आचार्य शिक्षा प्रदान न करता था, इसके उदाहरण उपनिषदों में यदा-कदा प्राप्त होते हैं।[५]

प्रायः विद्यार्थी अपने हाथ में समिधा लेकर गुरु के समीप शिक्षा प्राप्त करने के उद्देश्य से जाता था, जिसका आशय यह होता था कि वह आचार्य की सेवा करने एवं पवित्र अग्नि को सदैव प्रज्वलित करने में गुरु की सहायता करने को प्रस्तुत है[६]। आचार्य भी समान्यतः विद्यार्थी के जन्म एवं परिवार का विवरण प्राप्त कर ही उसे प्रविष्ट करता था, जैसा कि सत्य काम[७] की घटना से प्रतीत होता है।

उपनिषदों में इस बात के उदाहरण भी मिलते हैं कि कभी-कभी विशेष ख्याति प्राप्त आचार्यों से विद्या-प्राप्ति के हेतु विद्यार्थियों को दूरस्थ क्षेत्रों की यात्रा भी करनी पड़ती थी[८]। ऐसे आचार्यों के सकाश में सभी देशों के विद्यार्थी आते थे[९]। विद्यार्थी शिक्षा,

---

१. श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्य आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापयितितस्मै हैतदेवोवाच अत्र ह न किंचन वीयायेति वीयायेति।—छान्दोग्य ४.६.३.

२. यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिताः ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥—श्वेताश्व० उप० ६.२३.

३. छान्दोग्य–५.३.१.

४. ब्रह्मचारी चरति वेविषद्विषः स देवानां भवत्येकमंगम्।
तेन जायामन्वविन्दद् बृहस्पतिः सोमेन नीतां जुह्वं न देवाः॥–ऋग्वेद १०.१०२.५.

५. छान्दोग्य उपनिषद् ६.१०.१७२. तथा ४. ४५.

६. मुण्डक उपनिषद् १.२.१२.

७. छान्दोग्य उपनिषद् ४.४.४.

८. बृहदारण्यक उपनिषद् ३.३.१ तथा ३.७.१.

९. तैत्तिरीय उपनिषद् १.४.३.

समाप्ति तक गुरु के निकट रह कर नियमित रूप से अध्ययन करते थे। समावर्तन संस्कार होने के पश्चात् ही विवाह-बन्धन स्वीकार कर गार्हस्थ्य-जीवन प्रारम्भ करते थे। शिक्षा पूर्ण कर चुकने पर आचार्य अपने शिष्यों को सत्य-भाषण, धर्म-पालन एवं स्वाध्याय सम्बन्धी उपदेश देता था [1]।

विद्यार्थी जीवन की अवधि १२ वर्ष से ले कर [2]जीवन पर्यन्त तक[3] हो सकती थी। यदि कोई शिष्य शिक्षा-समाप्ति के पश्चात् गुरु के समीप रहना चाहता था, तो वह अपने आचार्य से आज्ञा ले कर वानप्रस्थ ग्रहण कर सकता था [4]।

स्त्रियों की वैवाहिक अवस्था में कमी होने के साथ ही उनकी शिक्षा में भी परिवर्तन दृष्टिगोचर होने लगा। प्रारम्भ में तो उपनयन और वेद शिक्षा स्त्रियों के लिये भी मान्य थे,[5] किन्तु क्रमशः उनकी शिक्षा गृह में ही होने लगी। धर्मसूत्रों के समय तक तो स्त्रियों की समस्त स्वतन्त्रता नष्ट हो गई।[6] उपनिषदों में शिक्षा के उन विषयों की सूची प्रस्तुत की गई है, जो उस समय पाठ्य-क्रम में सम्मिलित रहे होगें। छान्दोग्य उपनिषद्[7] में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास-पुराण अथवा पंचमवेद, पित्र्यराशि, निधि, वाकोवाक्य, एकायन, वेदविद्या, भूतविद्या, ब्रह्मविद्या क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पविद्या, तथा देवयज्ञ विद्या का उल्लेख आता है। इसी भाँति बृहदारण्यक उपनिषद्[8] में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वांगिरस,[9] इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषदों, श्लोकों, सूत्रों, अनुव्याख्यानों एवं व्याख्यानों का वर्णन मिलता है।

जैनधर्म एवं बौद्धधर्म के उत्थान के समय अपने सांस्कृतिक की दृष्टि से भारत विश्व के सभी देशों में अग्रगण्य था। उस समय भी वैदिक साहित्य अपने सभी अंगों एवं उपांगों सहित शिक्षा क्रम में सर्वप्रथम आता था। जैनग्रन्थों में वेद, इतिहास, निघण्टु,

---

१. तैत्तिरीय उपनिषद १.११.
२. छान्दोग्य उपनिषद् ४.१०.१.
३. बृहदारण्यक उपनिषद् २.२३.२.
४. छान्दोग्य उपनिषद् २ २.३.१.
५. गोभिल गृह्यसूत्र ११.१.१६.
६. गौतम १८.१.
७. स होवाचर्ग्वेदं भगवो ध्येमि यजुर्वेदम् सामवेदाथर्वणं, चतुर्थमितिहास पुराणं, पंचमं वेदानां वेदंपित्र्यम् राशिं देवं निधिम् वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्यामेतद्भगवे ध्येमि—छांदोग्य ७.१.२.
८. बृहदारण्यक उपनिषद् २.४.१०.
९. अथर्ववेद

वेदांग, उपांग. और षष्टितन्त्र आदि अध्ययन के विषय गिनाये गये हैं।[१] तत्कालीन पाली-ग्रन्थों में इन विषयों के साथ ही लोकायतम्[२] का उल्लेख आता है, जिसका अर्थ सभी प्रचलित विज्ञानों एवं कलाओं से था, जिनसे ज्योतिष, प्रेतविद्या तथा आयुर्वेद का बोध होता था। दार्शनिक विवेचना के फलस्वरूप तर्क शास्त्र[३] का विकास होना प्रारम्भ हुआ। कथावत्थु में बौद्ध वादविवादों का तत्कालीन रूप प्राप्त होता है। अभ्यास किया जाता था, जिनका पूर्ण विकास परवर्त्ती भारतीय योगशास्त्र के अन्तर्गत राजयोग[४] तथा हठयोग[५] के रूप में हुआ। बौद्ध-ग्रन्थ में आयुर्वेद[६] के विकास का भी स्पष्ट उल्लेख मिलता है। उनके अतिरिक्त गन्धर्ववेद[७] और वत्थविज्जा[८] भी शिक्षा के विषयों में सम्मिलित थे।

उस समय तक शिक्षा के दो रूप प्रचलित थे जिनमें विद्यालय सम्बन्धी और व्यावसायिक शिक्षा मुख्य थी। जातकों में धनी व्यक्तियों के पुत्रों का प्रारम्भिक शिक्षा-प्राप्ति के हेतु बनारस[९] जाने का वर्णन प्राप्त होता है। जातकों के अनुसार ब्राह्मण एवं क्षत्रिय नवयुवक सोलह वर्ष की आयु में शिक्षा प्राप्त करने के उपयुक्त समझे जाते थे[१०]। हाथीगुम्फा लेख से भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है, जिसमें पन्द्रह वर्ष की अवस्था के उपरान्त खारवेल ने विद्यारम्भ कर सभी विद्याओं में[११] सिद्धहस्तता प्राप्त की।

बाल्यावस्था की समाप्ति होने पर ही विद्यार्थी तक्षशिला के प्रसिद्ध शिक्षा-केन्द्र में विद्याध्ययन के हेतु जाते थे। जातकों में तक्षशिला[१२] का वर्णन बार-बार आया है। बनारस, राजगृह, कौशल तथा अन्य स्थानों से ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य परिवारों के नवयुवक तीनों वेदों तथा अट्ठारह विज्ञानों एवं कलाओं की शिक्षा प्राप्त करने के लिये वहाँ जाते थे। बुद्ध

१. औपपातिक सूत्र ७७
२. विनयचुल्लवग्ग ५. ३३. २.
३. दीघनिकाय १. ८.
४. मज्झिमनिकाय १.१६३
५. मज्झिमनिकाय १. २४२
६. दीघनिकाय १.१२. तथा मज्झिमनिकाय १.२६५.
७. दीघनिकाय १,६.
८. दीर्घनिकाय १.१ तथा मज्झिम १.३६६, ३ १४४.
९. कटाहक जातक १.४५१.
१०. जातक २. २७७
११. लेख-रूप-गणना-व्यवहार-विधि—हाथीगुम्फालेख
१२. जातक १.४२१, ४३६, ५०५, २.५२, ३. १८, १७१, १६४, २२८, ५.१२७, १७७; २२७.

के समकालीन मगध सम्राट् बिम्बिसार का राजवैद्य जीवक[1] तथा राजकुमार प्रसेनजित[2] की शिक्षा तक्षशिला में ही हुई थी। प्राप्त वर्णनों के आधार पर तक्षशिला को विश्वविद्यालय कह सकना कठिन है। विभिन्न उल्लेखों से केवल यही प्रतीत होता है कि वहाँ शिक्षा-विशेषज्ञों की अधीनता में अलग-अलग शालायें स्थापित थीं जिनके व्यय की व्यवस्था प्रत्येक विद्यालय का प्रधान स्थानीय जनता की सहायता एवं कुछेक धनी विद्यार्थियों की गुरु-दक्षिणा से करता था।[3] इसी भाँति गुरु-दक्षिणा प्रायः एक सहस्र मुद्राओं से अधिक न होती थी।

इन शिक्षा संस्थाओं के साथ ही ऋषियों द्वारा स्थापित आश्रमों में भी शिक्षा प्रदान की जाती थी।[4] ब्राह्मण परिव्राजकों के धार्मिक सम्प्रदाय आराम अथवा विहार कहलाते थे, जो सार्वजनिक सहायता पर अवलम्बित थे। इन संस्थाओं में शिक्षा के सभी विषयों की उन्नति के हेतु प्रत्यक्ष वादविवाद होते थे, इसी भाँति श्रमणों के संघ भी थे, जिनमें समाज की सभी स्थितियों के स्त्री-पुरुष प्रवेश पा सकते थे। इन स्थानों में शिक्षा की सार्वभौमता, सत्यवादिन् पुरुषों एवं स्त्रियों का सामाजिक और नैतिक उत्थान तथा प्रचलित भाषाओं की उन्नति के विषय में शिक्षा संबंधी प्रयत्न किये जाते थे।

धर्म तथा नैतिकता की शिक्षा देने वाले गायक और कवि दार्शनिक सत्य का उपदेश समाज के निचले स्तर तक पहुँचाते थे। इनके अतिरिक्त नव पाषण्ड ब्राह्मणों का एक ऐसा वर्ग था, जो समस्त देश में भ्रमण करता था और जनता को कर्म-सिद्धान्तों की शिक्षा दिया करता था। उनके प्रचार का साधन भी विलक्षण था। वे स्वर्ग के सुखी जीवन तथा नरक के दुःखी जीवन का प्रदर्शन चित्रों द्वारा किया करते थे, जिनमें उपयुक्त लेख भी होते थे।[5] इन्हीं पट-चित्रों को जब पत्थरों में चित्रित किया जाने लगा, तो इसी से प्राचीन मूर्तिकला का विकास हुआ, जिसका उपयोग बौद्ध, जैन तथा अन्य सम्प्रदाय के व्यक्तियों ने सार्वजनिक शिक्षा एवं ललित कलाओं के हेतु किया।[6] बौद्ध मतावलम्बियों ने सार्वजनिक शिक्षा के हेतु धम्मकथिकों[7] को उपदेश देने का कार्य दिया। वे दैनिक जीवन और सुन्दर आख्यायिकाओं से रूपक ग्रहण कर दान, शील और स्वर्ग सम्बन्धी विषयों पर उपदेश दिया करते थे। ऐसे उपदेशकों में महामोग्गल्लान तथा कुमार कस्सप के नाम अग्रगण्य थे।

---

१. विनय महावग्ग ८.१.३-६.

२. धम्मपद अट्ठकथा १.३३७-३३८

३. चित्त सम्भूत जातक ४९८

४. जातक ३. ५३६.

५. सारत्थप्पकासिनी २. ३२७, तथा सम्युत्त निकाय ३. १५१.

६. बरुआ-बरहुत ३. ८५.

७. कीथ—बुद्धिस्ट फ़िलासफ़ी, पृष्ठ २०.

बुद्ध स्वयं इसी ढंग से धर्मोपदेश किया करते थे। जैनी भी इसी भाँति उपदेश कार्य करते थे और उन्होंने इस उद्देश्य से ही विशेष पाठ की रचना की थी, जिसे णायवम्म कहते थे।

इन विद्यालयों तथा धार्मिक संस्थाओं के अतिरिक्त यान्त्रिक शिक्षा-केन्द्रों की स्थापना भी देश में की जाती थी। कपिलवस्तु में शाक्य नवयुवकों के हेतु धनुर्विद्या का शिक्षण स्थापित था।[१] बुद्धघोष ने इसी भाँति शाक्यों के एक अन्य यान्त्रिक शिक्षालय का उल्लेख किया है, जिसका वृहत्भवन आम्र लता-गुल्मों के बीच स्थित था।[२] सुत्त-निपात के अनुसार बनारस में एक अन्य प्राचीन शिक्षा-केन्द्र स्थापित था, जिसमें काष्ठ-शिल्प का प्रशिक्षण होता था और जिसका व्यय शिक्षा-केन्द्र के प्रधान द्वारा स्थानीय संस्थाओं की आय से वहन होता था।[३] विभिन्न शिल्पियों के शिष्यों का उल्लेख शिल्प-व्यवस्था के अन्तर्गत किया जा चुका है।

बौद्ध-शिक्षा-प्रणाली की भाँति ही जैन शिक्षा-पद्धति में भी लौकिक तथा लोकोत्तर ज्ञान विषयक शिक्षा प्रदान की जाती थी जिनमें जैन सिद्धान्तों का ज्ञान सम्मिलित था।[४] जैन पाठ्यक्रम में व्याकरण, गणित, ज्योतिष, भूगोल, संगीत, रामायण, महाभारत तथा नाटकादि विषयों की शिक्षा दी जाती थी। लोकोत्तर शिक्षा के हेतु अध्ययनों, प्रश्न-व्याकरणों तथा शारीरिक साधनाओं के विशेष ज्ञाता विद्यमान थे। इस शिक्षा की प्राप्ति के हेतु उपाध्याय एवं आचार्य अध्येता के क्रमश प्रवेश-ज्ञान तथा विधिवत शिक्षा का आयोजन करते थे।

धार्मिक शिक्षा के लिये जैन तथा बौद्ध-पद्धतियाँ बहुत अंशों में समान रूप से कार्य करती थीं। दोनों ही धर्मों का उद्देश्य, लौकिक एवं लोकोत्तर विषयों की सम्यक् शिक्षा प्रदान करना था। दोनों ही सम्यक् दृष्टि, लौकिक विषयों का ज्ञान प्राप्त करने की दृष्टि से ही जातकों का अध्ययन अपेक्षित था। लोकोत्तर विषयों की दृष्टि से समस्त धार्मिक आचार-विचार का शिक्षा की व्यवस्था की गई थी। श्रमणों के सम्प्रदायों में सर्वप्रथम सभी का प्रवेश अबाध रूप से हो सकता था, परन्तु बाद में परिवर्तित स्थितियों में कुछ अयोग्यताओं का प्रारम्भ भी किया गया, जिनके उपस्थिति होने पर अवाञ्छनीय व्यक्तियों का प्रवेश निषिद्ध ठहरा दिया गया, जिससे कि शारीरिक एवं नैतिक पतन से बचाव किया जा सके[५]। क्रमशः उपाध्याय एवं सिद्धिविहारिक के पारस्परिक कर्तव्यों को सुनिश्चित कर दिया गया[६]। इसी भांति आचार्य एवं अन्तेवासिक के पारस्परिक सम्बन्धों के हेतु नियम

---

१. वाटर्स—२ पृष्ठ १३.
२. डायलाग्स आव दी बुद्धा, एस० बी० बी०,४ पृ० १११
३. परमत्थोजोतिका, २ पृ० ५७५.
४. अनुयोगद्वार सूत्र १८.
५. विनय महावग्ग १.६०—७१, विनय पाठ १.२१५.
६. विनय महावग्ग १.६०, विनय पाठ १.२१५.

स्थिर कर दिये गये। आचार्य के लिये यह आवश्यक था कि वह अन्तेवासिक को पुत्रवत् समझे तथा अन्तेवासिक को आचार्य की श्रद्धा पिता के समान करना परम कर्त्तव्य निर्धारित किया गया। इस भाँति दोनों ही पारस्परिक सम्मान, विश्वास तथा जीवन साम्य के द्वारा उन्नति करने की आशा रखते थे[१]। इसी तथ्य का स्पष्टीकरण मिलिन्द प्रश्न में बहुत समय पश्चात् किया गया, जिसमें आचार्य की पचीस योग्यतायें निश्चित की गई[२]।

प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति के क्रमिक विकास में बौद्ध एवं जैन शिक्षा-प्रणाली के अभूतपूर्व योग का उल्लेख करने के पश्चात् यह जिज्ञासा स्वाभाविक है कि बौद्ध तथा जैनधर्मों के अभ्युदय-काल के पश्चात् ब्राह्मण-धर्मानुकूल शिक्षा-योजना का क्या रूप स्थिर हुआ? बौद्ध एवं जैन शिक्षा पद्धतियाँ स्वयं उपनिषदों से प्रभावित थी और इसी से शिक्षा के क्षेत्र में इन धार्मिक आन्दोलनों ने कोई महत्वपूर्ण मौलिक परिवर्तन नहीं किये। इस युग में तक्षशिला प्रसिद्ध शिक्षा-केन्द्र माना जाता था, जो स्वयं ब्राह्मण धर्म के अनुकूल शिक्षा प्रणाली के लिये प्रसिद्ध था। जनश्रुति प्रसिद्ध है कि अर्थशास्त्र का रचयिता विष्णुगुप्त कौटिल्य इसी शिक्षा-केन्द्र का विद्यार्थी रह चुका था। प्रामाणिक तथ्यों के अभाव में हम इस श्रुति पर भले ही विश्वास न करें, किन्तु अर्थशास्त्र के आधार पर कौटिल्य को वर्णाश्रम धर्म का कट्टर समर्थक कहने में किसको आपत्ति हो सकती है?

कौटिल्य के अनुसार जीवन का उद्देश्य त्रिवर्ग की प्राप्ति था[३]। इसी के अनुकूल अर्थशास्त्र में आन्वीक्षकी, त्रयवेद, वार्ता एवं दण्डनीति चतुर्विज्ञान माने गये हैं।[४] वेदों के अन्तर्गत साम, ऋक् तथा यजुर्वेद अथवा वेदत्रय एवं अथर्ववेद और इतिहास वेद आते हैं। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष अंग कहे गये हैं।[५] कौटिल्य ने ब्राह्मणों के कर्तव्यों में अध्ययन और अध्यापन को सर्वोपरि स्थान दिया है।[६] क्षत्रिय एवं वैश्य के लिये अध्ययन आवश्यकीय कर्तव्य स्थिर किया गया है।[७] ब्रह्मचारी के हेतु वेदों का ज्ञान यज्ञोपासना, स्नान तथा अनन्य गुरुभक्ति आवश्यक कर्तव्य सुनिश्चित किये हैं।[८]

---

१. विनय महावग्ग १.२२-२३, विनय पाठ १.१७०.

२. मिलिन्द ९४.

३. अर्थो धर्मः काम इत्यर्थं त्रिवर्गः।

४. कौटिल्य १.२.

५. कौटिल्य १.३.

६. कौटिल्य १.३.

७. कौटिल्य १.३.

८. कौटिल्य १.३.

अर्थशास्त्र की व्यवस्था के अनुसार शास्त्रों का अध्ययन विशेषताप्राप्त आचार्यों के द्वारा किया जाना चाहिये। मुण्डन संस्कार होते ही विद्यार्थी को लिपि एवं गणित का अभ्यास कराया जाना चाहिये और यज्ञोपवीत संस्कार सम्पादित होते ही उसे वेद-त्रय, आन्वीक्षकी की शिक्षा शिष्ट आचार्यों के द्वारा, वार्त्ताशास्त्र की अधीक्षकों तथा दण्डनीति का ज्ञान विचारशील एवं व्यवहारज्ञान-सम्पन्न राजनीतिज्ञों से प्राप्त करना चाहिये [1]। राजकुमार को सोलह वर्ष की आयु तक ब्रह्मचर्य का जीवन व्यतीत करना चाहिये। अर्थशास्त्र में वर्णाश्रम धर्म के अनुकूल ब्रह्मचारी को अनुशासन की ओर विशेष ध्यान रखने की आज्ञा दी गई है। तत्कालीन शिक्षा-प्रणाली में सैनिक-शिक्षा का विशेष महत्व इसी तथ्य से प्रकट होता है कि राजकुमारों की शिक्षा में गज, अश्व, रथ एवं आयुधों के संचालन की व्यवस्था की गई है [2]। इसी भाँति इतिहास के अन्तर्गत पुराण, इतिवृत्त, आख्यायिका, उदाहरण, धर्मशास्त्र एवं अर्थशास्त्र की शिक्षा सम्मिलित है, जिसका ज्ञान अध्येता के लिये अपेक्षित माना गया है। [3]

अर्थशास्त्र के प्रणेता की दृष्टि में जीवन की भाँति शिक्षा भी उद्देश्यपूर्ण थी। विद्या-सामर्थ्य में श्रुति-ज्ञान से प्रज्ञा, योग और आत्मज्ञान की प्राप्ति सम्भावित हो सकती थी। [4]

ब्राह्मण-शिक्षापद्धति का वर्णन ग्रीक-इतिहासकारों ने भी किया है। मेगास्थनीज़ ने ब्राह्मणों और दार्शनिकों की तत्कालीन समाज-व्यवस्था में सर्वोपरि स्थिति का उल्लेख किया है [5]। यह वर्ग अपनी विद्वत्ता के कारण अधिक सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। ब्राह्मण शिक्षाप्राप्ति में दत्तचित्त रहते थे। बाल्यावस्था से ही कोई भी विद्यार्थी विभिन्न आचार्यों के अधीन रह कर शिक्षा प्राप्त करता था। अपने विद्यार्थी-काल में उसे सैंतीस वर्षों तक पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत धारण किये रहना पड़ता था, इसके उपरान्त ही वह गार्हस्थ्य जीवन प्रारम्भ करता था। [6] मेगास्थनीज़ ने शिक्षा के मौखिक होने का उल्लेख किया है [7], जिस पर सहसा विश्वास नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसी काल में अशोक के धर्मलेख सम्पूर्ण देश में लिखित शिक्षा की विकसित अवस्था पर यथेष्ट प्रकाश डालते हैं।

धर्मशास्त्रों के युग तक पहुँचते ही शिक्षा की बहुमुखी उन्नति स्पष्ट होने लग जाती है। भारतीय-दर्शन के विविध अंगों अर्थात् सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, वेदान्त तथा

---

[1]. कौटिल्य १.५.

[2]. कौटिल्य १.५.

[3]. कौटिल्य १.५.

[4]. श्रुताद्धि प्रज्ञापजायते, प्रज्ञया योग, योगादात्मवत्तेति विद्या सामर्थ्यम्—
कौटिल्य १.५.

[5]. मेगस्थनीज़—फ्रैगमेण्ट, ३३—स्ट्रैबो १५.१.३६-४१, ४६-४९

[6]. मेगस्थनीज़—फ्रैगमेण्ट ४१.

[7]. मेगस्थनीज़—फ्रैगमेण्ट २७.

महायान बौद्ध शाखा का आविर्भाव होने से विचार के क्षेत्र में विशेष परिवर्तन उपस्थित हुए। प्राचीन साहित्य और धार्मिक विधि, चित्रकला, मूर्तिकला, गणित तथा खगोलशास्त्र की उन्नति इस काल में विशेष उल्लेखनीय है। अधिकांश धार्मिक साहित्य को इस समय धर्म-शास्त्रों के अन्तर्गत लिपिबद्ध कर दिया गया। जैन, बौद्ध तथा हिन्दू दार्शनिक विचार-धाराओं में सभी समान रूप से प्रभावित होने लगे और पारस्परिक खण्डन-मण्डन से दर्शन की यथेष्ट उन्नति हुई।

महाकाव्यों एवं धर्मशास्त्रों की दृष्टि में शिक्षा एक पवित्र-कार्य माना जाने लगा। महाभारत में विद्यारहित पुरुष की अवस्था शोचनीय बतलाई गई है[1]। मनुष्य-जीवन की सभी स्थितियों में स्वाध्याय का महत्व भली भाँति स्वीकार किया जाने लगा[2]। महाकाव्यों के वर्णनों से स्थान-स्थान पर ऋषियों के आश्रमों की स्थापना का बोध होता है। उस समय द्रोण और कृपाचार्य जैसे प्रसिद्ध गुरु राजाश्रयों में रह कर ही अध्ययन कार्य करते थे।[3] परन्तु इसके साथ ही धौम्य आदि आचार्य अपने घरों में शिक्षा प्रदान करते थे।[4] इस पद्धति को ही गुरुकुल-प्रथा कहते थे। गुरुकुल का आशय आचार्य तथा विद्यार्थियों के उस बृहत्प-रिवार से था। जिसकी व्यवस्था कुलपति के द्वारा होती थी[5]। राम की एक इसी भांति के कुलपति से भेंट होने का उल्लेख मिलता है[6]। गुरुकुल में प्रवेश पाने पर ब्रह्मचारी का नवीन जन्म माना जाता था[7]। कालान्तर में शिष्यगण आचार्यों से ही अपनी दिव्य परम्परा को उल्लेख करने लगे[8] और शिष्य परम्परा ब्रह्मवंश के नाम से प्रचलित होने लगी[9]।

राजाश्रय एवं गुरुकुल की शिक्षा के अतिरिक्त महाकाव्यों में ऋषियों द्वारा आश्रमों के अन्तर्गत शिक्षा प्रदान करने की व्यवस्था का भी वर्णन किया गया है। भारद्वाज और वाल्मीकि के आश्रम पुरातन काल से ही अपनी सांस्कृतिक सम्पदा लिये प्रख्यात रहे हैं।[10] ऋषि दुर्वासा अपने दस सहस्र शिष्यों के सहित गुरुनरेश से भेंट करने आते हैं।[11] महाभारत

---

१. अविद्या पुरुषः शोच्यः—महाभारत ५.३९.७७.

२. नित्य स्वाध्यायी—महाभारत ५.४०.२५.

३. महाभारत १.१३२,१३०.२४-३०,१.४९.१३.

४. महाभारत १.३.

५. महाभारत १.७०.३१.

६. रामायण ७.११६.४-७.

७. आचार्या योनमिह ये प्रविश्य भूत्वा गर्भे ब्रह्मचर्यम् चरन्ति—महाभारत ५.४४६.

८. आचार्य शिष्टा या जातिः सा दिव्या साजरामरा—महाभारत १२.१०८.२०.

९. देववंशान् ब्रह्मवंशान्न पितृवंशान्श्च शाश्वतान्—महाभारत १२.११.१६.

१०. रामायण ६.१२३.५१,२.५५.६-११.

११. शिष्यायुत समापेतो-महाभारत ३, २६२.८.

में भी मार्कण्डेय [१] तथा कण्व [२] के आश्रम ज्ञान की विभिन्न शाखाओं की शिक्षा के लिये प्रसिद्ध थे।

महाकाव्यों ने धर्मशास्त्रों की भाँति ही वेदों की शिक्षा को सर्वोपरि स्थान दिया है। ऋषियों के आश्रम सघन वनों के बीच स्थित थे [३] और निश्चय ही वे इस शिक्षा के लिये उपयुक्त हो सकते थे। अन्य विषयों की शिक्षा आचार्य राजाश्रय अथवा गुरुकुल में प्रदान करते थे। गुरू द्रोण हस्तिनापुर में रह कर धनुर्विद्या की शिक्षा देते थे और द्रुपद के पुत्र भी राजनीति की शिक्षा अपने स्थान पर ही ग्रहण करते थे [४]। स्वयं अर्जुन विराट के राजप्रसाद में राजकुमारी उत्तरा को संगीत और नृत्य की शिक्षा दिया करते थे [५]। महाकाव्यों के अनुसार राजकुमारों की शिक्षा बहुधा उनके स्थान पर ही होती थी [६]। यद्यपि द्रुपद ने द्रोणाचार्य के साथ भारद्वाज के आश्रम में रह कर ही शिक्षा प्राप्त की थी। [७]

अध्ययन के विषयों की सूची में रामयण में दर्शन, धर्मशास्त्र, राजनीति, इतिहास, अथर्ववेद, यजुर्वेद, अर्थशास्त्र, पौराणिक उपाख्यान, तैत्तिरीय, काठक, मानव, आंगिरस, कौशिक, सूत तथा लोकायतिक सिद्धान्तों का उल्लेख किया गया है [८]। इस भांति महाकाव्यों में प्रायः सभी, प्रचलित विषयों का ही वर्णन किया गया है।

शिक्षा का चतुर्दिक् विकास होने पर भी महाकाव्यों और धर्मशास्त्रों के युग में शिक्षा की उपयोगिता की दृष्टि से समाज की अनपेक्षित अवस्था का भान होने लगता है। बाल-विवाह की कुरीति का समावेश होने से स्त्रियों की शिक्षा की दशा दिन प्रतिदिन शोचनीय होने लगी। [९] ब्रह्मचर्य व्रत का भी उतना अधिक महत्व न रहा। क्षत्रिय और वैश्य जातियों के हेतु उपनयन-संस्कार की अधिक उपयोगिता न रही। क्षत्रिय, वैश्य और अन्य व्यवसायी वर्ग धीरे-धीरे शिक्षा की ओर से उदासीन होने लगे और शिक्षा की गति सीमित होने लगी। यद्यपि शिक्षा प्रणाली पूर्व की भाँति ही स्पृहणीय थी और यही कारण था कि वे विदेशी जातियां, जो सैनिक शक्ति से पराभूत न हो सकी, भारतीयों की उदार विचार-धारा से प्रभावित होकर समाज में सदा के लिये विलुप्त हो गई। इस युग में उच्च-शिक्षा को

---

१. महाभारत ३. २७१. ४८.

२. महाभारत १.७०.१८.

३. शैलराजस्य विविक्ते पार्वतेतते। पराशर्यो महातपः वेदानध्यापयामासः—महाभारत १२. ३२७. २६.

४. महाभारत. ३. ३२. ६१–६२.

५. महाभारत ४.११.८–१०.

६. महाभारत ३.३२.६१–६२.

७. महाभारत १.१३०.४१–४५.

८. रामायण २.१००, ३८–३९.

९. महाभारत, आश्वमेधिक पर्व–५६, २२–२३.

राजा और समाज का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ, जिसके फलस्वरूप विभिन्न क्षेत्रों में प्रसिद्ध विद्यालयों की स्थापना होने लगी, जहाँ पर न केवल भारतीय ही वरन् विदेशों से भी विद्यार्थी अध्ययन के लिये आते थे।

प्राचीन भारत की शिक्षा पद्धति में आचार्य का स्थान सब से महत्वपूर्ण समझा जाता था। वैदिक शिक्षा प्रायः मौखिक ढंग से प्रदान की जाती थी।[१] जिसके लिये आचार्य की अनिवार्यता स्पष्ट थी। वेदों में आचार्य के हेतु समिधायें तथा भिक्षा एकत्र करते हुए ब्रह्मचारी का वर्णन आता है[२]। शतपथ ब्राह्मण में भी यज्ञोपासना-विधि का ज्ञान प्रदान कराने वाले आचार्यों की परम्परा का उल्लेख मिलता है, जिसमें सर्वप्रथम प्रजापति का नाम आता है[३]।

उपनिषद् काल में गुरु का स्थान पूर्व की अपेक्षा अधिक समादृत प्रतीत होता है। गुरु के द्वारा उपदिष्ट बुद्धि ही श्रेष्ठ ज्ञान के अनुकूल समझी जाने लगी[४]। ज्ञान प्राप्ति हेतु प्रत्येक जिज्ञासु हाथ में समिधा लेकर किसी ब्रह्मज्ञ एवं वेद के ज्ञाता आचार्य के निकट ही जाता था[५]। उपनिषदों में आचार्य से ज्ञान प्राप्त करने वाले ऐसे अनेक साधकों का वर्णन आता है। नचिकेता अपने पिता द्वारा क्रुद्ध दशा में यम को दिये जाने पर यमाचार्य के निकट जा कर उनसे आत्म-विद्या प्राप्त करता है[६]। सुकेशा, सत्यकाम, गार्ग्य, कौशल्य, वैदर्भि तथा कबन्धी भी समित्पाणि हो कर महर्षि पिप्पलाद के सकाश में जा कर ऋषि द्वारा एक वर्ष तक तप, ब्रह्मचर्य एवं श्रद्धा के सहित रहने की आज्ञा दिये जाने पर उक्त अवधि के पश्चात् उनसे ज्ञान प्राप्त करते हैं और अन्त में आचार्य के प्रति भक्ति प्रदर्शित करते हैं[७]। इसी भांति सत्यकाम[८] तथा श्वेतकेतु आरुणेय[९] भी अपने-अपने आचार्यों के समीप रह कर उनसे शिक्षा ग्रहण करते हैं। वास्तव में समस्त उपनिषद् काल में विद्यार्थी आचार्य से ही शिक्षा ग्रहण करने पर अपने ज्ञान को पूर्ण मानता था, जो उस काल में गुरु के महत्व को स्पष्ट करता है।

१. ऋग्वेद ७.१०२.५.
२. अथर्ववेद ११.५.
३. शतपथ ब्राह्मण १.६, ५.६
४. नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ—कठोपनिषद् २.६.
५. तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्—मुण्डकोपनिषद् १.२.१२.
६. कठोपनिषद् २.६.१८.
७. प्रश्नोपनिषद् ६.७.
८. छान्दोग्य उपनिषद् ४.४.५.
९. छान्दोग्य उपनिषद् ६.१.२.

उपनिषदों के पश्चात् धर्मसूत्रों, बौद्ध एवं जैन साहित्य में भी आचार्य की महत्वपूर्ण स्थिति के यथेष्ट वर्णन प्राप्त होते हैं। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में आचार्य की देवता के समान उपासना करने का विधान किया गया है।[१] गौमत आचार्य को सभी गुरुओं में बड़ा मानते हैं।[२] मनु पिता और आचार्य, दोनों को पिता मानते हैं। मनु के अनुसार आचार्य का स्थान पिता से ऊँचा है, क्योंकि वह आध्यात्मिक शिक्षा के रूप में ब्राह्मण को पुनर्जन्म देता है, जो इहलोक और परलोक में उसे शाश्वत लाभ प्रदान करता है[३]। विष्णुधर्मसूत्र में भी पिता माता और आचार्य को सर्वोपरि गुरुओं में गणना की गई है[४]। महाभारत में एकलव्य की कथा[५] गुरु के महत्व को स्पष्ट करती है। निषाद होने के कारण गुरु द्रोण के द्वारा विधिवत् शिष्य स्वीकार न किये जाने पर द्रोणाचार्य की मूर्ति की उपासना करते हुए वह अपनी अनन्य भक्ति से धनुर्विद्या में सिद्धहस्त हो गया[६]। महाभारत में घर पर वेदों का अध्ययन करने वाले व्यक्ति की निन्दा की गई है[७]।

बौद्ध ग्रन्थों में आचार्य के हेतु ईंधन संग्रह करते हुए तथा अन्य प्रकार से गुरु की सेवा करने वाले विद्यार्थियों का वर्णन आता है[८]। बौद्ध संघ के भीतर प्रवेश प्राप्त करने वाले नवागत भिक्षु अपने उपाध्याय का सम्मान पिता की भांति करते थे[९]। जैन ग्रन्थों में भी इसी भांति आचार्य के प्रति श्रद्धा रखने के अन्यान्य वर्णन प्राप्त होते हैं। रायपसेणिय में तीन प्रकार के आचार्यों का वर्णन किया गया है जो क्रमशः कलायरिय, सिप्पायरिय तथा धम्मायरिय कहे जाते थे। कला तथा शिल्प के गुरुओं की सेवा स्नान, परिधान, भोजन तथा उचित द्रव्य की भेंट के रूप में की जाती थी, जब कि धर्माचार्यों की उपासना भोजन तथा धार्मिक कृत्यों में आवश्यक सामग्री की भेंट के द्वारा की जाती थी।[१०]

आचार्य की सम्मानपूर्ण स्थिति की पुष्टि ग्रीक लेखकों के वर्णन से भी होती है। मेगस्थनीज के कथनानुसार शिक्षा एवं विद्वत्ता के कारण ही ब्राह्मण का तत्कालीन समाज में

---

१. देवमुपाचार्यमुपासीत। आप० ध० सू० १.२.६.१३.
२. गौतम २.५६.
३. मनु० २.१४६.
४. त्रयः पुरुषस्यातिगुरवो भवन्ति, पिता माताचार्यश्च—विष्णु धर्मसूत्र ३२.१-२
५. महाभारत आदिपर्व १३२.
६. महाभारत द्रोणपर्व १८१.१७.
७. अपिचशान सम्पन्नः सर्वान् वेदान् पितुर्गृहे।
श्लाघमान इवाधीयाद् ग्राम्य इत्येव तं विदुः। महाभारत—अनुशासनपर्व ३६.१५.
८. जातक, १.३१७-८, ४४७-८
९. महावग्ग १.२५.
१०. ठाणांगं ३.१३५.

विशेष आदर था[१]। बाल्यावस्था से लेकर शिक्षा समाप्ति तक प्रत्येक विद्यार्थी विभिन्न आचार्यों से शिक्षा ग्रहण करता था। कौटिल्य ने भी ऋत्विक्, आचार्य, पुरोहित अथवा श्रोत्रिय को भूमिकर से मुक्त करने की व्यवस्था दी है[२]। इसी भांति अशोक के लेखों में ब्राह्मणों तथा श्रमणों के प्रति शिष्टाचरण करने की राजाज्ञा का स्पष्ट उल्लेख मिलता है[३]। अशोक के समय में प्रत्येक गृहस्थ का यह कर्तव्य समझा जाता था कि वह इन व्यक्तियों के निर्वाह की व्यवस्था करे[४]। अशोक के परवर्ती सम्राटों ने अपनी दान प्रशस्तियों में सदैव ब्राह्मणों, भिक्षुओं एवं परिव्राजकों के प्रति यथेष्ट उदारता प्रकट कर तत्कालीन समाज की स्वाभाविक प्रवृत्ति का परिचय दिया है। इन शिलालेखों में सातवाहन तथा क्षत्रप नरेशों के लेख विशेष उल्लेखनीय हैं। वस्तुतः प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति में आचार्य का सर्वोत्कृष्ट स्थान उसकी ज्ञान-गरिमा एवं विद्वत्ता का कारण होता था। प्रारम्भ से वैदिक ज्ञान गुरुओं के द्वारा मौखिक रीति से उपदिष्ट हो कर परम्परागत रूप में भारतीय विद्यार्थियों को प्राप्त होता रहा। प्रारम्भ में कोई भी विद्यार्थी आचार्य से शिक्षा प्राप्त कर चुकने पर स्वयं अध्यापन कार्य कर सकता था और उसके हेतु अन्य योग्यतायें निर्धारित न थी। क्रमशः आचार्य के लिये भी अपेक्षित योग्यतायें निश्चित कर दी गई, जिनका उल्लेख धर्मसूत्रों में किया गया है। आचार्य अपने विद्यार्थी का उपनयन-संस्कार कर उसे वेद की शिक्षा प्रदान करता था। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में यह कहा गया है कि जिसका उपनयनसंस्कार अविद्वान् आचार्य सम्पन्न करता है, वह अन्धकारयुक्त लोकों में प्रवेश करता है और अविद्वान् आचार्य भी उसके साथ ही अन्धकार में प्रवेश करता है। इसके साथ ही यह भी स्पष्ट किया गया है कि विद्याध्ययन की इच्छा करने वाले व्यक्ति को अपना उपनयन-संस्कार उसी के द्वारा सम्पादित कराने की लालसा करनी चाहिये जो विद्वान् हो तथा जिसका परिवार सदैव से विद्वत्ता के लिये प्रसिद्ध रहा हो। विद्यार्थी को शान्त चित्त तथा धर्मनिष्ठ आचार्य से ही अपने अध्ययन काल की समाप्ति तक वैदिक शिक्षा, ग्रहण करनी चाहिये[५]। व्यास के कथनानुसार आचार्य ब्राह्मण हो, वेदों का ज्ञाता हो, अपनी वैदिक शाखा का ज्ञान प्राप्त कर चुका हो, और इसके साथ ही आलसी न हो,[६]। देवल ने सभी अंगों के

---

१. मेगस्थनीज़—फ्रैगमेण्ट ४१.
२. कौटिल्य २.१
३. गिरनार लिपि-शिलालेख ४. ब्राह्मणं-श्रमणानां संप्रतिपत्तिः—तथा स्तम्भलेख ७.
४. शिलालेख-२.
५. तमसो वा एषः तमः प्रविशति यमविद्वानुपनयते यश्चाविद्वानिति हि ब्राह्मणम्। तस्मिन्नभिजनविद्यासमुदेतं समाहितं संस्कर्तारमीप्सेत। तस्मिंश्चैव विद्याकर्मान्तमविप्रतिपन्ने धर्मेभ्यः। आप० ध० सू० १.१.१.११.-१३.
६. वैदिक निष्ठं धर्मज्ञं कुलीनं श्रोत्रियं शुचिम्।
स्वशाखाज्ञमनालस्यं विप्रकर्तारमीप्सितम्॥ व्यास—संस्कार प्रकाश पृ० ४०८.

सहित वैदिक शाखा का अध्ययन करने तथा ब्राह्मणों के षट्कर्म का पालन करने वाले व्यक्ति को श्रोत्रिय कहा है [1]।

आपस्तम्ब धर्मसूत्र[2] एवं बौधायन गृह्य सूत्र[3] में भी वेद की एक शाखा का अध्ययन करने वाले व्यक्ति को श्रोत्रिय कहा गया है। धर्मसूत्रों में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि उपनयन संस्कार सम्पन्न करने वाला आचार्य ब्राह्मण ही हो। इसी भाँति वेदाध्ययन भी ब्राह्मण आचार्य के द्वारा ही होना चाहिये। आवश्यकता के समय क्षत्रिय एवं वैश्य आचार्य से भी वेद की शिक्षा ग्रहण की जा सकती थी। ऐसी स्थिति में ब्राह्मण विद्यार्थी ब्राह्मणेतर आचार्य की अन्य शारीरिक सेवा न कर केवल अनुगमन ही करता था [4]।

महाभारत में सुवक्ता, आख्यान कहने वाला, विचारक, प्रतिभावान् तथा प्रत्युत्पन्नमति-प्राप्त व्यक्ति को पण्डित कहा गया है, जो इस बात की पुष्टि करता है कि आचार्य में स्वभावतः इन योग्यताओं का होना परमावश्यक समझा जाता था [5]। आचार्य की भाँति विद्यार्थी का महत्व भी भारतीय शिक्षा प्रणाली के अन्तर्गत विशेष उल्लेखनीय है। उपनयन शब्द का अर्थ ही आचार्य के निकट ले जाना होता है। गृह्यसूत्रों में इस आशय को स्पष्ट रूप से व्यक्त किया गया है [6]। शतपथ ब्राह्मण में आचार्य के निकट रहने वाले विद्यार्थी को अन्तेवासी कहा गया है [7]। गुरु के समीप जा कर ब्रह्मचर्य व्रत धारण करने वाले विद्यार्थी के गुरू कुल प्रवेश का वर्णन ब्राह्मण ग्रन्थों में भी प्राप्त होता है। शतपथ ब्राह्मण में ब्रह्मचर्य धारण करने की इच्छा से विद्यार्थी आचार्य के निकट जाता है और आचार्य उसका नाम, कुल आदि जान कर उसके दक्षिण कर को ग्रहण करता है और तदुपरान्त आचार्य उस विद्यार्थी को अपना विधिवत् शिष्य स्वीकार करता है और गायत्री का उपदेश देता है [8]। गृह्यसूत्रों में भी इसी प्रकार के वर्णन उपलब्ध होते हैं।

---

1. वेदमधीत्य शारीरैरापाणिग्रहणात्संस्कृतः पाकयज्ञैरपि यजन्, श्रोत्रियः।
देवल (अपरार्क पृ० २८४-२८५)
2. धर्मेण वेदानामेकैकां शाखामधीत्य श्रोत्रियो भवति। आप० ध० सू० २.३.६.४.
3. एकां शाखामधीत्य श्रोत्रियः—बौ० गृ० १.७.२.
4. ब्राह्मण आचार्यः स्मर्यते तु। आपदि ब्राह्मणेन राजन्ये वैश्ये वाध्ययनम्। अनुगमनंच पश्चात्। तत ऊर्ध्वम् ब्राह्मण एवाग्रे ततो स्यात्। आप० ध० सू० २.२.४.२५-२८.
5. प्रवक्तवाक् चित्रकथः ऊहवान् प्रतिभानवान्।
आशुग्रन्थस्य वक्ता च यः स पण्डित उच्यते॥ महाभा० ५.३३.३३.
6. अथैनमभिव्याहारयति। ब्रह्मचर्यमागामुपमानयस्व ब्रह्मचारी भवानि देवेन सवित्रा प्रसूताः हिरण्यकेशि। गृह्यसूत्र १.५.२.
7. शतपथ ब्राह्मण ५.१.५.१७.
8. ब्रह्मचर्यमागामित्याह। अथैनमाह को नामासीति। अथास्य हस्तं गृह्णाति इन्द्रस्य ब्रह्मचार्यसि अग्निराचार्यस्तवाहमाचार्यस्तवासाविति। शतपथ ब्रा० ११.५.४.

उपनिषदों में स्थान-स्थान पर ज्ञान-प्राप्ति की इच्छा से गुरु के समीप हाथ में समिधा लेकर आने वाले विद्यार्थी का वर्णन आता है [१]। इन वर्णनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि शिक्षारम्भ करने के पूर्व विद्यार्थी का इस भाँति गुरु के सम्मुख उपस्थित होना आवश्यक नियम था।

धर्मसूत्रों के समय तक उपनयन-सम्बन्धी कार्यों पर यथेष्ट विवेचन हो चुका था और प्रत्येक विद्यार्थी इस संस्कार के सम्पन्न होने पर ही शिक्षा ग्रहण कर सकता था। इस संस्कार के अन्तर्गत आचार्य द्वारा शिष्य का कर ग्रहण किया जाना, शिष्य बनाने की स्वीकृति, परिदान, शिष्य-कर्म की शिक्षा, गायत्री मन्त्र का उपदेश, मेधाजनन, वेदाध्ययन तथा ब्रह्मचर्य व्रत का धारण करना आदि मुख्य कार्य होते थे।

उपनयन-संस्कार द्विजातियों में आचार्य-कुल में प्रवेश पाने के हेतु सब से अधिक महत्वपूर्ण कार्य समझा जाता था। यह संस्कार अवस्था-विशेष प्राप्त होने पर ही सम्पादित किया जाता था। श्वेतकेतु आरुणेय बारह वर्ष की आयु होने पर पिता द्वारा आचार्य के निकट भेजा गया था [२]। गौतम के कथनानुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य का उपनयन संस्कार क्रमशः आठवें, ग्यारहवें तथा बारहवें वर्ष में सम्पन्न कर देना चाहिये [३]। ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य के हेतु सावित्री उपदेश की अवधि सोलह, बीस तथा बाईस वर्ष तक रहती है। आश्वलायन गृह्यसूत्र में भी उपनयन की आयु यही स्थिर की गई है [४]। मनु का कथन है कि यदि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य पिता अपने पुत्र के लिये क्रमशः आध्यात्मिक उन्नति, सैनिक शक्ति तथा प्रभूत धन के इच्छुक हैं, तो वे अपने-अपने पुत्रों का उपनयन क्रमशः पांच, छः और आठ वर्ष की आयु में कर दें [५]। सामान्यतः ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के लिये उपनयन की आयु आठ, ग्यारह और बारह वर्ष ही निश्चित की गई है। गृह्य और धर्मसूत्रों में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य जातियों के लिये क्रमशः सोलहवें, बाईसवें तथा चौबीसवें वर्ष तक उपनयन संस्कार की समाप्ति आवश्यक है अन्यथा इस अवधि के पश्चात् वे सावित्री-ज्ञान प्राप्त करने के अधिकारी नहीं

---

१. ते ह समित्पाणयः पूर्वाह्णे प्रतिचक्रमिरे तान्हानुपनीयैवैतदुवाच—छान्दोग्य ५.११ ७ तथा—ते ह समित्पाणयो भगवन्तं पिप्पलादमुपसन्नाः—प्रश्न १.१.

२. छान्दोग्य उपनिषद् ६.१.

३. गौतम १.५.१४

४. अष्टमे वर्षे ब्राह्मणमुपनयेत्। गर्भाष्टमे वा। एकादशे क्षत्रियम्। द्वादशे वैश्यम्। आषोडशाद् ब्राह्मणस्यानतीतः कालः। आद्वाविंशात्क्षत्रियस्य। आ चतुर्विंशाद्वैश्यस्य। आश्व० गृह्य सू० १. १९. १–६.

५. मनु० २.३७.

रह सकते [१]। ऐसे व्यक्ति पतितसावित्रीक कहलाते थे। पतितसावित्रीक अथवा सावित्री पतित होने की स्थिति में न तो उपनयन संस्कार ही किया जा सकता था और न ऐसा व्यक्ति वैदिक शिक्षा ही ग्रहण कर सकता था। ऐसे व्यक्ति का सामाजिक बहिष्कार कर दिया जाता था। कालान्तर में मनु आदि स्मृतिकारों ने पतितसावित्रिकों के हेतु प्रायश्चित-विधान निश्चित कर दिया [२]।

स्मृतियों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि विद्याध्ययन करने से पूर्व द्विजातियों के हेतु उपनयन संस्कार परमावश्यक था, किन्तु अन्य प्रमाणों से यह प्रतीत होता है कि क्रमशः उपनयन का महत्त्व भी पूर्व की अपेक्षा कम होने लगा। बाल-विवाह की प्रथा का आरम्भ हो जाने से शिक्षा-काल का कोई निश्चित सिद्धान्त न रहा। कौटिल्य ने सोलह वर्ष तक ही ब्रह्मचर्य पालन करने की अनुमति दी है [३]। महाकाव्यों में भी विद्यारम्भ करने के विषय में निश्चित आयु नहीं दी गई है। महाकाव्यों से तो ऐसा विदित होता है कि कालान्तर में लोग उपनयन की उपेक्षा करने लगे। द्रोण, भीष्म और युधिष्ठर यज्ञोपवीत धारण किए हुए अवश्य प्रदर्शित किये गये हैं [४]। किन्तु यह पता लगाना कठिन है कि उनका उपनयन-संस्कार किस आयु में सम्पन्न हुआ होगा। महाभारत में केवल दो स्थानों पर उपनयन-संस्कार के सम्पादित होने का उल्लेख मिलता है, किन्तु इनमें आयु का कोई वर्णन नहीं किया गया है। युधिष्ठिर के पुरोहित धौम्य द्रौपदी के सभी पुत्रों का उपनयन संस्कार सम्पन्न करते हैं। जातकर्म से लेकर उपनयन तक सभी संस्कारों के होने का वर्णन किया गया है [५]। उपनयन संस्कार के पश्चात् राजकुमार वैदिक शिक्षा प्राप्त करते हुए दिखाये गये हैं, [६] परन्तु उनकी आयु का कोई उल्लेख नहीं किया गया है। दूसरे स्थल पर व्यास के यशस्वी पुत्र शुकदेव का उपनयन संस्कार उनके पिता द्वारा ही सम्पन्न किया जाता है [७]। यहाँ पर यह भी कहा गया है कि व्यास ने अपने पुत्र के उत्पन्न होते ही उसका उपनयन कर वैदिक शिक्षा प्रारम्भ कर दी। रामायण में भी इस विषय पर यथेष्ट प्रकाश नहीं डाला गया है। इससे प्रतीत होता है कि धीरे-धीरे उपनयन की अनिवार्यता जाती रही और उसका

---

१. आषोडशाद् ब्राह्मणस्यानतीतः कालः आद्वाविंशात्क्षत्रियस्य आचतुर्विंशाद्वैश्यस्य। अत ऊर्ध्वम् पतितसावित्रीका भवन्ति। नैनानुपनयेन्नाध्यापयेन्न याजयेन्नैभिर्व्यवहरेये।—आश्व० गृ० सू० १.१६.५-७.

२. मनु ११.१९१ तथा विष्णु ध० सू० ५४. २९.

३. कौटिल्य १.५.२.

४. महाभारत १.१३४.१९.

५. जातकर्माण्यनुपूर्व्याच्चूडोपनयनं च चकार विधिवत् धौम्यस्तेषां भरतसत्तम॥ —महाभारतत १.२२१.८७.

६. कृत्वा च वेदाध्ययननम्—महाभा० १.२२१.८८.

७. जातमात्रं मुनिः पुत्रं विधिनोपनयत्तदा। महाभा० १२.३२४,१९.

महत्त्व नाममात्र के लिये रह गया। क्षत्रिय और वैश्य के लिये तो इस संस्कार का सम्पादन अनावश्यक-सा हो गया।

ब्राह्मण-साहित्य के साथ ही बौद्ध एवं जैन ग्रन्थों में भी विद्यारम्भ के विषय में यथेष्ट प्रमाण मिलते हैं। जहाँ तक सामान्य शिक्षा-प्रणाली का संबंध है, बौद्ध शिक्षा-पद्धति प्रचलित व्यवस्था से अधिक भिन्न न थी। बौद्ध शिक्षा में उल्लेखनीय बात यही है कि यह न तो वैदिक शिक्षा पर निर्भर थी और न उसका अध्यापन करने वाले शिक्षक सदैव ब्राह्मण होते थे। बौद्ध धर्म के अन्तर्गत सभी जातियों का प्रवेश अबाध गति से हो सकता था। केवल बुद्ध, धम्म और संघ में विश्वास करना ही प्रवेश पाने की सबसे आवश्यक योग्यता निर्धारित की गई थी। बौद्ध धर्म का मूल सिद्धांत संसार की दुःखमय स्थिति का भान करना था, जिससे मुक्ति एकमात्र प्रव्रज्या ग्रहण करने पर ही सम्भव थी। यही कारण है कि बौद्ध शिक्षा के नियम प्रायः विहार में रहने वाले भिक्षुओं के लिये ही बनाये गये थे।

प्रत्येक नवागत को धर्म की साधना एवं सिद्धान्तों का सम्यक् ज्ञान होना आवश्यक था। इसी उद्देश्य से बौद्ध विहार में शिक्षा की व्यवस्था की गई। विनयपिटक [१] में ऐसे नवागत शिष्य के संघ प्रवेश सम्बन्धी नियमों का उल्लेख मिलता है। बौद्ध धर्म ग्रहण कर संघ में प्रवेश करने के हेतु दो संस्कार करने से पूर्व प्रत्येक नवागत अथवा सामनेर को किसी भिक्षु को अपना गुरु बनाना पड़ता था। प्रथम संस्कार पब्बजा कृत्य कहलाता था, जो संरक्षक की अनुमति से आठ वर्ष की आयु में सम्पन्न होता था[२]। यह संस्कार संघ-सभा की स्वीकृति से ही सम्पादित किया जाता था और प्रत्येक नवागत को बुद्ध, धम्म तथा संघ में अपना विश्वास प्रकट करना पड़ता था। इसके उपरान्त वह किसी भिक्षु को अपना आचार्य अथवा 'उपज्झाय' चुनकर विधिवत् शिष्यत्व ग्रहण करता था। कोई भी भिक्षु न्यूनातिन्यून दस वर्ष की अवधि तक भिक्षु हुए तथा विद्वत्ता एवं योग्यता प्राप्त किये बिना आचार्य न हो सकता था[३]। शिष्य को सद्धिविहारिक कहते थे[४]। प्रथम काल की समाप्ति हो जाने के उपरान्त संघ में पूर्ण प्रवेश प्राप्त करने के हेतु द्वितीय संस्कार आयु में होता था। बौद्ध शिक्षा-प्रणाली के अन्तर्गत भी विद्यार्थी को अथवा प्रवेश के साथ ही अच्छे विद्यार्थी में अन्य योग्यताओं का होना भी आवश्यक था। स्मृतियों में इन योग्यताओं का यथेष्ट वर्णन मिलता है। आचार्य पवित्र, ध्यानावस्थित, मेधावी एवं ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करने वाले शिष्य को ही शिक्षा प्रदान करता था। वह ईर्ष्यालु, दुर्मद तथा असंयमी व्यक्ति को शिक्षा देने का अधिकारी नहीं था[५]। वसिष्ठ[६], विष्णुधर्म

---

१. महावग्ग १.३८.
२. मज्झिमनिकाय २.१०, ३
३. महावग्ग १.२७.
४. महावग्ग १.२५.
५. असूयकायानृजवे यताय न मा बूया वीर्यवती तथा स्याम्। यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्त मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम्। यस्ते न द्रुह्येत्कतमच्चनाह तस्मै न बूया निधिपाय ब्रह्मन्॥ - निरुक्त २.४.
६. वसिष्ठ २.८-९.

सूत्र[1] तथा मनु[2] ने भी इसी भांति योग्यतायें निश्चित की हैं। मनु का कथन है कि आचार्य के पुत्र, गुरुभक्त, ज्ञान का प्रसार करने वाले, धर्मज्ञ, शुचि, सत्यव्रती, पठन एवं मनन में समर्थ, गुरुदक्षिणा देने वाले, कुली तथा अपने निकट सम्बन्धी इन दस व्यक्तियों को आचार्य शिक्षा प्रदान करे[3]। याज्ञवल्क्य इनके सहित विद्यार्थी का कृतज्ञ होना, गुरु के प्रति घृणा न करने वाला अथवा मिथ्याचारी न होना, स्वस्थ एवं निर्व्यसनी होना भी आवश्यक मानते हैं[4]। विद्यार्थी को सदैव गुरु के नियन्त्रण में रहना चाहिये तथा उसी पर निर्भर होना चाहिये[5]। नारद के कथनानुसार विद्यार्थी को एकमात्र अपने गुरु के समीप ही रहना चाहिये[6]।

महाभारत में कृष्ण भी अर्जुन से तपश्चरण में प्रमादी गुरु की सुश्रुषा एवं भक्ति न करने वाले व्यक्ति एवं नास्तिक को ज्ञान का रहस्य प्रकट न करने का उपदेश देते हैं।[7] व्यास अपने शिष्यों को उपदेश देते समय विद्यार्थी के चरित्र और उसकी ज्ञान विषयक अभिरुचि पर विशेष बल देते हैं[8]। जाति एवं अन्य अच्छी विशेषताओं का ध्यान भलीभांति करना चाहिये। वेदों की शिक्षा ग्रहण करने के वे ही अधिकारी समझे जाते थे, जिनमें ब्राह्मण विद्या या ब्रह्मचर्य की शक्ति हो।[9]

बौद्ध एवं अन्य ग्रन्थों में भी अच्छे शिष्य के विषय में आवश्यक बातों का उल्लेख किया गया है। अच्छा विद्यार्थी सदैव आचार्य की शिक्षा को ध्यानपूर्वक सुनता है। वह आचार्य से प्रश्न करता है, उसका मूल्यांकन करता है, अर्थ ग्रहण करता है और तदनुरूप अभ्यास करता है।[10] इसके साथ ही सुयोग्य शिष्य सदैव गुरु की आज्ञा का पालन करता है। वह सत्यवादी होता है और आचार्य के आदेश का पालन स्वामिभक्त अश्व की भांति करता है। यदि वह गुरु को क्रुद्ध देखता है तो उसे विनम्र होकर शान्त करने का प्रयत्न करता है, हाथ जोड़कर प्रसन्न करता है और भविष्य में फिर कभी भूल न करने का व्रत लेता

---

1. विष्णुधर्मसूत्र २६.६.१०.
2. मनु० २.११५
3. मनु० २. १०६-११२.
4. याज्ञवल्क्य १.२८.
5. न ब्रह्मचारिणो विद्यार्थस्य गुरोरप्रतिलोमयन्वचा। आप० धर्म सूत्र १.१.२. पतनीयेभ्यः। हितकारी गुरोरप्रतिलोमयन्वचा। आप० १७, १९-२०.
6. अस्वतन्त्रः स्मृतः शिष्य आचार्ये तु स्वतन्त्रता।
7. महाभारत ६.४२-४७.
8. ब्राह्मणाय सदा देयं ब्रह्म सुश्रूषवे तथा।
9. ब्रह्म लोके निवासं यो ध्रुवं समभिकांक्षते॥
   नाशिष्ये संप्रदा तया नाव्रते नाकृतात्मनि।
   नारीद्वच चारित्रे विद्या देया कथंचत॥ महा० १२.३२७.४१-४६
   विद्या हि सा ब्रह्मचर्येण लभ्या।- महा ५.४४.२.
10. आवश्यक नियुक्ति २२

है।[१] शिष्यों की तुलना पर्वत, घड़ा, छाज, छन्नी, राजहंस, भैंस, भेड़, मच्छर, जोंक, बिल्ली, गाय, ढोल और आभारी से की गई है [२] जो उनकी योग्यताओं एवं अयोग्यताओं पर प्रकाश डालती हैं।

आचार्य-कुल में शिक्षा प्राप्त करने की स्थिति में आचार्य और शिष्य दोनों ही अपने-अपने कर्त्तव्यों का भलीभाँति पालन करते थे। आचार्य और शिष्य के पारस्परिक सम्बन्ध पिता और पुत्र की भाँति होते थे [३]। महावग्ग में भी यह कहा गया है कि उपज्झाय सद्धिविहारिक को अपने पुत्र की भाँति समझे और सद्धिविहारिक भी उपज्झाय को अपना पिता माने [४]। प्रायः आचार्य अपने स्थान पर स्थायी रूप से निवास करते थे और विद्यार्थीगण उनके समीप रहकर ही शिक्षा प्राप्त करते थे। अतएव दोनों के सम्बन्धों का पिता और पुत्र की भाँति होना स्वाभाविक था। उस समय ऐसे भी आचार्य थे, जो एक स्थान से दूसरे स्थान का परिभ्रमण करते रहते थे। ऐसे आचार्य परिव्राजक ही होते थे, जिनके विषय में ब्राह्मण [५] बौद्धग्रन्थों में वर्णन प्राप्त होते हैं। सामान्यतः विद्यार्थी एक ही आचार्य के निकट रहकर अपनी शिक्षा पूर्ण करते थे।

वेद का अध्ययन प्रत्येक द्विजाति का सर्व प्रथम कर्त्तव्य माना जाता है। वेदों के अध्ययन को तप कहा गया है, जो ब्राह्मण के लिये आवश्यक था [६]। महाभाष्य के अनुसार ब्राह्मण को किसी फल प्राप्ति की आशा किये विना धर्म और वेद के छहों अंगों का अध्ययन और मनन करना चाहिये।[७] महाभारत में भी यह कहा गया है कि वेदों के अध्ययन को पूरा कर लेने से ही ब्राह्मण का कर्त्तव्य पूर्णतया समाप्त हो जाता है [८]। परन्तु वेद की शिक्षा प्राप्त करने के साथ ही प्रत्येक ब्राह्मण का यह भी कर्त्तव्य था कि वह आचार्य की स्थिति में वेद का अध्यापन भी करे। वेद का अध्ययन कर लेने के पश्चात् यदि निवेदन किये जाने पर कोई व्यक्ति वेद की शिक्षा प्रदान नहीं करता है, तो उसके सभी सुकर्म नष्ट हो जाते हैं। उसका सुख-द्वार बन्द हो जाता है। अतएव अपने यश की वृद्धि के हेतु उसे अध्यापन करना

---

१. उत्तराध्ययन १, १३, १२, ४१, १८, २२.

२. आवश्यक नियुक्ति १३६२, आवश्यक चूर्णि १२१-४, बृहत्कल्प भाष्य ३३४.

३. आप० ध० सू० १.२.८.

४. महावग्ग १.३२

५. कौषतिकि ब्राह्मणोपनिषद् ४.१

६. तपः स्वाध्याय इति ब्राह्मणम्। ब्रह्मयशो ह वा एवं यत्स्वाध्यायः।
आप० ध० सू० १.४.२२.

७. ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडंगो वेदोऽध्येयो ज्ञेय—महाभाष्य जिल्द १ पृ० १.

८. परिनिष्ठितकार्यो हि स्वाध्यायेन द्विजो भवेत्।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते॥ महा० शान्तिपर्व २३६.१३

बौधायन धर्मसूत्र में यह भी कहा गया है कि प्रतिदिन ब्रह्मचारी एक सहस्र गायत्री का जप, प्राणायाम को सात व्याहृतियों के सहित करे[1]। मनु ने भी गायत्री के जप को दैनिक कर्तव्यों में विशेष महत्त्व दिया है[2]। इनके अतिरिक्त ब्रह्मचारियों के लिये अन्य कर्तव्य निश्चित किये गये थे। धर्मसूत्र और स्मृतियाँ विद्यार्थी के कर्तव्यों में अग्निपरिचर्या, भिक्षा सन्ध्योपासन, वेदाध्ययन, गुरु-शुश्रूषा तथा ब्रह्मचर्य व्रत के विषय में अनेक नियम निर्धारित करती है। ब्रह्मचारी का यह परम कर्तव्य माना जाता था कि वह आचार्य-कुल में अग्नि की उपासना करे। हारीत के कथनानुसार ब्रह्मचारी को जब मृत्यु अपने पाश में आवद्ध करना चाहती थी तो अग्नि ने ब्रह्मचारी की रक्षा मृत्यु से की थी और इसी से ब्रह्मचारी को अग्नि की सेवा करनी चाहिये[3]।

अग्नि परिचर्या के साथ ही ब्रह्मचारी अपने भोजन के लिये भिक्षा प्राप्त करता था। हिरण्यकेशि गृह्य सूत्र में यह कहा गया है कि दण्ड देने के पश्चात् आचार्य शिष्य को भिक्षा पात्र दे और भिक्षा के हेतु जाने की आज्ञा दे। गृहस्थों का यह कर्तव्य समझा जाता था कि वे अपनी सामर्थ्य के अनुसार ब्रह्मचारियों तथा यतियों को भोजन दें।[4] इसके सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण नियम यह भी था कि विद्यार्थी केवल अपने लिये ही भिक्षा प्राप्त न करे, वरन् जो कुछ भी उसे प्राप्त हो वह आचार्य के समक्ष प्रस्तुत करे और आचार्य जिस भाग को लेने की आज्ञा दे, उसी को ग्रहण करे। यदि आचार्य यात्रा पर गये हों तो उनके परिवार की आज्ञा ले कर भिक्षा ग्रहण करे।[5] आपस्तम्ब के कथनानुसार भिक्षा यज्ञ-भाग के समान है और आचार्य देवता आहवनीय अग्नि की भाँति है।[6]

अन्य कर्तव्यों में विद्यार्थी आचार्य के हेतु पात्रों में जल भरते थे तथा उनके लिये पुष्प, गोबर, मिट्टी और कुश लाते थे।[7] इनके अतिरिक्त विद्यार्थी के चरित्र, अभिवादन, श्रद्धा, भोजन, पेय तथा कार्यों के संबंध में भी धर्मसूत्रों में नियम मिलते हैं। गौतम का कथन है कि विद्यार्थी सत्य बोले, प्रतिदिन स्नान करे, सूर्य की ओर न देखे, मधु, मांस, सुगंधित तेल-तथा पुष्पों का उपयोग न करे, दिन में शयन न करे, तेज-मर्दन न करे, आँखों में अंजन (सुर्मा) न लगाए, गाड़ो पर न बैठे, जूतों का उपयोग न करे, छत्र ग्रहण न करे

---

१. बौधायन धर्मसूत्र २.४.७–९.

२. मनु० २.१०४.

३. पुराह जग्राह वै मृत्युर्हिंसयन् ब्रह्मचारिणम्।
अग्निस्तं मोचयामास तस्मात् परिचरेद्धितम्।
ब्रह्मचारी यदा त्वग्नावादध्यात्समिधो नहि।
गृह्णीयात्तं तदामृत्युरादध्यात् समिधस्ततः॥ हारीत—स्मृति च० १. २२

४. गौतम ५. १६.

५. आप० ध० सू० १.१.३.३१–३५

६. आप० ध० सू० १. १.३. ४३–४४

७. मनु० २.१८२.

और प्रणय, क्रोध, कामोद्वेग, व्यर्थ उत्तेजना, निरर्थक वादविवाद, संगीतवाद्यों का अभ्यास, गरम पानी में आनन्ददायक स्नान, शीघ्रता में दन्त धावन, खोयी हुई मनःस्थिति, नृत्य, गायन, परनिन्दा, भयावह स्थान, स्त्री दर्शन अथवा युवती-स्पर्श, द्यूतकर्म, निम्नकर्म, हिंसा, अश्लील अथवा कर्कश बात तथा मदिरा का सर्वथा त्याग करे।[1] मनु ने भी विद्यार्थी को शय्या पर न सोने तथा पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन करने की व्यवस्था दी है।[2] आपस्तम्ब धर्मसूत्र[3] में भी यही कर्तव्य निश्चित किये गये हैं जिनके अनुसार विद्यार्थी अपने अंगों को गरम पानी से न धो सकता था किन्तु अधिक स्वच्छता के उद्देश्य से गुरु की दृष्टि से अलग होकर कर सकता था। वह अधिक देर तक कौतुकपूर्ण मुद्रा में स्नान न कर सकता था। उसे न केवल इन्द्रिय-सम्भोग ही वर्जित था[4] वरन् आवश्यकता से अधिक स्त्रियों से बातें करना भी निषिद्ध था। विद्यार्थी को हँसने की आज्ञा नहीं थी लेकिन अपरिहार्य स्थिति में वह हाथों से मुख ढक कर हँस सकता था।[5]

गौतम और बौधायन ने विद्यार्थी को यात्रा के समय गुरु का अनुगमन करने, गुरु के स्नान, वस्त्र-धारण तथा शरीर-परिचर्या में सहायता करने और गुरु का उच्छिष्ट भोजन ग्रहण करने की आज्ञा दी है।[6] इसके साथ ही विद्यार्थी का यह भी कर्तव्य था कि वह आचार्य के हित और प्रसन्नता का ध्यान रखकर शारीरिक श्रम करे और आचार्य द्वारा बुलाये जाने पर पाठ ग्रहण करे। विद्यार्थी सदैव गुरु के आसन से नीचे ही स्थान ग्रहण करता था। वह गुरु के पश्चात् शयन करने जाता था और उससे पूर्व उठ बैठता था।[7] मनु के कथनानुसार विद्यार्थी अपने गुरु की चाल-ढाल, भाषण तथा कार्यों का उपहास करने का अधिकारी नहीं था।[8] जिस स्थान पर आचार्य की निन्दा हो रही हो उस स्थान पर शिष्य का बैठना सर्वथा वर्जित था।[9] अपने गुरु में बुराई खोजने वाले तथा निन्दा करने वाले व्यक्ति को स्मृतिकारों ने गधा अथवा श्वान् कहा है।[10]

आचार्य के प्रति सम्मान प्रकट करना अथवा गुरुओं का अभिवादन करना शिष्य का महत्वपूर्ण कर्तव्य समझा जाता था। वह आचार्य, गुरुपत्नी, आचार्य के पुत्र तथा श्रोत्रिय

---

१. गौतम २. १३. १४. १८. १६. २२. २३. २५.
२. मनु० २,१६८.
३. आप० ध० सू०. १.१. २. २१-३० तथा ११. १३. ११.-२४
४. आप० ध० सू० ११. २. २६.
५. न स्मयेत। यदिस्मयेतापिगृह्य स्मयेतेति ब्राह्मणम्। आप० ध० सू० १.२.७.७-८
६. बौधायन ध० सू० १. २. ३४. ३७
७. गौतम २. ३०-३२.
८. मनु० २. १६६
९. यत्रास्य निन्दापरीवादौ स्यातां न तत्र तिष्ठेत्। विष्णु धर्मसूत्र २८. २६.
१०. मनु० २. २०१.

को नाम लेकर न पुकार सकता था [१]। महाभारत में भी यह कहा गया है कि अपने से बड़ों को नाम लेकर अथवा तुम कह कर पुकारना उचित नहीं है, परन्तु बराबरी वालों तथा छोटों को नाम लेकर पुकारा जा सकता है [२]।

उपसंगृहण, प्रत्युत्थान, तथा अभिवादन सम्बन्धी नियमों का विद्यार्थी को सदैव ध्यान रखना पड़ता था। सूर्योदय के पश्चात्, पाठ ग्रहण करने से पूर्व तथा दैनिक शिक्षा समाप्त करने के उपरान्त शिष्य सदैव गुरु का चरण-स्पर्श करता था [३]। कौटिल्य का भी यह कथन है कि विद्या, बुद्धि, पौरुष, कुलीनता तथा महत्वपूर्ण कार्यों के द्वारा मनुष्य सम्मान प्राप्त करता है। [४]

शिष्य की आज्ञाकारिता, नम्रता एवं श्रद्धा के विषय में सभी ब्राह्मणग्रन्थों में पर्याप्त उक्तियाँ मिलती हैं। गुरु के प्रति अशिष्ट अथवा दुराग्रही होने की स्थिति में शिष्य ब्रह्महत्या के पातक का भागी समझा जाता था [५]। गुरु-द्रोह करने की स्थिति में कोई भी विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करने का अधिकारी नहीं माना जाता था [६]। असत्य, गर्व, त्वरा एवं आत्मश्लाघा से विद्यार्थी को सदैव अपनी रक्षा करनी पड़ती थी [७] अन्यथा वह आचार्य की अप्रसन्नता का कारण होता था। महाभारत में अवज्ञा करने वाले शिष्य को मृत्यु के उपरान्त घोर दुःखद अवस्था प्राप्त करने का वर्णन मिलता है [८]।

शिष्य के कर्त्तव्यों का उल्लेख बौद्ध एवं जैन साहित्य में भी इसी भाँति किया गया है। महावग्ग में शिष्य के कर्त्तव्यों का सम्यक् वर्णन किया गया है [९]। सद्धिविहारिक को सदैव अपने उपज्झाय के उठने से पूर्व ही जागना उचित था। वह उठ कर अपने वस्त्र भलीभाँति धारण कर तथा जूते उतार कर उपज्झाय को दाँत धोने के लिये दातुन तथा मुख धोने के लिये जल देता था। इसके पश्चात् वह उपज्झाय के लिये आसन ठीक करता था। शालिदुग्ध होने पर वह उपज्झाय को पेय भेंट करता था और उसके पीने पर मुख धोने के लिये जल देता था। तदुपरान्त वह पात्र धो कर रख देता था। उपज्झाय के उठने पर वह आसन अलग कर देता था। स्थान स्वच्छ न होने पर वह उसे झाड़ देता था। यदि वह भिक्षा

---

१. आचार्यतत्पुत्रस्त्रीदीक्षित नामानि। गौतम २.२४.
२. त्वंकारं नामधेयं च ज्येष्ठानां परिवर्जयेत्।
अवराणां समानानामुभयेषां न दुष्यति॥ शान्तिपर्व १९३.२५.
३. आप० ध० सू० १ २.५.१९.
४. पूज्या विद्याबुद्धिपौरुषाभिजन-कर्मातिशयतश्च पुरुषाः। अर्थशास्त्र ३.२०.
५. महाभारत ५.४०.३.
६. महाभा० ५.४४.६.
७. महाभा० १२.३२१.२६.
८. महाभा० ५.४०.३.
९. महावग्ग १.२५.

लाने के उद्देश्य से जाना चाहता था, तो शिष्य उपज्झाय को वस्त्र धारण करने तथा भिक्षा-पात्र ठीक करने में सहायता प्रदान करता था। भिक्षा के लिये जाते समय सद्धिविहारिक सदैव अपने गुरु का अनुगमन सेवक की भाँति करता था। वह न तो उससे दूर चलता था और न अत्यन्त निकट रहता था। उपज्झाय के बात-चीत करते समय वह बीच में न बोलता था। भिक्षा पूरी कर लेने पर सद्धिविहारिक विहार को तुरन्त लौटता था और उपज्झाय के लिये आसन, पैर धोने के लिये जल, पैरों के नीचे का पाट तथा तौलिया की व्यवस्था करता था। इसके पश्चात् वह उपज्झाय से भिक्षा पात्र तथा वस्त्र लेकर रख देता था। वह उन वस्त्रों को भली भाँति लपेट कर सुरक्षित रखता था। यदि गुरु भोजन करना चाहता, तो वह जल ला कर उसे भोजन भेंट करता था। भोजन समाप्त कर लेने पर वह भिक्षा-पात्र को धोकर सुखाता था और अलग रख देता था। शिष्य उपज्झाय को स्नान करने में सहायता पहुँचाता था और उसके लिये शीतल एवं गरम जल का प्रबन्ध करता था। वह स्वयं स्नान करने पर शीघ्र ही अपने वस्त्र धारण करता था, जिससे कि वह उपज्झाय की सेवा में तुरन्त ही पहुँच सके। स्नान समाप्त करने के पश्चात् सद्धिविहारिक उपज्झाय से उपदेश प्राप्त करने की प्रार्थना करता था और उससे प्रश्न पूछता था। शिष्य को विहार, भिक्षु-गृह, संग्रहलाय, भोजनालय, अग्नि-गृह आदि के स्वच्छ करने के विषय में प्रारम्भ से ही आज्ञा दी जाती थी। वह सदैव पीने का जल, भोजन तथा मुख धोने के पानी का प्रबन्ध करता था।

इन कार्यों के अतिरिक्त शिष्य उपज्झाय के कार्यों पर भी दृष्टि रखता था। धर्म के प्रति जब उपज्झाय असहिष्णु हो उठता था, तो शिष्य उसे समझाने का यत्न करता था और यदि स्वयं असमर्थ होता था, तो किसी अन्य के द्वारा गुरु के मन में धर्म के प्रति विश्वास उत्पन्न करने की चेष्टा करता था। उपज्झाय के मन में भ्रान्ति होने अथवा मिथ्या सिद्धान्त के प्रति लगाव होने पर शिष्य उसे पुनः धर्म के प्रति श्रद्धालु बनाने का प्रयास करता था। यदि गुरु घोर अपराध का भागी होता, तो वह संघ द्वारा उसे कठोर अनुशासन का दण्ड दिलाने का ध्यान रखता था, किन्तु इसके साथ ही वह गुरु को कठोर दण्ड दिये जाने पर उसे कम करने के लिये संघ से विनय कर सकता था। उपज्झाय की आज्ञा के बिना शिष्य किसी की भेंट स्वीकार न कर सकता था और न कहीं जा सकता था। अस्वस्थ होने पर वह बड़ी लगन से गुरु की परिचर्या करता था।[१]

जातकों में भी विद्यार्थी गुरु के हेतु वनों से ईंधन-संग्रह करते हुए तथा अन्य सेवा कार्य करते हुए दिखाई देता है[२], जिससे तत्कालीन शिक्षा-पद्धति में शिष्य के कर्तव्यों पर प्रकाश पड़ता है। वैभव-सम्पन्न राजकुमार भी आचार्य के निकट अध्ययन करने की अवधि में सादा जीवन व्यतीत करते थे। आचार्य कुल में उन्हें भी सब के साथ सादा भोजन प्रदान किया

---

१. महावग्ग १.२५.

२. जातक १.३१७.

जाता था [1]। आमन्त्रण होने पर ही विद्यार्थी रस, दधि तथा दूध के पके हुए स्वादिष्ट व्यजंन प्राप्त करते थे [2]।

जैन-प्रमाणों के अनुसार भी शिष्य सदैव अपने गुरु का सम्मान करता था। शिष्य आचार्य के निकट सम्मुख तथा पीछे आसन ग्रहण नहीं कर सकता था। आसन अथवा बिस्तर पर बैठ कर भी वह आचार्य से प्रश्न नहीं पूछ सकता था, परन्तु वह सदैव अपने स्थान से उठ कर और गुरु के निकट आ हाथ जोड़ कर ही प्रश्न करता था [3]।

आचार्य एवं शिष्य के अधिकारों तथा कर्त्तव्यों पर दृष्टि डालने से स्वभावतः उनके पारस्परिक सम्बन्धों का बोध हो जाता है। तत्कालीन शिक्षा-प्रणाली में शिष्य आचार्य-कुल में अपने विद्यार्थी-जीवन की समाप्ति तक रहता था और इसी से उनके बीच पिता-पुत्र जैसी प्रीति होनी स्वाभाविक थी। महाभाष्य में एक आचार्य से दूसरे के निकट जाने वाले विद्यार्थी को तीर्थकाक कहा गया है [4]। विद्वान् आचार्य अपने पुत्रों एवं शिष्यों को ज्ञान के विस्तृत क्षेत्र में प्रवेश कराता था [5]। वह अपने शिष्यों से कोई नियमित शुल्क नहीं लेता था और आवश्यकता पड़ने पर निर्धन विद्यार्थियों के भोजन-वस्त्र का प्रबन्ध भी कर देता था। यद्यपि राजा का भी यह कर्त्तव्य था कि वह विद्वान् पुरुषों और विद्यार्थियों के निर्वाह की समुचित व्यवस्था करे और यह देखे कि उसके राज्य में कोई ब्राह्मण भूखों नहीं मरता।[6] परन्तु शिष्य के निवासादि का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व आचार्य पर ही होता था। स्वयं आचार्य को कोई नियमित वेतन प्राप्त नहीं होता था। महाभारत में भीष्म गुरु द्रोण को पाण्डव तथा कौरव राजकुमारों का आचार्य नियुक्त करते समय उन्हें धन-धान्य से पूर्ण गृह भेंट करते हैं किन्तु इसके साथ किसी मासिक वृत्ति का कोई उल्लेख नहीं मिलता [7]। ऐसी स्थिति में आचार्य एवं शिष्य के सम्बन्धों में पारस्परिक हित-कामना निहित होना स्वाभाविक ही था। शिष्य के कर्तव्यों में गुरु-सेवा के कार्य भी सम्मिलित थे। परन्तु आचार्य सदैव शिष्य के अध्ययन में विघ्न न होने देने का ध्यान रखता था [8]। यदि आचार्य शिष्य को कहीं भी अपने कार्य से भेजता था तो उसकी सुरक्षा का उत्तरदायित्व भी उस पर होता था। अतएव आचार्य और शिष्य परस्पर आदर-विश्वास एवं सौहार्द की भावना से ओत-प्रोत रहते थे।[9]

1. जातक १.३१८.
2. जातक १.४४८.
3. उत्तराध्ययन १.१९,१२.४१,१८,२२
4. यथा तीर्थकाका न चिरं स्थातारो भवन्ति एवं यो गुरुकुलानि गत्वा न चिरं तिष्ठति स उच्यते तीर्थकाक इति।—महाभाष्य १.३६१. (पाणिनि २.१.४१)
5. महाभारत ७.१६४.६.
6. गौतम १०.६-१२.
7. महाभारत, आदिपर्व १३३ २-३.
8. न चैनमध्ययनविघ्नेन आत्मार्थेषूपरुन्ध्यादनापत्सु—आप० ध० सू० १.२.८
9. महावग्ग १.३२.१.

ये सम्बंध कभी-कभी तो इतने घनिष्ठ हो जाते थे कि अध्ययन समाप्त कर लेने पर विद्यार्थी आचार्य की पुत्री से ही विवाह सम्बन्ध स्थापित कर लेता था। स्मृतियों ने कुछ समय पश्चात् इस प्रथा को धर्म-विरुद्ध घोषित कर दिया, क्योंकि शिष्य की दृष्टि में आचार्य की पुत्री भगिनी के समान थी। इसी अधार पर कच ने देवयानी का पाणिग्रहण करने से इन्कार कर दिया [1]। परन्तु जातकों के वर्णनों से ऐसा प्रतीत होता है कि यह प्रथा उन दिनों समाज में प्रचलित थी [2]। इसकी पुष्टि जैनग्रन्थों से भी होती है [3]।

आचार्य एवं शिष्य के सम्बन्ध अन्य विशेषताओं के साथ दोनों की व्यक्तिगत प्रकृति पर भी निर्भर रहते थे। यद्यपि धौम्य जैसी प्रकृति के आचार्य अपने शिष्यों को कठोर अनुशासन में रखना उचित समझते थे, परन्तु अधिकांशतः आचार्य अपनी सौम्य प्रकृति के हेतु प्रसिद्ध थे। महाभारत में वेद एवं द्रोण जैसे समादृत आचार्यों का उल्लेख मिलता है। दुर्योधन की उद्दण्डता को गुरु द्रोण यह कहते हुए क्षमा कर देते हैं कि तुम मेरे लिये अश्वत्थ की भाँति हो और इससे मैं तुम्हारे कथन को ध्यान में नही लाता [4]। परन्तु धर्मसूत्रों में शिष्य की उद्दण्डता के हेतु आचार्य द्वारा शारीरिक दण्ड दिये जाने का विधान किया गया है। गौतम का कथन है कि प्रथम तो शिष्य को समझाना चाहिये, लेकिन यदि इसके द्वारा उसे अनुशासन में रखना सम्भव न हो तो रज्जु अथवा बांस से दण्ड देना चाहिये। अन्य साधनों से दण्ड देने पर राजा आचार्य को दण्डित करे [5]। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में भी कहा गया है कि निरन्तर भर्त्सना करने पर भी यदि शिष्य उद्दण्डता न छोड़े तो आचार्य उसे अभित्रास, उपवास, उदकोपस्पर्शन तथा अदर्शन का दण्ड दे सकता है [6]।

बौद्ध एवं जैन प्रमाणों से भी शिष्य की उद्दण्डता के हेतु आचार्य द्वारा शारीरिक दण्ड देने की पुष्टि होती है। ऐसे विद्यार्थियों को उनके आचार्य खड्डया (लात), चेवड़ा (थप्पड़), वह (छड़ी) तथा अपशब्दों द्वारा दण्डित करते थे। [7] कभी-कभी तो ऐसे छात्रों की उद्दण्डता से दुःखी होकर आचार्य वन को चले जाते थे [8]।

सामान्यतः कुछ अपवादों को छोड़ कर गुरु और शिष्य का सम्बन्ध न केवल अध्ययन-काल में ही वरन् जीवन-पर्यन्त पारस्परिक प्रेम एवं सहानुभुति से ओत-प्रोत रहते थे।

---

१. महाभारत १.७७.१४.

२. छिलविमन् जातक २०५.३७४, महावग्ग जातक ६.२४७.

३. उत्तराध्ययन १८.३४३.

४. नाभ्यसूयामि ते वाक्यम् अश्वत्थाम्नापि मे समः। महा० ७.६४.१६.

५. शिष्यशिष्टिरवधेन। अशक्तो रज्जुवेणुविदलाभ्यां तनुभ्याम्। अन्येन घ्नन् राज्ञा शास्यः। गौतम २.४८.५०.

६. अपराधेषु चैनं सततमुपालभेत। अभित्रास उपवास उदको स्पर्शनमदर्शनमिति दण्डा यथामात्रमा निवृत्तेः। आप० ध० सू० १.२.८.२६-३०.

७. उत्तराध्ययन ३८,३,६५ तथा जातक २.२७६.

८. उत्तराध्ययन २७,८,१३,१६.

गार्हस्थ्य-जीवन में प्रवेश कर चुकने पर भी जब कभी शिष्य आचार्य से भेंट करने जाता था, तो वह सदैव गुरु के हेतु कुछ न कुछ उपहार स्वरूप वस्तु ले कर ही जाता था [१]। आचार्य भी शिष्य के यहाँ जाता था। ऐसे अवसर पर आचार्य प्रायः अपने पूर्व [२] शिष्य के पठन-पाठन के विषय में विवरण प्राप्त करता था [३]। इससे प्रतीत होता है कि आचार्य सदैव अपने शिष्य की ज्ञान-वृद्धि के विषय में चिन्तित रहता था। यद्यपि जातकों में ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं, जब कि शिष्य अपने गुरु को भी प्रतियोगिता के लिये चुनौती दिया करते थे, परन्तु यह कार्य इतना जघन्य समझा जाता था कि जनता ऐसे धृष्ट व्यक्ति की उचित भर्त्सना तत्काल कर देती थी [४]।

वास्तव में तत्कालीन भारतीय शिक्षा-पद्धति के अन्तर्गत विद्या प्राप्ति का अनुपम महत्व था और इसी से सुयोग्य शिष्य न केवल अपने आचार्य की कृपा का अधिकारी होता था, वरन् अपने समाज में भी प्रतिष्ठा प्राप्त करता था कभी-कभी तो शीलसम्पन्न एवं विद्वान् शिष्य शिक्षा समाप्त करने के पश्चात्, जब घर लौटता था, तो राज्य एवं जनता की ओर से उसका भव्य स्वागत होता था [५]। आचार्य एवं शिष्य की योग्यताओं, कर्त्तव्यों तथा पारस्परिक सम्बन्धों पर विचार करने के साथ ही तत्कालीन शिक्षाक्रम का विवेचन भी अपेक्षित है। यह विशेष ध्यान देने योग्य बात है कि आधुनिक समय में प्रारम्भिक शिक्षा से जो अर्थ ग्रहण किया जाता है, प्राचीन शिक्षा पद्धति में उसका अधिक महत्व न था। पत्र एवं प्रकाशन के साधनों से अनभिज्ञ होने के कारण, उस समय पठन, लेखन तथा गणना की उपयोगिता सर्वसाधारण के लिये न समझी जाती थी। वैदिक काल में शिक्षा मौखिक ढंग से प्रदान की जाती थी। लौकिक साहित्य का जन्म न होने से समस्त शिक्षा वैदिक ज्ञान पर आधारित थी। वैदिक पाठ को विशुद्ध रूप में प्रस्तुत करने की दृष्टि से पद, क्रम, जटा एवं अन्य उच्चारण विधियों के द्वारा शुद्ध उच्चारण पर सब से अधिक ध्यान दिया जाता था। तैत्तिरीय संहिता [६] एवं शतपथ ब्राह्मण [७] में एक कथा का वर्णन किया गया है, जिसमें त्वष्टा ने इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व का अशुद्ध उच्चारण कर इन्द्र के विरुद्ध अग्नि को प्रज्वलित करने के स्थान पर बुझाने में सहायता की [८]। कालान्तर में वैदिक शिक्षा मौखिक रीति से प्रदान

१. आप० ध० सू० १.२.८.२२.
२. जातक १३०.
३. अनभिरति जातक
४. जातक २४३.
५. उत्तराध्ययन २.२२.
६. तैत्तिरीय संहिता २.४.१२.१.
७. शतपथ ब्राह्मण १.६.३.८.
८. मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोपराधात्।—पाणिनीय शिक्षा-५२

करने की प्रथा इतनी स्थायी हो गई कि महाभारत[१] एवं अन्य परवर्ती ग्रन्थों में वेद के विक्रेता, दूषक तथा लेखक तीनों नरकगामी समझे जाने लगे[२]।

उपनिषदों की रचना होने के समय तक भारतीय लिपि-ज्ञान से परिचित हो चुके थे[३]। वैदिक साहित्य के साथ ही व्याकरण, निरुक्त एवं छन्द आदि शास्त्रों का पठन-पाठन प्रारम्भ होने से लेखन और पठन की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। इसी से उपनयन संस्कार की अनिवार्यता पर विशेष ध्यान दिया जाने लगा। छान्दोग्य उपनिषद् में राजा अश्वपति अपने राज्य में सभी व्यक्तियों के शिक्षित होने पर उल्लेख करता है[४], जो स्पष्ट ही तत्कालीन शिक्षा के अधिक विकसित होने का द्योतन करता है।

जातकों के आधार पर प्रारम्भिक शिक्षा के व्यवस्थित रूप का चित्रण किया जा सकता है। कटाहक जातक[५] में एक श्रेष्ठि-पुत्र का उल्लेख आता है, जो प्रारम्भिक लिपि-शिक्षा प्राप्त करने के उद्देश्य से पाठशाला जाता था और उसका सेवक काष्ठफलक[६] लेकर उसके साथ जाता था। इससे प्रतीत होता है कि उन दिनों प्रारम्भिक शिक्षा की व्यवस्था घर से बाहर सार्वजनिक शालाओं में होती थी। कौटिल्य के कथनानुसार मुण्डन संस्कार हो जाने के पश्चात् राजकुमार को लिपि तथा संख्यान की शिक्षा दी जानी चाहिये और उपनयन के पश्चात् उसे अन्य विषयों की शिक्षा देनी चाहिये।[७] मेगस्थनीज़ ने भी शैशवावस्था से ही किसी भी बालक को विभिन्न आचार्यों के द्वारा शिक्षा दिये जाने का वर्णन किया है[८]। हाथीगुम्फा लेख से प्रारम्भ में लेख और गणना का अभ्यास कराये जाने की पुष्टि होती है, क्योंकि खारवेल की अपनी कुमारावस्था में इन विषयों की शिक्षा आचार्यों ने प्रदान की थी[९]।

इन तथ्यों के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि ईसा के प्रथम शताब्दी तक प्रारम्भिक शिक्षा प्राथमिक शालाओं के माध्यम से विधिपूर्वक प्रदान की जाने

---

१. महाभारत १५.१०६.६२.

२. 'वेद विक्रयिणश्चैव वेदानां चैव दूषकाः।
वेदानां लेखनिश्चैव ते वै निरयगामिनः ॥ वृद्धगौतम पृ० ५८२.

३. अलटेकर—एजूकेशन इन एन्शेण्ट इण्डिया, पृ० १७४.

४. न मे स्तेनोजनपदे न कदर्यो न मद्यपो नाना 'हिताग्निर्नाविद्वान्—छान्दोग्य उप०—५.११.५.

५. कटाहक जातक १.४५१.

६. फलक वहमानो गन्त्वा।

७. वृत्तचौलकर्मा लिपिं संख्यानं चोपयुंजीत्—अर्थशास्त्र १.५.

८. मेगस्थनीज़—फ्रेगमेण्ट ४१.

९. ततो लेख-रूप-गणना-व्यवहार विधि विशारदेन सव—विजावदातेन........
हाथीगुम्फा गुहालेख

लगी थी[1]। ललित-विस्तर[2], रघुवंश[3] एवं उत्तर रामचरित[4] के वर्णनों से तो इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता कि कुछ समय पश्चात् प्रारम्भिक शिक्षा का श्रीगणेश चौल-कर्म सम्पन्न करने के उपरान्त एक विशेष संस्कार के साथ किया जाने लगा, जिसे कुछ व्यवस्थाकारों ने अक्षरस्वीकरण कहा है। उच्च-शिक्षा में वेद-ज्ञान की प्राप्ति प्रत्येक द्विजाति का सर्वप्रथम कर्तव्य समझा जाता था। वैदिक अध्ययन में मन्त्रों तथा विशेष शाखा की ब्राह्मण की शिक्षा सम्मिलित थी[5]। वेद अपौरुषेय कहे जाते हैं, इसीसे उनका ज्ञान भी असीम माना जाता है। बृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार प्रजापति ने वेदों का प्रचार किया[6]। श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी यह कहा गया है कि परमात्मा ने ब्रह्मा को उत्पन्न कर उसे वेदों का ज्ञान कराया[7]। गोपथ ब्राह्मण के अनुसार वैदिक ज्ञान मौखिक रीति से प्राप्त किया जाता था[8]। बहुत प्राचीन काल से ही लोगों में यह विश्वास प्रचलित रहा है कि वेदों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर सकना असम्भव है। तैत्तिरीय ब्राह्मण के शब्दों में वेद अनंत हैं और उनका ज्ञान कई जन्मों में भी सम्भव नहीं है[9]।

शतपथ ब्राह्मण में स्वाध्याय के अन्तर्गत ऋक्, यजुस, सामन्, अथर्वांगिरस, इतिहास-पुराण तथा गाथा का उल्लेख आता है,[10] जो निश्चय ही उस समय के पाठ्यक्रम का ज्ञान कराते हैं। गोपथ ब्राह्मण में भी वेदों की रचना के साथ ही कल्प, रहस्य ब्राह्मण, उपनिषद्, इतिहास अन्वाख्यान, पुराण, अनुशासन एवं वाकोवाक्य आदि विषयों का वर्णन किया गया है।[11]

उपनिषदों में ब्रह्मज्ञान के जिज्ञासु प्रायः अपने अधीन विषयों का उल्लेख करते हैं। छान्दोग्य उपनिषद् में नारद सनतकुमार के समीप जा कर ब्रह्मविद्या प्राप्त करने की इच्छा व्यक्त करते हैं और उनके द्वारा जानी हुई विद्याओं के विषय में विवरण प्राप्त करने की दृष्टि से अपनी शिक्षा का वर्णन करते हैं, जिसमें गोपथ ब्राह्मण में वर्णित विषयों के अतिरिक्त

---

1. लिपिशालामुपनीयतेस्म कुमारः तत्र विश्वामित्रो नाम दारकाचार्यः। ललित-विस्तर, अध्याय १०.
2. ललित-विस्तर, अध्याय १०.
3. रघुवंश, अध्याय ३.
4. उत्तररामचरित, अध्याय २.
5. मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्—आप० श्रौ० सू० २४.१.३१
6. बृहदारण्यक उपनिषद् १.२.५.
7. यो ब्राह्मणं विदधाति पूर्व यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै। तं ह देवमात्म बुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥ श्वेताश्वतर उप० ६.१८.
8. सर्वे वेदा मुखतो गृहीताः। गोपथ ब्राह्मण १.३१.
9. अनन्ता वै वेदाः। एतद्वा एतैस्त्रिभिरायुभिरन्ववोचथाः। (अथ त इतरदननूक्तमेव) अत त इतरदननूक्तमेव। तै० ब्रा० ३.१०.११.
10. शतपथ ब्रा० ११.५.७.४–८.
11. गोपथ ब्रा० २.१०.

पित्र्य, राशि, देवनिधि, एकायन, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पविद्या तथा देवजनविद्या का उल्लेख किया गया है [१]। बृहदारण्यक उपनिषद् में भी लगभग इन्हीं सब विषयों का वर्णन आता है। इससे सिद्ध होता है कि उपनिषदों के रचना-काल में पाठ्य-क्रम में इन सभी विषयों का समावेश अवश्य रहा होगा।

धर्मसूत्रों में तत्कालीन पाठ्य-क्रम से सम्बन्धित विषयों का उल्लेख प्रायः मिलता है। गौतम राजा को उपदेश देते हुए कहते हैं कि वह अपनी प्रजा के आचार को ठीक रखने के लिये वेद, धर्मशास्त्र, अंग, उपवेद तथा पुराण पर आधारित रहे [३]। आपस्तम्ब धर्मसूत्र [४] तथा विष्णु धर्मसूत्र में [५] भी वेद तथा शिक्षा, कल्प, निरुक्त, व्याकरण, छन्द और ज्योतिष आदि अंगों का वर्णन किया गया है। पाणिनि ने वेद और ब्राह्मणों के अतिरिक्त कल्पसूत्रों भिक्षुसूत्रों तथा नटसूत्रों का उल्लेख किया है, जो निश्चय ही लौकिक विषयों के पठन-पाठन की व्यवस्था पर प्रकाश डालते हैं [६]। महाभाष्य के समय तक पाठ्य-क्रम के विषयों में अंगों, रहस्यों एवं एक सौ अध्वर्यु शाखाओं के सहित चारों वेद, वाकोवाक्य, इतिहास, पुराण तथा वैद्यक आदि के सम्मिलित होने की पुष्टि होती है [७]।

कौटिल्य के आन्वीक्षकी, त्रयी, वार्ता एवं दण्डनीति इन चार विद्याओं का उल्लेख किया है जिनमें आन्वीक्षकी के अन्तर्गत सांख्य, योग और लोकायत, त्रयी में धर्म और अधर्म, वार्ता में नय और अपनय तथा दण्डनीति में शत्रु में सन्धि-विग्रह आदि का वर्णन आता है [८]। अर्थशास्त्र में पुनः उक्त चारों विद्याओं से सम्बन्धित विषयों का वर्णन विस्तार से किया है, जिसके अनुसार ऋग्वेद, यजुर्वेद सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, कल्प, व्याकरण, निरुक्त छन्द और ज्योतिष त्रयी विद्या में आने वाले विषय हैं [९]। आन्वीक्षकी से सांख्य

---

१. छान्दोग्य उपनिषद् ७.१.२.

२. एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निःश्वसितानि। बृह० उप० २.४.१०.

३. गौतम ११.१९.

४. षडंगोवेदः। छन्दः कल्पो व्याकरणं ज्योतिषं निरुक्तं शिक्षाछन्दो विचितिरति। आप ध० सू० २.३.८.१०-११

५. विष्णु ध० सू० ३०.३४-३८

६. पाणिनि-४.३.८७-८८,१०५, ११०, १११, ११६,

७. चत्वारो वेदाः सांगाः सरहस्या बहुधा विभिन्ना एकशतमध्वर्युशाखाः........ अथर्वणो वेदो वाकोवाक्यमितिहासः पुराणं वैद्यकमित्येतावां शब्दस्य प्रयोगं विषयः। महाभाष्य १०६.

८. अर्थशास्त्र १.२.

९. अर्थशास्त्र १.३

योग और लोकायत विषयों का बोध होता है [1]। वार्ताशास्त्र के अन्तर्गत कृषि, पशुपालन तथा व्यापार आदि विषयों का अध्ययन आता है, जिनसे धन-धान्य की समृद्धि होती है [2]। और दण्डनीति से प्रशासन से संबंधित सभी विषयों का आशय ग्रहण किया जाता है, जिसे कौटिल्य ने आन्वीक्षकी, त्रयी एवं वार्ता इन सभी विद्याओं के योग और क्षेम का साधन माना है [3]।

महाकाव्यों में छहों अंगों के सहित वेद [4] तथा दस भागों के सहित धनुर्वेद [5] के अध्ययन का उल्लेख प्रायः मिलता है। अन्य विषयों में आख्यान,[6] अर्थ-विद्या, [7] पुराण[8], इतिहास, योग, सांख्य, और उपनिषदों [9] का वर्णन किया गया है। चतुर्वेद, कर्मकाण्ड, दर्शन एवं अन्य विषयों के साथ ही आयुर्वेद, कर्मकाण्ड, दर्शन एवं विषयों के साथ ही आयुर्वेद [10] तथा शल्य-चिकित्सा [11] का उल्लेख भी यदा-कदा किया गया है।

साहित्य के साथ ही कलाओं की शिक्षा भी पुरुष एवं स्त्री वर्ग को प्रदान की जाती थी, जिसका वर्णन महाकाव्यों में स्थान-स्थान पर मिलता है। कलाओं की संख्या चौसठ मानी गई है। महाराज युधिष्ठिर की दासियां भी चौसठ कलाओं के अतिरिक्त नृत्य और संगीत में विशेष प्रवीण थीं।[12] इन ललित कलाओं में नृत्य और संगीत सब से अधिक प्रिय विषय समझे जाते थे। कच[13] और अर्जुन नृत्य एवं संगीत के पूर्ण ज्ञाता थे और अर्जुन ने इन विषयों की शिक्षा उत्तरा को दी थी।[14] शिखण्डी ने धनुर्वेद के साथ ही चित्र-कला की शिक्षा भी ग्रहण की थी।[15]

इन कलाओं के अतिरिक्त कुछ अन्य विद्याओं का उल्लेख भी महाकाव्यों में मिलता है। अर्जुन ने अंगारपर्ण से चक्षुपी विद्या प्राप्त की थी।[16] राम को भी विश्वमित्र ने अन्य

1. अर्थशास्त्र १.२.
2. अर्थशास्त्र १.४.
3. अर्थशास्त्र १.४.
4. महाभारत ७.७.१.१. ३५-३६,६.६.१४
5. महाभारत ६.६,१४,३.१६८.६६-६८,
6. महाभारत १२.१०४.१४६-१०५,७.७.१.
7. महाभारत ७.७.१.
8. महाभारत १२.२०१. ८.
9. महाभारत १२.३१८.२,२४.१२,३२५.४,२,२३४.७.
10. महाभारत १२.३४१.६.
11. रामायण १.४६.६-८.
12. महाभारत २. ६१. ६-१०.
13. महाभारत १.७६.२४.
14. महाभारत ४. ११. १२.
15. महाभारत ५.१८६. १-२.
16. महाभारत १.१७०. ४३-४६.

विषयों के साथ ही बला एवं अतिबला की शिक्षा प्रदान की थी।[1] प्रचलित विश्वासों का ज्ञान प्राप्त करना भी योग्यता की वृद्धि में सहायक माना जाता था। राम को निमित्त कोविद कह कर उनकी प्रशंसा की गई है।[2] इस विषय का ज्ञान स्त्रियों को विशेष रूप से होता था। तारा[3] और सीता[4] इस विषय की पूर्ण ज्ञाता थीं।

बौद्ध ग्रन्थों एवं जैन साहित्य में शिक्षा से संबंधित इन सभी विषयों का वर्णन किया गया है। तक्षशिला के पाठ्य-क्रम में तीन वेद और अट्ठारह सिप्प अथवा कलाओं का वर्णन कई स्थानों पर किया गया है। "तीन वेदों के उल्लेख से ऐसा प्रतीत होने लगता है कि कदाचि पाठ्यक्रम के अन्तर्गत तीन वेदों का अध्ययन ही अपेक्षित समझा जाता था। परन्तु तत्कालीन ब्राह्मण साहित्य के आधार पर यह निश्चय रूप से कहा जा सकता है कि अथर्ववेद और इतिहास को क्रमशः चतुर्थ एवं पंचम वेद का स्थान प्राप्त था। अतएव इनका अध्ययन तीन वेदों के समान ही महत्वपूर्ण समझा जाता था। वेदों और इतिहास के साथ ही वेदांगों तथा लोकायत विद्याओं का अध्ययन भी उच्च शिक्षा में सम्मिलित था। वेदांगों में निघण्डु, केटभ (कप्प), अक्खरप्पभेद (सिक्खा तथा निरुक्ति), पद अथवा पदपाठ, वैय्याकरण और लोकायतम् में सभी प्रचलित विज्ञान और कलायें सम्मिलित थीं, जिनमें खगोलशास्त्र, ज्योतिष, प्रेतविद्या तथा अन्य विद्या तथा अन्य विषयों की शिक्षा मुख्य थी[5]। मिलिन्द प्रश्न में भी पाठ्य-क्रम से सम्बन्धित विषयों का उल्लेख किया गया है, जिनमें इरुव्वेद, यजुव्वेद, सामवेद, अथव्वणवेद, लक्खणम्, इतिहास, पुराण, निघण्डु, केटुभम्, अक्खरप्पभेदम्, पदम्, वैय्याकरणम्, भासमग्गम्, उप्पादम्, सुपिनम्, (स्वप्नविद्या) निमित्तम्, छन्दंगम्, (वेदांग) और ज्योतिसम् का नाम आता है[7]। परवर्ती पाली साहित्य में विज्जा, सिप्प तथा कला के अन्तर्गत तीनों वेद और सम्पूर्ण सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक शिक्षा सम्मिलित थी।

जातकों में अट्ठारह सिप्पों का वर्णन तीन वेदों से अलग किया है[8]। ब्राह्मण शिक्षा के अन्तर्गत अधीत विषयों में चार वेद, छै वेदांग, चार उपांग और चार उपवेद (आयुर्वेद, धनुर्वेद, गन्धर्ववेद तथा अर्थशास्त्र) इन अट्ठारह विद्याओं का उल्लेख बाद में किया जाने लगा,[9] किन्तु याज्ञवल्क्य के समय तक साधारणतः चौदह विद्याओं का ही वर्णन किया जाता

---

1. रामायण १. २२. १२-२१.
2. रामायण ६. १०६. ३६.
3. रामायण ३. २८०. १६.
4. रामायण ३. ५२. २.
5. जा० १, २५८, २८५, ३५६, ४०२, ४६४, २.८७, ३. ११५, १२२, ५३७.
6. विनय चुल्लवग्ग ५.३३.२.
7. मिलिन्द, पृष्ठ १७८.
8. जातक.१.३५६, ४६३, २.२४३.
9. वायुपुराण, जिल्द १. ६१. ७६.

था[१]। मिलिन्द प्रश्न के अनुसार अध्ययन के विषय शास्त्र अथवा सत्य कहे जाते थे और उनमें सुति (श्रुति), सम्मुति (स्मृति), सांख्य, योग, नीति, वैशेषिक, गणिका (गणना) गन्धाब्बा (संगीत), तिकिच्चा (आयुर्वेद), चतुब्बेदा, पुराण, इतिहास, जोतिसा, माया, हेतु, मन्तणा, युद्धा, छन्दसा तथा मुद्दा इन उन्नीस विषयों का अध्ययन सम्मिलित था[२]। श्रुति अथवा चतुर्वेद को एक विषय मान लेने से अट्ठारह विद्याओं का बोध हो जाता है, सम्भवतः जिनकी संख्या जातकों में प्रायः मिलती है।

जातकों के वर्णन से यह प्रतीत होता है कि अधिकांश विद्यार्थी सिप्प अथवा शास्त्रों को ही अपने पाठ्य-क्रम में चुनते थे[३]। राजधम्म[४] की शिक्षा में राजा, मन्त्री, उच्च कर्मचारी, सेना, युद्ध, ग्राम, नगर, देश, पुरुष, स्त्री, योद्धा, चोर, लुटेरों आदि की सभी बातें सम्मिलित थीं[५]। खत्तविज्जा का उल्लेख महाबोधिजातक में आता है, जिससे क्षत्रविद्या का आशय ही ग्रहण किया जाना चाहिये[६]। इस विद्या में प्रायः सभी राजकीय वंश के व्यक्ति पारगंत होते थे। राजकुमार अपनी शिक्षा समाप्त कर जब घर लौटते थे तो उन्हें अपने संरक्षकों के समक्ष अपनी योग्यता का प्रदर्शन करना पड़ता था। इसके साथ ही इस्सापसिप्प अथवा धनुविद्या की शिक्षा भी राजकुमारों को अवश्यमेव प्राप्त करना पड़ती थी, जिसका वर्णन जातकों में प्रायः मिलता है[७]।

बौद्ध ग्रन्थों के आधार पर चिकित्सा शास्त्र[८] के विशेष अध्ययन का अनुमान किया जा सकता है। इस शास्त्र के अन्तर्गत विष, व्रण, रोग तथा शल्य चिकित्सा का अध्ययन होता था[९]। पशु-चिकित्सा भी आयुर्वेद का एक अंग मानी जाती थी जिसमें विभिन्न पशु-पक्षियों की चिकित्सा से संबंधित विषयों की शिक्षा दी जाती थी[१०]। तक्षशिला में इस शास्त्र के विशेष ज्ञाता अध्यापक देश के सभी भागों से आने वाले विद्यार्थियों को इस विषय की शिक्षा देते थे। मगध का राजवैद्य जीवक तक्षशिला का ही विद्यार्थी था[११]।

---

१. याज्ञवल्क्य १.३.

२. मिलिन्द, पृ०३.

३. जातक १.३५६, २.६६.३.१८,१२६,४.४५६.

४. कुरुधम्म, उम्मदन्ती, तेसकुण, महासुतसोम तथा विधुरपण्डित जातक।

५. दीघनिकाय-चक्कवत्ती-सीहनाद तथा लक्खणसुत्तं, अंगुत्तर निकाय-राजवग्ग।

६. दीघनिकाय १.६.

७. जातक १.३५६, १.८७,३.२१६,५.१२७

८. जातक ४.१७१.

९. दीघनिकाय १.६.

१०. जातक १.१७७,१८०,१८४,२००.

११. धम्मपद-अट्ठकथा, १,३३७-३३८.

अन्य विषयों में गन्धब्ववेद[1] (संगीतशास्त्र), वत्थुविज्जा[2] (वास्तुविद्या), नक्खत्त-विज्जा[3] (खगोलशास्त्र) तथा अंगविज्जा[4] (भविष्यविद्या) आदि का वर्णन भी बौद्ध ग्रन्थों में किया गया है। संगीत शास्त्र में नृत्य, गीत, वाद्य तथा अभिनय इन चार विषयों का समावेश होता था। नृत्य एवं संगीत का उपयोग कुछ आजीविकाओं के द्वारा भी होता था, जिनके धार्मिक सिद्धान्तों में गीतमार्ग एव नृत्यमार्ग भी सम्मिलित थे[5]। गुट्टिल, मुसिल तथा सग्ग आदि विद्वान् संगीत की शिक्षा दिया करते थे और कभी-कभी उनमें भी प्रतियोगितायें हुआ करती थीं[6]।

जैन ग्रन्थों में भी अध्ययन से संबंधित विषयों का वर्णन ब्राह्मण एवं बौद्ध साहित्य की भाँति ही किया गया है। जैन पाठ्य-क्रम के अनुसार भी तीन वेद अध्ययन के मुख्य विषय माने जाते थे[7]। वैदिक शिक्षा में चतुर्वेद, इतिहास (पुराण) पंचम वेद, निघण्टु, छै वेदांग (संखाण, सिक्खा, कप्प, वागरण, छन्द, निरुत्त एवं जोइस) तथा छै उपांगों का उल्लेख किया गया है।[8] उत्तराध्ययन की टीका में चार वेद, छै वेदांग, मीमांसा, नाय, पुराण और धम्मसत्थ इन चौदह विषयों का अध्ययन के हेतु वर्णन किया गया है[9]।

लौकिक विद्याओं में अनुयोगद्वार[10] और नन्दि[11] भारह, रामायण, भीमासुरुक्क, कौटिल्लय, गुडयमुह, सगडिभाडिडआउ, कप्पासिज, नागसुहुम, कणगसत्तरि, वेसिय, वैसेसिय, बुद्धसासण, कविल, लोगायत, सट्ठियन्त, माढर पुराण, वागरय, नाडग, अंग तथा उपांग सहित चार वेद और बहत्तर कलाओं का उल्लेख करते हैं। नन्दि सूत्र में तेरासिय, भागर्व, पातंजलि तथा पुस्सदेव का भी उल्लेख किया गया है। इनके अतिरिक्त निमित्त विद्या तेगिच्छिय (चिकित्सा), आवरण, भारत, काव्य तथा नाटक भी अध्ययन के विषयों में सम्मिलित थे।[12]

---

1. जातक १.२६२,५.२६०.
2. जातक १.२६७,४.३२३.
3. दीघ निकाय १.१०.
4. जातक ३.१२२.
5. राखिल-लाइफ आव बुद्धा १.२४६.२.
6. जातक २.२४८,३. १८८.
7. ठाणांग–३.३.१८५.
8. भगवती २.१, ओवाइय ३८.१७२.
9. उत्तराध्ययन ३.५६
10. अनुयोगद्वार सूत्र ४०.
11. नन्दि सूत्र ४२.१६३.
12. ठाणांग ६.६७८.

जैन साहित्य में पाठ्य-क्रम के अन्तर्गत बहत्तर कलाओं का उल्लेख प्रायः मिलता है।[१] इनमें लेह (लेखन), गणिय (गणना), पोरेकव्व (कविता), अज्जा (आर्याकाव्य), पहेलिया, मागधिया, गाथा, गीय, सिलोय (श्लोक) एवं (मूर्तिकला) संगीत, नट्ट (नृत्य), लक्खण (लक्षण विद्या), खगोल शास्त्र, वत्थुविज्जा, जुद्ध, ईसत्थ, धणुवेय (धनुर्वेद) वूह (व्यूह) तथा चक्कवूह आदि मुख्य हैं। द्यूत कर्म, वेशभूषा, शारीरिक विन्यास, भोजन एवं पेय सम्बन्धी कलाओं का ज्ञान प्राप्त करना भी आवश्यक समझा जाता था।

जैन ग्रन्थों के आधार पर अध्ययन के विषयों की जो सूची प्राप्त होती है, उसमें बहुत से ऐसे विषयों का समावेश भी किया गया है, जिनके संबन्ध में पूर्ववर्ती ब्राह्मण एवं बौद्ध साहित्य में कोई उल्लेख नहीं मिलता है। इससे प्रतीत होता है कि जैन प्रमाणों की उपयोगिता बहुत समय पश्चात् जैन परम्परागत साहित्य पर ही निर्भर थी। फिर भी इन प्रमाणों का ब्राह्मण तथा बौद्ध ग्रन्थों की सामग्री से अत्यधिक सादृश्य है। इसी से यह कहना अनुचित न होगा कि जैन ग्रन्थों का आदि, स्रोत पूर्ववर्ती ब्राह्मण एवं बौद्ध साहित्य ही रहा होगा। जैन ग्रन्थों में बहत्तर कलाओं का वर्णन किया गया है, जब कि वात्स्यायन के काम-सूत्र में चौसठ कलाओं का ही उल्लेख मिलता है। इससे जैन प्रमाणों के बहुत समय बाद के होने में कोई सन्देह नहीं रह जाता। परन्तु ब्राह्मण, बौद्ध एवं जैन साहित्य वैदिक शिक्षा के विषय में एक ही पाठ्य-क्रम का उल्लेख करते हैं, जिससे अनुमान होता है कि आर्ष शिक्षा का रूप प्रारम्भ से ले कर बहुत समय तक पूर्ववत् रहा।

शिक्षा सम्बन्धी विषयों का उल्लेख करने के साथ ही शिक्षा-काल पर भी विचार करना आवश्यक है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में ही वैदिक शिक्षा के हेतु दीर्घ कालीन ब्रह्मचर्यावस्था की आवश्यकता को स्वीकार कर लिया गया था। तैत्तिरीय ब्राह्मण में भरद्वाज की कथा आती है, जो अपने जीवन के तीन भागों तक ब्रह्मचारी रह कर ज्ञानोपार्जन करते रहे। इन्द्र ने यह जान कर उन्हें उत्तर दिया कि उन्होंने अपने इस लम्बे विद्यार्थी जीवन में तीन गिरी के सदृश वेदों में केवल तीन मुट्ठियों भर ज्ञान प्राप्त किया है[२]।

उपनिषदों में भी दीर्घकालीन विद्यार्थी जीवन के कुछेक उदाहरण प्राप्त होते हैं। छान्दोग्य उपनिषद् में इन्द्र द्वारा प्रजापति के सहित १०१ वर्ष तक विद्यार्थी जीवन व्यतीत करने का उल्लेख मिलता है[३]। परन्तु उपनिषदों के वर्णन से यह सिद्ध हो जाता है कि

---

१. नायाधम्मकहा १,२१. समवायांग, पृ० ७७, ओवाइय ४०, रायपसेणिय सूत्र २११, जम्बुद्दीवपन्नत्ति टीका २,१३६.

२. भारद्वाजो ह वै त्रिभिरायुर्भिर्ब्रह्मचर्यमुवास तं ह इन्द्र उपव्रज्योवाच। यत्ते चतुर्थमायुर्दद्यां किमेतेन कुर्या इति। ब्रह्मचर्यं चरेयमिति होवाच। तं ह त्रीन् गिरिरूपान् विज्ञातानिव दर्शयाञ्चकार। तेषां ह वै कस्मिन्मुष्टिना ददे स होवाच भारद्वाजेत्यामन्त्र्य वेदा एते। अनन्त वै वेदाः। तै० ब्रा० ३.१०.११

३. छान्दोग्य उपनिषद् ८.११.३

उस समय ब्रह्मचर्य जीवन व्यतीत करने की अवस्था प्रायः बारह वर्ष स्वीकार की जा चुकी थी। श्वेतकेतु आरुणय बारह वर्ष तक वेदों का अध्ययन करता रहा था[1]।

गोपथ ब्राह्मण के अनुसार सम्पूर्ण वेदों का अध्ययन ४८ वर्षों में समाप्त किया जा सकता है। इस भाँति एक वेद का ज्ञान प्राप्त करने के हेतु बारह वर्षों का समय अपेक्षित है[2]। ब्राह्मण एवं उपनिषदों के प्रमाण यही स्पष्ट करते हैं कि ब्रह्मचर्यावस्था की न्यूनातिन्यून अवधि बारह वर्ष मानी जाती थी। गृह्य एवं धर्मसूत्रों के अनुसार ब्रह्मचर्यावस्था वेदों के अध्ययन को दृष्टि में रख कर निश्चित की जाती थी। गौतम का कथन है कि एक वेद का अध्ययन करने के हेतु बारह वर्ष तक ब्रह्मचारी रहना चाहिये। यदि कोई विद्यार्थी सभी वेदों का अध्ययन करना चाहता है तो प्रत्येक वेद के लिये बारह वर्षों के हिसाब से समय देना चाहिये, जितना उसे अध्ययन के लिये अवश्यक हो[3]। पारस्कर गृह्यसूत्र के अनुसार भी सभी वेदों के लिये ४८ वर्ष तथा प्रत्येक वेद के हेतु बारह वर्षों का समय अपेक्षित है[4]। बौधायन गृह्यसूत्र में भी कहा गया है कि प्रारम्भ में चारों वेदों के लिये ब्रह्मचर्यावस्था ४८ वर्ष की मानी जाती थी अथवा प्रत्येक वेद के लिये २४ वर्ष और बारह वर्ष या प्रत्येक काण्ड के अध्ययन के लिये एक वर्ष का समय निश्चित रहता था। बौधायन के कथनानुसार तीनों अग्नियों की नियमित परिचर्या काले केश रहने तक करनी चाहिये[5]।

इस भाँति सूत्रों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि चारों वेदों के अध्ययन के लिये ४८ वर्ष की अवधि सुनिश्चित थी। कुछ व्यवस्थाकार केवल तीन वेदों का अध्ययन ही आवश्यक समझते थे, जिनके हेतु ३६ वर्ष का समय पर्याप्त था। यदि विद्यार्थी बहुत मेधावी होता था, तो उसे १८ वर्ष अथवा ९ वर्ष में ही तीनों वेदों को समाप्त कर लेने की अनुमति प्राप्त थी। वस्तुतः उसे इतना समय अवश्यमेव व्यतीत करना पड़ता था जितने में वह एक वेद अथवा अधिक का ज्ञान प्राप्त कर सके[6]। उस समय तक वैदिक साहित्य इतना समृद्ध हो चुका था कि उसकी शिक्षा के लिये ३६ वर्ष का समय अधिक न था। मेगस्थनीज ने भी

---

१. स ह द्वादश वर्ष उपेत्य चतुर्विंशतिवर्षः सर्वान्वेदानधीत्य महामना अनूचान मानी स्तब्ध एवाय तं ह पितोवाच। छान्दोग्य उप० ६.१.१–२.

२. तस्मात् एतत्प्रोवाचाष्टाचत्वारिंशद्वर्षं वेद ब्रह्मचर्यं तच्चतुर्धा वेदेषु व्युह्य द्वादश वर्षं ब्रह्मचर्यं द्वादशवर्षात् यवराध्यंमपि स्नात्यंश्चरेद्यथाशक्त्येवम्। गोपथ ब्राह्मण ११.५.

३. गौतम २.४५–७

४. अष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणिवेद ब्रह्मचर्यं चरेद् द्वादश द्वादश वा प्रतिवेदं यावद् ग्रहणं वा। पारस्कर २.५.

५. बौधायन गृ० सू० १.२.१–५.

६. मनु० ३.१–२. तथा याज्ञवल्क्य १.३६,५३

पूर्ण ब्रह्मचारी को ३७ वर्ष तक संयम से रह कर अध्ययन करते रहने की पुष्टि की है[१]। इसके पश्चात् ही वह गार्हस्थ जीवन में प्रवेश करता था।

अन्य विषयों की वृद्धि होते ही द्विजातियों में सभी के लिये वैदिक शिक्षा प्राप्त करना उतना आवश्यक न रहा। अर्थशास्त्र में भी राजकुमार को सोलह वर्ष की आयु तक ब्रह्मचर्य का पालन करने की आज्ञा दी गई है[२]। गृह्यसूत्रों में भी बारह वर्ष अथवा आवश्यकता पड़ने पर कम से कम उतने समय तक ब्रह्मचारी रहने की व्यवस्था दी गई है, जितने में वेद का ज्ञान प्राप्त किया जा सके[३]। भारद्वाज के कथनानुसार कम से कम गोदान संस्कार सम्पन्न होने की अवधि तक वेदाध्ययन अवश्य करना चाहिये[४]।

जातकों के अनुसार तक्षशिला अथवा बनारस जाने के लिये विद्यार्थी को सोलह वर्ष की आयु का होना आवश्यक समझा जाता था[५]। परन्तु वे कितने समय तक अध्ययन करते थे, इसके विषय में कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलते। विनय महावग्ग में कहा गया है कि जीवन तक्षशिला में सात वर्ष तक चिकित्सा शास्त्र का अध्ययन करता रहा और इसके उपरान्त अपने गुरु द्वारा प्रमाणित होने पर वह राजगृह लौटा[६]। जैन ग्रन्थों के अनुसार भी विद्यार्थी बनारस, श्रावस्ती पाटलिपुत्र तथा प्रतिष्ठान विद्याध्ययन के हेतु जाते थे और शिक्षा समाप्त कर ही लौटते थे[७]। हाथीगुम्फा लेख में खारवेल भी पन्द्रह वर्ष की आयु हो जाने पर अध्ययन प्रारम्भ करता है और चौबीस वर्ष की अवस्था तक सभी विषयों की शिक्षा ग्रहण करता है[८]।

शिक्षा समाप्त करने के पर शिष्य विशेष स्नान कर स्नातक कहलाता था[९] और गुरु की आज्ञा प्राप्त कर गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करने का अधिकारी हो जाता था। कुछ स्नातक तुरन्त ही वानप्रस्थ अथवा सन्यास ग्रहण कर लेते थे।

प्राचीन भारत की शिक्षा-पद्धति पर विचार करने से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि तत्कालीन उच्च शिक्षा को आधुनिक विश्वविद्यालयों के माध्यम से प्रदान करने की कोई व्यवस्था न थी। ईसा की कई शताब्दियों के पश्चात् नालन्दा, वलभी, विक्रमशिला आदि

---

१. मेगस्थनीज-फ्रैगमेण्ट ४१.
२. कौटिल्य १.५.
३. आश्व० गृ० सू० १.२२ ३-४
४. अष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि पुराणं वेद ब्रह्मचर्यम् संप्रदिशन्त्या वेदाध्यायनादित्येकं -आहुरागोदानकर्मण इत्येके। भारद्वाज गृह्यसूत्र १..
५. सोलस्यवस्सकाले, जात० २.२७७, ३.१२२, ४.२३७, ५.१२७, २१०.
६. विनय २.१७४.
७. उत्तराध्ययन टीका ४.८३.
८. पंदरसवसानि सीरि-कंडारं-सरीरा-वता कीडिता कुमार-कीडिका ततो लेख-रूप गणना-व्यवहार-विधि विसारदेन सव विजावदातेन नव वसानि योवरज पसासितं संपुण-चतुवीसति वसो।
९. वेदमधीत्य स्नास्यन्नित्यकंसमावर्तनम्। बौद्ध० ध० २.६.१.

स्थानों में विश्वविद्यालयों का जो रूप प्रचलित हुआ, उसका वर्णन हमें ईसा पूर्व की शताब्दियों में नहीं मिलता। भारतीय शिक्षा का प्रारम्भिक विकास आश्रमों के द्वारा हुआ था, जो विद्वान् आचार्यों के संरक्षण में चलते थे। बौद्ध एवं जैन धर्म के अभ्युदय काल में गन्धार देश में स्थिति तक्षशिला ब्राह्मण शिक्षा के लिये प्रसिद्ध था।[1] बनारस, राजगृह, कोसल तथा अन्य स्थानों से ब्राह्मण युवक, क्षत्रिय राजकुमार तथा श्रेष्ठिपुत्र वेदों तथा अट्ठारह शास्त्रों एवं कलाओं की शिक्षा प्राप्त करने के हेतु यहां आते थे[2]। तक्षशिला की ख्याति निस्संदेह वहां के विश्व-विश्रुत आचार्यों के कारण थी।

जैसा कि स्पष्ट किया जा चुका है कि तक्षशिला में उच्च-शिक्षा की व्यवस्था की जाती थी और वयप्राप्त होने अथवा सोलह वर्ष की आयु हो जाने पर ही विद्यार्थी यहाँ पर विद्याध्ययन के हेतु आते थे[3]। तक्षशिला में कोई संगठित अथवा सुव्यवस्थिति विद्यालय होने के उल्लेख नहीं मिलते। वहाँ विद्वान् आचार्यों के समीप सैकड़ों विद्यार्थी आते थे और अपने गुरुओं से शिक्षा प्राप्त करते थे। प्रत्येक अध्यापक के आधीन बहुत से विद्यार्थी होते थे, जिनकी संख्या प्रायः पांच सौ दी गई है[4]। इन विद्यार्थियों में अधिकांश क्षत्रिय तथा ब्राह्मण विद्यार्थी होते थे[5]। वैश्यां तथा उच्च कर्मचारियों के पुत्रों की संख्या बहुत कम होती थी[6]। चण्डालों का प्रवेश सर्वथा निषिद्ध था[7]।

साधारणतः विद्यार्थी अपने आचार्य के निकट ही रहते थे। शिक्षा-शुल्क अथवा आचार्य भाग के रूप में विद्यार्थी प्रारम्भ में ही एक सहस्र मुद्रायें गुरु को भेंट करते थे[8]। निर्धन विद्यार्थी, जो आचार्य भाग भेंट करने में समर्थ न होते थे, दिन में आचार्य के गृह में सेवा-कार्य करते थे और उनकी शिक्षा रात्रि में होती थी[9] ऐसे विद्यार्थी धम्मन्तेवासिका कहलाते थे, जब कि आचार्य भाग देने वाले शिष्यों को आचार्यभागदायाका कहते थे।

---

१. जातक १.४३१, ४३६, ५०५, २.५२, ३. १८, १७१, १९४, २२८, २४८, ५. १२७, १७७, २२७.

२. जातक १.२७२, २८५, ४०९, २. ८५, ८७, ३. २३४, ४. ५०, २२४, ५. १२७, २६३, ३.२२८, ५, १७७, २४७, ४.३१६, ३९२, ३. ४५, ३९९, ५.३१०, ४५७.

३. जातक १. ३५६, ४३६, ५०५, २. ५२, १६२, १९३, २२७.

४. जातक १. २३९, ३००, ३१७, ४०२, ४३६, ३. १८, २३५.

५. जातक १.४६३, २.१००, ३. १२२, १५८.

६. जातक २. ९९, ४.३८, २३७, ५. २२७.

७. जातक ४. ३९१-२

८. जातक १. २७३, २. ४७-८; ४. ३८-९; ५०. १२८, २९८, ३१६, ५. ४५७.

९. जातक २.२७८.

विद्यार्थी अपने गुरु के हेतु वनों से जलाने की लकड़ी लाते थे।[1] जो विद्यार्थी अपना पूरा समय शिक्षा में ही देना चाहते थे, साथ ही आचार्य का शुल्क भी देने की स्थिति में न होते थे, वे अपनी शिक्षा समाप्त करने के उपरान्त भी आचार्य का शुल्क दे सकते थे। कभी-कभी तो ब्राह्मण विद्यार्थी शिक्षा समाप्त कर चुकने पर द्रव्य मांगकर आचार्य भाग पूरा करते थे[2]। धनी विद्यार्थी अपने निवास तथा शिक्षा-शुल्क को देते थे। बड़े राजकुमार अपने निवास की व्यवस्था भी स्वतन्त्र रूप से करते थे[3]। ऐसे विद्यार्थी दिन में विद्यालय में रह कर शिक्षा ग्रहण करते थे। गृहस्थ तथा विवाहित विद्यार्थी भी दिन में रह कर विद्याध्ययन करते थे। इस भाँति के विद्यार्थियों के वर्णन जातकों में प्रायः मिलते हैं[4]।

अध्ययन-काल में विद्यार्थी अपने आचार्य के पूर्ण संरक्षण में रहते थे। उनका जीवन बहुत सादा होता था। उनके पास निरर्थक व्यय करने के हेतु धन भी शेष रह जाता था[5]। आचार्य की अनुमति के बिना विद्यार्थी नदी में स्नान करने के लिये भी न जा सकते थे[6]। विद्यार्थी साधारण भोजन प्राप्त करते थे[7]। आचार्य शिष्यों के निवास की पूर्ण व्यवस्था करते थे। इस प्रकार तक्षशिला के विद्यार्थियों का जीवन आचार्य की विशेष देख-रेख में व्यतीत होता था।

प्रत्येक विद्यार्थी का दैनिक कार्य-क्रम प्रातःकाल से ही प्रारम्भ हो जाता था। आचार्य एवं विद्यार्थियों की सुविधा का ध्यान रख कर ही अध्ययन का समय निश्चित् रहता था। शुभ तिथि तथा घड़ी में ही शिक्षा-कार्य होता था। बहुत प्राचीन काल से ही यह प्रथा चली आती थी कि विशेष परिस्थितियों में अनध्याय रहता था। आपस्तम्ब धर्मसूत्र के अनुसार बादल गरजने, बिजली चमकने, आंधी चलने तथा बिजली गिरने की अवस्था में वैदिक शिक्षा बन्द रहनी चाहिये[8]। ऐतरेय आरण्यक में पावस ऋतु के बिना वृष्टि होने की स्थिति में तीन रात्रि के लिये अनध्याय का विधान किया गया है[9]।

गृह्य तथा धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों में अनध्याय के विषय का सम्यक् विवेचन किया गया है। वैदिक शिक्षा की व्यवस्था में सर्वत्र इन नियमों का पालन किया जाता था। प्रतिपदा, अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा तथा अमावस्या को नियमित अनध्याय रहता था।[10] असमय

१. जातक १.३१७-८.
२. जातक ४.२२४.
३. राजकुमार जुयह-जातक संख्या ४५६.
४. जातक १.३००-२,४६३.
५. जातक २.२७७-८,४१६.
६. जातक २ २७८.
७. जातक १.३१८.
८. आप० ध० सू० १. ४. १२. ३.
९. आपते वर्षे त्रिरात्रं वैदिकेनाध्यायेनान्तरियात्। ऐ० आ० ५.१.३.
१०. हन्त्यष्टमी ह्युपाध्यायं हन्ति शिष्यं चतुर्दशी।
हन्ति पंचदशी विद्यां तस्मात्सर्वाणि वर्जयेत्। बौ० ध० सू० १.११.४२-४३.

बादल होने, सूर्य तथा चन्द्र परिवेष, इन्द्र धनुष अथवा धूम्रकेतु का उदय होने पर अध्ययन वर्जित था।[१] उपाध्याय, राजा, श्रोत्रिय तथा साथी ब्रह्मचारी की मृत्यु होने, सूर्य तथा चन्द्र ग्रहण, शक्र ध्वज पतन और आचार्य का निधन हो जाने पर तीन दिन तक अनध्याय होता था[२]।

निर्धन विद्यार्थी प्रायः दिन में विद्यालय के हेतु कार्य करते थे और उनके लिये रात्रि में अध्ययन की व्यवस्था की जाती थी[३]। दिन में अध्ययन करने वाले विद्यार्थी भी शास्त्रों का अध्ययन रात्रि में करते थे[४]। आचार्यभागदायका आचार्यगृह में ज्येष्ठ पुत्रवत् माने जाते थे और उन्हें सभी प्रशस्त एवं शुभ दिनों में शिक्षा प्रदान की जाती थी[५]।

जैसा कि जातकों के वर्णन से प्रकट होता है कि तक्षशिला में कई विद्यालय थे, जिसमें विद्यार्थियों की संख्या ५०० तक बताई गई है। किसी भी एक आचार्य के हेतु उतने विद्यार्थियों को शिक्षा प्रदान कर सकना नितान्त असम्भव था। अतएव प्रधान आचार्य की सहायता के लिये सहायक आचार्य होते थे, जिन्हें पिट्ठी आचरिया कहते थे।[६] अनुभवी छात्र भी इन्हें जेट्ठन्तेवासिका कहते थे, अध्यापन कार्य में आचार्य की सहायता करते थे और वे प्रायः आचार्य की अनुपस्थिति में शिक्षा प्रदान करते थे।[७] इन अनुभवी शिष्यों अथवा अनुसत्थाराओं का अपने साथी विद्यार्थियों द्वारा सम्मानित होना स्वाभाविक ही था।[८] अध्यापन कार्य में धीरे-धीरे अनुभव प्राप्त कर लेने से ऐसे विद्यार्थी भी अध्यापक हो जाते थे।[९] आचार्य अपने परिवार के सहित रहा करते थे। कभी-कभी शिष्य की योग्यता एवं प्रतिभा से प्रभावित हो कर आचार्य अपनी कन्या का विवाह भी विद्वान शिष्य के साथ कर देते थे।[१०]

जातकों के वर्णनों से यह प्रतीत होता है कि तक्षशिला में विद्यालय चलाने का उत्तरदायित्व उसके संचालक अथवा प्रधान पर रहता था।[११] वह अपनी तथा अपने

---

१. अभ्रं चापतो सूर्याचन्द्रमसोः परिवेष इन्द्रधनुः प्रतिसूर्यमत्स्यश्च वाते पूतिगन्धे नीहारे च सर्वेष्वेतेषु तावत्कालम्। आप० ध० सू० १.३,११.२७.

२. उपाध्याये राजनि च मृते श्रोत्रिये सब्रह्मचारिणि च चन्द्रर्कयो राहुदर्शनेशक्रध्वज पतन आचार्ये च मृते त्रिरात्रम्। इति। अपरार्क पृ० १६०

३. जातक २४.७.

४. जातक ४.६.६.

५. जातक २.२७८.

६. जातक २. १००. ५. ४५७.

७. जातक १. १४१.

८. जातक ४. १७८ गाथा ४.

९. जातक ५. ४५७–८

१०. जातक ३.२१६, ६. ३४७.

११. चित्त-सम्भूत जातक सं० ४९८

विद्यार्थियों का निर्वाह स्थानीय व्यक्तियों की सहायता तथा दान से करता था। विद्यार्थी आचार्य भाग के रूप में गुरू को नियत शुल्क भेंट करते थे, जो एक सहस्र मुद्राओं से अधिक न होता था।

तक्षशिला की शिक्षा में वेद और अट्ठारह सिप्प अथवा कलायें सम्मिलित थी।[१] बनारस के राजपुरोहित का पुत्र जोतिपाल तक्षशिला से धनुर्विद्या तथा युद्धविद्या का पूर्ण ज्ञाता हो कर लौटा और बनारस का मुख्य सेनापति नियुक्त हुआ।[२] बुद्ध का समकालीन जीवक भी राजगृह से चिकित्सा शास्त्र का अध्ययन करने के हेतु तक्षशिला गया और वहाँ से आने पर सम्राट बिम्बिसार ने उसे राजवैद्य नियुक्त किया।[३] कौसल के सम्राट प्रसेनजित् ने भी तक्षशिला में शिक्षा प्राप्त की थी।[४] अन्य विविध विषयों की शिक्षा भी तक्षशिला के पाठ्य-क्रम में सम्मिलित थी, जिसका उल्लेख किया जा चुका है। तक्षशिला के अतिरिक्त बनारस भी प्रसिद्ध शिक्षा केन्द्र गिना जाता था। वहाँ के विद्वान आचार्य भी पांच सौ विद्यार्थियों को शिक्षा प्रदान करते हुए दिखाए गए हैं।[५] संभवतः बनारस में कुछ विषयों की शिक्षा विशेष रूप से प्रदान की जाती थी, जिनमें संगीत मुख्य था।[६] परन्तु बनारस की शिक्षा तक्षशिला के समान महत्वपूर्ण न समझी जाती थी और इसी से बनारस के सुसम्पन्न विद्यार्थी तक्षशिला अध्ययन के हेतु जाते रहते थे। अन्य स्थानों में बुद्ध के समकालीन सम्राट प्रसेनजित् एवं सम्राट बिम्बिसार द्वारा सहायता प्राप्त कौसल तथा अंग मगध की महाशालाओं अथवा स्नातक विद्यालयों का उल्लेख विशेष महत्वपूर्ण है। महागोविन्द सुतन्त के अनुसार महागोविन्द ने अपने समय के सात प्रधान राज्यों में विद्यालयों की स्थापना की थी। धार्मिक विद्यालयों में एक मात्र ब्राह्मण युवकों का प्रवेश हो सकता था। ऐसे विद्यालयों में लगभग तीन सौ विद्यार्थी तक शिक्षा प्राप्त करते थे। इन विद्यालयों के प्रधान संचालकों की प्रशंसा सुनकर दूर-दूर से विद्यार्थी आते थे।[७]

जैन ग्रन्थों में भी बनारस, श्रावस्ती, पाटलीपुत्र तथा प्रतिष्ठान जैसे शिक्षा केन्द्रों का उल्लेख किया गया है। राजकुमार बनारस में अपने आचार्य के यहाँ रह कर अध्ययन करते थे और शिक्षा समाप्त कर लौटते थे।[८] श्रावस्ती[९], पाटलीपुत्र[१०] तथा प्रतिष्ठान[११] भी उच्च

---

१. जातक १. २५६, २८५, ३५६, ४०२, ४६४, २, ८७, ३. ११५, १२२, ५३७–८
२. जातक ५. १२७.
३. विनय महावग्ग ८. १ ३–६,
४. धम्मपद–अट्ठकथा १.३३७–३३८.
५. जातक १. २३८, ३. १८, २३३, ४. २३७.
६. वाराणसियं गुत्तिलकुमारो नयप्पत्तो गन्धब्बसिप्पे निप्फत्तिं पत्वा गुत्तिलगन्धब्बो नाम सकल जम्बूदीपे अग्गगन्धब्बो अहोसि। जा० २. २४८.
७. दीघनिकाय १. ११४, नानादिसा नाना जनपदा माणवका आगच्छन्ति।
८. उत्तराध्ययन टीका ४.५३.
९. उत्तराध्ययन टीका ८. १२४.
१०. उत्तराध्ययन टीका २. २२.
११. कल्प सूत्र टीका ४, ६०

शिक्षा के प्रसिद्ध केन्द्र थे। परन्तु यह आश्चर्यजनक बात है कि जैन ग्रन्थों में तत्कालीन शिक्षा केन्द्रों में सब से महत्वपूर्ण स्थान तक्षशिला का कोई वर्णन नहीं मिलता है। बौद्ध साहित्य में तो तक्षशिला के महत्व को भली-भाँति स्पष्ट कर दिया गया है। जनश्रुति के अनुसार अर्थशास्त्र का रचयिता कौटिल्य भी तक्षशिला का विद्यार्थी रह चुका था। अन्त में तत्कालीन शिक्षा-पद्धति के अन्तर्गत स्त्री-शिक्षा की स्थिति का विवेचना करना भी अधिक समीचीन जान पड़ता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि वैदिक काल में भारतीय स्त्रियाँ परम सुशिक्षिता एवं विदुषी होती थीं। वैदिक परम्परा के अनुसार ऋग्वेद की ऋचाओं में बीस विदुषियों के नामों का उल्लेख होता है, जिनमें अत्रि कुल की विश्ववारा[1] तथा अपाला[2] और घोषा काक्षीवती[3] के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त सिकता, निवावरी, रोमशा, लोपामुद्रा तथा उर्वशी आदि वैदिक संहिताओं की ऋचाओं में प्रसिद्ध थी। ऋग्वेद में एक स्थान पर विदुषी पुत्री का विवाह विद्वान् पति के साथ करने की अनुमति दी गई है।[4] एक अन्य स्थान पर कहा गया है कि कन्या का विवाह ब्रह्मचर्यावस्था समाप्त कर लेने के पश्चात् ही करना चाहिये।[5]

वैदिक काल में कोई भी व्यक्ति अपनी पत्नी के सहित ही यज्ञ सम्पादित कर सकता था।[6] दोनों यज्ञ में समान रूप से भाग लेते थे।[7] पति के साथ यज्ञ में समान भाग लेने के कारण ही विवाहित स्त्री को पत्नी की संज्ञा प्रदान की गई।[8] अतएव पत्नी सदैव वैदिक यज्ञों में भाग लेने की समान अधिकारिणी समझी गई।

यज्ञ में भाग लेने के साथ ही स्त्रियां वैदिक साहित्य, मीमांसा तथा दर्शन सिद्धान्तों की योग्यता भी प्राप्त करती थीं। उपनिषदों के रचना काल में याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी तथा गार्गी वाचक्नवी का उल्लेख आता है, जिनमें ज्ञान-प्राप्ति के हेतु बलवती स्पृहा विद्यमान थी।[9] जनक के तत्वावधान में दार्शनिक वादविवाद के अवसर पर गार्गी ने

---

१. ऋग्वेद ५, २८.
२. ऋग्वेद ८, ९१.
३. ऋग्वेद १०, ३९.
४. ऋग्वेद ३, ५, ६५, १६.
५. युजुर्वेद ८, १.
६. अयाज्ञियो वा एष योऽपत्नीकः। शतपथ ब्रा० ५, १, ६, १०.
७. या दंपती सुमनसा सुनुत आ च धावतः। देवासो नित्ययाशिरा। ऋग्वेद ८, ३१.
८. पत्युनो यज्ञ संयोगे—पाणिनि ४, १, ३३
९. सा होवाच मैत्रेयी येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम् यदेव भगवान्वेद तदेव मे ब्रूहीति। बृह० उप० २. ४३.

विद्यार्थियों का निर्वाह स्थानीय व्यक्तियों की सहायता तथा दान से करता था। विद्यार्थी आचार्य भाग के रूप में गुरू को नियत शुल्क भेंट करते थे, जो एक सहस्र मुद्राओं से अधिक न होता था।

तक्षशिला की शिक्षा में वेद और अट्ठारह सिप्प अथवा कलायें सम्मिलित थी।[1] बनारस के राजपुरोहित का पुत्र जोतिपाल तक्षशिला से धनुर्विद्या तथा युद्धविद्या का पूर्ण ज्ञाता हो कर लौटा और बनारस का मुख्य सेनापति नियुक्त हुआ।[2] बुद्ध का समकालीन जीवक भी राजगृह से चिकित्सा शास्त्र का अध्ययन करने के हेतु तक्षशिला गया और वहाँ से आने पर सम्राट बिम्बिसार ने उसे राजवैद्य नियुक्त किया।[3] कौसल के सम्राट प्रसेनजित् ने भी तक्षशिला में शिक्षा प्राप्त की थी।[4] अन्य विविध विषयों की शिक्षा भी तक्षशिला के पाठ्य-क्रम में सम्मिलित थी, जिसका उल्लेख किया जा चुका है। तक्षशिला के अतिरिक्त बनारस भी प्रसिद्ध शिक्षा केन्द्र गिना जाता था। वहाँ के विद्वान आचार्य भी पांच सौ विद्यार्थियों को शिक्षा प्रदान करते हुए दिखाए गए हैं।[5] संभवतः बनारस में कुछ विषयों की शिक्षा विशेष रूप से प्रदान की जाती थी, जिनमें संगीत मुख्य था।[6] परन्तु बनारस की शिक्षा तक्षशिला के समान महत्वपूर्ण न समझी जाती थी और इसी से बनारस के सुसम्पन्न विद्यार्थी तक्षशिला अध्ययन के हेतु जाते रहते थे। अन्य स्थानों में बुद्ध के समकालीन सम्राट प्रसेनजित् एवं सम्राट बिम्बिसार द्वारा सहायता प्राप्त कौसल तथा अंग मगध की महाशालाओं अथवा स्नातक विद्यालयों का उल्लेख विशेष महत्वपूर्ण है। महागोविन्द सुतन्त के अनुसार महागोविन्द ने अपने समय के सात प्रधान राज्यों में विद्यालयों की स्थापना की थी। धार्मिक विद्यालयों में एक मात्र ब्राह्मण युवकों का प्रवेश हो सकता था। ऐसे विद्यालयों में लगभग तीन सौ विद्यार्थी तक शिक्षा प्राप्त करते थे। इन विद्यालयों के प्रधान संचालकों की प्रशंसा सुनकर दूर-दूर से विद्यार्थी आते थे।[7]

जैन ग्रन्थों में भी बनारस, श्रावस्ती, पाटलीपुत्र तथा प्रतिष्ठान जैसे शिक्षा केन्द्रों का उल्लेख किया गया है। राजकुमार बनारस में अपने आचार्य के यहाँ रह कर अध्ययन करते थे और शिक्षा समाप्त कर लौटते थे।[8] श्रावस्ती[9], पाटलीपुत्र[10] तथा प्रतिष्ठान[11] भी उच्च

---

१. जातक १. २५६, २८५, ३५६, ४०२, ४६४, २, ८७, ३. ११५, १२२, ५३७–८

२. जातक ५. १२७.

३. विनय महावग्ग ८. १ ३–६,

४. धम्मपद–अट्ठकथा १.३३७–३३८.

५. जातक १. २३८, ३. १८, २३३, ४. २३७.

६. वाराणसियं गुत्तिलकुमारो वयप्पतो गन्धब्बसिप्पे निप्फत्तिं पत्वा गुत्तिलगन्धब्बो नाम सकल जम्बूदीपे अग्गगन्धब्बो अहोसि। जा० २. २४८.

७. दीघनिकाय १. ११४, नानादिसा नाना जनपदा माणवका आगच्छन्ति।

८. उत्तराध्ययन टीका ४.५३.

९. उत्तराध्ययन टीका ८. १२४.

१०. उत्तराध्ययन टीका २. २२.

११. कल्प सूत्र टीका ४. ६०

शिक्षा के प्रसिद्ध केन्द्र थे। परन्तु यह आश्चर्यजनक बात है कि जैन ग्रन्थों में तत्कालीन शिक्षा केन्द्रों में सब से महत्वपूर्ण स्थान तक्षशिला का कोई वर्णन नहीं मिलता है। बौद्ध साहित्य में तो तक्षशिला के महत्व को भली-भाँति स्पष्ट कर दिया गया है। जनश्रुति के अनुसार अर्थशास्त्र का रचयिता कौटिल्य भी तक्षशिला का विद्यार्थी रह चुका था। अन्त में तत्कालीन शिक्षा-पद्धति के अन्तर्गत स्त्री-शिक्षा की स्थिति का विवेचना करना भी अधिक समीचीन जान पड़ता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि वैदिक काल में भारतीय स्त्रियाँ परम सुशिक्षिता एवं विदुषी होती थीं। वैदिक परम्परा के अनुसार ऋग्वेद की ऋचाओं में बीस विदुषियों के नामों का उल्लेख होता है, जिनमें अत्रि कुल की विश्ववारा[१] तथा अपाला[२] और घोषा काक्षीवती[३] के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त सिकता, निवावरी, रोमशा, लोपामुद्रा तथा उर्वशी आदि वैदिक संहिताओं की ऋचाओं में प्रसिद्ध थी। ऋग्वेद में एक स्थान पर विदुषी पुत्री का विवाह विद्वान् पति के साथ करने की अनुमति दी गई है।[४] एक अन्य स्थान पर कहा गया है कि कन्या का विवाह ब्रह्मचर्यावस्था समाप्त कर लेने के पश्चात् ही करना चाहिये।[५]

वैदिक काल में कोई भी व्यक्ति अपनी पत्नी के सहित ही यज्ञ सम्पादित कर सकता था।[६] दोनों यज्ञ में समान रूप से भाग लेते थे।[७] पति के साथ यज्ञ में समान भाग लेने के कारण ही विवाहित स्त्री को पत्नी की संज्ञा प्रदान की गई।[८] अतएव पत्नी सदैव वैदिक यज्ञों में भाग लेने की समान अधिकारिणी समझी गई।

यज्ञ में भाग लेने के साथ ही स्त्रियां वैदिक साहित्य, मीमांसा तथा दर्शन सिद्धान्तों की योग्यता भी प्राप्त करती थीं। उपनिषदों के रचना काल में याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी तथा गार्गी वाचक्नवी का उल्लेख आता है, जिनमें ज्ञान-प्राप्ति के हेतु बलवती स्पृहा विद्यमान थी।[९] जनक के तत्वावधान में दार्शनिक वादविवाद के अवसर पर गार्गी ने

---

१. ऋग्वेद ५. २८.
२. ऋग्वेद ८. ६१.
३. ऋग्वेद १०. ३६.
४. ऋग्वेद २. ५, ६५, १६.
५. युजुर्वेद ८. १.
६. अयाज्ञियो वा एष योऽपत्नीकः। शतपथ ब्रा० ५. १. ६. १०.
७. या दंपती सुमनसा सुनुत आ च धावतः। देवासो नित्ययाशिरा। ऋग्वेद ८. ३१.
८. पत्युनो यज्ञ संयोगे—पाणिनि ४. १. ३३
९. सा होवाच मैत्रेयी येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याय देव भगवान्वेद तदेव मे ब्रूहीति। वृह० उप० २. ४३.

याज्ञवल्क्य से ऐसे खोजपूर्ण प्रश्न पूंछना आरम्भ कर दिये, जिन पर याज्ञवल्य ने सभा में विवाद करने से स्पष्ट इन्कार कर दिया [१]।

उपनिषदों के वर्णनों से प्रतीत होता है कि प्रायः लोग विदुषी पुत्री की इच्छा किया करते थे।[२] वैदिक काल में बाल-विवाह की प्रथा प्रचलित न थी। उस समय जो लड़कियां अधिक समय तक शिक्षा न प्राप्त करना चाहती थी, वे आवश्यकीय वैदिक प्रार्थनाओं तथा संगीत और नृत्य आदि विषयों की शिक्षा समाप्त कर षोड़शी होने पर विवाह कर लेती थी। ऐसी लड़कियों को सद्यो वधू कहते थे। इनके अतिरिक्त वे लड़कियां, जो अधिक अवस्था तक अध्ययन करती थीं, ब्रह्मवादिनी कहलाती थीं। ब्रह्मवादिनी लड़कियां अपना अध्ययन समाप्त करने के पश्चात् ही विवाह करती थीं। उनमें से कुछ तो आजीवन ब्रह्मचारिणी ही रहती थी [३]।

प्रारम्भ में लड़को की भाँति लड़कियों का उपनयन संस्कार भी सम्पन्न होता था, क्योंकि इस संस्कार के बिना वैदिक यज्ञोपासना करने की वे अधिकारिणी न हो सकती थीं। हारीत के कथनानुसार दो प्रकार की स्त्रियां—ब्रह्मवादिनी तथा सद्योवधू में—ब्रह्मवादिनी को उपनयन, वेदाध्ययन तथा अपने ही घर में भिक्षा प्राप्ति के कर्त्तव्यों का पालन करना चाहिये। परन्तु सद्योवधू का विवाह के अवसर पर केवल उपनयन संस्कार सम्पादित कर विवाह कर देना चाहिये [४]। आश्वलायन गृह्यसूत्र में भी स्त्रियों के हेतु उपनयन[५] तथा समावर्तन [६] का विधान किया गया है।

मनु के कथनानुसार स्त्रियों के लिये भी जातकर्म से ले कर उपनयन तक सभी संस्कार सम्पन्न होने चाहिये, परन्तु उनमें वैदिक मन्त्रों का प्रयोग नहीं होना चाहिये। स्त्रियों के हेतु केवल विवाह-संस्कार ही वैदिक मन्त्रों की सहायता से किया जा सकता है [७]। इससे प्रतीत होता है कि मनु के समय तक स्त्रियों के उपनयन संस्कार की प्रथा जाती रही थी। गृह्य सूत्रों में प्राप्त वर्णनों से स्त्री-शिक्षा की महत्वपूर्ण स्थिति के विषय में कोई सन्देह नहीं रह जाता। दैनिक ऋषि तर्पण में गार्गी वाचक्नवी, वड़वा प्राथितेयी तथा सुलभा मैत्रेयी के हेतु भी जल भेंट करने की आज्ञा दी गई है।[८] पाणिनी के आचार्य तथा उपाध्याय शब्दों से भी

---

१. अनतिप्रश्नां वै देवतामतिपृच्छसि—बृह० उप० ३.६.१.

२. अभय इच्छेद्दुहिता मे पण्डिता जायते। बृह० उप० ६.४.१७.

३. कुशध्वज की पुत्री वेदवती। रामायण ७.१७.

४. यत्तु हारितेनोक्तं द्विविधाः स्त्रियो ब्रह्मवादिन्यः सद्योवध्वश्च। तत्र ब्रह्मवादिनी नामुपनयनमग्नीन्धनं वेदाध्ययनं स्वगृहे च भिक्षाचर्येति। सद्योवधूनां तु उपस्थिते विवाहे कथंचिदुपनयनमात्रं कृत्वा विवाह कार्यं। स्मृति चन्द्रिका १.२४.

५. आश्वा० गृह्यसूत्र २.१.१६

६. आश्व० गृ० सू० ३.८.११

७. मनु० २.६६-६७.

८. आश्व० गृ० सू० ३.४.

यही सिद्ध होता है कि उन दिनों स्त्रियाँ अध्ययन ही नहीं अपितु अध्यापन कार्य भी करती थी[1]। पतंजलि भी आपिशलि व्याकरण का अध्ययन करने से आपिशला ब्राह्मणी[2] तथा काशकृत्स्ना मीमांसा को शिक्षा प्राप्त करने से काशकृत्स्ना[3] होने की पुष्टि करते हैं। पतंजलि ने छात्राओं का उल्लेख भी किया है।[4] काठक गृह्यसूत्र के आधार पर स्त्री और पुरुष दोनों के ही द्वारा वैदिक मन्त्रों के पाठ का प्रमाण मिलता है।[5] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि गृह्यसूत्रों तथा पतंजलि के समय तक स्त्रियों की शिक्षा विकासोन्मुख थी।

महाकाव्यों में भी स्त्रियों के विदुषी एवं सुपण्डिता होने के उदाहरण प्राप्त होते हैं। रामायण में कौशल्या अपने पुत्र के युवराज होने के दिन यज्ञोपासना में दत्तचित्त दिखाई देती हैं।[6] इसी भाँति तारा भी अपने पति वली को युद्ध में प्रस्थान करते समय मन्त्रोपासना करती है।[7] सीता भी अपनी नियमित संध्या का पालन सदैव करती प्रतीत होती हैं।[8] पान्डवों की माता कुन्ती अथर्ववेद के मन्त्रों की पूर्ण ज्ञाता थीं। कौरवों की सभा में द्रौपदी की वक्तृता उसके विदुषी होने के सार्थकता को सिद्ध करती है।[10] न केवल वैदिक शिक्षा ही वरन् ललित कलाओं की शिक्षा में स्त्रियाँ पूर्ण पटु थीं। इस तथ्य की पुष्टि महाकाव्यों, बौद्ध एवं जैन साहित्य से भलीभांति होती है।

बौद्धग्रन्थों में भी विदुषी स्त्रियों के उल्लेख प्रायः मिलते हैं। अमरा और उदुम्बरा जैसी शिक्षित एवं चतुर स्त्रियों के नाम जातकों में मिलते हैं।[11] ब्रह्मवादिनी स्त्रियों की भाँति बौद्ध धर्म के अन्तर्गत बहुत सी ऐसी स्त्रियों के वर्णन मिलते हैं, जो भिक्षुणी बन कर कठोर संयम का जीवन अपना लेती थीं और धर्म एवं दर्शन की खोज में सदैव संलग्न रहती थीं। उनमें से बहुत सी स्त्रियाँ भारतवर्ष के बाहर भी धर्म-प्रचार के लिये जाती थी। थेरीगाथा

---

१. पाणिनी ४.१.५६ तथा ३.३.२१.

२. आपिशलमधीते ब्राह्मणी आपिशला ब्राह्मणी। महाभा० २.२०६, पा० ४.१.१४.

३. काशकृत्स्निना प्रोक्ता मीमांसा काशकृत्स्नी काशकृत्स्नीमधीते काशकृत्स्ना ब्राह्मणी। अत्र प्राप्नोति। महाभा० २.२४६. पा० ४.१.१४.

४. औदमेधायाश्छात्रा औदमेधाः। महाभा० २.२२६ पा० ४.१.७८.

५. ततो गाथा वाचयति सरस्वति प्रेदमवेत्यनुवाकम्। उभावित्येके। काठक गृ० सू० २५.२३.

६. साक्षौमवसना हृष्टा नित्यं व्रत परायणा।
अग्निं जुहोतिस्म तदा मंत्रवित् कृतमंगला॥ रामा० २.२०.१५.

७. ततः स्वस्त्ययनं कृत्वा मंत्रविद्विजयैषिणी। रा० ४.१६.१२.

८. संध्याकालमनाः श्यामाध्रुवमेष्यति जानकी।
नदीचेमां शुभजलां संध्यार्थे वरवर्णिनी॥ रामा० ५.१५ ४८.

९. महाभा० ३.३०५.२०.

१०. महाभा० २.७१.

११. जातक ६.३६५, २५–गा० ६१.

की ऋचाओं में सुभा, अनोपमा और सुमेधा जैसी धर्म-साधिकायें धन एवं समृद्धि को छोड़ कर धर्मोपासना का विशुद्ध व्रत लेकर संघ में प्रविष्ट हुई थीं। जैन धर्म के अनुसार भी विदुषी स्त्रियों एवं उपदेशिकाओं के उल्लेख प्राप्त होते हैं।[1] अज्ज चन्दणा महावीर की प्रथम शिष्या थीं और उसके अधीन बहुत सी उपासिकायें सदाचार का जीवन व्यतीत करती हुई मुक्ति प्राप्त करने में सफल हुईं।[2] राजपरिवारों की कन्यायें भी राजसी जीवन त्याग कर उपासिका व्रत ग्रहण करती थीं।[3]

इतना होते हुए भी स्त्रियों की सामान्य दशा गिरने के यथेष्ट प्रमाण प्राप्त होने लगते हैं। धर्मसूत्रों में ही स्त्रियों को स्वतन्त्रता से वंचित करने की व्यवस्था दी जाने लगी थी।[4] विवाह की अवस्था क्रमशः कम होते ही स्त्रियों को उच्च-शिक्षा की सुविधा प्राप्त न हो सकती थी। उनकी शिक्षा घर पर आत्मीय जनों द्वारा ही दिये जाने की प्रथा प्रारम्भ हो गई।[5] उन्हें दर्शन जैसे विषयों की शिक्षा देना बन्द कर दिया गया, जैसा कि मेगस्थनीज के कथन से विदित होता है और धीरे-धीरे उनकी शिक्षा साधारण गृह-कार्य संचालन तक ही सीमित रह गई।

---

१. अन्तगडदसाओ ५, ७, ८, नायाधम्मकहा २, १.-१० पृ० २२०-३०.
२. अन्तगडदसाओ ८, कल्पसूत्र ५.१३५.
३. भगवती १२,२.
४. गौतम १८.१, वशिष्ठ ध० सू० ६.१, बौधा० ध० सू० २.२.४५. तथा मनु० ६.३.
५. पिता पितृव्यो भ्राता वा नैनामध्यापयेत् परः।

परिशिष्ट १

वेश-भूषा

ईसा पूर्व छठीं शताब्दी तक आते-आते भारतीय सभ्यता एकमात्र ग्राम्य न रहकर नागरीय होने लगती है। देश में काशी, साकेत, वैशाली ऐसे अनेकानेक नगरों का उदय हो जाता है। यहाँ के निवासियों का जीवन कृषि-प्रधान न रहकर विविध व्यवसाय प्रधान हो जाता है। इन नगरों में नाना प्रकार के उद्योग-धन्धों का विकास होता है जिनके परिणामस्वरूप नागरीय जीवन उत्तरोत्तर समृद्धिशील, प्रगतिशील और वैभवशील होता जाता है। नागरीय जीवन की यह भव्य समृद्धिशीलता तत्कालीन मनुष्यों की वेश-भूषा में यथेष्ट परिलक्षित होती है। उनमें अलंकरण-प्रियता थी। विशेष अवसरों पर वे बड़ी सजधज के साथ बाहर निकलते थे। एक जातक[1] में विरूपाक्ष की पुत्री कालकण्णी का उल्लेख है जो सुचिपरिवार नामक सेट्ठि से मिलने के लिये वेश-भूषा धारण करती है। उसके प्रमुख उपकरण नीले रंग के हैं—नीले वस्त्र, नीली मणियां एवं नीला विलेपन। यह उदाहरण तत्कालीन समाज में प्रचलित अनेकानेक प्रकार की अलंकरण-रचनाओं की सूचना देता है। महापरिनिब्बान सुत्त[2] का कथन है कि महात्मा बुद्ध के आगमन पर दर्शनार्थी वैशाली-निवासी जब उनसे मिलने चले तो उन्होंने अपने-अपने रंग के अनुकूल वस्त्रों को धारण किया था। इस उल्लेख से भी जनता की विशिष्ट अलंकरण-रुचि का बोध होता है। स्त्री-पुरुषों के वस्त्र अनेक प्रकार कपास[3], क्षौम[4], कौशेय[5], मांगिक[6], कुशवीर[7], शाण[8] वल्कल[9] आदि के होते थे। इनके अतिरिक्त समाज में चर्मवस्त्रों का भी प्रचलन कम न था। वस्त्र-निर्माण

---

1. जातक ३. ५५.
2. महापरिनिब्बान सुत्त २. १८.
3. अष्टाध्यायी ६. ३.६५, जातक ६.४७, ३.२८६, आचारांग सूत्र २.५. १. १.
4. अष्टाध्यायी ५.२.४, जातक ६.४७, महावग्ग ८.१.३६, आचारांग सूत्र १.७.४.१,
5. अष्टाध्यायी ४.३.४२, जातक ६.४७, महावग्ग ८.१.३६, आचारांग सूत्र २.५.१.४
6. महावग्ग ८.३.१.
7. महावग्ग ८.२८.२–३.
8. दीघनिकाय भाग २ पृ० ३४६–५०.
9. महावग्ग ८.२८ २–३.

ो ऋचाओं में सुभा, अनोपमा और सुमेधा जैसी धर्म-साध्विकायें धन एवं समृद्धि को छोड़ कर धर्मोपासना का विशुद्ध व्रत लेकर संघ में प्रविष्ट हुई थीं। जैन धर्म के अनुसार ी विदुषी स्त्रियों एवं उपदेशिकाओं के उल्लेख प्राप्त होते हैं।[1] अज्ज चन्दणा महावीर की प्रथम शिष्या थीं और उसके अधीन बहुत सी उपासिकायें सदाचार का जीवन व्यतीत करती हुई मुक्ति प्राप्त करने में सफल हुई।[2] राजपरिवारों की कन्यायें भी राजसी जीवन त्याग कर उपासिका व्रत ग्रहण करती थीं।[3]

इतना होते हुए भी स्त्रियों की सामान्य दशा गिरने के यथेष्ट प्रमाण प्राप्त होने लगते हैं। धर्मसूत्रों में ही स्त्रियों को स्वतन्त्रता से वंचित करने की व्यवस्था दी जाने लगी थी।[4] विवाह की अवस्था क्रमशः कम होते ही स्त्रियों को उच्च-शिक्षा की सुविधा प्राप्त न हो सकती थी। उनकी शिक्षा घर पर आत्मीय जनों द्वारा ही दिये जाने की प्रथा प्रारम्भ हो गई।[5] उन्हें दर्शन जैसे विषयों की शिक्षा देना बन्द कर दिया गया, जैसा कि मेगस्थनीज के कथन से विदित होता है और धीरे-धीरे उनकी शिक्षा साधारण गृह-कार्य संचालन तक ही सीमित रह गई।

---

१. अन्तगडदसाओ ५, ७, ८, नायाधम्मकहा २. १.-१० पृ० २२०-३०.

२. अन्तगडदसाओ ८, कल्पसूत्र ५.१३५.

३. भगवती १२.२.

४. गौतम १८.१, वशिष्ठ ध० सू० ६.१, बौधा० ध० सू० २.२.४५. तथा मनु० ६.३.

५. पिता पितृव्यो भ्राता वा नैनामध्यापयेत् परः।

के सूती वस्त्रों का निर्माण करते थे जो अपने प्रादेशिक नामों—वांगक, कलिंगक, अपरान्तक, माधुर, माहिषक आदि-से प्रख्यात थे[१]। इसी प्रकार रेशमी वस्त्रों में कौशेय और चीनपट्ट विशेष उल्लेखनीय हैं[२]। ऊनी वस्त्रों में कम्बल, वर्णक, तलिच्छक, परिस्तमि, वारवाण, सौमितिका, कलमितिका, समूत्तभद्रक केवलक और तुरगास्तरण आदि थे[३]। भारतीय कारीगर कम्बलों की भाँति शाल बनाने के कार्य में भी प्रसिद्ध थे। ये अनेक रङ्गों के होते थे[४] तथा बहुधा इनके ऊपर नाना प्रकार का अलंकरण किया जाता था।[५] अर्थशास्त्र अनेक प्रकार की चादरों का भी उल्लेख करता है। इनमें लुंवरा, प्रावरक, चतुरश्रिका और कटवानक विशेष उल्लेखनीय हैं[६]।

कताई, बुनाई और वस्त्र-निर्माण के अन्य विषयों के सम्बन्ध में कौटिल्य ने जो व्यवस्था की है उससे भी यही प्रतीत होता है कि तत्कालीन समाज में वस्त्रों का उत्पादन विविध और प्रभूत था। राज्य इस व्यवसाय को प्रोत्साहित करने के हेतु कुशल कारीगरों को उपहार देता था[७]। अंगहीन, वृद्ध एवं विधवा स्त्रियां, भिखारिणियां तथा देवदासियां आदि राज्य की ओर से कताई-बुनाई के कार्यों में नियोजित की जाती थीं।[८] ऊनी कम्बल कृमिजात, क्षौम, दुकूल, प्रावरण, आस्तरण वल्कल, चमड़ा और कपास पर लगने वाले कर राजकोष के महत्त्वपूर्ण साधन थे।[९]

उपर्युक्त अनेक कथनों की पुष्टि यूनानियों के लेखों से होती है। हैरोडोटस के कथनानुसार भारतवासी नरकुल (Weed) को पीट कर चटाई की भाँति बुन लेते थे और फिर उसे वस्त्र की भाँति धारण करते थे। केशिअस भारतीयों की वस्त्र रंगने की कला का उल्लेख करता है।[१०] निआर्कस भारतीय वेश-भूषा पर और अधिक प्रकाश डालता है।[११] उसके वर्णन से भी प्रतीत होता है कि भारतीय सामान्यतः अन्तरवासक, उत्तरासंग और उष्णीष पहनते थे। समाज का धनी वर्ग अपने कानों में आभूषण पहनता था और

---

१. गणपति शास्त्री १.१६५.
२. वही, १.१६५.
३. वही, १.१६३.
४. वही
५. गणपति शास्त्री १.१६३.
६. वही, १.१६४.
७. वही, १.२८०.
८. वही, १.२७६, २८०.
९. वही, १.२७६-७७.
१०. फ्रैगमेण्ट २२.
११. एरियन की इण्डिका, फ्रैगमेण्ट १

में जिन पशुओं के चर्म का प्रयोग अधिक होता था उनमें व्याघ्र, सिंह, हरिण, भेड़ और बकरी विशेष उल्लेखनीय हैं।[१] बौद्ध साहित्य वस्त्र-निर्माण-केन्द्रों में काशी का विशेषरूप से उल्लेख करता है। यहाँ के कारीगर अपनी हस्त-दक्षता के लिये सुविख्यात थे। काशी के बने हुए ये वस्त्र कासीय अथवा वाराणसेय्यकं के नाम से प्रख्यात थे[२] और अपने महीनपन तथा अपनी दृढ़ता के लिये सुप्रसिद्ध थे।[३] बुद्धघोष के अनुसार अड्ढकासीय नामक कम्बल का मूल्य ५०० कार्षापण था। इस प्रकार का बहुमूल्य कम्बल काशीनरेश ने जीवक को उपहार स्वरूप दिया था।[४] यहाँ पर कदाचित् कम्बल शब्द का प्रयोग ऊनी वस्त्र के लिये किया गया है।[५]

साधारणतया पुरुष धोती का प्रयोग करते थे। इसके पहनने की विविध प्रणालियों—[६] शतवल्लिक, चतुष्कर्णक, हस्तिशौंडिक और तालवन्तक—आदि से इस वस्त्र की लोकप्रियता प्रकट होती है। यही धोती ही पुरुषों का अन्तरवासक थी। इसके साथ वे प्रायः कायबन्ध का भी प्रयोग करते थे।[७] शरीर के ऊर्ध्व भाग में वे उत्तरासंग, कंचुक और उष्णीष पहनते थे। महिलाओं में प्रायः साड़ी पहनने का प्रचलन था।[८] वस्त्रों के साथ-साथ बौद्ध साहित्य में पदत्राण एवं पादुकाओं के भी उल्लेख मिलते हैं। उनके विविध आकारप्रकारों—[९] एकपलासिक, द्विपटल, तिपटल, खल्लकबद्ध, पुटबद्ध, तित्तिरपत्तिक, पालिगुंठिम, कृष्ण, पीत, नील, लोहित आदि-से तत्कालीन जनता की विकसित अभिरुचि पर प्रकाश पड़ता है। इन पदत्राणों के अतिरिक्त कभी-कभी लोग काष्ठ, सोने, चाँदी, रांगे, तांबे, कांसे, स्फटिक और वैदूर्य आदि की पादुकायें भी पहनते थे।[१०]

बौद्ध साहित्य की भाँति अर्थशास्त्र से भी भारतीय वेश-भूषा पर प्रभूत प्रकाश पड़ता है। कौटिल्य दुकूल[११] का उल्लेख करते हैं। यह अधिकांशतः बंगाल में बनता था। इसी से इसे वांगकणी संज्ञा दी गई थी। ताने-बाने के विभेद से दुकूल वस्त्र अध्यर्धांशुक, एकांशुक, द्व्यंशुक अथवा त्र्यंशुक कहलाता था। दुकूल के अतिरिक्त भारतीय कारीगर अनेक प्रकार

१. महावग्ग ५. १०. ५-७, ५०. १३. ६.
२. जातक ६.५००, मज्झिमनिकाय २. ३. ७.
३. महापरिनिब्बान सुत्त ५. २६.
४. महावग्ग ८. २.
५. महावग्ग ८. ३. १.
६. चुल्लवग्ग ५. २९. ४.
७. वही, ५. २९. २.
८. जातक ३.५५७, २९३.
९. महावग्ग ५. १. २९, ५. २. २३, ५. २. २.
१०. महावग्ग ५.७.१,५. ८.३.
११. गणपति शास्त्री १.१९४.

के सूती वस्त्रों का निर्माण करते थे जो अपने प्रादेशिक नामों—वांगक, कलिंगक, अपरान्तक, माधुर, माहिषक आदि से प्रख्यात थे[१]। इसी प्रकार रेशमी वस्त्रों में कौशेय और चीनपट्ट विशेष उल्लेखनीय हैं[२]। ऊनी वस्त्रों में कम्बल, वर्णक, तलिच्छक, परिस्तमि, वारवाण, सौमितिका, कलमितिका, समूल्तभद्रक केवलक और तुरगास्तरण आदि थे[३]। भारतीय कारीगर कम्बलों की भाँति शाल बनाने के कार्य में भी प्रसिद्ध थे। ये अनेक रङ्गों के होते थे[४] तथा बहुधा इनके ऊपर नाना प्रकार का अलंकरण किया जाता था।[५] अर्थशास्त्र अनेक प्रकार की चादरों का भी उल्लेख करता है। इनमें लुंवरा, प्रावरक, चतुरश्रिका और कटवानक विशेष उल्लेखनीय हैं[६]।

कताई, बुनाई और वस्त्र-निर्माण के अन्य विषयों के सम्बन्ध में कौटिल्य ने जो व्यवस्था की है उससे भी यही प्रतीत होता है कि तत्कालीन समाज मे वस्त्रों का उत्पादन विविध और प्रभूत था। राज्य इस व्यवसाय को प्रोत्साहित करने के हेतु कुशल कारीगरों को उपहार देता था[७]। अंगहीन, वृद्ध एवं विधवा स्त्रियां, भिखारिणियां तथा देवदासियां आदि राज्य की ओर से कताई-बुनाई के कार्यों में नियोजित की जाती थीं।[८] ऊनी कम्बल कृमिजात, क्षौम, दुकूल, प्रावरण, आस्तरण वल्कल, चमड़ा और कपास पर लगने वाले कर राजकोष के महत्वपूर्ण साधन थे।[९]

उपर्युक्त अनेक कथनों की पुष्टि यूनानियों के लेखों से होती है। हैरोडोटस के कथनानुसार भारतवासी नरकुल (Weed) को पीट कर चटाई की भाँति बुन लेते थे और फिर उसे वस्त्र की भाँति धारण करते थे। केशिअस भारतीयों की वस्त्र रंगने की कला का उल्लेख करता है।[१०] निआर्कस भारतीय वेश-भूषा पर और अधिक प्रकाश डालता है।[११] उसके वर्णन से भी प्रतीत होता है कि भारतीय सामान्यतः अन्तरवासक, उत्तरासंग और उष्णीष पहनते थे। समाज का धनी वर्ग अपने कानों में आभूषण पहनता था और

---

१. गणपति शास्त्री १.१६५.
२. वही, १.१६५.
३. वही, १.१६३.
४. वही
५. गणपति शास्त्री १.१६३.
६. वही, १.१६४.
७. वही, १.२८०.
८. वही, १.२७६, २८०.
९. वही, १.२७६-७७.
१०. फ्रैगमेण्ट २२.
११. एरियन की इण्डिका, फ्रैगमेण्ट १६.

अपनी दाढ़ियों को रँगता था। आतप से रक्षा करने के हेतु वह छाते का भी व्यवहार करता था। उसके जूते श्वेत चर्म के बने होते थे और उनके ऊपर अलंकरण रहता था। मेगास्थनीज़[1] भारतवासियों की सौन्दर्य-प्रियता एवं अलंकरण-अभिरुचि का उल्लेख करता है। उसका कथन है कि वे अपने शरीर को सुन्दर करने के लिये अनेक प्रकार के उपायों का प्रयोग करते थे। उनके वस्त्र स्वर्णजटित एवं रत्नालंकृत होते थे। स्ट्रैबो का कथन है कि भारतीय कपास और क्षौम के श्वेत वस्त्र धारण करते थे[2] और अपनी दाढ़ियों को अनेक रङ्गों से रंगते थे।[3] वे आभूषण-प्रेमी भी थे।

इन साहित्यिक साक्ष्यों के समान पुरातत्व सम्बन्धी सामग्री ने भी भारतीय वेश-भूषा में प्रचुर प्रकाश डाला है। परखाम की यक्षमूर्ति चुन्नटदार धोती पहने है। उसकी कटि में कायबन्ध बंधा है और शरीर के ऊर्ध्वभाग पर एक दुपट्टा है। प्रायः इसी प्रकार की वेश-भूषा इण्डियन म्यूज़ियम में संरक्षित यक्ष-मूर्तियों की है।[4] बेसनगर की यक्षिणीमूर्ति भी साड़ी और कायबन्ध धारण किये हुए है तथा करधनी से विभूषित है।[5] परन्तु इन सबकी अपेक्षा कहीं अधिक महत्वपूर्ण हैं भरहुत के चित्र। ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी की भारतीय वेश-भूषा पर ये चित्र प्रचुर प्रकाश डालते हैं। इनमें पुरुष धोती पहने हुये हैं; परन्तु आधुनिक प्रचलन की भाँति यह धोती एड़ियों तक नहीं आती वरन् घुटने के कुछ ही नीचे तक आती है।[6] प्रायः प्रत्येक पुरुष की कमर में एक कमरबन्ध दृष्टिगत होता है।[7] शरीर का ऊर्ध्व भाग प्रायः नग्न है। उस पर एकमात्र दुपट्टा पड़ा रहता है जो विविध अवस्थाओं में शरीर से लटका हुआ प्रदर्शित किया गया है।[8] प्रायः समस्त पुरुष अपने शीश पर अनेक प्रकार से पगड़ी धारण किए हुए हैं।[9] इनमें से अनेक पगड़ियों की रचना अत्यन्त चित्ताकर्षक है और तत्कालीन मनुष्य की सौन्दर्य-प्रियता की सूचना देती है। कतिपय चित्रों में पुरुष कोट पहने हुए भी प्रदर्शित किये गये हैं,[10] परन्तु इनकी संख्या अत्यल्प है।

भरहुत के चित्रों में स्त्रियों के भी अनेकानेक चित्र सम्मिलित हैं। स्त्रियाँ साड़ी

---

१. फ्रैग्मेण्ट २७.
२. स्ट्रैबो १५.१.७१.
३. वही, १५.१.३०.
४. श्री मजूमदार के मतानुसार ये मौर्यकालीन हैं—ए गाइड टु दि स्कल्पचर्स इन इण्डियन म्यूज़ियम—पृ० ६.
५. कुमारस्वामी, हिस्ट्री आफ इण्डियन ऐण्ड इंडोनेशियन आर्ट प्लेट ५.१७.
६. कनिंघम, भरहुत, प्ले० २१, २२ इत्यादि
७. वही, प्ले० १४, २२, इत्यादि
८. वही
९. वही, प्ले० ३३.३, ४, २४, २१, ५७ इत्यादि
१०. बरुआ, भरहुत ३, प्ले० २०, ६२, ७१.

धारण किये हुए हैं। पुरुषों की धोतियों की भाँति ये साड़ियाँ भी एड़ी तक नहीं आतीं वरन् घुटनों के कुछ ही नीचे तक आती हैं। कटि करधनी और कमरबन्द से अलंकृत हैं। करधनी में प्रायः अनेक लड़ें दृष्टिगत होती हैं। कमरबन्द के किनारे-किनारे बेल से अलङ्करण किया हुआ मिलता है। स्त्रियों का ऊर्ध्वभाग प्रायः नग्नरूप में प्रदर्शित किया गया है। हाँ, शीश पर प्रायः अलङ्करणमयी ओढ़नी अवश्य मिलती है। तत्कालीन स्त्रियों की आभूषणों में अभिरुचि थी। यही कारण है कि प्रायः प्रत्येक चित्र में वे कानों में कुण्डल, गले में मुक्ताहार, कटि में करधनी, अथवा क्षुद्रघंटिकामयी मेखला, करों में चूड़ियाँ और कड़े, उंगलियों में अंगूठियाँ तथा पैरों में अनेक प्रकार के आभूषण धारण किये हुए प्रदर्शित की गई हैं। अपनी सुन्दरता बढ़ाने के लिये वे अनेकानेक अन्य प्रसाधनों का भी प्रयोग करती थीं। वे अपने केशों को चोटी के रूप में गूंथती थीं और उसे विविध पुष्पों से अलंकृत करती थीं। इस प्रकार की उनकी चोटियां भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में कमर के नीचे तक लटकी हुई प्रदर्शित की गई हैं। अनेक चित्रों में उनके केशों के बीच मांग की भी रचना प्राप्त होती है। उनके मस्तक बिन्दु-टिकुली और कपाल पत्रभंग से अलंकृत हैं। कभी-कभी स्त्रियाँ पगड़ी धारण किये हुए भी प्रदर्शित की गई हैं। वेश-भूषा की ये विशेषतायें चन्द्रा, सुदर्शना, चूलकोका आदि यक्षियों के चित्रों में प्रभूतरूप से दृष्टिगत होती हैं।[1]

भरहुत की भाँति सांची के चित्र भी प्राचीन भारतीय वेश-भूषा का आकार-प्रकार निर्धारित करने में बड़ी सहायता देते हैं[2]। दोनों स्थानों में प्राप्त चित्रों में विभिन्नता की अपेक्षा समानता कहीं अधिक है। वही घुटने तक आने वाली धोती, कमरबन्द, करधनी, दुपट्टा, पगड़ी, ओढ़नी, अनावृत वक्षःस्थल एवं विविध आभूषणादि सांची के चित्रों में भी प्राप्त होते हैं। दोनों स्थानों की वेश-भूषा में जो अन्तर दृष्टिगत होता है वह सिद्धान्त का नहीं वरन् ब्यौरे का ही अधिक है। उदाहरणार्थ, सांची में जो पगड़ियां मिलती हैं उनकी बांधने की प्रकार-संख्या पहले की अपेक्षा अधिक हो गई है और उनमें अलंकरण की मात्रा अधिक है। पगड़ियों में अनेक प्रकार के लट्टू मिलते हैं। ये वृत्ताकार, व्यजनाकार, ढोलाकार, बेलनाकार, लम्बोतरा, चक्करदार, आदि हैं[3]। इसी प्रकार धोती पहनने में भी कभी-कभी थोड़ी सी नवीनता दृष्टिगत होती है। एक चित्र में एक पुरुष धोती को एक सिरे से अपनी कमर के चारों ओर लपेटे है और उसका दूसरा सिरा बांई कुहनी के ऊपर से डालकर नीचे पैर तक लटकाये है[4]। सांची की वेश-भूषा में जो विशेष उल्लेखनीय है वह है टोपी

---

१. कनिंघम—वही

२. डॉ० मोतीचन्द्र, भारतीय विद्या, नवम्बर, १६३६, प्लेट ४, १४. प्लेट ५, १५–२३ प्लेट ६, २४–३०;

३. वही, आ० १३.

४. उदाहरणार्थ—मार्शल-दि मान्यूमेण्ट्स ऑफ़ सांची प्लेट्स ६७, १०३, ११०, ११६, १२६, १२५, ३, ११, ५६, १०८, २६, ४८, २४, २६, २७, ३०, इत्यादि से वेश-भूषा पर प्रचुर प्रकाश पड़ता है।

का प्रादुर्भाव और सिले हुये वस्त्रों के प्रयोग की पूर्वकाल की अपेक्षा अधिकता। यह परिवर्तन कदाचित् विदेशीय प्रभाव के अन्तर्गत आया था। ये टोपियां, चौकस गोल, तुर्कीनुमा, कुलाहनुमा अथवा पुहिलनेदार हैं[1]। विदेशीय प्रभाव के अन्तर्गत ही कभी-कभी पुरुष तहमदनुमा वस्त्र धारण किये हुए भी प्रदर्शित किया गया है[2]। सिले हुए वस्त्रों में कूंचुक विशेष उल्लेखनीय है जिसे धारण किये हुए विदेशीय, ध्वजवाहक, सिपाही और सारथी आदि चित्रित किये गये हैं[3]।

सांची की स्त्रियों की वेश-भूषा भी प्रायः भरहुत की स्त्रियों के वेश-भूषा के समान है। यहाँ भी उनकी साड़ियां केवल घुटनों तक आती हैं। परन्तु वे कभी-कभी सकच्छ साड़ी पहने हुए भी चित्रित की गई हैं[4]। उनके भी वक्षःस्थल अनावृत हैं। सांची के चित्रों में स्त्रियों के शीश जिन ओढ़नियों से ढके हैं उनके प्रकार पूर्वकाल की अपेक्षा अधिक हैं। ये शीश पर घोंघो अथवा पंखे के आकार की, नुकीली, दो तहवाली, दोहरे किनारेवाली, दोलड़ी अथवा चौलड़ी से बंधी हुई हैं[5]। प्रसाधन के वे समस्त उपकरण जो भरहुत में प्राप्त होते हैं, सांची में भी विद्यमान हैं[6]। वही चूड़ियां, कड़े अंगूठियां, कंठ, मुक्ताहार, कर्णकुण्डल, मेखला, वेणी, सीसमांग, मस्तकबिन्दु, पत्रभंग आदि सांची के चित्रों में भी उपलब्ध होते हैं। अन्तर केवल इतना है कि बहुधा उनका आकार-प्रकार पूर्वकाल की अपेक्षा अधिक जटिल, भारी और अलंकरण-प्रधान है।

---

१. वही, प्ले० ६.३१.७.३३-३६,८.३७,३८.
२. वही, प्ले० १२.६०.
३. फ़र्गुसन, ट्री ऐण्ड सर्पेण्ट वर्शिप, प्ले० ३३, ३६, १, २, ३८, १, ४०.
४. डा० मोतीचन्द्र, वही प्ले० ७.३२.
५. डा० मोतीचन्द्र, वही, प्ले० ८,४२
६. वही, प्ले० ४३-४६, १०, ४७-५२.

परिशिष्ट २

अन्न-पान पर ब्राह्मण धर्म का प्रभाव

[यहां पर ब्राह्मण धर्म-ग्रन्थों के आधार पर ही वर्णन किया गया है। बौद्ध एवं जैन साहित्य के तत्सम्बन्धी उल्लेखों का वर्णन धार्मिक संगठन नामक अध्याय में किया गया है]

प्राचीन काल से ही भारतवासी भोजन की पवित्रता को विशेष महत्त्व देते आते हैं। छान्दोग्य उपनिषद् में एक स्थान पर स्पष्ट कहा गया है कि आहार की पवित्रता से मन शुद्ध रहता है तथा मन की पवित्रता से स्थिर बुद्धि उपलब्ध होती है और स्मृति के प्राप्त होने पर सभी ग्रन्थियां मुक्त हो जाती हैं[१]। वैदिक समय से ही बैठ कर भोजन करने[२] तथा दिन में दो बार भोजन करने[३] की आवश्यकता पर विशेष बल दिया गया है। इसके साथ ही प्रारम्भ से कुछेक खाद्य सामग्रियों के ग्रहण करने का निषेध कर दिया गया था,[४] जिनका पालन परम्परागत रूप में बहुत समय तक होता रहा।

वस्तुतः यह बात प्रारम्भ से ही स्वीकार कर ली गई थी कि भोजन पर ही मनुष्य का आचार निर्भर है और उसके कुविचार अधिकांशतः भोजन के कारण होते हैं। इसी से धर्मसूत्रों तथा स्मृतियों ने भोजन विधान के द्वारा उक्त विषय पर धर्म का प्रभाव स्पष्ट रूप से सिद्ध कर दिया है।

पवित्रता एवं आचार-विचार का ध्यान रख कर जो नियम स्थिर किये गये हैं, वे स्वास्थ्य की दृष्टि से भी अपना महत्त्व प्रकट करते हैं। जिस स्थान पर भोजन ग्रहण किया जाय, वह गोबर से लीपा हुआ तथा स्वच्छ हो[५]। हाथी घोड़े, ऊंट तथा अन्य सवारी पर यात्रा करते समय भोजन का सर्वथा निषेध किया गया है। भोजन करने से पूर्व पैरों

---

१. आहारशुद्धौ सत्वशुद्धिः सत्वशुद्धा ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः। छान्दोग्य ७ २६.२.

२. ऋग्वेद ६.३०.३.

३. तस्माद्वशायं प्रातराश्येव स्यात्। शतपथ २.२२ ६.

४. स निर्यासोऽभवत्तस्मान्निर्यासस्य नाश्यं ब्रह्म हत्यायै ह्येषे वर्णोऽथ खलु य एवं लोहितो वा यो वा व्रश्चनान्निर्येषति तस्य तस्माद्वत्सं जात दश रात्रिर्न दुहन्ति। —तै० ब्रा० २.१.१.

५. आप० ध० सू० १.५.१७.१-८

का धो लेना ठीक समझा जाता है, क्योंकि इससे दीर्घ आयु मिलती है [1]। सभी व्यवस्थाकारों ने भोजन के समय शान्त चित्त तथा आदरपूर्वक अन्न ग्रहण करने का विधान किया है, क्योंकि इससे बल और ओज की प्राप्ति होती है। [2] मनु के कथनानुसार प्रत्येक गृहस्थ को दिन में केवल दो बार भोजन करना चाहिये। बीच में कोई भोजन न करना चाहिये तथा अपना उच्छिष्ट भोजन भी किसी को न देना चाहिये। [3] भोजन करने के पूर्व दो बार तथा समाप्त करने पर एक बार आचमन का करना अत्यावश्यक समझा जाता था [4]। जिस समय भोजन परोसा जा रहा हो, उस समय भोजन का आदर कर अपनी प्रसन्नता व्यक्त करनी चाहिये और भोजन की कभी निन्दा न करनी चाहिये [5]। शिर पर वस्त्र लपेट कर, दक्षिण को मुख कर के और जूते पहिन कर जो खाता है उसके भोजन किये हुए अन्न को निश्चय ही राक्षस ग्रहण करते हैं [6]।

मनु ने स्त्री के संग एक थाल में भोजन न करने की आज्ञा दी है और भोजन करती हुई छींकती हुई, जभांई लेती हुई तथा सुख से बैठी हुई स्त्री को देखने का निषेध भी किया है [7] इसके साथ ही भोजन करते समय वृथा चेष्टा, अञ्जलि से जल-पान तथा खाद्यपदार्थ को गोदी में रख कर ग्रहण करने का भी निषेध किया गया है।

खान-पान के इन नियमों के अतिरिक्त भोजन के अग्रभाग को प्राणाहुतियों के रूप में समर्पित करना भी विधि विहित समझा जाता था। यह प्रथा वैदिक काल से ही चली आ रही थी। ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक आर्यों को यह भलीभाँति विदित था कि मनुष्य का जीवन अन्न पर ही निर्भर है, जिनके हेतु वे भोजन की आवश्यकता समझते

---

१. आर्द्रपादस्तु भुञ्जीत नार्द्रपादस्तु संविशेत्।
आर्द्रपादस्तु भुञ्जानो दीर्घमायुमाप्नुयात्॥ मनु० ४।७६

२. पूजितं ह्यशनं नित्यं बलमूर्जं च यच्छति।
अपूजितं तु तद्भुक्तमुभयं नाशयेदिदम्॥ मनु० २।५५

३. नोच्छिष्टं कस्यचिद्दद्यान्नाद्याच्चैव तथान्तरा।
नचैवात्यशनं कुर्यान्न चोच्छिष्टः क्वचिद्व्रजेत्॥ मनु० २।५६

४. उपस्पृश्य द्विजो नित्यमन्नमद्यात्समाहितः।
भुक्त्वा चोपस्पृशेत्सम्यगद्भिः खानि च संस्पृशेत्॥ मनु० २।५३.

५. गौतम ६.५६, वसिष्ठ ध० सू० ३.६९, मनु० २.५४-५५

६. यद्वेष्टितशिरा भुङ्क्ते यद्भुङ्क्ते दक्षिणामुखः।
सोपानत्कश्च यद्भुङ्क्ते तद्वै रक्षांसि भुञ्जते॥ मनु० ३।२३८.

७. नाश्नीयाद्भार्यया सार्धं नैनामीक्षेत चाश्नतीम्।
क्षुवतीं जृम्भमाणां वा न चासीनां यथासुखम्॥ मनु० ४।४३

८. न कुर्वीत वृथा चेष्टां न वार्यञ्जलिना पिबेत्।
नोत्सङ्गे भक्षयेद्भक्ष्यान्न जातु स्यात्कुतूहली॥ मनु० ४।६३.

थे। छन्दोग्य उपनिषद् में इन प्राणों का उल्लेख किया गया है [१]। मनु ने भी यज्ञ का शेष भोजन ही सज्जनों का अन्न माना है और अपने ही लिये भोजन पकाना पाप ग्रहण करने के सदृश कहा गया है [२]।

अन्न-पान के नियमों में विशेषकाल एवं भोजन की निषेधाज्ञायें भी सम्मिलित थी, जिनका पालन न्यूनाधिक रूप में आज भी किया जाता है। सूर्य तथा चन्द्रग्रहण के समय भोजन ग्रहण करना सर्वथा निषिद्ध है और हिन्दूमात्र आज भी ग्रहणोपरान्त स्नान करके ही अन्न ग्रहण करते हैं [३]। विष्णुधर्मसूत्र के अनुसार किसी गाय अथवा ब्राह्मण के दुर्घटनाग्रस्त होने तथा राजा की मृत्यु अथवा आपद्ग्रस्त होने की अवस्था में भी भोजन ग्रहण करना वर्जित था [४]।

गौतम [५], आपस्तम्ब [६], वसिष्ठ [७], और मनु [८] ने ग्रहण करने योग्य एवं निषिद्ध अन्नों पर सम्यक् विचार किया है और इनके उपरान्त महाभारत [९] एवं पुराणों [१०] में भी इसी विषय का विवेचन किया गया है। निषिद्ध अन्नों में जातिदुष्ट अथवा स्वभाव दुष्ट एवं कालदुष्ट खाद्य सम्मिलित थे। अपरार्क के कथनानुसार स्वभाव, काल, सम्पर्क, क्रिया, भाव और परिग्रह इन कारणों से भोजन निन्दित हो जाता है [११]। बहुत प्राचीन समय से ही गाजर, पलाण्डु, परारीक, लशुन तथा इसी भाँति की अन्य वस्तुयें द्विजातियों के लिये निषिद्ध थी [१२]। मनु ने भी इन चीजों को द्विजातियों के हेतु वर्जित माना है [१३]। आपस्तम्ब ने

---

१. छान्दोग्य उप० ५.१६-२३.

२. अघं स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्मकारणात्।
यज्ञशिष्टाशनं ह्येतत् सतामन्नं विधीयते॥ मनु० ३।११८

३. चन्द्रार्कोपरागे नाश्नीयात् स्नात्वा मुक्तयोरश्नीयात्।
अमुक्तयोरस्तंगतयोर्दृष्ट्वा स्नात्वा चापरे दिव॥ विष्णुधर्म सू० ६८.१-३.

४. विष्णुधर्म सू० ६८.४-५

५. गौतम -१७

६. आप० सू० १.५.१६.१७.–१.६.१६

७. वसिष्ठ ध० सू० १४.

८. मनु० ६.२०७–२२३

९. शान्तिपर्व, अध्याय ३६ तथा ७८

१०. पद्मपुराण, आदिखण्ड अध्याय ५६.

११. अन्नस्य च निन्दितत्वं स्वभावकाल–संपर्क–क्रियाभाव–परिग्रहैः षोढा भवति।
—अपरार्क, पृ० ११५७.

१२. आप० ध० सू० १.५.१७.२५–२७

१३. लशुनं गृञ्जनं चैव पलाण्डुं कवकानि च।
अभक्ष्याणि द्विजातीनाममेध्यप्रभावाणि च॥ मनु० ५।५

का धो लेना ठीक समझा जाता है, क्योंकि इससे दीर्घ आयु मिलती है[1]। सभी व्यवस्थाकारों ने भोजन के समय शान्त चित्त तथा आदरपूर्वक अन्न ग्रहण करने का विधान किया है, क्योंकि इससे बल और ओज की प्राप्ति होती है।[2] मनु के कथनानुसार प्रत्येक गृहस्थ को दिन में केवल दो बार भोजन करना चाहिये। बीच में कोई भोजन न करना चाहिये तथा अपना उच्छिष्ट भोजन भी किसी को न देना चाहिये।[3] भोजन करने के पूर्व दो बार तथा समाप्त करने पर एक बार आचमन का करना अत्यावश्यक समझा जाता था[4]। जिस समय भोजन परोसा जा रहा हो, उस समय भोजन का आदर कर अपनी प्रसन्नता व्यक्त करनी चाहिये और भोजन की कभी निन्दा न करनी चाहिये[5]। शिर पर वस्त्र लपेट कर, दक्षिण को मुख कर के और जूते पहिन कर जो खाता है उसके भोजन किये हुए अन्न को निश्चय ही राक्षस ग्रहण करते हैं[6]।

मनु ने स्त्री के संग एक थाल में भोजन न करने की आज्ञा दी है और भोजन करती हुई छींकती हुई, जभांई लेती हुई तथा सुख से बैठी हुई स्त्री को देखने का निषेध भी किया है[7]. इसके साथ ही भोजन करते समय वृथा चेष्टा, अञ्जलि से जल-पान तथा खाद्यपदार्थ को गोदी में रख कर ग्रहण करने का भी निषेध किया गया है।

खान-पान के इन नियमों के अतिरिक्त भोजन के अग्रभाग को प्राणाहुतियों के रूप में समर्पित करना भी विधि विहित समझा जाता था। यह प्रथा वैदिक काल से ही चली आ रही थी। ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक आर्यों को यह भलीभाँति विदित था कि मनुष्य का जीवन अन्न पर ही निर्भर है, जिनके हेतु वे भोजन की आवश्यकता समझते

---

१. आर्द्रपादस्तु भुञ्जीत नार्द्रपादस्तु संविशेत्।
आर्द्रपादस्तु भुञ्जानो दीर्घमायुमाप्नुयात्॥ मनु० ४।७६

२. पूजितं ह्यशनं नित्यं बलमूर्जं च यच्छति।
अपूजितं तु तद्भुक्तमुभयं नाशयेदिदम्॥ मनु० २।५५

३. नोच्छिष्टं कस्यचिद्दद्यान्नाद्याच्चैव तथान्तरा।
नचैवात्यशनं कुर्यान्न चोच्छिष्टः क्वचिद्व्रजेत्॥ मनु० २।५६

४. उपस्पृश्य द्विजो नित्यमन्नमद्यात्समाहितः।
भुक्त्वा चोपस्पृशेत्सम्यगद्भिःखानि च संस्पृशेत्॥ मनु० २।५३.

५. गौतम ९.५९, वसिष्ठ ध० सू० ३.६९, मनु० २.५४-५५

६. यद्वेष्टितशिरा भुङ्क्ते यद्भुङ्क्ते दक्षिणामुखः।
सोपानत्कश्च यद्भुङ्क्ते तद्वै रक्षांसि भुञ्जते॥ मनु० ३।२३८.

७. नाश्नीयाद्भार्यया सार्धं नैनामीक्षेत चाश्नतीम्।
क्षुवतीं जृम्भमाणां वा न चासीनां यथासुखम्॥ मनु० ४।४३

८. न कुर्वीत वृथा चेष्टां न वार्यञ्जलिना पिबेत्।
नोत्सङ्गे भक्षयेद्भक्ष्यान्न जातु स्यात्कुतूहली॥ मनु० ४।६३.

थे। छन्दोग्य उपनिषद् में इन प्राणों का उल्लेख किया गया है [१]। मनु ने भी यज्ञ का शेष भोजन ही सज्जनों का अन्न माना है और अपने ही लिये भोजन पकाना पाप ग्रहण करने के सदृश कहा गया है [२]।

अन्न-पान के नियमों में विशेषकाल एवं भोजन की निषेधाज्ञायें भी सम्मिलित थी, जिनका पालन न्यूनाधिक रूप में आज भी किया जाता है। सूर्य तथा चन्द्रग्रहण के समय भोजन ग्रहण करना सर्वथा निषिद्ध है और हिन्दूमात्र आज भी ग्रहणोपरान्त स्नान करके ही अन्न ग्रहण करते हैं [३]। विष्णुधर्मसूत्र के अनुसार किसी गाय अथवा ब्राह्मण के दुर्घटनाग्रस्त होने तथा राजा की मृत्यु अथवा आपद्ग्रस्त होने की अवस्था में भी भोजन ग्रहण करना वर्जित था [४]।

गौतम [५], आपस्तम्ब [६], वसिष्ठ [७], और मनु [८] ने ग्रहण करने योग्य एवं निषिद्ध अन्नों पर सम्यक् विचार किया है और इनके उपरान्त महाभारत [९] एवं पुराणों [१०] में भी इसी विषय का विवेचन किया गया है। निषिद्ध अन्नों में जातिदुष्ट अथवा स्वभाव दुष्ट एवं कालदुष्ट खाद्य सम्मिलित थे। अपरार्क के कथनानुसार स्वभाव, काल, सम्पर्क, क्रिया, भाव और परिग्रह इन कारणों से भोजन निन्दित हो जाता है [११]। बहुत प्राचीन समय से ही गाजर, पलाण्डु, परारीक, लशुन तथा इसी भाँति की अन्य वस्तुयें द्विजातियों के लिये निषिद्ध थी [१२]। मनु ने भी इन चीजों को द्विजातियों के हेतु वर्जित माना है [१३]। आपस्तम्ब ने

---

१. छान्दोग्य उप० ५.१६-२३.

२. अघं स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्मकारणात् ।
यज्ञशिष्टाशनं ह्येतत् सतामन्नं विधीयते ॥ मनु० ३।११८

३. चन्द्रार्कोपरागे नाश्नीयात् स्नात्वा मुक्तयोरश्नीयात् ।
अमुक्तयोरस्तंगतयोर्दृष्ट्वा स्नात्वा चापरे दिव ॥ विष्णुधर्म सू० ६८.१-३.

४. विष्णुधर्म सू० ६८.४-५

५. गौतम -१७

६. आप० सू० १.५.१६.१७.-१.६.१६

७. वसिष्ठ ध० सू० १४.

८. मनु० ६.२०७-२२३

९. शान्तिपर्व, अध्याय ३६ तथा ७८

१०. पद्मपुराण, आदिखण्ड अध्याय ५६.

११. अन्नस्य च निन्दितत्वं स्वभावकाल-संपर्क-क्रियाभाव-परिग्रहैः षोढा भवति ।
—अपरार्क, पृ० ११५७.

१२. आप० ध० सू० १.५.१७.२५-२७

१३. लशुनं गृञ्जनं चैव पलाण्डुं कवकानि च ।
अभक्ष्याणि द्विजातीनाममेध्यप्रभवाणि च ॥ मनु० ५।५

श्राद्ध के समय काले अन्नों का प्रयोग भी निषिद्ध ठहराया है[1]। महाभाष्य में तो यहाँ तक कहा गया है कि माष अथवा उर्द वर्जित होने की अवस्था में उसका भोजन अन्य अन्नों में मिश्रण कर के भी न ग्रहण करना चाहिये[2]। इसी भाँति राजमाष, स्थूलमुद्ग, मसूर आदि प्रायः वर्जित धान्य कहे गये हैं[3]।

इसी प्रकार अधिक समय तक रक्खा हुआ पकवान्न तथा दही, मक्खन और घृत के अतिरिक्त बासी भोजन जिनमें तरकारियाँ, रोटियाँ, उबाले हुए धान्य, दाल, तेल में पकी हुई वस्तुयें तथा दूध में पके हुए और मधुमिश्रित चावल आते हैं, वर्जित खाद्य माने गये हैं[4]। फिर भी मनु ने घृत आदि के सहित अनिन्दित बासी तथा हवि का शेष बासी होने पर बिना घृत मिलाये ही ग्रहण करने का विधान किया है। जौ, गेहूं, तथा दुग्ध के पदार्थ अधिक काल तक रखे रहने पर भी द्विजातियों द्वारा खाये जाने के योग्य हैं[5]।

अन्नों के साथ ही दुग्ध के विषय में भी व्यवस्थाकार सजग रहे हैं। गौतम,[6] आपस्तम्ब,[7] वसिष्ठ[8] और बौधायन[9] सभी ने सन्धिनी गाय का दूध, गाय के बछड़ा होने की स्थिति में दस दिन तक गाय, भेड़ और भैंस का दूध तथा ऊँटनी और अन्य जानवरों का दूध सर्वथा निषिद्ध कहा है। मनु ने भी ब्यायी हुई गाय के पहले दस दिन का, ऊंटनी का, घोड़ी का, भेड़ का व जो गौ बैल को चाहती हो अथवा जिसका बच्चा मर गया हो तथा भैंस को छोड़ कर बन के सब दुधारू पशुओं का दूध, स्त्री का दूध और शुक्त इन सभी को वर्जित माना है।[10]

---

1. आप० ध० सू० २.८.१८.२
2. माषा न भोक्तव्या इत्युक्ते मिश्रा अपि न भुज्यन्ते। महाभाष्य जिल्द १ पृ० १२७
3. राजमाषाः स्थूलमुद्रास्तथा वृषयवासकौ।
   मसूर शतपुष्पाश्च कुसुम्भः श्रीनिकेतनम्॥
   सस्यान्येतान्यभक्ष्याणि न च देयानि कस्यचित्।—ब्रह्मपुराण
4. गौतम १७.१४–१६, आप० ध० सू० १.५.१७.१७–१६, वशिष्ठ ध० सू० १४.२८–२६
5. मनु० ५.२४–२५.
6. गौतम १७.२२–२६.
7. आप० ध० सू० १.५.१७.२२–२४.
8. वसिष्ठ ध० सू० १४.३४–३५.
9. बौधायन ध० सू० १.५.१५६–१५८.
10. अनिर्दशाया गोः क्षीरमौष्ट्रमेकशफं तथा।
    आविकं संधिनीक्षीरं विवत्सायाश्च गोः पयः॥
    आरण्यानां च सर्वेषां मृगाणां माहिषं विना।
    स्त्रीक्षीरं चैव वर्ज्यानि सर्वशुक्तानि चैव हि॥ मनु० ५.८–६.

अन्न और दूध के अतिरिक्त मांस-भोजन की समस्या पर भी व्यवस्थाकारों ने यथेष्ट विचार किया है। यों तो वैदिक काल में ही गो-मांस की हवि इन्द्र आदि देवताओं को दी जाती थी।[1] उस समय घोड़ों, बैलों, दूध न देने वाली गायों तथा मेषों की अग्नि-बलि देने की प्रथा प्रचलित थी।[2] क्रमशः कृषि-कार्य एवं पारिवारिक अर्थ-व्यवस्था में गाय और बैल की उपयोगिता विदित हो जाने पर गाय को उच्च स्थान प्राप्त होने लगा। गृह्यसूत्रों के समय में तो गाय का महत्व उसके पञ्चगव्य की पवित्रता से और भी अधिक बढ़ने लगा।[3]

धर्मसूत्रों में पशु, पक्षी एवं मत्स्य-भक्षण के विषय में विविध नियम मिलते हैं। पञ्चनख पशुओं का मांस सर्वथा वर्जित था, इनके अन्तर्गत केवल शल्यक, श्वाविध, गोध, शश और कछुये का मांस ग्राह्य समझा जाता था।[4] गौतम,[5] आपस्तम्ब[6] और पतंजलि[7] आदि ने दोनों जबड़ों में पंक्तिबद्ध जमे हुए दांतों वाले पशुओं, बाल वाले जानवर तथा बाल रहित पशुओं, ग्रामकुक्कुट तथा ग्रामशूकर को अभक्ष्य माना है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र[8] में वेद के आचार्य को उपाकर्म से लेकर उत्सर्जन काल तक मांस-भोजन का निषेध किया गया है। आपस्तम्ब के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्राचीन भारत में अतिथि-सत्कार भी मांस-भोजन से किया जाता था और इस पुण्य का महत्व द्वादशाः यज्ञ के समान समझा जाता था।[9]

मनु ने मधुपर्क, यज्ञ और पितृदैवत कर्म के समय ही पशु-हिंसा करने की आज्ञा दी है[10]। मनुस्मृति में भी धर्मसूत्रों की भांति गृध्र आदि कच्चे मांस खाने वाले, ग्राम में रहने वाले पक्षी, एक खुरवाले, कोयष्टि, कलविंक, प्लव, हंस, चक्रवाक, ग्रामकुक्कुट, सारस, रज्जुवाल, जलकाक, तोता, मैना, चोंच से खाने वाले, झिल्ली से जुड़े हुए पैरों वाले, बगुला, बलाका, द्रोणकाक, खञ्जन, विष्टा खाने वाले शूकर, सब प्रकार के मत्स्य, अकेले विचरने वाले

१. ऋग्वेद १०. ८६. १४.
२. ऋग्वेद ८. ४३. ११.
३. गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम्।
निर्दिष्टं पञ्चगव्यं तु पवित्रं पापनाशनम्॥ पराशर ११. २८.
४. पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या ब्रह्मक्षत्रेण राघव।
शल्यकः श्वाविधो गोधा शशः कूर्मश्च पञ्चमः॥ किष्किन्धाकाण्ड १७. ३६.
५. गौतम १७. ३७.-३१
६. आप० ध० सू० १. ५. १७ २६-३१
७. महाभाष्य जिल्द ३ पृ० ३२०
८. आप० ध० सू० २. २. ५. १५.
९. आपस्तम्ब धर्मसूत्र २.३.७.४.
१०. मधुपर्के च यज्ञे च पितृदैवत कर्मणि।
अत्रैव पशवो हिंस्या नान्यत्रेत्यब्रवीन्मनुः॥ मनु० ५. ४१.

सर्प तथा वानर आदि सभी पंचनख पशुओं के मांस-भक्षण का निषेध किया गया है[१]।

गौतम,[२] आपस्तम्ब[३] और मनु[४] ने ब्राह्मणों के हेतु मादक पदार्थों का सर्वथा निषेध किया है। स्मृतियों[५] में सुरापान को महापातक माना गया है। वैसे तो सर्वसाधारण की दृष्टि से मनु ने मांस-भक्षण, मद्य और मैथुन के प्रति जीवों की स्वाभाविक प्रवृत्ति होने के कारण उनके उपयोग पर विशेष उदार दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है, परन्तु इनके त्याग को महाफलदायक स्वीकार किया है[६]।

इस प्रकार के वर्जित खाद्य, मांस दुग्धाहार तथा मादक पदार्थ जातिदुष्ट अथवा स्वभावदुष्ट भोजन के अन्तर्गत आते हैं। अधिक समय तक रक्खा हुआ वासी भोजन कालदुष्ट खाद्य कहा गया है। इसी भाँति उन्मत्त, क्रोधी और रोगी का अन्न, केश और कीट निकलने वाला तथा पैर से स्पर्श किया गया, बालघातक से देखा गया, रजस्वला से स्पर्श किया गया, पक्षी का उच्छिष्ट, कुत्ते से छुआ हुआ, गाय से सूंघा हुआ भोजन और गण वेश्या, पण्डितों द्वारा निन्दित, चोर, गायक, बढ़ई, ब्याज लेने वाला, यज्ञ में दीक्षित, कृपण, कैदी, लोकनिंदित, नपुंसक, व्यभिचारिणी, दम्भी, पर्युषित, शूद्र का उच्छिष्ट, वैद्य, व्याध, कठोर स्वभाव वाले व्यक्ति, उच्छिष्टभोजी उग्र, सूतिका, पुत्रहीन स्त्री, शत्रु, नगरपतित पिशुन, मिथ्यावादी, यज्ञफल को वेचने वाले व्यक्ति, नट, दर्जी, कृतघ्नी, लुहार, निषाद, नाटक खेलने वाला, सुनार, वेणकार, शस्त्रविक्रेता, कुत्ते पालने वाला व्यक्ति, राजा, कारीगर आदि इन सब का अन्न तथा विना आदर के दिया हुआ और यज्ञ में रहित भोजन ब्राह्मण के लिये सदा त्याज्य कहा गया है।[७] इसी भाँति ब्रह्मचारी हेतु सदैव एक स्थान पर ही भोजन करना[८] तथा वानप्रस्थी के लिये शहद, मांस, भूमि में उत्पन्न हुए छत्राक, भूस्तृण शिशु तथा बहेड़े तथा मुनियों द्वारा पूर्वसंचित अन्न सदैव वर्जित किये गये हैं।[९]

१. मनु० ५. ११–१७

२. मद्यं नित्यं ब्राह्मण—गौतम २.२५.

३. सर्वं मद्यमपेयम्—आप० ध० सू० १.५.१७.२१.

४. सुरां वै मलमन्नानां पाप्माचमलमुच्यते।
तस्माद्ब्राह्मणराजन्यो वैश्यश्च न सुरां पिबेत्॥
गौडी पैष्टी च माध्वी च विज्ञेया त्रिविधा सुरा।
यथैवैका तथा सर्वा न पातव्या द्विजोत्तमैः॥ मनु० ११. ९३–९४.

५. मनु० ११.५४, याज्ञ० ३.२२७.

६. न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला॥ मनु० ५.५६.

७. मनु० ४. २०७–२२१.

८. भैक्षेण वर्तयेन्नित्यं नैकान्नादी भवेद्व्रती।
भैक्षेण व्रतिनो वृत्तिरुपवास समास्मृता॥ मनु० २. १८८

९. मनु० ६. १४–१६.

उपसंहार

इस प्रकार विभिन्न साधनों की सहायता से हमारे गवेषणा-निबन्ध-काल के सामाजिक इतिहास की जो रूप-रेखा अंकित होती है वह पर्याप्त रूप से सुस्पष्ट है। ब्राह्मण-व्यवस्थाकारों ने वर्णाश्रम-धर्म को केन्द्र-विन्दु मानकर मनुष्य के समस्त कार्य-कलाप निर्धारित किये हैं। यद्यपि यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उनके अनेकानेक विधि-निषेध व्यावहारिक होने की अपेक्षा आदर्श प्रधान ही अधिक थे तथापि इस काल के समस्त इतिहास के अध्ययन करने के पश्चात् इस कथन में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि वर्णाश्रम-व्यवस्था के आधार-भूत सिद्धान्त समाज में प्रभूतरूप से समादृत रहे। बौद्ध एवं जैन धर्मों ने सैद्धान्तिक दृष्टि से वर्ण-व्यवस्था का अवश्य विरोध किया परन्तु व्यावहारिक रूप में वे उसके प्रभाव से पूर्णरूपेण मुक्त न हो सके। निवृत्तिमार्गी होने के कारण बौद्ध एवं जैन धर्मों ने गृहस्थाश्रम को वह मान्यता कभी भी प्रदान न की जो उसे ब्राह्मण धर्म में मिली थी। परन्तु अन्य तीनों आश्रमों—ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और सन्यास में मनुष्य के जीवन के आधार भूत सिद्धान्त दोनों प्रकार की व्यवस्थाओं—ब्राह्मण एवं श्रमण—में प्रायः समान थे।

इस काल में यद्यपि स्त्री के स्वतन्त्र अधिकारों का उत्तरोत्तर ह्रास हो रहा था और शनैः-शनैः वे उसके पिता और पति में हस्तान्तरित हो रहे थे तथापि उसकी सामाजिक अवस्था किसी भी दृष्टि से इतनी हीन न थी कि उसका साम्य वर्तमान भारतीय नारी समाज की वस्तुस्थिति से स्थापित किया जा सके। हमारे गवेषणा-निबन्ध के अन्तिम चरण की विशेषताओं का परिलक्षण विशेषतया मनुस्मृति में होता है। परन्तु इस ग्रन्थ में भी कम से कम सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से स्त्री का पद अत्यन्त समादृत प्रदर्शित किया गया है।

इस काल की आर्थिक अवस्था की जो झांकी देखने को मिलती है वह अति विशुद्ध एवं विशाल है। देश में राजनीतिक परिवर्तन हुए, वाह्य आक्रमण हुए, वंशों के संघर्ष-विघर्ष हुए; परन्तु देश की आर्थिक अवस्था इन सब का अतिक्रमण करती हुई अबाध गति से अधिकाधिक विकास की ओर अग्रसर होती है। मूलतः कृषि प्रधान भारतवर्ष ने किस प्रकार विभिन्न व्यवसायों का आविर्भाव एवं संगठन किया, किस प्रकार (Money Economy) की स्थापना की, किस प्रकार आन्तरिक व्यापार के साथ-साथ विदेशीय व्यापार का प्रसार किया और अन्त में किस प्रकार उनकी सन्तान ने वृहत्तर भारत का शिलान्यास किया, ये समस्त विषय उसके (भारतवर्ष के) वणिक् वर्ग की मौन साधना, अनवरत अध्यवसाय एवं संगठनशीलता के प्रखर का प्रमाण हैं।

धार्मिक क्षेत्र में भारतीय प्रतिभा विशेष रूप से उन्मुख हुई है। देश के प्रमुख तीन धर्मों—

ब्राह्मण, बौद्ध और जैन ने अपने-अपने अभीष्ट लक्ष्यों की प्राप्ति के हेतु जिन धार्मिक संगठन का निर्माण किया था उन्होंने भारतवर्ष के धार्मिक जीवन को विशिष्ट प्रणालियों में विभक्त कर दिया था। इन प्रणालियों का अनुगमन करते हुए तीनों कोटि के धर्मावलम्बियों ने धर्म और जीवन के जो मूल्य निर्धारित किये थे वे भारतवर्ष के सामाजिक इतिहास की निधि हैं। इन संगठनों के बाहर देश के अनेकानेक अन्य छोटे-बड़े सम्प्रदाय भी बनते-बिगड़ते रहे। इन्होंने भी भारतीय की धार्मिक चेतना को पुष्ट करने में कम योग नहीं दिया।

इस गवेषणा-निबन्ध-काल के समस्त साक्ष्य शिक्षा के सामाजिक, सांस्कृतिक, मानसिक एवं शारीरिक मूल्य की ओर इंगित करते हैं। यही कारण है कि देश में शिक्षा का जो पाठ्य-क्रम अनुसृत हुआ वह विविध और विशाल था। भारतीय शिक्षा लोक-संस्था थी, राजकीय संस्था नहीं। यद्यपि राजाओं ने इसकी अभ्युन्नति के हेतु समय-समय पर बड़ा महत्वपूर्ण योग दिया था तथापि उसका विकास मुख्यतया लोक-कल्याण-बुद्धि के आधारा पर ही हुआ। भारतीय शिक्षा का इतिहास अगणित अज्ञातनामा भारतीयों की सार्वजनीन कल्याण की भावना के दीर्घविकास का इतिहास है।

साधारणतया इस निबन्ध-काल का २०० वर्षो का अन्तिम भाग विदेशीय आक्रमणों का काल है। इस बीच भारत में इण्डो-ग्रीक, शकों, पल्लवों और कुषाणों का आगमन हुआ। इन विदेशियों ने भारतभूमि पर अपनी राज्य-स्थापना करने के अतिरिक्त उसकी संस्कृति-सभ्यता, धर्म, आचार, अन्नपान, वेशभूषा आदि तथा व्यापार पर प्रभूत प्रभाव डाला। इन विषयों पर पिछले अध्यायों में स्थान-स्थान पर उल्लेख किये जा चुके है।

ग्रन्थ-सूची

ब्राह्मण ग्रन्थ

आपस्तम्ब श्रौतसूत्र	३ भाग—Dr. Garbe द्वारा सम्पादित, बी० आई० सीरीज़
आपस्तम्ब गृह्यसूत्र	मैसूर गवर्नमेण्ट सेण्ट्रल लाईब्रेरी सीरीज़
आपस्तम्ब धर्मसूत्र	हलस्यनाथ शास्त्री द्वारा प्रकाशित
आश्वलायन श्रौतसूत्र	बी० आई० सीरीज़
आश्वलायन गृह्यसूत्र	निर्णयसागर प्रेस प्रकाशन
बौधायन श्रौतसूत्र	३ भाग, बी० आई० सीरीज़
बौधायन गृह्यसूत्र	डॉ० शाम शास्त्री द्वारा सम्पादित
बौधायन धर्मसूत्र	आनन्दाश्रम प्रेस
गौतम धर्मसूत्र	वही
गोभिल गृह्यसूत्र	बी० आई० सीरीज़
काठक गृह्यसूत्र	Dr. Caland द्वारा सम्पादित
कात्यायन श्रौतसूत्र	वेबर द्वारा सम्पादित
खादिर गुप्त	मैसूर गवर्नमेण्ट ओरियण्टल लाइब्रेरी सीरीज
लाट्यायन श्रौतसूत्र	बी० आई० सीरीज़
मानव गृह्यसूत्र	गायकवाड ओरियण्टल सीरीज़
शांख्यायन गृह्यसूत्र	बनारस संस्कृत सीरीज़
वैखानस स्मार्तसूत्र	Dr. Caland द्वारा सम्पादित
वसिष्ठ धर्मसूत्र	Dr. Fuhrer द्वारा सम्पादित
विष्णु धर्मसूत्र	Dr. Jolly द्वारा सम्पादित
औशनस-स्मृति	पं० जीवानन्द द्वारा प्रकाशित
लघु शांखायन स्मृति	आनन्दाश्रम प्रेस, पूना द्वारा प्रकाशित
लघु हारीत स्मृति	वही
मनुस्मृति	निर्णयसागर द्वारा सम्पादित
नारद स्मृति	बाम्बे संस्कृत सीरीज़
वेद-व्यास स्मृति	आनन्दाश्रम प्रेस, पूना द्वारा प्रकाशित।
याज्ञवल्क्य स्मृति	निर्णयसागर प्रेस
स्मृति चन्द्रिका	J. R. Gharpure द्वारा सम्पादित

स्मृतिमुक्ताफल एस० बी० ई० के भाग	वही
कौटिल्य का अर्थशास्त्र	डा० शाम शास्त्री और गणपति शास्त्री
जैमिनि का पूर्व मीमांसासूत्र	आनन्दाश्रम प्रेस
काशिका	काशी प्रकाशन
अष्टाध्ययी	निर्णयसागर प्रेस
महाभाष्य	बाम्बे संस्कृत सीरीज़
रामायण	नारायण स्वामी
महाभारत	बम्बई प्रकाशन

बौद्ध ग्रन्थ: —

विनय टेक्स्टस्	एस० बी० ई० १३, १७, २२
दीघ निकाय	रीज़ डेविड्स और जे कार्पेण्टर द्वारा सम्पादित
मज्झिम निकाय	V. Trenckner और R. Chalmers द्वारा सम्पादित
संयुक्त निकाय	Leon Feer और Mrs. Rhys Davids द्वारा सम्पादित
अंगुतर निकाय	मॉरिस और हार्डी द्वारा सम्पादित
धम्मपद	एस० बी० ई० १०
जातक	
महावंश	W. Geiger द्वारा सम्पादित
महावस्तु	सेनार्ट द्वारा सम्पादित
मिलिन्दपन्ह	एस० बी० ई० ३५, ३६.
दिव्यावदान	Cowell और R. A. Neil द्वारा सम्पादित
थेरीगाथा	Oldenberg द्वारा सम्पादित
थेरीगाथा	Pischel द्वारा सम्पादित
सुत्तनियात	एण्डर्सन और स्मिथ द्वारा सम्पादित

जैन ग्रन्थ:—

आचारांग सूत्र और कल्प सूत्र	एस० बी ई० २२
उत्तराध्ययन सूत्र और कृतांग	एस० बी० ई० ४५.
भगवती सूत्र	टीका—अभयदेव, आगमोदय समिति, बम्बई
उवासगदसाओ	हर्नले
अन्तगडदसाओ	टीका—अभयदेव ।
सूयगडंग	एस० बी० ई० ४५
नायाधम्मकहा	आगमोदय समिति, बम्बई
पन्नवणा	टीका—मलयगिरि

ग्रौवाइय — टीका—अभयदेव
रायपसेणिय — वही
निर्यावलियाओ — टीका—चन्द्रसूरि
विवागसुय — टीका—अभयदेव

विदेशीय:—

मैक क्रिण्डल — दि इण्डिका ऑफ मेगास्थनीज ऐण्ड एरियन केशअस की इण्डिका
ऐन्शेण्ट इण्डिया ऐज़ डेस्क्राइव्ड इन दि क्लासिकल लिटरेचर
दि इन्वेज़न ऑफ् एलेक्ज़ेण्डर दि ग्रेट
शाफ — पेरीप्लस
रॉलिंसन — हेरोडोटस की Historica

विविध — रंगस्वामी आयंगर—ऐन्शेण्ट इण्डियन एकनामिक थाट
वार्थ—दि रेलिजन्स ऑफ् इण्डिया
वरुआ—ए हिस्ट्री ऑफ् प्री-बुद्धिस्टिक इंडियन-फिलासोफी
भरहुत स्टोन ऐज़ ए स्टोरी-टेलर
मार्शल—दि मान्यूमेण्ट्स ऑफ् सांची जातक सीन्ज
वेनीप्रसाद—दि स्टेट इन ऐन्शेण्ट इण्डिया दि थिअरी ऑफ् गवर्नमेण्ट इन एन्शेण्ट इंडिया
डी० आर० भण्डारकर—अशोक
ए० के० कुमारस्वामी—दि आर्टस ऐण्ड क्रेफ्ट्स इन इण्डिया ऐण्ड सीलोन
एस० के० दास—दि एकनामिक हिस्ट्री ऑफ् ऐन्शेण्ट इण्डिया
कुमारस्वामी—हिस्ट्री ऑफ् दि इण्डियन ऐण्ड इंडोनेशियन आर्ट
कनिघंम—दि स्तूप ऑफ् भरहुत
मजूमदार—ए गाइड टु दि स्कल्पचर्स इन इण्डियन म्यूजियम
एन० के० दत्त—ओरिजिन ऐण्ड डेवलपमेण्ट ऑफ् कास्ट इन इण्डिया
फिक—दि सोशल आर्गेनाइजेशन इन नार्थ-ईस्ट इण्डिया

हार्डी	मैनुअल ऑफ् बुद्धिज्म
हाप्किंस	दि रेलिजन्स ऑफ् इण्डिया
बी० सी० ला	वीमेन इन बुद्धिस्ट लिटरेचर बुद्धिस्टिक स्टडीज़
आर० सी० मजूमदार	कार्पोरेट लाइफ इन ऐन्शेण्ट इण्डिया
ओल्डेनबर्ग	बुद्ध (अंग्रेजी अनुवाद)
पी० एन० विद्यालंकार	एकनामिक कंडीशन ऑफ् ऐन्शेण्ट इण्डिया
रैप्सन	दि केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ् इण्डिया भाग १
रीज डेविड्ज़	बुद्धिस्ट इंडिया
	बुद्धिस्ट बर्थ स्टोरीज
सेनार्ट	कास्ट इन इण्डिया
विण्टरनिज़	हिस्ट्री ऑफ् इण्डियन लिटरेचर भाग २
मैक्डानल	हिस्ट्री ऑफ् संस्कृत लिटरेचर
रतीलाल मेहता	प्री बुद्धिस्ट इण्डिया
सी० जे० शाह	जेनिज्म इन नार्थ इण्डिया
अल्टेकर	एजुकेशन इन ऐन्शेण्ट इण्डिया
	दि पोजीशन ऑफ् वीमेन इन हिन्दू सिविलीजेशन
पी० एम०	सोशल ऐण्ड रेलिजस लाइफ इन दि गृह्य सूत्राज़
के० डी० वाजपेयी	भारतीय व्यापार का इतिहास
एन० सी० वन्दोपाध्याय	एकनामिक लाइफ ऐण्ड प्राग्रेस इन ऐंशेण्ट इण्डिया
राधामुकुमुद मुकर्जी	ए हिस्ट्री ऑफ् इण्डियन शिपिंग
रालिसन	इंटरकोर्स बिटवीन इण्डिया ऐण्ड दि वेस्टर्न वर्ल्ड
टार्न	ग्रीक इन इण्डिया ऐंड बेक्ट्रिया ।

अनुसंधान—पत्रिकायें, गजेटियर, रिपोर्ट

एपिग्राफिया इन्डिका
इण्डियन ऐंटीक्वेरी
इण्डियन कल्चर
इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली
जर्नल ऑफ् दि रायल एशियाटिक सोसायटी
जर्नल ऑफ् दि यू० पी० हिस्टारिकल सोसायटी
जर्नल ऑफ् दि बिहार ऐन्ड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी
आर्केलाजिकल सर्वे ऑफ् इण्डिया रिपोर्ट्स
इम्पीरियल गजेटियर ऑफ् इण्डिया इत्यादि ।